



अथर्ववेद

द्वितीय भाग

(अथर्ववेदके काण्ड ४ से ६ तक)

[मूल मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और सुभाषितोंका संग्रह
और उनके उपयोग करनेकी विधिके साथ]

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतांजलि

स्वाध्याय मण्डल, पारडी



मूल्य १०) रु.

प्रकाशक *

वसन्त छीपाद् सातवकेकर, बी ए ,

स्वाध्याय मंडल,

पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सुरत]

सन् १९५८ : सवत् २०१५ : अंक १८७९

द्वितीय बार

मुद्रक :

वसन्त छीपाद् सातवकेकर, बी ए ,

भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडल,

पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडल (पारडी)' पारडी [जि. सुरत]



अथर्ववेदके सुभाषित

वेदमंत्रोंमें सुभाषित यह इनका मुख्य भाग, मुख्य आत्मा ही है। ये सुभाषित बारंबार मनन करनेके योग्य होते हैं, व्यक्तिः अथवा संग्रहः पुनः पुनः अपने कोन्व होवे हैं। इनके ध्यानमें धरनेसे वेदमंत्रोंको ध्यानमें धारण करनेका फल प्राप्त हो सकता है। वेदमंत्रोंमें जो ध्यानमें धरने योग्य भाग होता है, वेही। “वैदिक सूक्तियाँ” हैं। वेदमंत्रोंका भाव मनमें धारण करना, वाणीसे उसका बारंबार उच्चार करना, मनसे उसका बारंबार मनन करना और अन्तमें उसको अपने आचरणमें धारण करना आवश्यक है। इससे मानवोंके आचरणमें वेद आ सकते हैं। ऐसे वेद आचरणमें आ गये, तो मनुष्यकी उन्नति हो सकती है। यह होनेके लिये वैदिक सूक्तियोंका संग्रह विषयानुसार वर्णके साथ देना चाहिये। वही प्रयत्न यहाँ किया है। इस अथर्व-वेदके द्वितीय विभागके ये सुभाषित अब देखिये—

सर्वसाक्षी प्रभु

बृहन्नेयामधिष्ठाताऽन्तिकादिषु पश्यति (४।११।१) —
इन सबका एक बड़ा अधिष्ठाता है जो सभीपसे सबको देखता है।

यस्तायन् मन्यते चरन् — जो फैला है और सर्वत्र विचरता है, वह सब जानता है।

सर्वे देवा इदं विदुः — ज्ञानी इस सबको जानते हैं।

यस्तिष्ठति, चरति, यश्च घञ्जति, यो तिलायं

चरति, यः प्रतर्हकं, द्वौ संनिपद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेदं वरुणस्तृतीयः (४।११।२) — जो ठहरता है, जो चलता है, जो ठगता है, जो गुप्त व्यवहार करता है, अथवा जो खुला व्यवहार करता है,

हो अन साथ बैठकर जो गुप्त मंत्रणा करते हैं, उस सबको तीसरा वरुण राजा— सबका प्रभु— जानता है।

अतेयं भूमिर्घरणस्य राक्षः (४।११।३) — यह भूमि इस वरुण राजाकी है।

उतासौ द्यौर्युद्धती दूरे अन्तः — और यह दूर अन्तर पर दीखनेवाला युद्धो भी इसीकी है।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी — और ये दोनों समुद्र वरुणकी कोखें हैं।

उतासिन्धुरप उदके निलीनः — इस थोड़ेसे जलमें भी वह प्रभु डीन हुआ है।

उत यो धामतिसर्पात् परस्तात् न मुच्यते वरुणस्य राक्षः (४।११।४) — जो छलोकके परे भी चला जाय तो भी वह इस प्रभुके शासनसे छूट नहीं सकता।

दिवः स्पशः प्रवरन्तीदमस्य सहस्रांश आलि पश्यन्ति भूमिं — इस दिव्य देवके दृष्ट इस जगत्-में संचार करते हैं वे सहस्र आँखोंसे इस भूमिको देखते हैं।

सर्वे तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् (४।११।५) — वह राजा वरुण वह सब देखता है जो इस शावापृथिवीके अन्दर और परे हैं।

संख्याता अस्य निमिषो जनानां, अक्षानिव श्वप्ती निमिनोति तानि — सब मनुष्योंकी पलकोंकी गिनतीकी भी उसने गिना है जिस तरह जुआनी पालोंकी गिनता है।

- ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विपिता रुशन्तः । छिनन्तु सर्वे अनृतं घदन्तः, यः सायवादी अति तं सृजन्तु (१।१।१) — हे वरुण देव ! तेरे जो पाश सात सात तीन प्रकारसे रहे हैं वे तेजस्वी पाश असत्य बोलनेवालेको छिन्न भिन्न करें । पर जो सायवादी है उसको वह छोड़ दें ।
- शतेन पाशैरभि धोद्वि वरुणैन मा ते मोच्यनृत्वाद् नृत्तक्षः (१।१।१०) — सैकड़ों पाशोंसे हे वरुण ! तू इस पापीको बांध ले । हे मानवोंको देखनेवाले प्रभो ! असत्यभाषी तेरेसे न छूटे ।
- अग्नेर्मन्ये प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिष्यते विशोविशः प्रविशिवांस ईमह स नो सुञ्जैर्वहसः । (१।२।१) — जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस पञ्चजनमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी, प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवाले (प्रभु) का हम मनन करते हैं, वह हमें पापसे बचावे ।
- देवेभ्यः सुमतिं न आवह — देवोंसे उत्तम मति हमें प्राप्त हो ।
- येन क्षपयो यलमद्योतयन्पुजा (१।२।१५) — जिसके साथ रहनेसे क्षपि बलकी प्राप्त करते रहे ।
- येनासुराणामयुधन्त मायाः — जिसकी सहायतासे असुरोंकी कण्ठ युक्तियाँ दूर होती हैं ।
- येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय — जिस तेजस्वीकी सहायतासे इन्द्रने पणियोंकी जीता । पणिः — स्वापार व्यवहार कण्ठसे करनेवाले ।
- येन देवा अमृतमग्नविभन्दन् (१।२।१६) — जिसकी सहायतासे देवोंने अमृतत्वको प्राप्त किया था ।
- येन देवाः स्वराभरन् — जिसकी सहायतासे देवोंने आरम्भक बल प्राप्त किया ।
- य उप्रवाहु उग्रानां ययुः, यो दानधानां यलमार रोज (१।२।११) — जो वीरोंमें अधिक वीर्यवाहु है और जो दानवोंके बलकी तोड़ता है ।
- य प्रथमः कर्मवृत्त्याय जातः (१।२।१६) — जो प्रथम कर्म करनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है ।
- यः संप्रामाद्यति सं युधे वशी (१।२।१०) — जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंको युद्धमें के जाता है ।

तय मते निविशन्ते जनासः (१।२।५३) — तेरे प्रभुमें सब लोग रहते हैं ।

द्यावापृथिवी भयतं मे स्योने (१।२।१६) — धु और पृथिवी मुझे सुल देनेवाली हों ।

सर्वसाक्षी प्रभुका वर्णन ये सुभाषित कर रहे हैं । ऐसे सुभाषित और भी हैं, पर यहाँ हमलेंके लिये इतने ही दिये हैं । इनको तोड़कर छोटे-छोटे सुभाषित भी बना सकते हैं ।

मृदन्नेषां अधिष्ठाता — इन सबका महान् एक अधिष्ठाता है ।

अन्तिकादिय पश्यति — वह सबको अति समीपसे देखता है ।

राजा तद्वद् वरुणः — वरुण राजा वह सब जानता है ।

भूमिर्वरुणस्य राज्ञः — यह भूमि वरुण राजाकी है ।

न मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः — राजा वरुणके पाशसे कोई छूटा नहीं ।

दिवः स्पशः प्रचरन्तीदमस्य — इस दिव्य देवके दूत सर्वत्र संचरते हैं ।

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे — वह राजा वरुण सब देखता है ।

ते पाशा ... छिनन्तु सर्वे अनृतं घदन्तः — तेरे पाश असत्य भाषीको छिन्न भिन्न करें ।

मा ते मोच्यनृत्वाद् — असत्य भाषी तेरेसे न छूटे ।

विशोविशः प्रविशिवांस ईमह — प्रत्येक प्रजाजनमें निवास करनेवालेका मनन हम करते हैं ।

यो दानधानां यलमारोज — जो प्रभु असुरोंका बल तोड़ता है ।

यः प्रथमः — जो सबसे प्रथम हुआ था ।

इस तरह बड़े सूक्ष्मचनमें छोटे सूक्ष्मचन रहते हैं । ये सूक्तियाँ बारंबार मनन करने तथा मनमें रखने योग्य हैं । इसका जो बोध है वह जहाँतक हो सके वहाँतक मानवोंकी आचार्यमें छाना आवश्यक है । और देखिये —

मह्यं

प्रह्य जहानं प्रथमं पुरस्तात् (१।३।१) — सबसे प्रथम प्रह्य मकट हुआ ।

वि सीमत सुदचो येन आयः (१।३।१) — उस (प्रह्य) की सीमासे उत्तम प्रकाश फैला है ऐसा ज्ञानीने देखा ।

स सुप्त्या उपमा अस्य विष्टाः— (४।१।१) इस (शानी) ने इस महाके आभारस्थानमें उपमा देने योग्य (स्वार्थिको) देखा (और ये स्वार्थिक गोक हैं) ऐसा जाना ।

सतश्च योनिं असतश्च विष्टाः (४।१।१)— उसने सत्य और असत्यके उत्पत्तिस्थानको विष्टा किया ।

इयं पिष्ट्या राष्ट्री पत्यग्रे प्रथमाय जनुपे भुघनेष्टाः (४।१।२)— यह सुवनमें रहनेवाली तेजस्वी पितृ-शक्ति प्रथम अन्तर्गते किये भागे बहती है ।

तस्मा पतं सुकचं च्छारमद्यं धर्मं धीनान्तु प्रथमाय धार्यवे— इस पहिले सर्वाधारके किये इस तेजस्वी, दुष्टोंको इष्टानेवाले, शीतलते रहित यज्ञको करें । उसकी शीतिके किये प्रशस्ततम कर्म करें ।

प्र यो जज्ञे विद्वान् अस्य यन्धुः विश्वा देवानां जनिमा यियकि (४।१।३)— जो विद्वान् इसका भाई होता है वह सब देवोंके जन्मोका वर्णन करता है ।

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यात्— ब्रह्मके मध्यसे ज्ञान प्रकट हुआ ।

नीचैः उच्यैः स्वधा अभि प्र तस्यौ— नीचसे, उच्च भागसे अपनी धारणशक्तियाँ फैल रही हैं ।

स हि दिवः स पृथिव्याः क्षतस्याः (४।१।४)— वह (प्रभु) सुकोक और बड़ी पृथिवीके ऊपर सत्य नियमोंका प्रवर्तक है ।

मही क्षेम रोदसी अस्कमायत्— उसीने आकाश और पृथिवीरूपी घर स्थिर किया ।

महान् मही अस्कमायत् वि जातो चां सद्य पार्थिवं च रजाः— इस महान् (प्रभु) सुकोक और पृथिवीको-अन्तरिक्षको-वरके समान सुस्थिर किया ।

बृहस्पतिर्देवता तस्य सप्ताद् (४।१।५)— ज्ञानका स्वामी प्रभु इस सप्ताका सप्ताद् है ।

सुमन्तो वि य ससन्तु विष्टाः— तेजस्वी शानी उच्चम शीतिके यही रहते हैं ।

नूनं तदस्य काव्यो दिनोति महो देयस्य पूर्वस्य धाम (४।१।६)— इस प्राचीन महान् प्रभुके धामका वर्णन शानी ही करता है ।

एव जज्ञे बहुभिः साकमितया पूर्वे अर्घे विपिष्ठे ससन्तु— यह बहुतोंके साथ उत्पन्न हुआ, (पर यह विशेष शानी हुआ) और वादीके लोग बलि आकाशमें सूर्य आनेपर नी सोते रहे । (इस कारण वे उन्नत नहीं हुए ।)

यो अथर्वाणं पितरं देययन्तुं बृहस्पतिं नमसाधु गच्छात्— (४।१।७) जो स्थिर पिता देवोंके बन्धु शानी प्रभुको नमस्कार करके उसको ठीक तरह जानता है ।

त्वं विश्वेषां जनिता असः— 'दे प्रभो ! तू सबका जनक हो' (ऐसा जानता है ।)

कचिर्देवो न द्वाभयत् स्वधाधान्— (इस शानीको) अपनी धारण शक्तियाँ देव कर्मों दबाता नहीं ।

य आत्मदा यत्नदा यस्य विश्व उपासते प्रशिपे यस्य देवाः (४।१।८)— जो आत्मिक सामर्थ्य और बल देता है, और सब देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं (ऐसा एक देव है ।)

योऽस्येशे क्षिपदे यद्यत्तुपदः— जो दिग्गज और चतुष्पादोंका एक स्वामी है ।

यः प्राणतो निमिषतो महिरया एको राजा जगतो यभूय— (४।१।९)— जो प्राण धारण करनेवाले और आँखें बंदनेवाले जगत्का एकमात्र राजा है ।

यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः— जिसके आश्रयमें रहना अमरत्व प्राप्त करना है, और (जिसका आश्रय छोड़ना) मृत्यु प्राप्त करना है (वह जगत्का एक राजा है ।)

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कमाने (४।१।१०)— रुझने भिङ्गनेवाली क्षी सेनाएं जिसकी धारण जाकर संरक्षण प्राप्त करती हैं ।

मियसाने रोदसी ब्रह्मयेधाम्— करनेवाले आकाश और पृथिवी सहायार्थ जिसको पुकारते हैं ।

यस्यासी पण्या रजसो विमानाः— जिसकी प्राप्ति पर यह रजोछोड़का मार्ग विशेष माननीय है ।

यस्य सीर्या पृथिवी च मही यस्याद् उर्यन्तरिक्षम् । यस्यासी स्रोते पितनो महिरया (४।१।११)— जिसकी मरिमासे यह सुकोक बहता है, यह विस्तृत

अन्तरिक्ष है और यह पृथिवी विशाल है। जिसने यह बड़ा सूर्य प्रकाशसे फैलाया है।

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा—(४।२।५)—जिसकी महिमासे यह हिमवान् पर्वत खड़े हैं।

समुद्रे यस्य रसामिदाह—समुद्रमें यह पृथिवी रही है (यह जिसके सामर्थ्यसे हुआ है।)

हमाश्च प्रदिशो यस्य बाहु—यह दिशा उपदिशाएँ जिसके बाहु हैं।

यासु देवीष्वधि देय आसीत्—(४।२।६)—जिन सब देवी शक्तिपूर्ण एक अधिष्ठाता यह देव है।

हिरण्यगर्भः समर्घताम्रे—(४।२।७)—मारुतमें सुवर्णके समान चमकनेवाले पदार्थोंको अपने पेटमें धारण करनेवाला (एक देव था।)

भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्—यह भूतमात्रका एकमात्र स्वामी था।

स दाधार पृथिवीमुत धाम्—(४।२।८)—वही एक देवने पृथिवी और धराको धारण किया है।

एक देव सब विश्वका कर्ता, धर्ता, रक्षक कर्ता, पालन कर्ता धारण-पोषण कर्ता है, उसीको धारण जाना योग्य है। पक्षी प्रभु सबका पालन करता है और शासन करता है। इसलिये वही एक प्रभु सर्वोधार है। उसीकी मक्ति सबको करनी चाहिये।

श्रेष्ठ देव

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठ यतो यक्ष उग्रस्त्वैपनृदणः—(५।२।१)—वह निग्रहसे भुवनोंमें श्रेष्ठ प्रद्व था, चाहिये उग्र तेजोबल प्रकट हुआ।

स्वयो जक्षानो नि रिणाति शत्रून्—वह स्वकाळ प्रकट होते ही शत्रुओंको दूर करता है।

घातृघानः शवसा भूयोजाः शत्रुः दासाय भियस दधाति—(५।२।२)—बलसे बड़नेवाला बहुत सामर्थ्यवान् शत्रु दासको ही मय दिखाता है। (यह श्रेष्ठको मय नहीं दिखा सकता।)

यदि चिन्तु त्या घना जयन्त रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः—(५।२।३)—प्रलेक युद्धमें घनोंको नीतने-वाले तुमको जानी अनुमोदन करते हैं।

ओजीयः शुभिन् स्थिरमातनुव्य—हे बड़वान् धीर! स्थिर बड़ फैलाओ।

मा रजा दभन् दुरेवासः कशोकः—दुराचारी शोक करनेवाले शत्रु तुमसे न दबावें।

त्वाया वयं शासन्नह्ये रणेणु प्रपद्यन्तो युधेन्यानि भूरि—(५।२।५)—युद्धमें प्राप्त होनेवाले बहुत घनोंको देखते हुए तेरे साथ हम रणोंमें रहकर शत्रुका नाश करेंगे।

चोदयामि त आयुधा वचोभिः—तेरे आयुधोंको वचनोंसे मैं प्रेरित करता हूँ।

सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि—तेरी गतिषोंको मैं ज्ञानसे प्रेरित करता हूँ।

मह्यो गौर्यस्य क्षयति स्वराजा—(५।२।८)—बड़े गो-रक्षक राष्ट्रका स्वाधीन राजा होकर बड़ रहता है।

तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान्—वेगवान् तपस्वी देव विश्वमें भ्रमण करता है। (विश्वको देखता है।)

श्रेष्ठ देवका यह वर्णन है। विश्वमें श्रेष्ठ देव एक ही है उसको ब्रह्म, आत्मा, देव, राजा आदि नामोंसे पुकारते हैं। इसका सामर्थ्य जानना चाहिये। इसका मनन करना चाहिये और इसके गुण सदा मनमें रखने चाहिये। यही सबका राजा है।

राजा

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्वभूव—(४।८।१)—जो प्रजाजनोंको दुग्धादि (खाद्यपेय) देता है वह सब प्रजाजनोंका अधिपति होता है।

स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्—यह राजा राज्यकी अनुमतिसे चले।

अभिप्रेहि, माप घेन उग्रश्चेता सपत्नहा—(४।८।२)—भाग बड़, पीछे न हट, प्रतापी, चेतना देनेवाला और शत्रुनाशक बन।

आतिष्ठ मित्रवर्धन—हे मित्रोंको बढ़ानेवाले राजन्! तू अपने स्थानपर स्थिर रह।

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूवन्—(४।८।३)—राज गरीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलङ्कृत करें।

श्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः—लक्ष्मीकी बड़ (राजा) धारण करता है और स्वकीय तेजसे युक्त होकर (अपने राज्यमें) घूमता है।

महत्तद् वृष्णाः असुरस्य नाम— उस बलवान् धाण-
रक्षकका ही यह यहा है ।

विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ— अनेक रूपोंको धारण
करके वह अनेक अमरभावोंमें रहता है ।

व्याघ्रो अघि वैयाघ्रे विक्रमस्व दिशो महीः—
(१।८।१४) — व्याघ्रके समान क्रूर स्वभाववाले दुष्टों-
पर व्याघ्र घनकर विशाल दिशाओंमें विशेष परा-
क्रम कर ।

विशङ्कत्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजाएं तुझे चाहें ।
यथा सो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सचिता फारत् (१।८।१५)
— जिससे तू मित्रोंको बढ़ानेवाला हो सकेगा वैसा
तुझे सूर्य करे ।

आ त्वा हार्पमन्तरभूः भुवस्तिष्ठाविवाचलिः (१।८।१६)
— तुझे मैंने यहाँ राजगद्दीपर लाया है, तू यहाँ
स्थिर रह, खंचल मत बन ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु— सब प्रजा तेरी ही इच्छा
करे ।

मा त्वत् राष्ट्रमधि भ्रशत्— तुझसे राष्ट्र छट न हो ।
इद्वैधि, मापच्योष्ठाः- (१।८।१७)— यहाँ जा, कभी
मत गिर जा ।

पर्वत इवाधिवाचलिः— पर्वतके समान स्थिर रह ।
इह राष्ट्रमु धारय— यहाँ राष्ट्रका धारण कर ।
भुवो राजा विशामयं— प्रजाओंका यह राजा स्थिर है ।
राष्ट्रं धारयताद् भुवम्— राष्ट्रको स्थिर रूपसे धारण
करे ।

भुवो अच्युतः प्रमृणीहि शत्रून्— स्थिर और न गिरने
वाला होकर शत्रुओंका नाश कर ।

शत्रूयतोऽधरान् पादयस्व (१।८।१८) — शत्रुता
करनेवालोंको नीचे गिरा दे ।

भुवाय ते समितिः कल्पयतामिह— तेरी स्थिरताके
छिये यहाँ यह समिति समर्थ हो ।

प्रभु विश्वका राजा है । और पृथ्वीपरके छोटे राज्यका
शासक है । इन दोनोंमें समान गुण चाहिये ।

विश्वशक्तका चालक

अनङ्घ्रान् दाधार पृथिवीमुत धाम्, अनङ्घ्रान्
दाधारोर्नारिक्म (१।१।१)— पृथ्वी, पृ

और यह विशाल अन्तरिक्षको आधार देनेवाला एक
बैल (सामर्थ्यवान् प्रभु) है । (अनङ्घ्रान्— विश्व-
शक्त चलावेवाला, विश्वका संचालक ।)

अनङ्घ्रान् विश्वं भुवनमा विवेश— यह विश्वसंचालक
सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ।

भूतं भविष्यद्भुवनं दुदानः सर्वा देवानां चरति
घृतानि (१।१।१२)— मृत, भविष्य और वर्तमान
कालके पदार्थोंको दुदता है और सब देवोंके घृतोंको
चलाता है ।

यः विश्वजित् विश्वभृत् विश्वकर्मा (१।१।१५)—
जो विश्वको जीतनेवाला, विश्वका भरणपोषण करने-
वाला और सबका कर्मा है ।

इन्द्रो रूपेणाग्निः घृहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्
(१।१।१७)— विश्वका स्वामी अग्नि है, वही प्रजा-
पालक, परमस्थानमें रहनेवाला विराट् है ।

अग्निः— अग्रणी ।

सोऽदंहयत सोऽधारयत— उसने सबको बलवान्
बनाया और धारण किया है ।

संपूर्ण विश्व एक गाँधी है, रथ है, उसका संचालन करने
वाला बैल या घोड़ा है । वही प्रभु है । विश्वका संचालन
इससे अधिक उत्तम रीतिसे करनेवाला दूसरा कोई नहीं
है । यहाँ बैलकी उपमा ईश्वरको दी है वह उसका संचालक
विध्वंसर है यह बतातेके लिये यह उत्तम उपमा है ।

जनक देव

सो अपश्यज्जनितारमग्रे (१।१।१९) प्रारंभमें उल्लेख
सबके उत्पन्नकर्ता देवको देखा ।

स्वर्ग्योतिरगामहम् (१।१।२०)— मैं आत्मिक ज्योतिर्को
प्राप्त हुआ हूँ ।

अग्ने मेहि प्रथमो देयतानां चक्षुर्वैयानामुत मानुषा-
णाम् । (१।१।२५)— हे अग्ने ! तू देवोंमें प्रथम
है, तू देवोंका और मानवोंका आँख है ।

सबका उत्पन्नकर्ता वह एक प्रभु है । सब देवोंमें वह
प्रथम है । वह एक ही एक है, वह अद्वितीय है । इस विश्वका
अनिता एक ही है क्योंकि सर्वत्र एक वैसा नियम है, सर्वत्र
संचालनकी व्यवस्था एक ही है । उत्पत्ति स्थिति लयमें एक
ही नियम सर्वत्र है । यह एक नियम जिन ऋषिजने देखा

वे उसका वर्णन करने लगे कि यह एक आद्वितीय है। सर्वत्र यह एक नियम देखा जा रहा है। इस नियमको देखना और उस नियमके संचालकका सामर्थ्य जानना अत्यावश्यक है।

क्षत्रिय-राजा

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं मे (४।२।१) — हे इन्द्र! मेरे इस क्षत्रियको बढाओ।

इयं विश्वामेकवृषं कृणु त्वं — प्रजाओंमें इसको आद्वितीय बलवान् कर।

निरमित्रान् अक्षुण्णस्य सर्वान् — इस वीरके सब शत्रुओंको शत्रुताहीन कर।

तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु — स्वर्णोंमें इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

वर्ष्म क्षत्राणां अयमस्तु राजा (४।२।२) — यह राजा क्षात्र गुणोंकी शूर्ति बने।

शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै — इसके सब शत्रुओंका नाश कर।

अयमस्तु घनपतिर्घनानां — (४।२।३) यह सब धनोंका स्वामी हो।

अयं विशां विश्वपतिरस्तु राजा — यह प्रजाओंका पालक राजा हो।

असिश्चिन्द्र महि चर्चांसि घेहि — हे इन्द्र! इस राजामें घटे तेजोंकी स्थापन कर।

अवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य — इसके शत्रुको निस्तेज कर।

अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् (४।२।४) — यह राजा प्रभुको प्रिय हो।

येन जयन्ति न पराजयन्ते — (४।२।५) — जिससे जय होता है और कभी पराजय नहीं होता (यह शत्रु में तुम्हें देना हूँ।)

यस्त्वा करदेकवृषं जनानां उत्तं राशामुत्तमं मानवानां — जो तुम्हें जनोंमें आद्वितीय बलवान्, राजाओंमें उत्तम तथा मानवोंमें श्रेष्ठ बनाता है।

उत्तरस्त्वयं अघरे ते सप्तनाः ये के च राजन् प्रति शत्रवस्ते (४।२।६) — वरूणा हो, मेरे शत्रु नीचे हों, हे राजन्! मेरे शत्रु अथ पातको जाय।

सिंहप्रतीको विशो आदि सर्वाः — (४।२।७) सिंहके समान सब प्रजाओंसे भोग ग्रहण कर।

व्याघ्रप्रतीको अथ याघस्य शत्रून् — व्याघ्रके समान शत्रुको बाघा पट्टवानो।

जिगीवां शत्रूयतामाप्तिदा भोजनानि — विजयी होकर शत्रुता करनेवालोंके भोग खाँच के खाओ।

इस तरह क्षत्रिय राजा क्या करे, कैसा उत्तम हो, किस रीतिसे विजयको प्राप्त हो इस विषयमें वेदमंत्रोंमें सुभाषितों द्वारा उपदेश मिलता है। मनुष्य अपनेमें वीरता बढावे, शत्रुको दूर करे, यश कमावे और बंदनीय बने। सब लोग इसकी प्रशंसा करें ऐसा यह वीर अपना बर्ताव रखे।

शत्रु

हिरुद् नमन्तु शत्रवः (४।३।१) — हमारे शत्रु नीचे रहकर नष्ट हों।

परेणैतु पथा वृकः (४।३।२) — हमसे दूरके मार्गसे भेदियां चला जावे (यह हमारे पास न आवे)।

परेणोत तत्करः — चोर हमसे दूर रहे।

परेण दत्त्वती रज्जुः — दोतवाकी सीढ़ीन हमसे दूर हो।

परेणाघातुर्यतु — पापी हमसे दूर रहे।

व्याघ्रं दत्त्वतां धर्यं प्रथमं जम्भयामसि (४।३।४) — दोतवालोंमें हम पहिले व्याघ्रको नष्ट करते हैं।

आतु घ्नैनमयो आहि यातुघ्नानमयो वृकम् — चोर, साँव, भेदिये और पातना देनेवालेको हम नष्ट करते हैं।

यो अद्य स्तेन आर्योति स संपिष्टो अपायति — (४।३।५) आज जो चोर हमारे पास जाया है, वह चूर्ण होकर दूर जाया है (इतनी स्वधरक्षणकी) हमारी तैयारी है।

पथापध्वंसनेनैतु — (यह चोर आदि) बिनाघके मार्गसे चला जाय।

इन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् — इन्द्र वज्रसे शत्रुको मारे।

योऽस्मान् मरुणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते, सर्वं तं रंध्यामसि (४।६।१) — हे जानी देव! जो तुझ हमें अभिमानसे नीचे देखता है उस सबका हम नाश करते हैं।

यो नः सोमामिदासति सनाभिर्यज्ञं निष्ठयः। अप तस्य वलं तिर (४।६।३) — जो सनाभ्रीय अथवा नीचे हमें दास बनानेकी इच्छा करता है उसके बलको नीचे कर।

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति, यज्ञे-
णास्य मुखे जहि (१।१।२)— हम उत्तम
बोलेनेपर भी जो दुष्ट हमें पराधीन करना चाहता
है, उसके मुखपर यज्ञका आघात कर ।

पराशर ! त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दय (१।१।१)—
हे दूरसे बाण मारनेवाले धीर ! तू उन शत्रुओंके
बलको दूर करके नाश कर ।

अधा नो रयिमा भर— और हमें धन भर दो ।

निर्हस्ताः शत्रुव्यः स्थन (१।१।२)— शत्रु हस्तरहित
हों ।

अक्षेपां गलापयामसि (१।१।३)— हम इनके अगोंको
निर्बल बनाते हैं ।

अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो विभजामहे— हे इन्द्र !
अब हम इनके धनोको आपसमें बांट देंगे ।

मुह्यन्त्यधामुः सेना अभिग्राणां परस्तराम् (१।१।१)
— शत्रुकी सेना दूरतक बहरी जाय ।

मूढा अभिग्राश्वरताशीर्षाण इवाहयः (१।१।२)—
सिर टूटे साँपके समान शत्रु मूढ़ होकर विचरें ।

तेषां यो अग्निमूढानां इन्द्रो हन्तुं धरं धरं— उन मूढ़
वने धीरोंके श्रेष्ठ श्रेष्ठ धीरोंको इन्द्र मारे ।

इस तरह युक्तिके शत्रुका पराभव किया जाय और अपने
जयका संपादन किया जाय ।

आत्मचल

सूर्यो मे चक्षुः, पातः प्राणो, अन्तरिक्षमात्मा, पृथिवी
शरीरं, अस्तुतो नामाहमयमसि (५।१।०)—
सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा
है, पृथिवी शरीर है, अमर नामवाला मैं हूँ ।

सत्यमहं गभीरः काप्येन, सत्यं जातेनासि जातयेदाः
(५।१।१)— मैं काय बनानेके कारण गभीर हूँ
यह सत्य है, यह काय होनेसे मुझे आतवेदा
कहते हैं ।

न मे दासो नायौ मदित्या मतं मीमाय यदहं
धरिष्ये— जो व्रत मैं धारण करता हूँ उसको मह-
त्वके कारण न दास छोड़ सकता, न नाय छोड़
सकता है ।

न त्वदन्यः कवितरो, न मेधया धीरतरो वरुण
स्वधावान् (५।१।४)— हे वरुण ! तेरेसे निम्न
कोई दूसरा अधिक ज्ञानी नहीं है, न मेधासे अधिक
धीर और अपनी धारणशक्तिसे युक्त है ।

त्वं ता विश्वा भुवनानि धेत्य— तू उन सब भुवनोंको
जानता है ।

स चिन्तु त्वज्जनो मायी यिमाय— कपटी मनुष्य तुझसे
ब्रता है ।

त्वं ... विश्वा धेत्यजनिमा सुप्रणीते— तू सब जन्मोंको
जानता है ।

अधोयच्चसः पणयो भवन्तु (५।१।१)— दुष्ट स्व-
हार करनेवाले पणिये नीच मुक्त करनेवाले हों ।

नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमि— दास लोग नीचेसे
भूमिपर चढ़ें ।

भारमाका बल इन् युक्तियोंके मननसे बढ़ सकता है ।
पाठक इस कारण इनका मनन करें ।

आत्मोन्नति

सप्त मर्यादाः कथयस्ततः, तासामिदेकां अग्रंद्गुरो
गात् (५।१।१)— ज्ञानियोंके सात मर्यादाएँ
निश्चित की हैं । इनमेंसे एकका भी उल्लंघन किया
जाय तो मनुष्य पापी होगा ।

उतामृतासुर्यंत पामि कृण्वन् (५।१।०)— व्रतका
धारण करके मैं अमर प्राणके बलसे युक्त होऊँगा ।

उत पुनः पितरं क्षत्रमोदे (५।१।०)— पुनः अपने
रक्षक पिताकी स्तुति करता है ।

उपेष्टं मर्यादं ब्रह्मयन्त्यस्तये— मर्यादाकी स्थापना करने-
वाले श्रेष्ठका कथन करनेके लिये प्राणोंका करता है ।

सात मर्यादोंका पाठन करना आत्मोन्नतिके लिये
अत्यंत आवश्यक है । यह जितना पाठन किया जाय उतना
लभ होगा । हिंसा न करना, चोरी न करना, कूटिलतासे
दूर रहना, स्वभिचार न करना, असत्य न बोलना, बाँबा-
बाप न करना आदि मर्यादाएँ हैं जो मनुष्यको अपनी उन्न-
तिके साधन करनेके लिये पाठन करना अत्यंत आवश्यक
है । ' अमृतासुः ' मैं बन्गा । प्राण मेरे शरीरमें दीर्घ-
काल तक रहे । इस सब अनुष्ठानका यही उद्देश्य है ।

आत्मशुद्धि

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनयो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पचमानः पुनातु मा (१।१९।१)
— देवजन मुझे पवित्र करें, मननशील ज्ञानी मुझे शुद्धिसे पवित्र करें, सब भूत मुझे पवित्र करें, पापु मुझे पवित्र करे ।

पावमानः पुनातु मा कृते दक्षाय जीवसे, अथो अरिष्टतातये । (१।१९।२)— पवित्र करनेवाला देव पुरुषार्थ, दक्षता, दीर्घायुष्य तथा कल्याण होनेके लिये मुझे पवित्र करे ।

साधार्थ यह है कि अपनी पवित्रताका साधन हरएकको करना चाहिये, स्वयं ही यह अनुष्ठान करना चाहिये । आत्म-शुद्धिमें शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि, जन्तुःकरणकी शुद्धि है । यह स्वयं जिसकी उद्दीने करनी चाहिये । अतः आत्मशुद्धि करनेके लिये हरएकको दक्षतासे सिद्ध रहना चाहिये ।

उत्कर्ष

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजा-पतिर्बुधा शुभ्रेण याजिना (१।२०।१)— उषा, सूर्य ये जैसे उदयको प्राप्त होते हैं, वैसे प्रजाका पालक राजा और मेरी बोधणा उत्कर्षको प्राप्त हों ।

उषा, सूर्य ये कैसे उदयको प्राप्त होते हैं। ये स्वयं अपना उदय करते हैं, ये स्वयं प्रयत्नशील हैं । उस तरह हरएक अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न करे । सूर्यका आदर्श लोग अपने सामने सदा रखे ।

प्रजाका पालक राजा अपना उत्कर्ष करनेकी पराकाष्ठा करे और वह सब प्रजाका उत्कर्ष करनेके साधन सबको सहज प्राप्त हों ऐसा करे । इससे सब प्रजाका उत्कर्ष ही सहेगा ।

ज्ञानी लोग स्वयं (मामकं वचः) अपना भाषण ऐसा करें कि सुनेवालोंके सामने उत्कर्षका मार्ग खुला हो । इस तरह सबकी उन्नति हो सकती है ।

उत्तम बनना

सवन्पुश्चासवन्पुष्ट यो अस्मां अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिव अहं भूयासमुत्तमः । (१।२०।२)— अपना भाई हो या बूरा हो, जो हमें दास

बनाता है, बुझोंमें जैसी वह उत्तम है वैसे मैं बनने उत्तम होऊंगा ।

किसीने दास नहीं बनना है । सबने भाएँ अर्थात् श्रेष्ठ बनना है । इसलिये यदि कोई किसीको दास बनानेका यत्न करता है तो वह सफल न हो, ऐसा करना हरएकका कर्तव्य है ।

तथा हरएकने मनमें ऐसा विचार रखना चाहिये कि 'अहं भूयासं उत्तमः' मैं उत्तम बनूंगा । मैं सबमें उत्तम बनूंगा । यह विचार प्रयत्न करके मनुष्यको अपने मनमें धारण करना चाहिये और वैसे आचरण करना चाहिये । और यत्न करके सबमें श्रेष्ठ बनना चाहिये ।

उत्साहसे धीरत्वकी वृद्धि

अग्निरिव मन्यो त्विपितः सहस्र सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि (१।२१।२)— अग्निके समान हे ब्रह्माह । तू तेजस्वी होकर शत्रुको पराजित कर । हे समर्थ ! तू प्रार्थना करनेपर हमारा सेनापति हो ।

हत्वाय शत्रून् वि भजस्व वेदः— शत्रुको मारकर बनको बाँट ।

ओजो विमानो वि मृष्टो नुदस्व— अपनी शक्ति बढ़ाकर शत्रुको हरा दो ।

सहस्र मन्यो अभिमातिर्ममै (१।२१।३)— हे ब्रह्माह । हमारे शत्रुको पराजित कर ।

रजन् मृणन् प्रमृणन् मेदि शत्रून्— शत्रुओंको तोड़ता, मारता, कुचकटा हुआ शत्रुओंपर चढ़ाई कर ।

उमं ते पाजो नन्या रदधे— तेरा हथ तेज निश्रयसे शत्रुकी रोकेश ।

शरिरे शरं सप्राज्ञा पृकज त्वं— तू संयमी आद्वितीय वीर होकर शत्रुकी वशमें करेगा ।

एको बहूनामसि मन्य ईडिता (१।२१।४)— हे ब्रह्माह । तू अकेला बहुतोंमें सत्कार पाता है ।

विशं विशं युद्धाय सं शिशाधि— तू प्रत्येक मनुष्यको युद्धके लिये शिक्षित कर ।

अहत्तरुं त्वया युजा वयं द्युमन्तं योयं विजयाय कृणमसि— अटूट प्रकाशवाले ! तेरे साथ हम हर्ष-युक्त धीर विजयके लिये करेंगे ।

विज्ञेयकृदिन्द्र इवानवप्रवोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेद् (१।३।१५) — हे उस्ताह ! तू विजय करने-वाला, इन्द्रके समान उत्तम बोलनेवाला होकर यहाँ हमारा स्वामी हो ।

प्रियं ते नाम सहुरे शृणीमसि — हे समर्थ ! तेरा प्रिय नाम हम बोलते हैं ।

संसृष्टं धनं उभयं समाकृतं अस्मभ्यं घत्ता (१।३।१७) — एकत्रित किया दोनों प्रकारका धन हमारे किये दे दो ।

भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्तां — हृदयोंमें भयकी धारण करनेवाले शत्रु पराभूत होकर बुर भाग जावें ।

यस्ते मन्योऽधिघद् यज्ञ सायक सह ओजाः पुष्यति विश्वमानुषक् (१।३।१९) — हे वज्रादिबाह्ययुक्त उस्ताह ! जो तेरा सेवन करता है वह सब बल और सामर्थ्यको पुष्ट करता है ।

साह्याम दासमार्यं त्वया युजा — तेरे साथ हम दासों और नायोंको अपने वशमें करेंगे ।

धर्यं सहस्त्रहेन सहसा सहस्यता — हम बलकी बढानेवाले सामर्थ्यसे युक्त होंगे ।

मन्युर्विंश इन्दते मानुषीयोः (१।३।२०) — मनुष्योंकी प्रजाएँ उस्ताहकी प्रशंसा करते हैं ।

पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः — हे उस्ताह ! उस्ताह युक्त किये तपसे हमारा रक्षण कर ।

अमीहि मन्यो तपस्तप्रीयान् तपसा युजा यि जहि शत्रून् (१।३।२१) — हे मन्यो ! तू महा शक्ति-वाला यहाँ ना । अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर ।

अभिभ्रहो वृष्टहा दस्युहा च विश्वा घसृग्या मरा एवं नः (१।३।२२) — दुष्ट शत्रु और चोरका नाश कर और हमें सब धन द्यो दे ।

एवं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूमामो अभिमा-तिपाहः (१।३।२३) — हे उस्ताह ! तू विजयी बभूसे युक्त हो, अपनी शक्तिके रहनेवाला तेजस्वी और शत्रुका पराभव करनेवाला है ।

विश्वचरणिः सहुरि सदीयान् अस्मास्वोऽजः पृत-नासु धेहि — तू सबका निरीक्षण, समर्थ और बलवान् हमारी सेनामें बलको रख ।

ते त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीवाहं स्वा तनूर्वलवाधा न एहि (१।३।२५) — हे उस्ताह ! कर्महीनता होकर मैं तेरे पास आ गया हूँ । हमें अपने शरीरसे बल दे । (हमें उस्ताहित कर ।)

मन्यो यजिन् अमि वा ययुस्त्व हनाय दस्यूंदत बोध्यापेः — हे बाह्ययुक्त उस्ताह ! तू हमारे पास ना । मित्रोंकी पहचानो, हम शत्रुओंको मारें ।

अमि मेहि (१।३।२६) — नागो बढ ।

नः दक्षिणतः भव — हमारे दाहिनी ओर हो जा ।

नोऽघा वृत्राणि जघनाव भूरि — अब हम अपने सब शत्रुओंको बहुत संख्यामें मारेंगे ।

इस तरह शत्रुको परास्त करनेके सुभाषित हैं । ये बड़े बोधमय, मार्गदर्शक और प्रत्यक्ष कामका मार्ग दिखानेवाले हैं ।

अनको दूर करना

इदं तद्वसे अनृणो भवामि (१।११।०१) — हे भस्मे ! मैं उज्ज्वल होता हूँ ।

अनृणा अस्मिन्, अनृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम (१।११।०२) — हम छोकमें उज्ज्वल, परछोकमें उज्ज्वल, और तीसरे छोकमें भी हम उज्ज्वल होंगे ।

सर्वां पथो अनृणा आक्षिपेम — सब मार्गोंपर उज्ज्वल होकर रहेंगे ।

यन्ध्यान्मंचामि यज्ञके (१।१२।१७) — बन्धनसे बंधे हुएको छोड़ता हूँ ।

अज्ञसे मुक्त होना चाहिये । मनुष्य बाधनमें विद्या सीखता है वह अज्ञ ही है । विद्या दान करनेसे यह अज्ञ दूर हो सकता है । हायक यह देखें कि मैं जो अज्ञ कर रहा हूँ वह मैं बाधन करता हूँ या नहीं । इसीका विचार करें और अज्ञमें मैं अज्ञसे मुक्त हो गया हूँ ऐसा देखें । उज्ज्वल होता हायकका कर्तव्य है ।

मैं — आत्मशक्ति

अदं दग्नेमिर्घसुभिः चरामि, अदं भावित्यैवत विश्व-

देवैः (४।३।१) — मैं रुद्रों, वसुओंके साथ चलता हूँ, मैं आदित्यों और सप्त देवोंके साथ चलता हूँ ।

अहं मित्रावरुणोभा विमर्षि, अहं इन्द्राग्नी, अहम-
श्विनोभा — मैं दोनों मित्र वरुणको, इन्द्र-अग्निको
और दोनों अश्विनोको धारण करता हूँ ।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञि-
यानाम् (४।३।२) — मैं तेजस्विनी राष्ट्रघाति
धनोको एकत्रिण करनेवाली हूँ । पूजनीयोंमें पहिली
पूजाके योग्य हूँ ।

तां मा देवा व्यदधुः पुरुषा भूरिस्थाना भूपांवेश-
यन्तः — उस मुझको बहुत उससाहको धारण करने-
वाले देवोंने अनेक प्रकारसे धारण किया है ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषा-
णाम् (४।३।३) — मैं स्वयं यह कहती हूँ जो
देवों और मानवोंको सेवा करने योग्य है ।

यं कामये तं तं उग्रं कृणोमि, तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं
सुमेधाम् — जिसको मैं चाहती हूँ उसको दूरबीर,
ब्रह्मा, ऋषि और उत्तम मेधावान् बनाती हूँ ।

मया सोऽग्रमसि, यो विपश्यति, यः प्राणति, य
ई शृणोत्युक्तम् (४।३।४) — जो यह देखता
है वह मेरी कृपासे अन्न खाता है, तथा यह जीवित
रहता है जो मेरा भाषण सुनता है ।

अमन्तघो मां त उपक्षयन्ति, शुचि श्रुत, अद्विधं
ते वदामि — मेरा अपमान करनेवाले नाशको प्राप्त
होते हैं, हे अद्वावान् ! श्रवण कर, तुझे यह मैं
कहता हूँ ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्माहिपे शरये हन्तया उ
(४।३।५) — शान्तके विद्रोषी, घातपातीको मार-
नेके लिये, मैं रुद्रको धनुष्य तनाकर देती हूँ ।

अहं जनाय समदं कृणोमि — मैं जनोके हितके लिये
युद्ध करती हूँ । (मैं लोगोंके लिये हर्ष बढ़ानेकी
चाह करता हूँ ।)

अहं दधामि द्रविणा हविष्मते (४।३।६) — मैं हवन
करनेवालेको धन देती हूँ ।

अहं सुये पितरं अस्य मूर्धन् — (४।३।७) मैं इस
राष्ट्रके सिरपर पाककरी रखती हूँ ।

अहमेव यात इव प्र वाभ्यारभमाणा भुवनानि विश्वा
(४।३।८) — सप्त भुवनोंको बनानेवाली मैं ही
राष्ट्रके समान सर्वत्र फैलती हूँ ।

परो दिवा पर एना पृथिव्या एतावती महिम्ना सं
यभूव — तुलोकसे परे, इस पृथिवीसे भी परे अपनी
महिमासे फैलती हूँ ।

यह परमात्माका वर्णन है, शरीरबारी जीवमात्मा भी यही
वर्णन है । क्योंकि मानव शरीरमें ये सप्त देवताएँ रहती हैं
और इनका धारण जीवमात्मा करता है । यह ज्ञान आत्म-
घातिका सामर्थ्य बता रहा है । मनुष्य इसका धारण
विचार करे और विश्वदेही परमात्मामें भी यह देखे और
अपनेमें भी देखे और दोनों स्थानोंमें यह वर्णन समान
रीतिसे लगता है इसका अनुभव करे । आत्मघातिका महत्त्व
इस रीतिसे जाना जा सकता है ।

तीन देवियां

तिस्रो देवीर्यहिरेदं सद्गन्तां इडा सरस्वती मही
भारती गृणाना । (५।२।१) — तीन देवताएँ
अन्न-करणमें बैठें, वाणी (मातृभाषा), सरस्वती
(मातृप्रभ्यता) और भारती (राष्ट्रभूमि भारती) ।
मातृभाषा, मातृप्रभ्यता और मातृभूमि ये तीन देवियां
हैं जो हरएक मनुष्यके मनमें आदरके साथ रहनी चाहिये ।
प्रत्येक मनुष्य मातृभूमिकी सक्ति करे, मातृप्रभ्यताके विष-
यमें सदा आदरभाव मनमें रखे और मातृभाषाका उत्तम
अध्ययन करे ।

ये तीन देवियां मानवका उद्धार कर सकती हैं ।

सत्यका बल

तान् सत्यीजाः प्र दहत्यग्निर्वैश्वानरो वृषा । यो नो
दुरस्यात् दिप्साद्याथो यो नो अततीयात्
(५।२।२) — सत्यके बलवाला वैश्वानर बलवान्
अग्नि इनको जलावे जो हमें बुरी अवस्थामें डाले, जो
हमारा नाश करे, और जो शत्रुता करे ।

यो नो दिप्साद्विप्सतो विप्सतो यच्च विप्सति ।
वैश्वानरस्य वंष्ट्रयोरस्त्रेऽपि दधामि तं (५।२।३)
— जो नाश न करनेवाले हमारा नाश करे, जो विना-
शको कष्ट देता है, उसको हम वैश्वानर अग्निके
जबकेमें देते हैं ।

क्रव्यादो अग्न्यान्दिप्सतः सर्वोस्तान्सहसा सहे
(५३६।३)— जो मांसभोजी दूसरोंको कष्ट देते
हैं, उन सबका हम अपने बलसे परामर्ष करते हैं ।
सहे पिशाचान्सहसा एषां द्रविणं ददे (५३६।४)—
रक्त पीनेवालोंका अपने बलसे परामर्ष करता हूं और
उनका घन मैं लेता हूं ।

सर्धान् दुरस्यतो हस्मि— सब दुष्टोंको मारता हूं ।
सं म आकृतिश्रृंघयताम्— मेरा संकल्प सफल हो ।
तपनो अस्मि पिशाचानां— रक्त पीनेवालोंको तपाने-
वाला मैं हूं ।

ते न्यञ्जनं न विन्दते— वे दुष्ट अपने लिये रक्षण प्राप्त
नहीं करते ।

न पिशाचैः सं शफ्नोमि न स्तेनैर्न घनगुंभिः— रक्त
पीनेवालों चोरों और ढाकूनोंसे मैं मेरु करना नहीं
चाहता ।

पिशाचास्तस्माद्व्यन्ति यमहं ग्राममाविशे (५३६।
५)— रक्त पीनेवाले उस ग्रामसे दूर होते हैं जिनमें
मैं जाता हूं ।

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम, पिशाचास्तस्मा-
द्व्यन्ति न पापमुप जानते (५३६।८)—
मेरा बल और सामर्थ्य जिस ग्राममें प्रविष्ट होता है,
उस ग्रामसे सब रक्त पीनेवाले नष्ट होते हैं और वे
पापको भी जानते नहीं ।

ये मा क्रोधयन्ति लपिता तानहं मन्ये दुर्दितान्—
जो बहबहनेवाले मुझे क्रोधित करते हैं उनको मैं
दुःखमें रहनेवाले करता हूं ।

अग्नि ते निर्वृतिर्धृष्टाम् (५३६।१०)— उन दुष्टोंको
बाधा ही प्राप्त हो ।

मत्स्यो यो मह्यं शुध्यति स उ पाशाग्र मुच्यते— जो
मछिन पुरुष मुझे क्रोधित करता है वह पाशोंमें नहीं
छूटता ।

सत्यका बल प्राप्त करके इस तरह अपनी शक्ति बढ़ाकर
शत्रुको दूर करना चाहिये ।

विजय

ममग्निं यद्यो विदधेऽप्यस्तु (५३७।१)— हे जगते ! मेरा
तेज युद्धमें प्रकाशित होता रहे ।

वर्यं त्वेन्धानाः तन्वं पुपेयम्— हम तुझे प्रदीप्त करके
अपने शरीरको पुष्ट बनावें ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः— चारों दिशाओं मेरे सामने
नमैं ।

त्वयाभ्यक्षेण पृतना जयेम— तेरी अभ्यक्षतामें हम संमा-
मोंमें विजय पायेंगे ।

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां (५३७।२)— हे जगते !
शत्रुओंके क्रोधको दूर कर ।

त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वता— तू हमारा रक्षक
होकर चारों ओरसे हमारा आलन कर ।

अपाञ्चो यन्तु निपता दुरस्यवाः— दुःखदायी दुष्ट लोग
दूर चले जाय ।

अमेषां चित्तं प्रवुधां वि नेशत्— इन प्रवृद्ध दुष्टोंका
चित्त विनष्ट होवे ।

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां— देव मेरे पास घन ले
जायें ।

अरिष्टाः स्याम तन्वा सुधीराः— अपने शरीरसे नीरोग
तथा उत्तम धीर्बलान् हम बनें ।

मा नो विद्वभिमा मो अशस्तिर्मा नो विद्वं धृजिना
द्वेष्या या (५३७।३)— निर्वायिता, लकीरित, द्वेषके
योग्य पाप हमारे पास न जायें ।

मा हास्महि प्रजया— हम संतानहीन न हों ।

मा तनूभिः— शरीरसे कृश न बनें ।

मा रघाम द्विपने— शत्रुके कारण हम पीड़ित न हों ।

मा नो रीरियो मा परा दा— हमारा नाश न हो,
हमारा ह्याग न हो ।

घाता विघाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमा-
सिवाहः (५३७।९)— धारणकर्ता, निर्माणकर्ता,
भुवनका पति, सबका प्रसन्न करनेवाला, शत्रुनाशक
यह देव है ।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्तु— जो शत्रु हैं वे दूर हो ।

उग्रं चेतारमधिराजमकत (५३७।१०)— उग्रशीर चेतन
उग्ररथ करनेवालेको अधिराजा बनाया है ।

तेन रथं घाजिन् पलवान् यलेनानि जय समने
पारथिण्यः (५३७।१२)— हे कोढ़े ! उस लड़के
बलवान् होकर युद्धमें अब प्राप्त करे और संग्रामके
पार हो जा ।

इन्द्रो जयाति न पराजयाते (१।१८।१)— इन्द्र जीतता है, कभी पराजय नहीं होता ।

अधिराजो राजसु राजयाते— राजाओंमें तेजस्वीताके लिये वह प्रसिद्ध अधिराजित नहीं होता है ।

समभ्यपर्णाः पतन्तु नो नराः (१।१२१।३)— घोड़ोंपर बैठे हमारे वीर हमका चढ़ावें ।

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु— हे इन्द्र ! हमारे रथी जीत ले ।

कृणोमि भगिनं माप द्रान्धरातयः (१।१२१।१)— मुझे मातृशाली बनाओ, हमारे शत्रु दूर हों ।

वीर्यबल

सं पुंसामिन्द्र वृषण्यमस्मिन् घेहि तनुवाशिन् (४।४।४)— हे शरीरकी वशमें रखनेवाले इन्द्र ! पुरुषोंके वीर्यका बल इस पुरुषमें कारण कर ।

पुरुष वीर्यवान् बने और पराक्रम करें ।

दुन्दुभीका घोष

शुचा विध्य हृदयं परेषां ह्रित्वा प्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः । (५।१०।३)— शोकसे शत्रु-ओंका हृदय चींच, वे शत्रु दूरसे भयभीत होकर प्राम छोड़कर भाग जावें ।

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृत् यदुघा प्राम-घोषी (५।२०।९)— बड़ा शब्द करनेवाला, घोषणा करनेवाला, सेनाका विजय करनेवाला, चेतना देनेवाला, प्रामोंमें घोषणा करनेवाला दुन्दुभीका शब्द होता है ।

शत्रूपाणनीपाडमिमातिपाहो गधेषणः सहमान उद्भिन्तु । वागधीव मंत्रं प्र भरस्व चाचं संप्राम-जित्वापेयमुद् घदेह । (५।२०।११)— शत्रुकी जीतनेवाला, जित्य विजयी, वैरियोंकी वशमें काने-वाला, शत्रुको खोजनेवाला, बलवान्, शत्रुको उल्टे-नेवाला, दू डोल शब्दकी भर दे जैसा बका अपने विचारको धोतामें भर देता है । इसलिये युद्धमें विजय कमानेके लिये यही बड़ी घोषणा कर ।

विहृदयं धैमनस्यं वदामिन्नेषु दुन्दुभे (५।२।११)— शत्रुओंमें मनकी स्वाकृता तथा निश्चिन्ता डरावण कर ।

विद्वेषं कदमलं भयं निदध्मसि— द्वेष, पाप, भय शत्रु-ओंमें रख दे ।

धावन्तु विभ्यतोऽमित्राः— शत्रु दूरसे भागें ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान् अभिकन्द प्र प्रासयायो चित्तानि मोहय (५।२।१४-१)— इस तरह दू हे डोल ! गर्जना कर, दरा, और उनके चित्तोंकी मोहित कर ।

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः अमित्रान्नो जयन्तु । (५।२।१।२)— यह सूर्य झंडोंवाली देव-सेना शत्रुओंकी जीते ।

प्रामुंजय, अमीमें जयन्तु (१।१२१।३)— इस शत्रुका पराभव कर, ये वीर विजय प्राप्त करें ।

कंसुमत् दुन्दुमिवाचिर्दितु— सण्डवाला दुन्दुभी बड़ा शब्द करे ।

अपने दुन्दुभीका घोष सुनकर सैनिकोंमें वीरता बढ़ती है और डोलके शत्रुके साथ एक एक सैनिक व्यक्तिः और संवशाः बड़े शौर्यके कार्य करता है । इस कारण सैन्यके साथ दुन्दुभीका बलवत् महत्त्व है ।

रथ

वनस्पते वीड्वंगो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः । गोमिः संनद्धो वसि वीडयस्वास्थ्याता ते जयतु जेत्यानि ॥ (१।१२५।१)— हे वृक्षसे बने रथ । तू सुदृढ़ बना है, दू हमारा मित्र, दू ठारक और वीरोंसे तू युक्त हो । गोचर्मकी रक्षियोंसे बंधा है, हमें सुरक्ष कर, तूतपर चढ़नेवाला वीर जीतने योग्य धन प्राप्त करे ।

शुद्धमें विजय कमानेके लिये उत्तम रथका महत्त्व बहुत है ।

रक्षण

असन्मश्राद् दुष्टप्य्याद् दुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हा-र्दश्शुभो घोरात् तस्मात्तः पाह्यजन (४।१।१)— दुरी मंत्रणासे, दुरी स्वप्नेसे, दुष्ट कर्मसे, पापसे, दुरी हृदयसे तथा घोर रक्षिसे हमारा बचाव कर ।

स नो हिरण्यजाः बाह्वः कृशन्तः पातवंहसः (४।१०।१)— वह सुवर्णसे बना हुआ तेजस्वी दाँव हमें पापसे बचावे ।

शंखेन हृत्या रक्षांसि अत्रिणो वि पद्मामहे (१।१०।
२)— शंखसे रोगकृमियोंका मारकर हम (रक्ष-)
मक्षकोंको पराभूत करते हैं । (रक्षः— रोगकृमि,
रोगबीज । अत्रिः— मक्षक, रक्षमक्षक ।)

शंखेनामीचाममति शंखेनोत सदान्याः (१।१०।३)—
शंखसे भामरोग, बुद्धिहीनता तथा शंखसे सदा पीडा
करनेवाले रोग दूर होते हैं ।

शङ्खो नो विश्वभेषजः, कृशतः पातव्यहसः— शंख सब
रोगोंका औषध है वह कृशता दूर करनेवाला हमें
पापसे बचावे ।

दौष्यप्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्यमराय्यः । दुर्णास्त्रिः
सर्वा दुर्वासः, ता अस्मन्नाशयामसि (१।१०।
५)— बुरे स्वप्न, दुःखदायी जीवन, रोगकृमि, निबं-
लता, निस्तेजता, दुष्ट नामवाले रोग, यह सब हमसे
दूर हों और नष्ट हों । (हमारा उत्तम संरक्षण हो ।)

धुधामारं वृष्णामारं अगोतां अनपत्यतां, अपामार्गं ।
त्वया ययं सर्वं तदप मृज्महे (१।१०।६)—
धुबा और वृष्णके रोग, बाणिके दोष, संगतान न
होना आदि दोष हे अपामार्ग । तेरी सहायतासे यह
सब हम दूर करते हैं ।

अपामार्गं औषधीनां सर्वासं एक इद्वशी, तेन ते
मृज्म आस्थिते, अथ त्वं अगदध्वर । (१।१०।
८)— हे अपामार्ग ! तू सब औषधीयोंको वश
करनेवाला है, इस कारण तेरे द्वारा हम शरीरस्थित
रोगको दूर करते हैं । हे रोगी ! मक्ष तू भीरोग होकर
बच ।

अपमृज्म यातुघानानप सर्वां अराय्यः (१।१०।९)—
घातना देनेवाले तथा निस्तेजता बढानेवाले (रोग-
बीजको हम अपामार्गसे दूर करते हैं ।)

उत त्रातासि पाकस्यापो हन्तासि रक्षसः (१।१०।
१०)— हे अपामार्ग ! तू परिपक्वताका रक्षक और
रोगकृमियोंका नाशक है ।

यः कृत्वाहन्मूलकृधातुघानो नि तस्मिन्धत्तं यज-
मुमौ (१।१०।११)— जो रिसक है, जो मूलको
काटता है ऐसे घातना देनेवालेपर तुम दोनों वज्र
मारो ।

हुँसेसे अपना रक्षण होना चाहिये । अपना सामर्थ्य
बढना चाहिये । अपने साधन उत्तम रहने चाहिये । उत्तमसे
उत्तम शस्त्र और मक्ष अपने पास रहने चाहिये । जिससे
अपना रक्षण होगा और हम विजयी हो सकेंगे ।

पापमोचन

अप नः शोशुचदधम् (१।११।१)— हमारा पाप
दूर हो ।

अग्ने शुशुभया रयिं— हे अग्ने ! धनको शुद्ध कर ।
सुश्रेयिया सुमातुया यस्तथा च यजामहे (१।११।२)—
उत्तम क्षेत्र, उत्तम भूमि तथा धनसे यज्ञ करते हैं ।

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते यपम् (१।११।३)
— हे अग्ने ! जो तेरे विद्वान् है, वैसे हम हो जायेंगे ।

प्र यद्ग्रेः सहस्रतो विश्वतो यन्ति भानयः (१।११।
५)— बलवान् अग्नि के किरण जैसे चारों ओर फैलते
हैं । (वैसे हमारा तेज फैले ।)

त्वं हि विश्वतो मुख विश्वतः परिभूरसि (१।११।६)
— तू सब ओर मुखवाला हो । तू सब ओरसे चारों
ओर हो (तू सर्वत्र व्यापक हो ।)

द्विपो नो विश्वतोमुख अति नायेव पारय (१।११।
७)— हे सब ओर मुखवाले, शत्रुओंसे हमें पार
कराओ, जैसे नौकासे सागर पार करते हैं ।

स नः सिन्धुमिव नाघाति पर्षा स्वस्तये— (१।११।
८)— यह हमें नौकासे सागरको पार करते हैं वैसे
कवयाण प्राप्त करनेके लिये हमें दुःखसे पार करे ।

एकता

सं जानीष्यं (१।११।१)— मिलकर रहनेका ज्ञान प्राप्त
करो ।

सं पूच्यध्वं— मिलकर एक होकर रहो ।

सं घो मनांसि जानताम्— अपने मनोंकी शुभसंस्कार-
संपन्न करो ।

देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते— प्राचीन-
काकके ज्ञानी लोग जिस तरह अपने कर्तव्यका भाग
स्वयं करते थे, वैसे तुम करो ।

समानो मन्त्रः (१।११।२)— तुम्हारा विचार समान हो ।

समितिः समानी— तुम्हारी समा सबके लिये समान हो ।

समानं व्रतं— तुम्हारा सबका एक व्रत हो ।

सह चित्तमेवा— इन सबका चित्त समान हो ।

समानी च आकृतिः (६।६।३)— तुम्हारा सकल एक हो ।

समाना हृदयानि च — तुम्हारे हृदय एक हों ।

समानमस्तु वो मनः — आपका मन समान हो ।

यथा च सुसहासति— इससे तुम सब मिलकर रह सकोगे ।

स घो मनांसि स वता समाकृतिर्नामसि (६।९।१)
— तुम्हारे मन, वत और सकलियोंको एक विचारसे युक्त करता हू ।

अमी ये विव्रताः स्थन तान्व स नमयामासि— यह जो परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हैं उन तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं ।

अहं शृणामि मनसा मनांसि (६।९।२)— मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको एक विचारसे युक्त करता हू ।

मम चित्तमनु चित्तेभिरेत— मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको मिला दो ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि— मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हू ।

मम यानमनु घर्तमान एत— मेरे मार्गके अनुकूल तुम चलो ।

अपने समाजमें और राष्ट्रमें, सब पक्षोंमें, जनतामें, या जातियोंमें एकता रहनी चाहिये । एकतासे बल बढ़ता है, शक्ति बढ़ती है और विजय मिलता है ।

संयम

एजदेज्ज अग्रम चक्षु (३।५।४)— चबल नासिका मैंने निग्रह किया है ।

प्राण अजग्रभ— प्राणका मैंने संयम किया है ।

रात्रीणा अति शयिरे सर्घा अगानि अजग्रभ— रात्री के उत्तर भागमें मैं अपने सब नासोंका निग्रह करता हू ।

अपनी एकाग्रता होनी चाहिये । इन्द्रियों और मनका निग्रह किया तो ही यह एकाग्रता सिद्ध हो सकती है ।

मृत्युको दूर करना

य ओद्नं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापति तपसा ब्रह्मणे अपचत् । (३।३।१)— जिस ब्रह्मको सत्य निय

मोंका पहिला प्रवर्तक प्रजापति तपसे ब्रह्मके लिये पकाता रहा ।

य. लोकाना विधृति— जो लोकोंका धारण करता है ।
तेन ओद्नेनानि तराणि मृत्यु (१-७)— उस अन्नसे मैं मृत्युको तरा हू ।

येन अतितरन् भूतवृत्तौऽपि मृत्युम् (३।३।२)— जिससे भूतोंको बननेवालोंने मृत्युको पार किया ।

यमन्वविन्दन् तपसा भ्रमेण— जिसको तप तथा धर्मसे प्राप्त किया था ।

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजस (३।३।३)— जिसने सबको भोजन देनेवाली पृथिवीका धारण किया ।

यो अन्तरिक्षमापूणाद्रसेन— जिसने रससे जलसे-अन्तरिक्षको भर दिया ।

यो अस्तज्ञाद्विषमूध्रौ महिम्ना— जिसने सुकोकड़ो अपनी महिमासे धारण किया है ।

यसान्मासा निर्मितास्त्रिशदरा (३।३।४)— जिसने तीस दिनवाले महिने बनाये ।

संवत्सरो यसाधिमितो द्वादशार— जिससे बारह मासोंका वर्ष बना है ।

अहोरात्रा य परियन्तो नापु— चलनेवाले दिन और रात्रि जिसको प्राप्त कर नहीं सकते ।

य प्राणद प्राणद्वान् वभूव— जो जीवन देनेवाला प्राणदातामोंका स्वामी हुआ है ।

यस्मात्पकादमृतं सवभूव— जिस पके हुएसे अमृत कापत्र हुआ है ।

यो गायत्र्या अघिपतिर्वभूव— जो गायत्रीका स्वामी हुआ ।

यास्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपा— जिसमें सब मन्त्रोंके वेद रहे हैं ।

अव याधे द्विपन्त देवरीयु (३।३।७)— देवोंके विनाशक शत्रुओंको मैं दूर करता हू ।

सपरना ये मेऽप ते भगन्तु— जो मेरे शत्रु हैं वे दूर हों ।
ब्रह्मोद्वन विश्वजित पचामि शृण्वन्तु मे श्रेष्ठयानस्य देवा— विश्वको जीतनेवाला ज्ञानरूपी अन्न मैं पकाता हू सब देव अन्नवात् मेरा यह मापण सुनें ।

मृत्युको दूर करनेका अर्थ दीर्घ आयु प्राप्त करनी है ।

अतः देखिये कि दीर्घायुके विषयमें सुभाषित कैसे हैं—

दीर्घायु

स नो हिरण्यजाः शंखः आयुष्प्रतरणो मणिः । (४।१०।

४)— यह सुवर्णयुक्त शंख हमारा आयु बढ़ानेवाला मणि हो ।

प्र ण आयुषि प्रतारिपत् । (४।१०।६)—(शंख) हमारी आयु बढ़ावे ।

देवानामस्थि कृशानं यभूय । (४।१०।७)— शंख देवोंकी अस्थि है, वह तेज है ।

तदात्मन्वथारति अस्मि अन्तः— यह आत्मछवाळा जलोमें (शंख रूपसे) चलना रहता है ।

तत्ते यन्नामि आयुगे यचत्ते चलाय दीर्घायुस्याय शतशारदाय कार्शनस्त्याभि रक्षतु— यह शंखमणि मैं तुम्हें बांधता हूँ । इससे तारी आयु, तेज, बल, दीर्घायु सौ वर्षकी आयु हो । यह शंखमणि तेरा रक्षण करे ।

प्रत्यष्ट्य सेचस्य मेवर्जं जरदृष्टिं कृणोमि त्वा । (५।१०। ५)— इस औषधका सेवन कर, तुम्हें मैं बूढ़ावस्था तक रहनेवाला बनाता हूँ ।

मा विभेर्न मरिष्यसि जरदृष्टिं कृणोमि त्वा । निरव्यो-
चमहं यक्ष्मं अङ्गेभ्यो अंगउवर्ं तथ— (५।१०। ८)— मत डर, तू नहीं मरेगा, बूढ़ावस्थातक जीवित रहनेवाला तुम्हें मैं बनाता हूँ । तुम्हारे अंगोंसे उबर और यहमरोगको दूर करता हूँ ।

शुभी घोघप्रतिघोघावस्यन्नो यश्च जायुषिः, ती ते प्राणस्य गोत्तारौ दिवा नक्षत्रं च जायुष्याम् । (५।१०। १०)— घोघ और प्रतिघोघ वे दो क्षत्रिय हैं, एक सुखीरहित है और दूसरा जागता है । वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं । वे दिन रात जागते रहें ।

उवेदि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाद्यित्तमस्तस्वरि । (५। १०। ११)— गंभीर मृत्युसे ऊपर उठ, गहरे अन्धकारसे प्रकाशमें आ ।

अर्थ लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः । यस्मै त्व-
मिह मृत्युपदे विष्टः पुरुष जज्ञिषे । स च त्वानु
ह्रयामसि, मा पुरा जरसो मृत्याम् । (५।१०। १०)— यह लोक अपराजित है जहाँ देवोंको विष
१ [अथ. प. मा. ९]

है । वे पुरुष । तू मृत्युको प्राप्त होनेवाला इस छोकमें टपक होता है । वह तुझे बुलाता है । पर तू बूढ़ा-
वस्थातक न मर ।

रायस्पोषेण सं सृज जीघातये जरसे नय । (५।५।२)
— इसे धन और पोषण उत्तम रीतिसे प्राप्त हो, और इसको बूढ़ अवस्थातक छे जा ।

बूढ़ अवस्थाके पश्चात् मृत्यु हो । उससे पूर्व कोई न मरे ।
गर्भात् जो दुष्ट कर्म करनेवाले हैं वे मरेगें । इसमें संदेह नहीं
है । परंतु शुभ कर्म करनेवालोंके लिये यह आघातन है कि
वे अलदी नहीं मरेगें ।

हस्तरर्शसे रोगनिवारण

उत देवा अयहितं देवा उग्रयथा पुनः । (५।१।१)
— हे देवो ! इसके शरीरमें अवनति हुई है, इसको पुन उग्रत करो ।

उतागच्छर्षं देवा देवा जीवयथा पुनः— हे देवो !
इसमें पाप किया है, अब इसको पुनः जीवित करो ।

ह्यधिमौ घातौ घात आ सिन्धोरा परायतः । दक्षं ते
अन्य आवातु द्यन्यो घातु यद्रपः— दो बाण दै,
एक समुद्रसे और दूसरा भूमिपरसे बहता है । इन-
मेंसे एक तुम्हें बल देवे और दूसरा शत्रुको दूर करे ।

आ घात याहि मेवर्जं । (५।१।२)— हे बायो ! तू
औषध छे जा ।

यि घात याहि यद्रपः— हे बायो ! जो शीघ्र है तबको
दूर कर ।

रथं हि विश्वमेपज देवानां दून ईयसे-तू सर्व औषध-
रसवान् हो । तू देवोंका दूर होकर बहता है ।

प्रायन्तामिमं देवाः, प्रायन्तां मरुतां गणाः । प्रायन्तां
विश्वाम् भूतानि यथायमरथा असत् । (५।१।३)
— इस रोगीका रक्षण सब देव करें, मरुतोंके गण-
प्राण-हमका रक्षण करें । सब भूत हमका रक्षण करें
जिससे वह निर्दोष होगा ।

आ त्वा गमं संतातिभिः, मघो अतिप्रतानिभिः
(५।१।५)— शान्तिदायक और होव दूर करने-
वाले गुणोंके साथ, हे रोगी ! मैं तेरे पास आवाहूँ ।

दृक्षं त उग्रमाभारिषं, परा यक्ष्मं सुवामि ते— तेरे
लिये मैं भेष्ट बल लाता हूँ और तुझसे रोग मैं दूर
करता हूँ ।

अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः (४।१३।
६) — यह मेरा हाथ भगवान् है और यह दूसरा
हाथ अधिक भगवान् है ।

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिषाभिर्मर्शतः— यह मेरा
हाथ सब औषधी गुणोंसे युक्त है और यह हाथ शुभ
करनेवाला है ।

हस्ताभ्यां दशशालाभ्यां जिह्वा चाक्षः पुरोगवी ।
अनामयितुभ्यां हस्ताभ्या ताम्भ्यां त्वाभि
मृशामसि (४।१३।७) — दस शालावाले इन
मेरे दोनों हाथोंसे— ये बीरोगता करनेवाले हाथोंसे
तुझे मैं स्पर्श करता हूँ और जिह्वासे श्रेष्ठ शब्द
बोलता हूँ । (इस स्पर्शसे तुम्हारा रोग दूर होगा।)

हस्तस्पर्शसे रोग दूर होते हैं, भनकी शक्ति उस हस्त-
स्पर्शके साथ लगानी चाहिये । जो मनकी शक्तिको हाथोंके
साथ यथै सकते हैं वे ही यह कर सकते हैं ।

गौ

आ गाघो अममनुत भद्रमकन् (४।२।१।) — गौँ आ
गाघी और उन्होंने कल्याण किया ।

प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युः— उनकी प्रजा होकर वे
यहाँ अनेक रूपवाली हैं ।

उरुगायमभयं तस्य ता अनु गाघो मर्तस्य धि खर-
न्ति यज्वनः (४।२।१४) — ये गौँ यज्ञ करने
वाले मनुष्यके लिये प्रशस्तीय निर्भयता करती हैं ।

गूयं गाघो मेदयथा कुरां चित् (४।२।१६) — तुम
गाघो दुर्बलको भी पुष्ट करती हैं ।

अक्षीरं चित् कृणुया ह्युमतीकं— निस्तेजको गौँ
सुंर बनाती हैं ।

भद्रं युद्धं कृणुय भद्रघाचः— वे कलम वाद करानेवाली
गौँ । तुम घरको कल्याणमय बनाती हैं ।

मृहद् घो चय उत्पते समामु— समाधीमें तुम्हारा
बड़ा या गाया आवाज है ।

प्रजावतीः स्यवसे यशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे
पिवन्तीः (४।२।१७) — गौँ प्रजाके साथ उत्तम
घासमें घूमती हैं, और शुद्ध जल उत्तम जलस्थानमें
पीती हैं ।

मा च स्तेन ईशन माघशंसः परि वां रुद्रस्य हेति-
वृण्वतु— चोर और पापी तुम्हारा स्वामी न बने,
रुद्रका घबराहटसे दूर रहे ।

पयो धेनूनां रसमोयधीनां जयमर्वातां फवयो य
इन्वय (४।२।१८) — कविलोग गौँसे दूध, औष-
धियोंसे रस, घोड़ोंसे वेग प्राप्त करते हैं ।

विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु (४।२।१९) —
मेरी गाय इच्छुनुवार दूध देनेवाली, अनेक रंगरूप-
वाली हो ।

मैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तये । मा ब्राह्म-
णस्य राजन्यं गां जिघत्सो अनाद्याम् । (५।
१।८।१) — उन देवोंने इस गौँको तुम्हारे खानेके
लिये नहीं दिया है । हे क्षत्रिय ! ब्राह्मणकी गौँको
खाना योग्य नहीं, इसे न खा (गौँ का दूध आदि
सेवन करना योग्य है ।)

अक्षद्विग्यो राजन्यः पाप आत्मपराजितः । स ब्राह्म-
णस्य गां अद्यात् अद्य जीवति मा भवः (५।१।
२) — तुम्हारी क्षत्रिय बड़ पापी और पराजित है,
जो ब्राह्मणकी गौँको खावे वह आज जीवे पर कल
नहीं ।

यो ब्राह्मणं मयते अन्नमेव स धिपस्य पिवति तैमा-
तस्य (५।१।८।४) — जो ब्राह्मणको अपना अन्न
मानता है वह सचका विष पीता है ।

क्षीणोपरो ब्राह्मण इतिमन्तो यामस्परन्ति श्रावणं
न सा मृषा (५।१।८।९) — तीजे बाणवाले, अक्ष-
वाले ब्राह्मण जिस बाणको भेजता है वह असत्य नहीं
होता ।

ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्या धैतहृदयाः परामवन् । (५।
१।८।१०) — वे वैतहृदय ब्राह्मणकी गौँको खाकर
परामृत हुए ।

उमो राजा मयमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति, परा
तत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते

(५।१९।६)— राजा अपने आपको शूरवीर मानकर
ब्राह्मणको सताता है, वह राष्ट्र गिर जाता है जहाँ
ब्राह्मणको कष्ट होते हैं ।

ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तत् राष्ट्रं हन्ति दुर्धनुना ।
(५।१९।८)— जहाँ ब्राह्मणको कष्ट पहुँचते हैं वह
राष्ट्र विपत्तिसे भरता है ।

तं वृक्षा अप स्रेधन्ति छायां नो मोपगा इति, यो
ब्राह्मणस्य सत् धनं अभि नारद मन्वते (५।
१९।९)— जो ब्राह्मणके धनको अपने मानता है,
उसको वृक्ष भी अपनी छायामें जाने नहीं देते ।

लोहितेन स्वधितना मिथुनं कर्णयोः कृधि, अकती
अश्विना लक्ष्म तद्वस्तु प्रजया यदु (६।१४।२)
— लोहेकी चलाकाले पशुबोके कानोंपर बिन्द कर ।
अश्विदेव यह बिन्द करें, यह पशुके संतानोंके लिये
बहुत हितकर है ।

गो अपने दूध, दही, मखन, घी, छाछ, मूत्र, गोमय
आदिसे मनुष्योंके शरीरके रोग दूर करती हैं । भूयसे पेटके
प्राय सब रोग दूर होते हैं । ऐसी यह गो हितकारिणी है ।

रोगकृमिनाशन

तस्या पूर्वमधर्षाणो जघ्नू रक्षांस्पोषधे (४।१७।१)—
तेरे द्वारा अधर्षाने, हे भोषधे ! रोगकृमियोंका नाश
किया ।

तस्या जघान कदयपः तस्या कण्यो अगस्त्यः— तेरे
द्वारा कदयप, कण्व और अगस्त्यने (रोगकृमियोंका
नाश किया ।)

तस्या यपं अत्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहं । अज-
ह्नांयज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय (४।२०।१)—
तेरे द्वारा हम अत्सरा और गन्धर्व नामक रोगबीजोंको
हटाते हैं । हे अजह्ना ! सब रोगकृमियोंकी तू अपने
गन्धसे नष्ट कर ।

तत् परेता अत्सरसः प्रतिपुद्गा अभूतन (४।२०।२)—
जबमें केकनेवाले हृदि दूर हुए यह जान प्राप्ते ।

भीमा इन्द्रस्य हेतया शतमृष्टीर्दिरण्ययोः । तामि
हंघिरदान् गन्धवान् अवकादान्स्पृष्टवतु ॥
(४।२०।९)— स्वर्गके सुवर्णके समान ठाँव

किरणें लकड़ों शस्त्रोंके समान भयंकर हैं, उनसे जल
खानेवाले हिंसक रोगकृमियोंका नाश करते हैं ।

जाया इहो अत्सरसो गन्धर्वाः पतयो मूयम् ।
अप घाघनामर्त्या मर्त्यान्मा सचध्वं (४।२०।
१२)— हे गन्धर्वों ! तुम्हारी छियाँ अत्सराएँ हैं,
तुम इनके पति हैं । हे हमरो ! यहाँसे भागो, मनु-
ष्योंको न पकड़ो ।

यो अर्घ्यो परिसर्पति, यो नासे परिसर्पति, द्वां
यो मर्षं गच्छति तं किमि जन्मयामसि (५।२३।
३)— जो रोगकृमि भाँखें, नाक तथा दाँतोंमें
जाता है, उसका नाश हम करेंगे ।

उत्पुत्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टा, दृष्टांश्च
मृगदृष्टांश्च सर्वान् च प्रमृणन् किमीन् (५।२३।
६)— सबको दीखनेवाले और न दीखनेवाले कृमि-
योंको मारनेवाला सूर्य भागे नारादा है, वह दीखने-
वाले और न दीखनेवाले सब कृमियोंको मारता है ।

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निर्वृन् (६।५२।
१)— रोगकृमियोंका नाश करता हुआ सूर्य उदयको
पास होता है ।

सूर्यकिरणसे अग्निसे रोगकृमि नष्ट होते हैं । हवनसे
चिकित्सा भी इसी कारण होती है ।

रोगनाशन

अस्त्रिसंघं परसंघं आस्त्रितं हृदयामयम् । यलासं
सर्वं नाशय अंगेष्ठा यश्च पर्यस्तु (६।१७।१)—
अस्त्रिमें, जोहोंमें, हृदयमें जो रोग हैं, कक्षय जो
शरीरमें है उस सबको दूर कर ।

वृष्टि

समुत्पत्तन्तु प्रदिशो नभस्वतोः समभ्यणि वात-
ज्जतानि यन्तु (४।१५।१)— बादलसे पुनः
दिशाएँ बमज जाय, वायुसे चलाये मेघ मिलकर
बाँधें ।

महक्रयमस्य नदतो नमस्वतो याथा आपः पृथिव्यो
तर्पयन्तु— महावज्रवान् गर्जना करनेवाले बादलोंसे
गतिपुनः बलधाराएँ पृथिवीकी दृष्टी करें ।

अपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् (४।१५।२)—
जलोके जन्मके रस औषधियोंके साथ मिलें ।
वर्षस्य सर्गां महयन्तु भूमिं पृथग्जायंतामोषधयो
विश्वरूपाः— वृष्टिकी धाराएं भूमिकी समुद्र करें
और विविध रूपवाली औषधियां उत्पन्न हो ।

समीक्षयस्व गायत्री नमोसि (४।१५।३)— गायन
करनेवाले मेघोंसे भरे आकाश देखो ।
त्वया सृष्टे गहुलमैतु वर्षम् (४।१५।४)— तूने उत्पन्न
की बहुत वृष्टि होती रहे ।
आशरिणी कुशगुरेस्वस्तम्— आश्रयकी इच्छा करने-
वाला कृपक अपने घर जाय ।

अभिकन्द्र, स्तनय, अर्दयोदधि— गर्जना कर, बिष्टु-
लका कड़का हो, समुद्रको हिला दे ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा पृथिवीं अनुवर्षन्तु (४।१५।७)—
वायुसे चलाये मेघ पृथिवीपर अनुकूल वृष्टि करें ।
स नो वर्षं घनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं
दिवस्पति (४।१५।१०)— वह भूमि धुलोकके
अमृतको जो प्रजाओंके लिये प्राणरूप है वह वर्षके
रूपसे हमें देवे ।

बैल

पाङ्गिः सेदिमवक्रामसिरां जंघामिस्तखिदन् । अमे
णान्द्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि मरुछतः
(४।११।१०)— बैल पागोंसे भूमिपर चलता है,
जांघोंसे अश्वको उत्पन्न करता है । परिधम करके बैल
और किमान अश्व उत्पन्न करनेके लिये चलते हैं ।

मित्रका लक्षण

अस्मि युज्यस्ते सतपदः सखासि (५।११।१०)—
मैं तैरें योग्य मित्र हूँ और तू सात पांव साथ चलकर
मित्र हुआ है ।

मेघा

यां क्रपयो भूतकृतो मेघां मेघाविनो विदुः । तया
मामद्य मेघयाज्ञे मेघाविनं कृणु । (१।१०८।४)
— बुद्धिमान् और भूतकालका इतिहास करनेवाले
अपियोंने जिस मेघाकी जाना या उस मेघासे सुने
बुद्धिमान् कर ।

जाग्रती

जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः (४।५।७)— इन्द्रके
समान मैं वाशरहित और क्षयरहित होकर जागता
रहूँ ।

निद्रा

प्रोष्ठेयायाः तल्पेयायाः वह्यधीवरी या नारीः या
पुण्यगन्धा स्त्रियः ताः सर्वाः स्वापयामसि
(४।५।३)— जो मखकोंपर सोती है, जो बिछाने
पर सोती है, जो हिंदोळोंपर सोती है, ऐसी जो
स्त्रियां उत्तम सुगन्धमे युक्त हैं, उन सबको मैं
सुलाता हूँ ।

जलचिकित्सा

जालापेणाभि पिंचत जलापेणोप सिंचत । जालाप
मुग्र भेपजं तेन नो मृड जीयस । (१।५५।२)
— जलसे सिंचन करा, जलसे उपसिंचन करो, जल
बहा ताब औषध है, उससे हमें दीर्घजीवनके लिये
सुखी कर ।

आप इद्रा उ भेपजीः आपो अमीषचातनीः, आपो
विश्वस्य भेपजीः तास्ते कृण्वन्तु भेपजम् (१।
११।३)— जल औषध है, जल आमारोग दूर करने-
वाला है, जल सब रोगोंकी दवा है, वह जल लेते
चिकित्सा करें ।

रोहिणी वनस्पति

रोहण्यसि रोहण्यस्यादिउन्नस्य रोहणी । रोहये-
दमरुघन्ति (४।१२।१)— तू रोहिणी है, कठो हुई
हड्डियोंके बढानेवाली है । तू हलको भर दे । (धारको
भरकर ठीक कर दे ।)

स उत्तिष्ठ, प्रेहि, प्र द्रव रथः सुवक्रः सुपविः
सुनाभिः । प्रति तिष्ठ ऊर्ध्वः । (४।१२।६)—
हो रोगी ! तू उठ, चढ़, उत्तम चढ़वाला, नाभि-
वाला, छोड़ेकी पटीवाला रथ चढ़ता है वैसा ऊँचा
सदा रह और दीर्घ । (रोहिणी वनस्पति शरीरको
स्वस्थ करती है ।)

यदि कर्तं पतिरथा संशश्रे यदि वादमा प्रहृतो जघान ।
क्रमू रथस्येयाङ्गानि सं दधत् पदया पदः ।

(५।१।७)— यदि आरा गिर गया, यदि किसीके मोरे पत्थरसे घाव हुआ, तो सुतार जैसे रथके भंगोंको ठीक करता है उस तरह यह वनस्पति भंगोंको ठीक करे। (रोहिणी वनस्पतिले शरीरकी जखम या मणकी दुहली होती है।)

लाक्षा वनस्पति

यस्त्वा पिपति जीवति, आयसे पुरुषं त्वं (५।५।२)

— जो तुझे पीता है वह जीवित रहता है, मनुष्यका रक्षण तु करती है।

असमृद्धि

परोपेक्षसमृद्धे विने हेति नयामसि (५।७।७)—हे असमृद्धि ! तू दूर चली जा, तेरे शब्दको हम दूर करते हैं।

पिप्पली

पिप्पली क्षिप्तभेषजी उतातिविद्ध भेषजी, ता देयाः समकल्पयन् इयं जीयितया अलम् (१।१०।९)— पिप्पली उग्माद रोगकी औषधि है यह महाभाषाधिकी औषधि है, देवोंने इसको सामर्थ्यवान् बनाया है और कहा है कि यह जीवनेके छिपे पर्याप्त है।

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि, यं जीवमश्रया-मद्वै न स रिष्याति पूरयः (१।१०।१२)— जन्मसे पिप्पली औषधियाँ आपनमें बोधती हैं कि जिस जीवको हमने दिया जाता है वह मनुष्य मरता नहीं।

असुरारया न्यखनन् देवास्तयोद्वपन् पुनः, पाती एतस्य भेषजी अथो क्षिप्तस्य भेषजीम् (१।१०।१३)— असुरोंने हथ औषधिको खोदा और देवोंने पुनः छगाया था, यह पिप्पली वातकी और उग्मादकी औषधि है।

दूत

त्वं दूता कथिरसि प्रचेताः (५।११।१)— तू दूत कवि और जाना है। (दूत जानी और विद्वान् हो।)

पत्नी प्रेम

यथा वृक्षं लिपुजा समन्तं परिवस्त्रजे। यथा परिष्व-ष्ट [अ. ५. भा. २]

जस्य मां यथा मां कामिन्यसौ यथा मन्नापमा असः (१।८।१)— जिस तरह वृक्षपर बैक छपेटनी है, इस तरह तू मुझे आर्द्धगन दे। मेरी इच्छा सकल करनेवाकी हो, मुझसे दूर जानेवाली न हो।

वरवधूको आशीर्वाद

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्।

रथया सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥

त्वष्टा जायामजनयस् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।

त्वष्टा सहस्रमायुं विधर्मायुः कृणोतु याम् ॥ ३ ॥

(१।७।८।१-३)

ये वधू तथा वर दूध पीकर पुष्ट हों, वे दोनों अपने राष्ट्रके साथ बड़ें, सहस्रों प्रकारके धनोसे वे सुख हों। स्वष्टाने स्त्री बनायी है, स्वष्टाने ही तुझ पतिको वल स्त्रीके साथ संयुक्त किया है। यह विधनिर्माता प्रभु तुम्हें सहस्र प्रकारके सुखों के साथ दीर्घ आयु देगे।

स्वर्गलोकमें स्त्रीण

मैवां शिश्रं प्र दहनि जातयेदाः स्वर्गे लोके यद् स्त्रीणमेयाम् (५।३।१२)— इनका शिश्र जसि कैसा जलता मही जिनका स्वर्गलोकमें भी यद् स्त्रीण स्वयंहार रहता है।

स्वर्गलोकमें चीके हौज

घृतहृदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्या घारा उप यन्तु सर्वाः (५।३।१३)— चीके हौज, मधुरासके मध, घृत उदकसे भरे, घीसे परिपूर्ण, दहीसे भरे हौज हैं वे सब तुम्हें प्राप्त हों।

उप। या निष्ठुन्तु पुष्करिणीः समन्ताः— तुसे वे मधुरासकी नदियाँ प्राप्त हों।

चतुरः कुन्मान् यन्तुर्घा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना (५।३।१४)— चार घड़े दूध, दही और जड़ने भरे चार प्रकारसे मैं देना हूँ।

ब्राह्मणकी स्त्री

मीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्घा दधामि परमेव्योमन (५।१०।९)— ब्राह्मणकी मगार्द पत्नी

भयकर होती है, वह कृत्त परमधाममें हु ख देने-
वाला है ।

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अग्राहणाः, ग्राह्या
चेद्धस्तं अग्रहीत् स एव पतिरेकधा । (५।१७।
८)— ग्राह्यसे भिन्न स्त्रीके पति दस होते हैं, पर
ग्राह्यने उसका पाणिग्रहण किया तो वह उसका
एक ही पति होता है ।

ग्राह्य एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः, तत् सूर्यः
प्रयुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः (५।१७।९)—
ग्राह्य ही पति है, क्षत्रिय और वैश्य पति नहीं
होता, पाँचों मानवोंको यह सूर्य कहकर बलवा है ।

गर्भ

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या शर्वाभ्योः । पुमांसं
पुत्रमाघेहि दशमे मासि स्तुत्वे (५।२५ १०-१३)—
दे धावादेव ! इस स्त्रीके गर्भाशयमें श्रेष्ठरूपके बाध
पुरन गर्भको स्थापन कर जो दसवें महिने उपवन्न
हो जाय ।

पुत्रकी उत्पत्ति

शमीमश्वत्थ आरुढस्तत्र पुंसवनं कृतम् । तद्वै पुत्रस्य
वेदन तत् स्त्रीया भरामसि (१।१।११)—
शमीपर अश्वत्थ बड़ा है, वहाँ पुंसवन किया है । यह
पुत्रप्राप्तिका निश्चय है । वह स्त्रियोंमें हम भर देते
हैं । (शमी वृक्षपर अश्वत्थ वृक्ष डगा, उसका पंचाय
सेवन करनेसे पुत्र होता है । शमी संयमी स्त्री और
घोटेके समान पुरुष, इनका सम्बन्ध पुत्र निर्माण
करता है ।)

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु विव्रयते, तद्वै
पुत्रस्य वेदन तत्प्रजापतिरवधीत् (१।१।१२)—
पुरुषमें रेत होता है, वह स्त्रीमें सींचा जाता है । वह
पुत्रप्राप्तिका साधन है ऐसा प्रजापतिर्न कहा है ।

पुत्रोंकी सुरक्षा

घीराज्ञो अग्र मा दधन् (४।७।७)— हमारे पुत्रगौत्रोंको
यहाँ कष्ट न पहुँचे ।

इस तरह हम द्वितीय विभागमें उत्तम ध्यानमें धरने
योग्य सुमावित हैं । पाठक इससे लाभ प्राप्त करें ।



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

चतुर्थ काण्डम्

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

तृतीय वार

स्वाध्याय - मण्डल, पारडी

*

संवत् २०१६, शक १८८१, सन १९६०

जागते रहो !!

*

* *

नूनं तदस्य काव्यो हिंनोति
महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम ।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्या
पूर्वे अर्धे विर्षिते सुसन्नु ।

(अथर्ववेद ४।१।६)

‘ निक्षपमे ज्ञानी ही इस प्राचीन महादेवका धाम प्राप्त करता है । यह ज्ञानी बहुतेके साथ जन्मा था, परंतु जिस समय (उस धामका) पूर्ण द्वार खुल गया था, (उस समय अन्य लोग) सोये पड़े थे, (और केवल यह ज्ञानी ही जागता था), इसलिये इस ज्ञानीका अन्दर प्रवेश हुआ और दूसरे बाहर ही रह गये । ’





अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

चतुर्थ काण्ड ।

इस चतुर्थ काण्डका प्रारम्भ 'ग्रह' शब्दसे हुआ है । यह प्रथम शब्द अत्यंत मंगल है और इस शब्द द्वारा परममंगलमय परब्रह्मकी विद्या इसमें कही है ।

अथर्ववेद प्रथम काण्डका प्रारम्भ 'श' शब्दसे हुआ है ।
अथर्ववेद द्वितीय काण्डका प्रारम्भ 'येनः' शब्दसे हुआ है ।
अथर्ववेद तृतीय काण्डका प्रारम्भ 'अग्निः' शब्दसे हुआ है ।
अथर्ववेद चतुर्थ काण्डका प्रारम्भ 'ग्रह' शब्दसे हुआ है ।

ये प्रारम्भके शब्द कुछ विशेष भावके सूचक निःसन्देह हैं । यद्यपि अथर्व प्रथम काण्डका प्रारम्भ 'ये त्रिपत्ता' से होता है और 'शं नो देवी' सूक्त छठा है, तथापि ब्रह्मयज्ञपरिगणनमें, महाभाष्यमें तथा अन्यत्र भी 'शं नो देवी' सूक्तमें अथर्ववेदका प्रारम्भ माना है, इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रथमके पाँच सूक्त भूमिकारूप हैं ।

इस चतुर्थ काण्डमें चालीस सूक्त हैं और इसके पाँच सूक्तोंका एक अनुवाक, ऐसे आठ अनुवाक हैं । यह चतुर्थ काण्ड प्रधान तथा सात मंत्रवाले सूक्तोंका है, तथापि इसमें अधिक मंत्रवाले सूक्त भी हैं, इसकी गिनती इस प्रकार है—

७ मंत्रवाले २१ सूक्त हैं, जिनकी मंत्रसंख्या १४७ है,
८ मंत्रवाले १० सूक्त हैं, जिनकी मंत्रसंख्या ८० है,
९ मंत्रवाले ३ सूक्त हैं, जिनकी मंत्रसंख्या २७ है,
१० मंत्रवाले १ सूक्त है, जिनकी मंत्रसंख्या ३० है,
१२ मंत्रवाले २ सूक्त हैं, जिनकी मंत्रसंख्या २४ है,
१६ मंत्रवाले १ सूक्त है, जिनकी मंत्रसंख्या १६ है,
कुल सूक्तसंख्या ४० कुल मंत्रसंख्या ३१४

इस प्रकार काण्डमें २१ सूक्त ही सात मंत्रवाले हैं, और शेष १९ सूक्त आठ या आठसे अधिक मंत्रवाले हैं । प्रथम काण्डके १९३ मंत्र, द्वितीय काण्डके २०७ मंत्र, तृतीय काण्डके २३० मंत्र और चतुर्थ काण्डके ३२४ मंत्र हैं, इस प्रकार जमना मंत्रसंख्या बढ रही है ।

पहले तीन काण्डोंमें प्रत्येकमें दो प्रपाठ और छः अनुवाक थे, परन्तु इस चतुर्थ काण्डमें तीन प्रपाठ और आठ अनुवाक हैं । इस प्रकार सब मिलकर चतुर्थ काण्डकी समाप्ति तक नौ प्रपाठ और छःवाँ अनुवाक हुए हैं । अब इस चतुर्थ काण्डके ज्ञाप देवता और छन्द देखिये—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१ प्रथमोऽनुवाकः । सप्तमा प्रपाठकः ।				
१	७	वेनः	बृहस्पतिः । आदित्यः	त्रिष्टुप् ।
२	८	वेनः	अरमा	त्रिष्टुप् । १ पुरोऽनुष्टुप्; ८ उपरिधा उज्जैति
३	७	अथर्वः	रदः । ऋषयः	अनुष्टुप्; १ पक्षि, ३ गायत्री ।
४	८	अथर्वः	वनस्पतिः	७ कुङ्कुमतीगर्भोपरिष्टाबृहती ।
५	७	मग्ना	(स्वापन) सप्तम	अनुष्टुप्; ४ पुरतस्त्रिष्टुप्; ६, ७ मुरिजो ।
				अनुष्टुप्; २ मुरिह; ७ पुराणाग्नयो-तिष्ठिष्टुप् ।

सूक्त	मन्त्रसंख्या	अधि	दैवता	छन्द
२ द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	८	गह्रमान्	तक्षकः	अनुष्टुप् ।
७	७	गह्रमान्	वनस्पति	अनुष्टुप्, ४ खराट् ।
८	७	अथर्वगिराः	चन्द्रमा । आप (राज्याभिषेक)	अनुष्टुप्, १, ७ भूरिक् त्रिष्टुप्, ३ त्रिष्टुप्; ५ विराट् प्रस्तारपक्षि ।
९	१०	मृगु	त्रैकाक्षदाज्जन	अनुष्टुप्, २ कुक्कुम्भती, ३ पथ्यापक्षि ।
१०	७	अथर्वा	शस्त्रमणि	अनुष्टुप्, ६ पथ्यापक्षि, ७ पथ्यपदा परानुष्टुप्पञ्चमी ।

३ तृतीयोऽनुवाकः ।

११	१२	मृग्वगिरा	अनुडुव । इन्द्र	त्रिष्टुप्, १, ४ जगती, २ भूरिक्, ७ त्र्यवसाना षट्पदानुष्टुप्पञ्चमीपरिधान्वा गतानिचृच्छकरी, ८-१२ अनुष्टुभ ।
१२	७	शम्भुः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ विपदा गायत्री, ६ विपदा यवमध्या भूरिगायत्री, ७ बृहती ।
१३	७	शताति	चन्द्रमा । विधेदेवा	अनुष्टुप् ।
१४	९	मृगु	आज्य । अग्नि	त्रिष्टुप्, २, ४ अनुष्टुभोः ३ प्रस्तारपक्षि, ७, ९ जगती, ८ पथ्यपदातिशक्तरी ।
११	१६	अथर्वा	महत् । पर्जन्याः	त्रिष्टुप्, १, २, ५ विराट् जगती, ४ विराट् पुरस्ताद् बृहती ७ (८), १३ (१४) अनुष्टुप्, ९ पथ्यापक्षि, १० भूरिक्, १२ पथ्यपदानुष्टुप्पञ्चमी भूरिक्, १५ शकुमलानुष्टुब् ।

४ चतुर्थोऽनुवाकः ।

१६	९	मृदा	वहण (सत्यान्वृतीऽवीक्षण)	त्रिष्टुप्, १ अनुष्टुप्, ५ भूरिक्; ७ जगती, ८ त्रिपान्महाबृहती, ९ विराट्नामत्रिपान्नायत्री ।
१७	८	शुक	अपामार्ग । वनस्पति	अनुष्टुप् ।
१८	८	शुकः	अपामार्ग । वनस्पति	अनुष्टुप्, ६ बृहतोगर्मा ।
१९	८	शुकः	अपामार्गः । वनस्पति	अनुष्टुप्, २ पथ्यापक्षिः ।
२०	९	मातृनामा	मातृनामादेवता	अनुष्टुप्, १ खराट्, ९ भूरिक् ।

५ पचमोऽनुवाकः । अष्टमः प्रपाठकः ।

२१	७	मृदा	गाव	त्रिष्टुप्, २-४ जगती ।
२२	७	व छेष्ट, अथर्वा ।	इन्द्रः	त्रिष्टुप् ।
२३	७	मृगः	प्रचेता अग्नि	त्रिष्टुप्, ३ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ प्रस्तारपक्षि ।
२४	७	मृगारः	इन्द्र	त्रिष्टुप्, १ शक्वरीगर्भा पुर शक्वरी ।
२५	७	मृगः	वायु । सविता	त्रिष्टुप्, ३ अतिशक्वरीगर्भात्रयती, ७ पथ्या बृहती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
६ षष्ठोऽनुवाकः ।				
२६	७	मृगारः	यावावृषिर्वा	त्रिष्टुप् ; १ परोऽष्टिर्जगती ; ७ शाक्वरी- गर्मातिमध्योऽयोति ।
२७	७	मृगारः	महत	त्रिष्टुप् ।
२८	७	मृगारः (अथर्व)	भवशर्वी । इदः	त्रिष्टुप् ; १ इषतिजामतगर्मा भुरिक् ।
२९	७	मृगारः	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप् ; ७ शाक्वरीगर्माजगती ।
३०	८	अथर्व	वाक्	त्रिष्टुप्, ६ जगती ।
७ सप्तमोऽनुवाकः । नवमः प्रपाठकः ।				
३१	७	मृगारः	मनुष्य	त्रिष्टुप् ; २, ४ भुरिक् ; ५-७ जगती ।
३२	७	मृगारः	मनुष्य	त्रिष्टुप् ; १ जगती ।
३३	८	मृगारः	पाप्मा । अग्नि	गायत्री ।
३४	८	अथर्व	मृगारः	त्रिष्टुप् ; ४ भुरिक् ; ५ इषवसाना सप्त- पदा इति ; ६ पंचपदातिशक्वरी ; ७ भुरिक्वाक्वरी, ८ जगती ।
३५	७	मृगारः	अतिमृत्युः	त्रिष्टुप् ; ३ भुरिक्जगती ।
८ अष्टमोऽनुवाकः ।				
३६	७	वातानः	सत्योन्नाः । अग्निः	अनुष्टुप् ; १ भुरिक् ।
३७	१२	वातरायणिः	अत्रभृगी । अप्सराः	अनुष्टुप् ; ३ इषवसाना षड्पदात्रिष्टुप् ; ५ प्रस्तरायाकि, ७ परोऽष्टिक् ; ११ षड्पदा जगती, १२ त्रिष्टुप् ।
३८	७	वातरायणिः	अप्सरा । नवमः	अनुष्टुप् ; ३ षड्पदाऽइषवसाना जगती, ५ भुरिक्वाक्वि ; ६ त्रिष्टुप् ; ७ इषव- साना षड्पदानुष्टुप्गर्मापुरोऽपरिष्टा- जोतिष्मती जगती ।
३९	१०	अहिनाः	साक्षर्यं । नानादेवता	पंक्ति ; १, ३, ५, ७ महाइति, २, ४, ६, ८ इतिरार्थिकः, ९, १० त्रिष्टुप् ।
४०	८	शुकः	बहुदेवत्यं	त्रिष्टुप् ; २ जगती ; ८ जगती पुरोति- शक्वरी षड्पदा ।

ये सूक्तोक्ते ऋषि देवता और छन्द हैं । अथ इनका ऋषि-
कमानुसार विभाग देखिये—

१ अथर्व— ३, ४, १०, १५, (२२, २८), ३०,
३४ ये आठ सूक्त ।

२ मृगारः— २३-२४ ये सात सूक्त ।

३ मृगारः— ५, १६, २१, २३ ये चार सूक्त ।

४ शुकः— १७-१९, ४० ये चार सूक्त ।

५ भृगुः— १, १२, १४ ये तीन सूक्त ।

६ मरुतान्— ६, ७ ये दो सूक्त ।

७ वातरायणिः— ३७, ३८ ये दो सूक्त ।

८ वाह्या रुक्मः— ३१, ३२ ये दो सूक्त ।

९ येनः— १, २ ये दो सूक्त ।

१० अस्तिरा— २९ यह एक सूक्त ।

११ अथर्वहिरसः— ८ यह एक सूक्त ।

- १० घातनः— ११ वर एक सूत्र ।
 १३ प्रजापतिः— १५ वर एक सूत्र ।
 १४ भृगुहिराः— ११ वर एक सूत्र ।
 १५ मातृनामा— २० वर एक सूत्र ।
 १६ यत्विष्टः— २२ वर एक सूत्र ।
 १७ दत्तातिः— ११ वर एक सूत्र ।

ये ऋषिः कमाणां सूत्र हैं, अब देवतकमानुसर सूत्रक्रम देखिये—

- १ यमस्वपतिः— ४, ७, १२, १७-१९ ये छ सूत्र ।
 २ अग्निः— १४, २३, ३३, ३६ ये चार सूत्र ।
 ३ अषामार्गः— १७-१९ ये तीन सूत्र ।
 ४ इन्द्रः— १९, २०, २४ ये तीन सूत्र ।
 ५ अमरताः— १७, ३८ ये दो सूत्र ।
 ६ अश्विनः— ५, ३८ ये दो सूत्र ।
 ७ अश्विनः— ८, १३ ये दो सूत्र ।
 ८ नामादेवताः— ३९, ४० ये दो सूत्र ।
 (यदुदेवताः) ३९, ४० ये दो सूत्र ।

- ९ अश्विनः— ३९-३२ ये दो सूत्र ।
 १० अश्विनः— १५, २७ ये दो सूत्र ।
 ११ अश्विनः— ३, १८ ये दो सूत्र ।
 १२ अश्विनः— २७ वीं एक सूत्र ।
 १३ अश्विनः— ६ वीं एक सूत्र ।
 १४ अश्विनः— १५ वीं एक सूत्र ।
 १५ अश्विनः— ११ वीं एक सूत्र ।
 १६ अश्विनः— १४ वीं एक सूत्र ।
 १७ अश्विनः— १४ वीं एक सूत्र ।
 १८ अश्विनः— ८ वीं एक सूत्र ।
 १९ अश्विनः— २३ वीं एक सूत्र ।
 २० अश्विनः— २३ वीं एक सूत्र ।
 २१ अश्विनः— ६ वीं एक सूत्र ।
 २२ अश्विनः— २८ वीं एक सूत्र ।
 २३ अश्विनः— १५ वीं एक सूत्र ।
 २४ अश्विनः— ३३ वीं एक सूत्र ।
 २५ अश्विनः— ३३ वीं एक सूत्र ।
 २६ अश्विनः— ३३ वीं एक सूत्र ।

- २७ अश्विनः— २० वीं एक सूत्र ।
 २८ अश्विनः— २९ वीं एक सूत्र ।
 २९ अश्विनः— १६ वीं एक सूत्र ।
 ३० अश्विनः— ३० वीं एक सूत्र ।
 ३१ अश्विनः— २५ वीं एक सूत्र ।
 ३२ अश्विनः— १३ वीं एक सूत्र ।
 ३३ अश्विनः— ३४ वीं एक सूत्र ।
 ३४ अश्विनः— १० वीं एक सूत्र ।
 ३५ अश्विनः— २५ वीं एक सूत्र ।
 ३६ अश्विनः— २५ वीं एक सूत्र ।
 ३७ अश्विनः— २५ वीं एक सूत्र ।
 ३८ अश्विनः— ५ वीं एक सूत्र ।

इनके विषय ' यदुदेवता, नामा देवता, विष्णवे-
 देवता ' इन देवताओंके आदर कई अन्य देवताओं हैं उनको
 पाठक मनमें आदर देव सङ्केत है । अब इस चतुर्थ काण्डके
 सूत्रोंके रण देखिये—

- १ अश्विनः— २३-२९ ये छ सूत्र ।
 २ अश्विनः— १९, २१, २१ ये तीन सूत्र ।
 ३ अश्विनः— १ वर एक सूत्र ।
 ४ अश्विनः— १३ वर एक सूत्र ।
 ५ अश्विनः— १७ वर एक सूत्र ।
 ६ अश्विनः— ३३ वर एक सूत्र ।
 ७ अश्विनः— ४० वर एक सूत्र ।

इस काण्डके सूत्रोंका रणदेखते समय मनमें देवता हो तो
 निम्नलिखित काण्ड देखिये—

- १ अश्विनः— १, ११, २३-२९ ये छ सूत्र ।
 २ अश्विनः— १ वर एक सूत्र ।
 ३ अश्विनः— १० वर एक सूत्र ।
 ४ अश्विनः— १५ वर एक सूत्र ।
 ५ अश्विनः— २५ वर एक सूत्र ।
 ६ अश्विनः— ३७ वर एक सूत्र ।

इस काण्डके सूत्रोंका अन्वय करते समय इन सूत्रोंका
 पाठक अन्वय शिखर वी । इनके इन सूत्रोंका अन्वय
 पूर्व काण्डके विषय है वह काण्डके अन्वय शिखर वी
 विषय है ।

इसकी अन्वय शिखर अब इस काण्डके सूत्रोंका शिखर
 अन्वय करने है ।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

चतुर्थ काण्ड ।

ब्रह्म-विद्या ।

[सूक्त १]

(आयिः - वेनः । देवता - बृहस्पतिः, आदित्यः)

ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विद्याः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

इयं पित्र्या राष्ट्रस्त्वग्नें प्रथमायं जुनुपे भुवनेष्ठाः ।

तस्मा एतं सुरुचं द्वारमहं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमायं घ्रास्यवे ॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालसे भी प्रथम । जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सु-रुचः सीम-तः) उत्तम प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) ज्ञानाने देखा है । (सः) वही ज्ञानी (अस्य बुध्न्याः वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-माः) उपमा देने योग्य सूर्यादिकोंको देखकर (सतः च असतः योनि) सत् और असत्के उत्पत्तिस्थानको भी (वि वः) विशद करता है ॥ १ ॥

(इयं भुवने-स्थाः पित्र्या राष्ट्री) यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त ब्रह्मदेवाणी बुद्धि (प्रथमायं जुनुपे भुवने ष्ठु) मुख्य जीवनके लिये आगे होवे । (तस्मै प्रथमायं घ्रास्यवे) उस पहले धारण करनेवालेको अर्पण करनेके लिये (एतं सुरुचं द्वारं अ-हं घर्मं श्रीणन्तु) इस तेजस्वी, दुष्टोंको दशनेवाले, होनतासे रहित, यज्ञको निन्द करने ॥ २ ॥

माथार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकों मर्यादाओंके द्वारा ज्ञानी जानता है और वही ज्ञानी उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देखकर सत् और असत्के मूल उत्पत्तिस्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

यह मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पितासे प्राप्त हुई तेजस्वी बुद्धि भेद्य जीवन व्यतीत करनेकी इच्छासे आगे बड़े । तथा यह बुद्धि सबके मुख्य धारणकर्ता परमात्माके लिये समर्पण करनेके हेतुसे तेजस्वी, दुष्टोंको दूर करनेवाले, उच्च और भेद्य यज्ञको निन्द करे ॥ २ ॥

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य यन्धुर्विधा देवानां जनिमा विवक्ति ।
 ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मर्घ्यान्नीचैरुचैः स्वधा अग्निं प्र तस्यौ ॥ ३ ॥
 स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
 महान्मही अस्कभायद्वि जातो धां सन्न पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥
 स बुध्न्यादाप्नु जुनुपोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सभ्राट् ।
 अह्यं च्लुक्रं ज्योतिषो जनिष्ठार्थं धुमन्तो वि वसन्तु विप्रः ॥ ५ ॥
 नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्वस्य धाम ।
 एष जज्ञे बहुमिः साकमित्था पूर्वं अर्थे विरिषे ससन्नु ॥ ६ ॥

अर्थ- (यः विद्वान्) जो विद्वान् (अस्य यन्धुः प्रजज्ञे) इसका बंधु होता है, वह (देवानां जनिमा विवक्ति) सब देवोंके जन्मोंको कहता है । (ब्रह्मणः ब्रह्म उज्जभार) ब्रह्मसे ब्रह्म प्रकट हुआ है । उसके (मर्घ्यात् नीचैः लक्ष्यैः) मर्घ्यसे, निम्न मागसे और उच मागसे (स्व-धाः अग्निं प्र तस्यौ) उसकी निज पारक शक्तियों फैली हैं ॥ ३ ॥

(सः हि दिवः) वह ही गुलोकका और (सः पृथिव्याः ऋत-स्थाः) वही पृथिवीका सत्य नियमसे उदराने-वाला है । उसने (मही रोदसी क्षेमं अस्कभायत्) वही गुलोक और पृथिवी लोकको घरके समान स्थिर किया है । (महान् जातः) वह बड़ा देव प्रकट होता हुआ (धां पार्थिवं सन्न रजः च) गुलोक, पृथिवीके निवासस्थानको और अंतरिक्षलोकको (मही अस्कभायत्) विस्तृत रूप देकर स्थिर करता है ॥ ४ ॥

(तस्य सभ्राट् देवता बृहस्पतिः) उस जगत्का सम्राट् बृहस्पति देव है और (सः बुध्न्यात् जुनुपः अग्रं अग्निं आभ्यट्) वह पहिले जन्मसे भी पूर्वकालसे चारों ओर व्याप्त है । (अथ यत् ज्योतिषः शुक्रं अहः जनिष्ट) अथ जो ज्योतिषसे शुद्ध दिन उत्पन्न हुआ, उससे (धुमन्तः विप्रः वि वसन्तु) प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे निवास करें ॥ ५ ॥

(काव्यः नूनं) ज्ञानी निधयसे (अस्य पूर्वस्य देवस्य तत् महः धाम) इस प्राचीन देवका वह महान् धाम (हिनोति) प्राप्त करता है । (इत्था बहुमिः साकं एषः जज्ञे) इस प्रकार बहुतांसे साथ यह ज्ञानी उत्पन्न हुआ था, परंतु जिस समय (पूर्वं अर्थे वि-सिते) पूर्व दिशाका बापा द्वार खुला, तब उनमेंसे प्रत्येक (ससन्नु) होता ही रहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ- जो ज्ञानी इस परमात्माका बन्धु बनता है वही देवोंके देवत्वके विषयमें सत्यज्ञान कहता है । परब्रह्मसे ज्ञानका प्रकाश हुआ है और उसके निम्न, मध्य और उच अर्थात् सब अंगोंमें पारक शक्तियों चारों ओर फैली हैं ॥ ३ ॥

वही एक देव गुलोक और पृथ्वीलोक आदियोंको सत्य नियमोंसे अपने अपने स्थानमें स्थिर करनेवाला है । उसने इस गुलोक और पृथ्वीलोकको घर जैसा बनाया है । उसी प्रकट हुए महान् देवने गुलोक, अंतरिक्षलोक और इस हमारे घरके समान भूलोकको विस्तृत और महान् बनाकर अपने अपने स्थानमें सुरक्षित किया है ॥ ४ ॥

इस जगत्का एक सम्राट् बृहस्पति देव है, वह आदिकालसे चारों ओर पूर्ण रीतिसे फैला हुआ है । उसकी ज्योतिषे जो पवित्र दिनका प्रकाश होता है, उससे प्रकाशित होनेवाले ज्ञानी विशेष प्रकारसे जीवन व्यतीत करें ॥ ५ ॥

ज्ञानी निधयसे इस प्राचीन देवका वह प्रायश्चित्त महान् धाम प्राप्त करता है । बन्धुत्व-ज्ञानीका जन्म अनेक मनुष्योंके जन्मोंके साथ हुआ होता है, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानीके लिये जिस समय वह पूर्व महाद्वार मोड़ाका खुल जाता है, उस समय आप्रत रहनेके कारण उसमें ज्ञानी प्रविष्ट होता है, परन्तु अन्य लोग बाहर ही छोड़े पड़े रहते हैं ॥ ६ ॥

योऽथर्वणां पितरं देववन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात् ।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दमायस्त्वधावान्

॥ ७ ॥

अर्थ— (यः) जो (अथर्वणां पितरं देववन्धुं) निधय पिता देवोंके भाई (बृहस्पतिं नमसा च अथ गच्छात्) बृहस्पतिदेवको नमस्कारके साथ ऐसे जायें । ' (त्वं विश्वेषां जनिता असः) तू सबका उत्पादक हो, (यथा कविः स्वधावान् देवः न दमायत्) और ज्ञानी, स्वकीय सामर्थ्य युक्त देव कमा दबाया नहीं जाता ' ॥ ७ ॥

भाषार्थ— मनुष्य, देवोंके भाई, परमपिता निधल बृहस्पतिका नम्रताके साथ की हुई उपासनाद्वारा इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करता है कि ' हे देव ! तू सबका उत्पादक है, तू ही ज्ञानी और स्वकीय सामर्थ्यसे युक्त है और तू ही कभी न दबनेवाला है ' ॥ ७ ॥

ब्रह्मकी विद्या ।

इस सूक्तमें ' ब्रह्मकी विद्या ' बड़ी मनोहर रीतिसे बड़ी है । जो ब्रह्मविद्याका मनन करते हैं, उनके लिये यह सूक्त बड़ा बोधप्रद होगा । इसका पहिला कथन यह है—

प्राचीन देव ।

पुरस्तात् प्रथमं ब्रह्म जज्ञानम् । (सू. १, मं. १)
' सबसे अति प्राचीन कालकी जो भी कल्पना की जा सकती है उससे भी अत्यन्त प्राचीन कालसे वह परब्रह्म अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है । ' जिस समय अन्य कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ था, उस समयसे स्वयं प्रकाशी ब्रह्म प्रकाशित हो रहा है । इसका तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है, प्रकाशित होनेके लिये इसको किसी अन्यका सहायता नहीं लेनी पड़ती है । इसके अति प्राचीन होनेके विषयमें इसी सूक्तमें निम्नलिखित वचन देखने योग्य हैं—

१ प्रथमाय तस्मै घास्यसे । (सू. १, मं. २)

१ अग्रं स पुष्ण्यात् जनुपः अग्नि आष्ट ।

(सू. १, मं. ५)

१ पुष्यस्य अस्य देवस्य तत् घाम । (सू. १, मं. ६)

' (१) सबसे पहिला वह धारक है । (२) सबसे प्रथम जिसकी उत्पत्ति हुई है उससे भी पहिले वह पारों और ग्याप्त है । (३) सबसे पुराने इस देवका वह स्थान है । '

इन मंत्रोंमें इस देवके अति प्राचीन होनेके विषयमें निम्नयात्मक वर्णन है । इससे सिद्ध होता है कि यह देव सर्वोत्पन्न अथवा सर्वोत्पन्न, सर्वोत्पन्न और सब जगत्की उत्पत्ति होनेके पूर्वकालसे भी विद्यमान है ।

२ (अथर्व, भाष्य, काण्ड ४)

इसका ज्ञान ।

इसका ज्ञान किस रीतिसे हो सकता है, इस विषयमें विचार करनेके लिये निम्नलिखित मंत्र बड़ी सहायता देता है—

सुरस्यः सीमतः घेनः पि आसः । (सू. १, मं. १)

' (सु-रस्यः) उत्तम प्रकाशमान (सीमा-तः) सीमाओंसे ही (घेनः) ज्ञानी मनुष्य उसको देखता है । ' जिस प्रकार बादलोंसे छिपा हुआ सूर्य बादलोंके चमकनेवाले किना-रोंसे ही जाना जाता है, उसी प्रकार सूर्यचन्द्रादियोंके पीछे रहकर सूर्यादियोंकी चमकानेवाला यह देव इन गोलीका चमका-हटसे ही जाना जाता है । ' जिसकी सूर्यादि प्रकाशित नहीं करते परन्तु जिसके तेजसे सूर्यादि प्रकाशित हो रहें हैं, वह ब्रह्म है । ' अर्थात् सूर्यादियोंके सुप्रकाशित सीमाओंको देखनेसे और विचार करनेसे परमात्माका ज्ञान होता है । सृष्टिमें उसका कार्य देखनेसे ही उस परमात्माका ज्ञान हो सकता है । उसके ज्ञानके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

इसके लिये उपमा ।

यह परमात्मा प्रत्यक्ष दीखता नहीं है, यद्यपि उसका कार्य देखकर उसका अनुमान होता है, अथवा उपमाओंसे भी उसका वर्णन किया जाता है जैसा—

अस्य उपमाः पुष्ण्याः वि-स्थाः । (सू. १, मं. १)

' इसके लिये उपमार्थ (पुष्ण्याः) आकाशमें (वि-स्थाः) विशेष रीतिसे रहनेवाले जो सूर्यादि गोल हैं वे ही हैं । ' अर्थात् उस परमात्माका यदि वर्णन करना हो तो ' वह सूर्य ही सूर्य है, ' वह चन्द्रमा ही चन्द्रमा है ' इस प्रकार किया जाता है । अर्थात् सूर्यादिकी उपमा उसको देकर ही उसके विषयमें ज्ञान दिया जाता है । या तो मनुष्य सृष्टिमें उसका

कार्य देखकर उसके विषयमें अनुमान करे अथवा सूर्यादि गोलोंका भी वह प्रकाशक है इसलिये वह सूर्यका भी सूर्य है ऐसा जाने । यह रीति है जिससे उसके विषयमें कुछ अनुमान हो सकता है ।

आदि कारण ।

सषका आदि कारण वह परमात्मा ही है । सत् और असत्, बहुत समय ठहरनेवाले और क्षणभंगुर ऐसे जो पदार्थ हैं, उनका मूल आदि कारण वह है । देखिये—

सतः असतः च योनिं सः वि यः । (सू. १, मं. १)

‘सत् और असत्का आदि कारण वह है इस विषयमें योग्य विवरण ज्ञानी ही करता है ।’ अन्व मनुष्योंको उसके विषयमें पता नहीं होता । वे उसके विषयमें पूर्ण अज्ञानी रहते हैं ।

श्रेष्ठ जीवन ।

ज्ञानी अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता है यह एक बड़े महत्त्वका विषय है, इसका विवेचन द्वितीय मंत्रमें किया है यह इस समय देखिये—

इयं पिङ्गा राक्ष्येत्यग्ने प्रथमाय जनुपे भुवनेष्ठाः ।

तस्मा एतं सुरुचं दारमर्त्यं धर्मं ध्याणन्तु प्रथमाय घास्यये ॥ (सू. १, मं. २)

‘मनुष्योंके अन्दर रहनेवाली पिनासे प्राप्त हुई मनुष्यकी बुद्धि प्रथम धेनीका श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करनेके लिये उत्सुक होकर आगे बढ़े और सर्वाधार परमात्माकी संतुष्टिके लिये ही इस सुन्दर श्रेष्ठ यज्ञ कर्मको करे ।’ इस मंत्रके कुछ शब्द मनन करने योग्य हैं—

१ भुवनेष्ठाः (भुवन-स्थाः) = भुवनमें रहनेवाली ।

‘भुवन’ शब्दका अर्थ है—‘मनुष्य, मानवजाति, प्राणी, जगत्, उत्पन्न हुए हुए पदार्थ, पृथिवी, घर, स्थान और अभ्युदयको प्राप्त स्थिति ।’ इनमेंसे यहाँ ‘मनुष्य अथवा मानवजाती यह अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि इनमें रहनेवाली शक्ति (प्रथमाय जनुपे) प्रथम धेनीका जीवन व्यतीत करनेके लिये (अग्ने एतु) आगे बढ़े अर्थात् उत्साहसे अपने जीवनका सुधार करे, ऐसा कहा है । माननेतर प्राणी या पदार्थोंमें इसकी संभावना नहीं है इसलिये मनुष्य विषयक अर्थ ही यहाँ अपेक्षित है ।

२ पिङ्गा राक्षी (= पिङ्गा) पितापे आनुवंशिक दान संस्कारोंसे सुदृढ (राक्षी) तेजस्वी सुवर्णाचित बुद्धि ।

इस प्रकारकी बुद्धि मनुष्यके अन्दर द्रुम संकल्प घुसक करे और इस संकल्पके बलसे मनुष्य चलवान बनकर (प्रथमाय जनुपे) प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ दर्जेका जीवन व्यतीत करनेका उत्साह अपने मनमें बसावे । उत्साहसे वह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करे । बीचमें कोई प्रलेभन आवे तो उसमें न पसे और कोई विघ्न उत्पन्न हो जावे तो हताश न होवे । अर्थात् दृढाद्युम अवस्थाएं प्राप्त होनेपर भी अपना श्रेष्ठ मार्ग न छोड़े । इसके पश्चात्—

प्रथमाय घास्यये धर्मं ध्याणन्तु । (सू. १, मं. २)

‘सबके मुख्य आधारभूत परमात्माके लिये यज्ञ खिन्न करे ।’ अर्थात् यज्ञ करे और वह उसकी समर्पण करनेकी बुद्धिसे ही करे, क्योंकि यज्ञका पुरुष बही है और सभी यज्ञ उसीके लिये किये जाते हैं ।

यज्ञका लक्षण ।

इसी मंत्रमें यज्ञका लक्षण तीन शब्दों द्वारा बताया है, इसलिये यज्ञका स्वरूप देखनेके लिये इन तीन शब्दोंका मनन करना चाहिये—

१ अ-हो- (अहीन) = जिसमें हीनता नहीं है; जिसमें हीन या लाज्य भाव बिलकुल नहीं है, अर्थात् जो उत्तमभावसे युक्त है ।

२ सुरुचं = अत्यंत तेजस्वी । तेजस्विता बढ़ानेवाला ।

३ दारं = दानेवाला, घ्राह्यको और दुष्टताको दबाकर दंडा करनेवाला, दुष्टताको ऊपर सिर उठानेके लिये अक्षर न देनेवाला ।

‘धर्म’ यह यज्ञवाचक शब्द यहाँ है, इसका अर्थ ‘लज्जता, स्वयंकाश, यज्ञ’ ऐसा है । यहाँ लज्जताका तात्पर्य मनुष्यके मनकी लज्जता अर्थात् उत्साहशक्ति है । जिस श्रेष्ठ कर्मसे मनुष्यका पुरस्कार प्राप्ति विषयक उत्साह बढ़ता है वह यज्ञकर्मका नाम ‘धर्म’ है । पूर्वोक्त प्रकारका मनुष्य इस प्रकारके श्रेष्ठ यज्ञ करे और अपने जीवनकी सार्थक करे ।

परमात्माका सामर्थ्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यही सबका आधार है, जिसने इस संपूर्ण जगत्को ठहरा रखा है—

१ स हि दिव्यः पृथिव्याः च प्रतस्थाः ।

(सू. १, मं. ४)

२ सः मही रोदसी क्षेमं अस्कमायत् ।

(सू. १, मं. ४)

३ यां पार्थिवं सध रजः च स जातः मही

अस्कमायत् ।

(सू. १, मं. ४)

' (१) उसने दुनोह और पृथ्वीकोहको सब नियमोंसे धारण किया है । (२) वही पाषाण पृथिवीको उसीने सुशुद्ध किया है, और (३) दुनोह, पृथ्वीको और अतस्त्रिहो उसी सुप्रसिद्ध परमात्माने विरूत और सुदृढ बनाया है । '

इस संपूर्ण जगत्का रचयिता वही परमात्मा है और वह इसको अपने सत्यनियमोंसे रचता है, चलाता है और सुदृढ करता है । इसी विषयमें सप्तम मन्त्रका वचन यहाँ देखिये—

स्य विद्वेषां जनिता मसः । (सू. १, म. ५)

' तू सबका उत्पन्न कर्ता है ' इसमें अर्थोद्देश्य रीतिसे कहा है कि वही सबका उत्पादक है । यही बात भिन्न शब्दों द्वारा तृतीय मन्त्रमें भी कही है—

ब्रह्म ब्रह्मणः उज्ज्वार । (सू. १, म. २)

मयात् नोसिः उच्येः स्वधा अभिप्रतस्थौ ।

(सू. १, म. ३)

' ब्रह्म ब्रह्मणं ब्रह्म हुआ है, उसको मन्त्र, निम्नमाग्य और उत्तर माग्य उसकी अपनी धारकशक्तियों धारों और फेला है । ' ब्रह्मणं ब्रह्म ब्रह्म होता है, और उससे अनन्त धारकशक्तियों उत्पन्न होती हैं और उनसे इस विश्वका धारण होता है ।

' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ ' परब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ज्ञान, मन्त्र, वेद, माद्व्यय, मन्त्र, तप, पवित्राचरण, धन, अन्न, सूर्य, बुद्धि, प्रकाश ' ये हैं । यहाँ एक ' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ परमात्मा है और दूसरा ' ब्रह्म ' शब्दका अर्थ ' आत्मा, ज्ञान, बुद्धि, तप ' आदि हैं । ब्रह्मके अन्दर ' स्व-धा ' निम्नधारकशक्ति है वही सबका धारण करती है । इसमें निम्नशक्ति होनेसे किंवा अन्यकी शक्तिकी अपेक्षा यह नहीं करता । यही दूसरोंकी शक्ति देता है, यही इसका परम सामर्थ्य है । इसीसे ये सूर्यचन्द्रादि तेजक गोले धने हैं और सहीकी शक्तिये अपने अपने स्थानमें स्थित हैं ।

ज्ञानी ।

इस परमात्माका जो मन्त्र होता है, अर्थात् जो भाई किंवा इसके साथ व्यवहार करता है वही इसके सामर्थ्यका वर्णन कर सकता है—

यः विद्वान् अस्य यन्धुः जज्ञे,

स. देवानां जनिमा धियकि ॥ (सू. १, मन्त्र ३)

' जो ज्ञानी इसका भाई करके प्रसिद्ध होता है वही इस परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सूर्यादि देवोंकी उत्पत्त्यादिके विषयमें सहायोग्य विचारण कर सकता है । ' क्योंकि वही मनुष्य दीक रीतिसे उस परमात्माकी शक्तिको जानता है । उसका भाई

यत्नेका तात्पर्य उत्पत्त्याधिकारसे संभव होता है । जीवात्मा उस परमात्माका जेवा ' अमृतयुग ' है, वैसा ही उसका ' यधु ' भी है । ये शब्द जीवात्माकी उत्पत्तिके दर्जे बताते हैं । वस्तुतः भाई आदि संभव यहाँ साधुगिक ही हैं, ये साधवत्वाचक मनुष्यकी उत्पत्ति का अवस्था बतानेवाले हैं ।

यह मनुष्यकी योग्यता किन रीतिसे बढ़ती है इस विषयमें पञ्चम मन्त्रका एक वचन यहाँ मनोरञ्जक है, यह अब देखिये—

यद्य यत् ज्योतिषा शुभ्रं ब्रह्म जनिषु

(तेन) पुमन्तः विप्राः धि पसन्तु । (सू. १, म. ५)

' जो परमात्माकी ज्योतिषा प्रकाशपूर्ण दिन होता है, उसके प्रकाशसे प्रकाशित हुए हुए ज्ञानी विशेष प्रकाशसे रहें, ' अर्थात् उनका रहना सहना विशेष नियमोंसे सधा होना चाहिये । विशेष परिशुद्ध रीतिसे जीवन व्यतीत करनेसे ही उनकी योग्यता बढ़ती है । इनको परमात्माके प्रकाशसे प्रगल्भित हुए हुए दिनका सर्वत्र अनुभव होना चाहिये । जहाँ वे विचरें वहाँ परमात्माकी अलख ज्योति उनको दिखाई देनी चाहिये । उससे उन्नतसे उन्नत व्यवहार का मार्ग प्रकाशित होना चाहिये, समा उत्पत्तिकी साधना है ।

सूर्यके प्रकाशसे जो ' दिन ' होता है उसकी उस परमात्माके प्रकाशसे होनेवाले ' दिन ' के साथ तुलना करनेसे यह दिन कहलानेके भी योग्य नहीं है । क्योंकि सूर्य परमात्माके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, इसलिये परमात्माके प्रकाशका महत्त्व सब अन्य प्रकाशोंसे विशेष ही है ।

ज्ञानीकी जाग्रती ।

जो विद्वान् इस प्रकारके माग्यसे अपनी सन्तति करनेका इच्छुक है उसको उचित है कि वह जाग्रत रहे, प्रातः अवसरसे योग्य काम लेता जाय । ऐसा करनेसे ही उसकी निश्चिदेह सन्तति होती है । यदि अवसर आनेपर वह सो जावे तो वह पीछे रहेगा, इस विषयमें छठा मन्त्र यहाँ महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है—

१ पय यदुभिः साकं हरया जज्ञे । (सू. १, म. ६)

२ (परंतु) अस्य पूर्ववस्य देवस्य तत् महः

धाम काव्यः नूनं हिनोति । (सू. १, म. ६)

३ (अन्ये) पूर्वं अर्धे विसिते ससन्तु नु ।

(सू. १, म. ६)

' (१) यह ज्ञानी बहुतसे अन्य मनुष्योंके साथ-साथ उत्पन्न हुआ था, (२) परंतु प्राचीन देवका वह भेद्य धाम यही अकेला ज्ञानी ही प्राप्त करता है, (३) इसके साथ जन्मे

हुए अन्य साधारण लोग पूर्वका महाद्वार जिस समय खुल गया था उस समय सोये पड़े थे । ' द्वार खुल जानेके समय शानी जागता था । इस कारण शानीका प्रवेश देवताके स्थानमें हुआ, अन्य लोग सोये पड़े थे इस कारण वे अंदर प्रविष्ट न हो सके । यह मंत्र अवसरक महत्त्वका वर्णन कर रहा है ।

जिस दिन शानी जन्मा था उसी दिन इस पृथ्वीपर सहस्रों मनुष्य जन्मे थे, परंतु योग्य अवसरको गवी देनेसे अन्य मनुष्य पीछे रह गए और जागता हुआ शानी प्राप्त अवसरसे योग्य लाभ लेनेक कारण आगे बढ़ सका । मनुष्य केवल जन्मके कारण उच्च नहीं होता उसको आगते हुए अपनी उन्नतिका प्रयत्न करना चाहिये, तभी उसकी उन्नतिकी संभावना है । जो पाठक अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेक इच्छुक हैं वे इस मंत्रका योग्य मनन करके उचित बोध प्राप्त करें ।

नमन और गुणचिंतन ।

इस सूक्तके अंतिम सप्तम मंत्रमें शानी बननेके मुख्य दो साधन बड़े हैं, एक परमात्माकी भक्तिसे नमन करना और दूसरा उसके गुणोंका चिन्तन करना । इन दोनों साधनोंका अब विचार कीजिये—

यः अथर्वानं पितरं देवयभ्युं गृहस्पतिं नमसा

अथगच्छात् । (सू. १, मं. ७)

' निम्न परमपिता संपूर्ण देवोंका बन्धु, जो सर्वश्रेष्ठ देव है, उसका जो मनुष्य नमन करता है वही उसकी जानता है । '

भक्तिके परमात्माकी शरण जाना, उसको प्रेमपूर्ण हृदयसे प्रणाम करना, उसके सामने नम्र होना, ये मार्ग हैं जिससे कि मनुष्य उच्च होता रहता है । आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, तथा आत्मिक शक्तिका विकास करनेके लिये नम्र होनेकी अवलंब आवश्यकता है । नम्र होनेके विषय आत्माकी शक्ति विवक्षित नहीं हो सकती । नम्रतापूर्ण अंतःकरणसे परमात्माका गुणचिंतन करना चाहिये, वह इस प्रकार किया जाता है—

१ एवं विश्वेषां जनिता वसः । (सू. १, मं. ७)

२ कविः स्वधावान् देवः न दमायत् ।

(सू. १, मं. ७)

' हे देवाधिदेव ! तू ही सबका एक उत्पादक है । हे देव ! तू शानी, निजसामर्थ्यसे युक्त है, इसीलिये तुझे कोई भी दबा नहीं सकता । ' इत्यादि प्रकारसे उस प्रभुका गुणगान करना चाहिये । इसी प्रकार—

तस्य सद्माद् देयता गृहस्पतिः । (सू. १, मं. ५)

' इस अगलका सच्चा एक सनाद् गृहस्पति देव है । ' यही गृहस्पतिदेव परमात्मा ही है । ' गृहस्पति ' का अर्थ ' शानका स्वामी, बड़े विश्वास प्रभु ' ऐसा होता है । इस सूक्त की यही देवता है । जो परब्रह्म परमात्माकी सर्वज्ञताका वर्णन कर रहा है ।

इस सूक्तमें परब्रह्मका स्वरूप, उसका सामर्थ्य, उसकी प्राप्तिका उपाय इत्यादि महत्त्वपूर्ण बातें बड़ी हैं, जो पाठक ब्रह्मविषयके अभ्यासी हैं, उनको इसके मननसे बड़ा लाभ हो सकता है ।

किस देवताकी उपासना करें ?

[सूक्त २]

(ऋषि - घेनः । देवता - आत्मा)

य आत्मादा वलुदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।

योऽस्येमे द्विपदो यत्तुष्टपदः कसै देवार्थं हविषा विधेम

॥ १ ॥

अर्थ (कस देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी समर्पण द्वारा हम सब पूजा करें ? (यः आत्मा-दाः यल-दाः) जो आत्मिक बल देनेवाला और अन्य सब बल देनेवाला है, तथा (यस्य प्रशिषं विधेम देवाः उपासते) जिसकी आज्ञा सब देव मनेते हैं और (यः अस्य द्विपदः, यः यत्तुष्टपदः ईदो) जो इस द्विपद और चतुष्टपदका स्वामी है । इसीकी पूजा सबको करनी योग्य है ॥ १ ॥

भाषार्थ— किस देवताकी हम पूजा करें ? जो देव आत्मिक बल देनेवाला है, तथा जो अन्य बल भी देता है, जिसकी आज्ञाका पालन संसार अन्य देव करते हैं, जो द्विपद और चतुष्टपदका एक मात्र प्रभु है ॥ १ ॥

यः प्राणतो निमिपतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।

यस्यं छायामृतं यस्यं मृत्युः कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥ २ ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसानि रोदसी अह्वयेथाम् ।

यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥ ३ ॥

यस्य द्यौरुर्गं पृथिवी च मही यस्याद उर्वश्चन्तरिक्षम् ।

यस्यासौ सरो विततो महित्वा कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥ ४ ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्यं रसामिदाहुः ।

इमार्थं प्रदिशो यस्यं वाह कस्मै देवायं हविषां विधेम ॥ ५ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषां विधेम ?) किस देवताकी उपासना यजनद्वारा हम सब करें ? (यः प्राणतः निमिपत जगत) जो श्वास उल्लास करनेवाले और आँखें मूढ़नेवाले जगत्का (महित्वा एकः राजा बभूव) अपनी महिमासे एक ही राजा हुआ है । (यस्यं छायामृतं) जिसका आश्रय अमृतत्व देनेवाला है और (यस्य मृत्युः) जिसका आश्रय न करना ही मृत्यु है, उस देवताकी पूजा हम सबको करनी चाहिये ॥ २ ॥

(कस्मै देवाय हविषां विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना यज्ञ द्वारा करें ? (चस्कभाने क्रन्दसी यं अवतः) लड़ने भिड़नेवाली दो सेनायें जिसकी शरण जाती हैं और (भियसानि रोदसी अह्वयेथाम्) डरनेवाले शूलोक और पृथ्वीलोक जिसको पुकारते हैं, (यस्य रजसः असौ पन्थाः विमानः) जिसके लोकको जानेका यह मार्ग विशेष समान बढ़ानेवाला है, उस देवताकी हम सबको पूजा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

(कस्मै देवाय हविषां विधेम ?) किस देवताकी हम यजन द्वारा उपासना करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (उर्वर्गं द्यौः) विस्तारण शूलोक, (च मही पृथिवी) और यही पृथ्वी तथा (यस्य अदः उर्व अन्तरिक्षे) जिसकी महिमासे यह लवाचौड़ा अन्तरिक्ष और (यस्य असौ सारः विततः) जिसकी महिमासे यह सूर्य अपने प्रकाशसे फैल रहा है, उस देवताकी हम पूजा करें ॥ ४ ॥

(कस्मै देवाय हविषां विधेम ?) किस देवताकी हम पूजा करें ? (यस्य महित्वा) जिसकी महिमासे (विश्वे हिमवन्तः) सब हिमवाले पहाड़ खड़े हैं और (यस्य समुद्रे इत् रसा आहुः) जिसकी महिमासे समुद्रमें भी भूमि रही है । (इमार्थं च प्रदिशः यस्य वाह) और ये दिशायें जिसकी वाह हैं उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो अपना सामर्थ्यके कारण श्वासोच्छ्वास करनेवाले और आँखें मूढ़ने और न मूढ़नेवालोंका एक मात्र राजा है, जिसका आश्रय अमरत्व देनेवाला है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है ॥ २ ॥

लड़नेवाली दोनों सेनाएँ विजय प्राप्तकर्यें जिसकी शरण जाती हैं, ये यावापृथ्वी डरके समय जिसको सहायताके लिये पुकारते हैं, तथा जिसका प्रांतिका मार्ग उसपरसे चलनेवालेकी योग्यता बढ़ानेवाला होता है ॥ ३ ॥

जिसका महिमासे शूलोक विस्तारण हुआ है, यह पृथ्वी बची बनी है और यह अन्तरिक्ष लवा-चौड़ा बना है तथा जिसकी धाम धर्मसे सूर्य प्रकाशता है ॥ ४ ॥

जिसके चलते ये हिमयुक्त ऊँचे पर्वत खड़े हुए हैं, प्राणियोंके रहनेके लिये समुद्रमें भूमि बनी है और सब दिशा उपदिशाएं जिसका बाहुओंके समान फैली हैं ॥ ५ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृतां ऋतुज्ञाः ।

यासु देवीष्वर्धे देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम

॥ ६ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम

॥ ७ ॥

आपो वृत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।

तस्योत जायमानसोऽस्य आसीद्विरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम

॥ ८ ॥

अर्थ— (कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? (ऋतुज्ञाः अमृताः) सत्य नियमसे चलनेवाली जीवनशक्तिसे युक्त और (गर्भं दधानाः आपः) गर्भको धारण करनेवाले जलने (अग्रे विश्वं आवन्) प्रारंभमें विश्वको गति दी थी । (यासु देवीषु अधि देवः आसीत्) जिन देवी शक्तियोंके ऊपर एक देव विराजता है उस देवताकी हम सब पूजा करें ॥ ६ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) हम किस देवताकी पूजा करें ? जो (अग्रे हिरण्यगर्भः समवर्तत) प्रारंभमें सुवर्ण जैसे चमकनेवाले पदार्थोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाला था, (भूतस्य एकः पतिः आसीत्) भूतमात्रका एक ही स्वामी था, (सः दाधार पृथिवीं उत द्यां) उसोंने भूमि और धूलोत्तका धारण किया है, उस एक देवकी हम सब पूजा करें ॥ ७ ॥

(कस्मै देवाय हविषा विधेम ?) किस देवताकी हम उपासना करें ? (अग्रे घत्सं जनयन्तीः) जगत्के प्रारंभमें बालकको जन्म देनेवाली (आपः गर्भं समैरयन्) जलधाराओंने गर्भको प्रेरित किया (उत तस्य जायमानस्य) उस उत्पन्न होनेवाले बालकका जो (हिरण्ययः उत्सवः आसीत्) सुवर्ण जैसा शिलारूप था, उसकी हम सब उपासना करें ॥ ८ ॥

भाषार्थ— सत्य नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली, गर्भ धारण करके प्रजा उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिरूप जलकी धाराएं जब विश्वरचनाके लिये आगे बढ़ीं तब उनका संचालन करनेवाला जो एक देव था ॥ ६ ॥

जिसके अन्दर सूर्यके समान हजारहों चमकनेवाले गोले रहते हैं, इस उत्पन्न हुए संपूर्ण जगत्का जो एक ही सच्चा स्वामी है और जिसने थावापृथिवीका धारण किया है ॥ ७ ॥

प्रारंभमें सृष्टिकी उत्पत्ति करनेवाले मूल प्रकृतिके प्रवाह जब प्रेरित हुए, उस समय उत्पन्न होनेवाले पदार्थ मात्रका, गर्भके ऊपरकी शक्तिके समान जो तेजस्वी संरक्षक था, उसीकी सबको उपासना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

हम किस देवताकी उपासना करें ?

हरएक उपासकके सम्मुख 'हम किस देवताकी उपासना करें' यह प्रश्न आता है, और हरएक चर्चने इसका उत्तर अनेक प्रकारसे दिया है। वेदके सम्मुख भी यही प्रश्न आया है; चारों वेदोंमें यह प्रश्न उठाया है और उसका उत्तर बड़ी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे दिया है। इस सुक्तमें यह प्रश्न आठवार उठाया है और इतने ही मंत्रों द्वारा विभिन्न पद्धतियोंसे इसका उत्तर दिया है। यह विषय बड़े महत्त्वका है इसलिये इसका विचार यहाँ करना अवलोक्य आवश्यक है।

वस्तुतः यह सुक्त अति सरल है; तथापि इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख है, इसलिये 'कस्मै देवाय हविषा विधेम?' इस प्रश्नके प्रत्येक उत्तरका आवश्यक विचार हम यहाँ करते हैं।

प्रश्नका महत्त्व ।

इसमें जो प्रश्न किया है वह यह है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ? (सू. २, मं. १-८)

'किस देवके लिये हविषे करें' यह प्रश्नके शब्दोंका अर्थ है। हविषे क्या करेंगे वह यहाँ कदा नहीं है। हविषे हवन करते हैं, हवनका अर्थ 'आहुति समर्पण' है। हवनमें हवन

सामग्रिकी आहुतियां ढाल देते हैं और प्रत्येक आहुति देनेके समय कहते हैं कि—

अग्नये स्वाहा, अग्नय इदं, न मम ।

इन्द्राय स्वाहा, इन्द्राय इदं, न मम ।

‘ अग्निके लिये यह अर्पण है, यह अग्निका है, मेरा नहीं । इन्द्रके लिये यह समर्पण है, यह इन्द्रका है, मेरा नहीं है । ’ ये हविके हवनके मंत्र बताते हैं कि हविके जो हवन किया जाता है, वह पूर्णतया समर्पण किया जाता है अर्थात् उसपरका अपना अधिकार छोड़ा जाता है । यह यज्ञका आशय मनमें लाकर इस प्रश्नका विचार कीजिये तो आपको प्रतीत होगा कि ‘ किस देवताके लिये हम अपना समर्पण करें, किस देवताके हेतु हम अपना त्याग करें, किस (देवाय इदं) देवताके लिये यह है और (न मम) मेरा नहीं ऐसा हम कहे ’ यह सार इस प्रश्नका है । जिस देवताने यह सब हमें दिया है उसके लिये अपना समर्पण करना हमारा कर्तव्य ही है, इसलिये उस देवताका पता हमें कैसे लोग्ना इसकी खोज करनी चाहिये, इस खोजके लिये उस देवताके निम्न लिखित लक्षण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ यः आत्मा-दाः— जो आत्माका देनेवाला है, जिसने आत्मा दिया है, अर्थात् अपने समान बननेकी योग्यतासे युक्त आत्मा जिसने हम मनुष्यों या प्राणियोंके अंदर रखा है ।

२ यः धल-दाः— जो बल देनेवाला है । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक और शारीरिक बल जिससे प्राप्त होता है ।

३ विश्वेदेवाः यस्य प्रशिषं उपासते— सब अन्य देव जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अर्थात् सूर्यादि देवता जगत्में, ब्राह्मण क्षत्रियादि विद्वान् राष्ट्रमें और नेत्रादि इन्द्रिय-शक्तियों शरीरमें जिसके नियमानुसार चलते हैं । तीन स्थानोंमें ये तीन देव हैं और ये उसके नियममें रहकर अपना कार्य करते हैं ।

४ यः क्षिपद्-चतुष्पदः ईशे— जो द्विपाद और चतुष्पादोंका खामी है । सब पशुशयिकोंको जो एक जैसा पालन करता है ।

५ यः प्राणतः निमिषतः जगतः महित्वा एकः राजा बभूव— जो प्राणियों तथा अन्योका अपने निज सामर्थ्यसे एकमात्र राजा है, जिसके ऊपर किसीका भी शासन नहीं है । इसीका शासन सर्वोपरि है ।

६ यस्य छाया अमृतं— जिसका आश्रय अपरत्न देने-वाला है, जिसकी प्राप्तिसे अमरत्व प्राप्त होता है ।

७ यस्य (अच्छाया) मृत्युः— जिससे विमुख होना मृत्यु है । यहां विमुख होनेका तात्पर्य उसकी भक्ति छोड़ना आदि समझना चाहिये ।

८ चस्कभानि कन्दसी यं अयतः— परस्पर विरोध करनेवाले और आकांक्षके साथ युद्ध करनेवाले दोनों ओरके सैनिक अपनी रक्षाके लिये जिसकी शरण जाते हैं अर्थात् दोनों पक्षोंके लोग जिसपर विश्वास रखते हैं और जिससे बलकी याचना करते हैं ।

९ भियसाने रोदसी यं अहयेधां— भय प्राप्त होने-पर यावापृथिवीमें रहनेवाले सब जिसको अपनी सहायताके लिये पुकारते हैं । भयके समय किसी दूसरीकी शरण न जाते हुए सब एकमतसे इसका नाम लेते हैं ।

१० यस्य रजसः असी पन्था- विमानः— जिसके लोचको प्राप्त करनेका यह प्रसिद्ध मार्ग जिसपरसे कि आक्रमण करनेवालेकी योग्यता बढती है, अर्थात् जिसके स्थानको पहुंचानेवाले मार्गका आक्रमण करनेवालोंकी योग्यता प्रतिदिन उच्च होती जाती है । जितना मार्गका आक्रमण होगा उतनी योग्यता बढ जाएगी ।

११ यस्य द्यौ उर्वी, पृथिवी च मही, यस्य अदः अन्तरिक्ष उरु— जिसके प्रभावसे सूर्य, पृथ्वी और अंतरिक्ष विस्तीर्ण हुए हैं, अर्थात् जैसे चाहिये वैसे खुले हुए हैं ।

१२ यस्य महित्वा असी सूरः धिततः— जिसके प्रभावसे यह सूर्य अपने प्रकाशसे चारों दिशाओंमें फैल रहा है ।

१३ यस्य महित्वा विश्वे हिमवन्तः— जिसकी महिमासे ये सब हिमाच्छादित पर्वत खड़े हुए हैं ।

१४ यस्य महित्वा समुद्रे रसां आहुः— जिसके सामर्थ्यसे समुद्रके जलमें भी भूमी होती है, ऐसा कहते हैं ।

१५ यस्य बाहू इमाः प्रदिशः— जिसके बाहु ये सब दिशा उपदिशाएं हैं ।

१६ श्रुतज्ञाः अमृताः आपः अग्रे गर्भं दधानाः विश्व आवन्, यासु देवीषु अधिदेवः आसीत्— सब नियमसे चलनेवाली, जीवन देनेवाली मूल प्रकृतिकी प्रवाहनी धाराएं जगत्के गर्भको धारण करती हुई विश्वको उत्पन्न करनेके लिये जब आगे बढ़ीं, तब उन दिव्य धाराओंमें जो अधिष्ठाता एक देव था ।

१७ शिरण्यगर्भः अग्रे समवर्तत— जिसके अन्दर प्रकाशमान अनेक गोले हैं ऐसा जो देव पहलेसे विद्यमान है ।

१८ भूतस्य एकः पतिः जातः आसीत्— सब जगत्का जो एकमात्र खामी प्रसिद्ध है ।

१९ स दाधार पृथिवीं उत धाम्— जिसने पृथ्वी और सुलोका अर्थात् सब विश्वका धारण किया है ।

२० आपः गर्भं घत्सं जनयन्ती अग्रे समैरयन्, उत तस्य जायमानस्य यः हिरण्ययाः उल्वः आसीत्— मूल प्रकृतिकी जलधराए अपने अंदरसे— गर्भसे— जगत् रूपी वछवा सरपट करती हुई जब आगे बढ़ी तब उस जन्मे हुए विषरूपी बछड़ेका सुवर्णके समान चमकनेवाला शिल्पिके समान संरक्षक था ।

उसकी उपासना करो ।

पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे जिस परमेश्वरका बोध होता है उसकी उपासना सबकी करनी चाहिये । इससे भिन्न किसीकी भी उपासना करनी योग्य नहीं है ।

ये सब बीस लक्षण सरल और सुबोध हैं इसलिये इनका अधिक विवरण करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक इससे अपने उपास्य देवको ज्यों और उसकी उपासना करके उत्तम गति प्राप्त करें ।

इन बीस लक्षणोंमें पहिले दो लक्षण मनुष्यकी आन्तरिक शक्तियोंका वर्णन कर रहे हैं । मनुष्यके अन्दरकी शक्तियोंके साथ परमात्माका संबंध इसमें पाठक देख सकते हैं । इससे

पश्चात्के पाँच लक्षणोंमें वह परमात्मा प्राणिमात्रका राजा है और मनुष्यको अंतिम सुख अर्थात् मोक्ष देनेवाला है यह बात कही है । दोष लक्षणोंमें प्रायः परमात्माका विश्वधारक गुण विविध प्रकारसे कहा है । दसवें लक्षणमें परमात्मप्राप्तिके मार्गका महत्त्व है । जो इस मार्गसे जाते हैं उनका सम्मान बढ जाता है । यह विशेष बात इसमें कही है । यह एकप्र चिन्ते मनन करने योग्य है ।

कई लोक ' कस्मै देवाय हविषा विधेम । ' इस वाक्यसे यह अनुमान करते हैं कि इस सूक्तकी रचना करने-वालेको ईश्वरके विषयका निश्चित ज्ञान नहीं था, वह ईश्वरकी खोज कर रहा था । परंतु यह कथन निर्मूल है क्योंकि पूर्वोक्त बीस लक्षण परमेश्वरका निश्चित स्वरूप बता रहे हैं, और इसके पूर्व ' ब्रह्म जज्ञानं० ' (सू० १) सूक्तमें तो ब्रह्म विषयक उल्लेख स्पष्टतासे किया हुआ है । इसलिये ' अज्ञात देव ' का प्रार्थना इस सूक्तमें है ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है ।

अतः इस सूक्तसे पूर्वोक्त बीस लक्षणोंसे बोधित होनेवाले ' एक अद्वितीय ईश्वरकी पूजा करनी चाहिये ' यह वेदका सिद्धान्त स्पष्ट है । जो उपासकोंके लिये बड़ा बोधप्रद और अस्तिरघ्न रीतिसं मार्गदर्शक है । आशा है कि बिचारी पाठक इससे उचित बोध प्राप्त करेंगे ।

शत्रुओंको दूर करना ।

[सूक्त ३]

(ऋषिः - अथर्वो । देवता - रुद्रः, व्याघ्रः)

उदितस्त्रयो अक्रमन्व्याघ्रः पुरुषो वृकः ।

हिरुग्धि यन्ति सिन्धुवो हिरुग्धेवो वनस्पतिरिहिरुह्नमन्तु शत्रवः ।

॥ १ ॥

अर्थ— (व्याघ्रः, वृकः, पुरुषः त्रयः) बाघ, भेडिया और बौर मनुष्य ये तीनों (इतः उदक्रमन्) यहसे भागकर चले गये । (सिन्धुघ्नः हिरुक् यन्ति) नदियों नीचेकी गतिसे आती हैं, (देवः वनस्पतिः हिरुक्) दिव्य वनस्पति भी रोगोंको नीचेकी गतिसे मगा देती है, इसी प्रकार (शत्रवः हिरुक् नमन्तु) शत्रु नीचे होकर झुके रहें ॥ १ ॥

भाषार्थ— बाघ, भेडिया और बौर यहसे भाग जावें । त्रिस प्रकार नदियोंके प्रवाह नीचेकी ओर आते हैं, और दिव्य वनस्पतियोंसे रोग दूर होते हैं, इसी प्रकार शत्रु हमसे दूर हो जावें ॥ १ ॥

परैणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः । परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥
 अक्षौ च ते सुरं च ते व्याघ्र जम्भयामसि । आत्सर्वीन्विशति नृपान् ॥ ३ ॥
 व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि । आदु ऐनमथो अहिं यातुघानमथो वृकम् ॥ ४ ॥
 यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति । पथामपधुसेनैस्तिन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥
 मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः । निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचार्यच्छायुर्मृगः ॥ ६ ॥
 यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः । इन्द्रजाः सोमजा आथर्षणमसि व्याघ्रजम्भनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— (परेण पथा वृकः परतु) दूरके मार्गसे भेडिया चला जब । (उत परमेण तस्करः) और उधारे ओ दूरे चोर चला जावे । (परेण दत्वती रज्जुः) दूरसे दातवाली रस्सी अर्थात् सीपनी चली जावे । और (अघायुः परेण अर्षतु) पापी दूरसे भाग जावे ॥ २ ॥

हे व्याघ्र ! (ते अक्षौ) तारी दोनों अंखोंको, (च ते मुख) तेरे मुखको, (आत् सर्वान् विशति नृपान्) और तेरे सब शत्रुओं नश्वोंको (जम्भयामसि) नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

(दत्वतां प्रथमं व्याघ्रं) दातवालोंमें पहिले बाघका, (आत् उ अहिं) और सीपका, (अथो वृकं) और भेडिया, (स्तेनं अथो यातुघान) चोर और छुरेका (वयं जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ४ ॥

(अद्य यः स्तेन आयति) आज जो चोर जावे, (संपिष्टः सः अप अयति) चूर चूर किया हुआ वह हट जावे और वह (पथा अप ध्वसेन यतु) मार्गके बिनाशसे अर्थात् मार्गको भूलकर चला जावे, और (इन्द्रो वज्रेण तं हन्तु) इन्द्र वज्रेसे उसे मार डाले ॥ ५ ॥

(मृगस्य दन्ताः मूर्णा) हिरण पशुओंके दांत तोड़े गये, (अपि पृष्टयः शीर्णा उ) और उसकी पछलियां टूट गयी हैं । (ते गोधा निष्क मघतु) तेरी गोह नाचे हो जावे, और (मृगः शशयुः नीचा अयत्) हिरण पशु लड़ता हुआ नीचे भाग जावे ॥ ६ ॥

(यत् संयमः न विषमः) जिसका संयम किया हो उसको विशेष दयावशे न रखो, परन्तु (यत् न विषमः संयमः) जिसको विशेष दयावशे न रखा हो उसको अच्छी प्रकार संयममें रखो । वह (इन्द्रजाः सोमजाः) इन्द्रसे और सोमसे उत्पन्न हुआ हुआ (आथर्वणं जम्भनं असि) अथर्वविद्यासे व्याघ्रादिको दवानिका उगाय दे ॥ ७ ॥

भावार्थ— भेडिया, चोर, सीप और पापी दुष्ट हम सबसे दूर भाग जाए ॥ २ ॥

बाघकी आँखें, मुखके दांत और उसके बीस नाखून हम नष्ट कर देते हैं ॥ ३ ॥

तीक्ष्ण दातवालोंमें बाघको, भेडियेको और सीपको तथा दुष्टोंमें चोर और छुरेको हम नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

आज जो चोर हमपर हमला करेगा उसका पूर्ण नाश होगा और यदि वह बचेगा तो पथराकर अरना मार्ग भुंकेगा । पर शर पुण्य अपने शस्त्रसे उसको काटेगा ॥ ५ ॥

हिरण पशुके दांत तोड़े गये और पछलियां काटी गई हैं । सब हिरण पशु नाचे मुख बरके हरमे भाग जावें ॥ ६ ॥

जिसको उत्तम प्रकारसे बाधु किया है उसको और अधिक दण्ड वशे न रखो, परन्तु जिसको बाधु नहीं किया है वनको अग्नी प्रकाशसे दण्डवशे रखो । यह इन्द्र सोम और अथर्वका दुष्टोंको दमन करनेका उपाय दे ॥ ७ ॥

३ (अथर्व. भाष्य, पाठ ४)

दुष्टोंका दमन करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें दुष्टोंको दमन करनेका उपाय कहा गया है । यह सूक्त बड़े व्यापक अर्थवाला है इसलिये इसको पढ़नेके समय अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखना चाहिये, तभी इससे योग्य लाभ हो सकेगा । अब इस दुष्टोंके दमनका उपाय देखिये—

अथर्वविद्याका नियम ।

१ यत् सं-यमः, न वि यमः,

२ यत् न वि यमः, सं-यमः । (सू. ३, मं. ७)

‘ जिसका संयम किया हो, उसको और विशेष न दबाया जावे; परंतु जिसका दमन बिल्कुल न किया हो तो उसका संयम अवश्य किया जावे । ’ यह अथर्वविद्याका नियम है—

अथर्ववेद व्याघ्रजम्भनम् । (सू. २, मं. ७)

‘ यह अथर्वविद्यासंबंधी व्याघ्रादिकोंके दमन विद्याका नियम है । ’ यह दो प्रकाशे किया जाता है—

इन्द्रजाः सोमजाः । (सू. ३, मं. ७)

‘ इन्द्र अर्थात् इंदियोंका अधिष्ठाता जो मन कषवा अंतःकरण चतुष्टय है उससे उत्पन्न होनेवाला (इन्द्र-जाः) अंतःशक्तिके एक दमन होता है और (सोमजाः) सोम आदि औषधियोंकी शक्तिके एक दमन किया जाता है । ’ दुष्टोंके दमनके ये दो मार्ग हैं ।

इस संपूर्ण सूक्तमें ‘ (१) व्याघ्रः (बाघ), (२) वृकः (भेड़िया), (३) अहिः (बाघ), (४) दक्षवती रज्जुः (दांतवाली काटनेवाली रस्सी अर्थात् शक्ति), (५) तथा अन्य दांतवाले, नाखूनवाले हिरण्यमुगः (हिरण्यपशु) और मोघा (मोह) ’ इन दुष्ट प्राणियोंके नाम भी गिनाये गए हैं । तथा ‘ तस्करः, स्तेनः पुरुषः (चोर मनुष्य), अधायुः (पापी), यातुघानः (छेड़ा), शत्रुः (बैरी) ’ ये दुष्ट मनुष्योंके नाम भी गिने गए हैं । इससे स्पष्ट होगा कि जैसे दुष्ट मनुष्योंको समाजसे दूर हटाना आवश्यक है वही प्रकार हिरण्यपशु आदियोंको भी दूर करके समाजको सुखी करना चाहिये । यहाँ जिनकी गिनती नहीं हुई ऐसे जो अन्य दुष्ट होंगे उनको इसी विधिसे काटू करना चाहिये, और समाजसे दूर करना चाहिये और समाजको सुखी करना चाहिये । यह इस सूक्तका आशय है ।

बाघ, साँप और साँपिनके दांत उखाड़कर उनकी सौम्य बनानेका उपाय होखे मंत्रमें बताया है, यह उपाय सभी पशु जो दाँतो और नाखूनोंसे हिंसा करते हैं उनके शयनके लिये वर्ता जाने योग्य है ।

साँप, बाघ, भेड़िया आदि हिंसक प्राणी आ जायें तो उनको पीटना चाहिये, उनको पसलियाँ तोड़नी चाहिये, उनको मारने तक मारना चाहिये, यह बात मंत्र ३ रे ६ तकके चार मंत्रोंमें बतायी है । तथा इन्हीं मंत्रोंमें चोर, छेड़े, बाकू, दुष्ट आदि समाजघातक लोग समाजमें आकर उपद्रव मचाने लगे तो उनको भी उसी उपायसे शांत करना चाहिये, ऐसा कहा है ।

इस दृष्टिकोण से इन सब दुष्टों, हिंसकों और शत्रुओंको शांत या दूर करना चाहिये, यह इस सूक्तद्वारा उपदेश दिया है । परंतु बाघ, शेर, चोर, छेड़े ये बाहरके समाजमें ही रहते हैं ऐसा मानना बड़ी भारी भूल है । ये जैसे बाहर हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर भी हैं और इस सूक्तमें बाघ, भेड़िया, चोर आदि बाहरके शत्रुओंके शयनके उपदेशके मिश्रसे वस्तुतः आंतरिक हिरण्यमुगका-और आंतरिक शत्रुओंका ही दमन करनेका उपदेश किया है । सतम सूक्तके ‘ संयम ’ शब्दसे यह बात स्पष्ट हो रही है ।

मनुष्यके अंतःकरणके क्षेत्रमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर ये छः शत्रु हैं और इनको वेदमें पशु ही गिना है—

उलूकयातुं शुशुलूक यातुं जहि श्वयातु-
मुत कोकयातुम् । सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं
इषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्रम् ॥ (ऋग्वेद ७१.०.४२२)

‘ (सुपर्ण-यातुं) गहके समान चालचलन अर्थात् धर्म, (गृध्रयातुं) गीघके समान व्यवहार अर्थात् लोभ, (कोक-यातुं) बिड़ियोंके समान आचार अर्थात् काम, (श्वयातुं) ऊँठके समान बर्ताव अर्थात् स्वर्धियोंसे मात्सर या द्वेष, (उलूक-यातुं) उलूके समान आचार अर्थात् मूढता, (शुशुलूक-यातुं) भेड़ियेके समान क्रूरता ये छः पशु मनुष्यके अंतःकरणमें रहते हैं, इनका नाश नैसा करना चाहिये जैसा परबराँसे पक्षियोंका करते हैं । ’ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर ‘ ये छः शत्रु ह, ये पशु हैं, उनको दूर करना चाहिये । इनके संयम करनेका यह उपाय सतम मंत्रमें कहा है—

१ जिनका संयम हो जाय उस पर और विशेष दबाव नहीं डालना चाहिये ।

२ और जिनका संयम न हुआ हो उनकी संयमके अंदर लाना चाहिये ।

यह बात समझमें आनेके लिये एक उदाहरण लेते हैं । गाँवके घोड़े पहिले केवल पशु होते हैं, पशुता उनको सिखाया जाता है, सिखानेपर ये गाँवमें जोते जाते हैं । जो घोड़े अच्छे नियमसे

चलनेवाले सुशील होते हैं यदि उनको बिना कारण अधिक दबाया, सताया, या पीड़ित किया जाय तो वे बिगड़ बैठते हैं। अति दहन इस प्रकार घातक होता है। इदियोंके विषयमें भी यही बात है। जो इदिय सयमित होती हैं, यदि उनको और कड़े नियमोंमें रखा जाय तो उनमें प्रतिक्रिया शुरू हो जाती है और इस कारण उनके बिगड़ जानेकी संभावना हो जाती है। इसलिये सयममें रहकर योग्य कार्य करनेवाली इदियोंको भी उचित स्वतंत्रता देनी चाहिये, परन्तु साथ ही साथ उनपर दक्षताके साथ अपनी दृष्टि रखनी चाहिये और उनका आचरण देखना चाहिये त कि वे कुमार्गपर न जाय और संयममें ही स्थिर रहें। इस प्रकार सयमित इदियों और वृत्तियोंसे बर्तव्य करना चाहिये। उरतु जो सयममें स्थित नहीं हैं उनसे भी नियमोंसे बंध कर प्रयत्नसे उनको वशमें करना चाहिये और जब वशमें आ जावें तब उनको पूर्णवत् रीतिके अनुसार योग्य स्वतंत्रतामें रखते हुए धर्मके मार्गमें सुरक्षित चलना चाहिये।

खेलोंमें जो सिद्ध, व्याप्रादियोंको वशमें रखते हैं वे भी इसी प्रकार वशमें रखते हैं। पहिले प्रेमसे उनके साथ व्यवहार करते हुए उनमें अपने विषयमें विश्वास उत्पन्न कराते हैं, पश्चात् योग्य रीतिसे शिक्षा देते हैं। शिक्षित हो जानेपर उनपर

बाहरी बहुत दबाव न डालते हुए, परन्तु किसी भी प्रकार वे मर्मादाका उल्लंघन न कर सकें, ऐसी व्यवस्थासे उनकी पालना करते हैं। समयके पूर्व और पश्चात् व्यवहार करनेकी जो यह सूचना इस सूक्तमें दी है वह बड़ी उपयोगी है।

मनुष्यके अतःकरणमें जैसे ये पशु हैं, उसी प्रकार अन्य रिपु, वैरी, लुटेरे बहुतसे भाव हैं। इन सबको अपने स्वाधीन करना अथवा दूर करना चाहिये। इस विषयमें योग्य बोध पाठक प्राप्त करें। यह सयम अपनी अतःशक्तियोंसे करना चाहिये, साथ ही साथ औषधि प्रयोगसे भी कुछ अशक्त छड़ा यत्ना ली जा सकती है। जैसा सत्वगुणी अन्नका सेवन करनेसे कामकीष्ट कुछ अशक्त कम होते हैं और रजोगुणी वा तमोगुणी अन्न सेवन करनेसे वे बढ आते हैं। मधुमांसाशनसे कामकंध बढते हैं और उक्त पदार्थोंके सेवनसे निश्चित हो जानेपर उनसे बच जानकी बहुत संभावना रहती है। इसी प्रकार सोमादि औषधि रस सेवनसे भी बड़े लाभ होन संभव हैं।

इतना होनेपर भी अपनी अतःशक्तियोंसे कामादियोंका सयम करनेका अनुष्ठान अतिश्रेष्ठ है।

पाठक इस बातका अधिक विचार करें और योग्य बोध प्राप्त करें।

बल संवर्धन ।

[सूक्त ४]

(ऋषि — अथर्वी । देवता — वनस्पतिः, नानादेवता)

यां त्वां गन्धर्वो अखनद्रुणाय मृतभ्रजे । तां त्वां वयं रत्नामस्योर्पाधि शेषहर्षणीम् ॥ १ ॥

उदुपा उदु सूर्य जदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्व्या शुभ्रेण वाजिनां ॥ २ ॥

अर्थ— (यां त्वा) जिस तुमको (गन्धर्व मृत-भ्रजे द्रुणाय अखनत्) गंधर्वने शक्तिहीन वरुणके लिये छोड़ा है (तां त्वा शेषहर्षणीं ओर्पाधि) उस तुम इदियका सामर्थ्य बढ़ानेवाली औषधिकी (वयं रत्नामसि) हम सोतेते हैं ॥ १ ॥

(वाजिना शुभ्रेण) शक्ति और बलक प्रभावसे (उपाः उदेजतु) उपाकी बेला ऊंची होवे, (उ सूर्यः उत्) सूर्य ऊपर चढे, (इदं मामकं वचः उत्) यह मेरा वचन ऊंचा हो, और इसी प्रकार (वृषा प्रजापति उत पजतु) बलवान् प्रजापति ऊंचा होवे ॥ २ ॥

भावार्थ— तदण मनुष्य शक्तिहीन हुआ तो उसको पुनः शक्ति देनेके लिये वैद्य इदियशक्ति बढ़ानेवाली औषधि देवे ॥ १ ॥

यथा स्म ते विरोहन्तेऽभितर्तमिवानति । ततस्ते शुग्मवत्तरमिधं कृणोत्वोपधिः ॥ ३ ॥
 उच्छृण्वौपधीना सारं ऋपभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृण्व्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥
 अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृण्व्यम् ॥ ५ ॥
 अद्यामिं अद्य संभितरय देवि सरस्वति । अद्यास ब्रह्मणस्पते धनुर्निवा तानया पसः ॥ ६ ॥
 आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिधं घन्वनि । क्रमस्वर्श इव रोहितुमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥
 अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्यस्य च । अर्थं ऋपभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ८ ॥

अर्थ— (यथा स्म ते विरोहन्ते) जिस प्रकार तेरी शूद्र होनेके समय (अभि तप्त इव अनति) तप्त होनेके समान श्वास बढता है (तत ते शुग्मवत्तर) उसी प्रकार तुझे अधिक बलवान (इव ओषधि कृणोतु) यह ओषधि करे ॥ ३ ॥

(ऋपभाणा ओषधीना शुग्मा सारा उत्) ऋपभक्त नामक ओषधियोंका घटवर्धक सार बर पडावे । हे (तनू वशिन् इन्द्र) शरीरको वशमें रखनेवाले इन्द्र ! (पुसा वृण्व्य असिन् धेहि) पुरुषोंका बल इसमें सम्यक् रीतिसे धारण कर ॥ ४ ॥

(वनस्पतीना अपाप्रथमज रस) वनस्पतिके जलाशयका प्रथम उत्पन्न होनेवाला रस (अथ उत सोमस्य भ्राता असि) और सामका रस भाई जैसा पोषणकर्ता है (एत आशं वृण्व्य असि) और उठाने तथा बर बढानेवाला है ॥ ५ ॥
 हे अमे ! (अद्य) आज, हे सत्वता । (अद्य) आज, हे सरस्वती देवी ! (अद्य) आज, हे ब्रह्मणस्पते ! (अद्य) आज (अस्य पस धनुः इव आ-तानय) इसका इक्षिक धनुषके समान फैला ॥ ६ ॥

(अहं त पसः तनोमि) मैं तेरी इन्द्रियको फैलाता हूँ । (घन्वनि अधि ज्या इव) जैसे धनुष्यपर कोराहो तानते हूँ । (क्रम रोहित इव) जैसे हिसक पशु हारेणपर धावा करता है उस प्रकार तू (अनवग्लायता सदा क्रमस्व) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ७ ॥

(अश्वस्य अश्वतरस्य अजस्य पेत्यस्य च) घड़ेके, खच्चरके और मछक, (अथ ऋपभस्य) और बैरके (ये वाजा) जो बल है, ह (तनू वशिन्) शरीरको वशमें करनेवाल । तू (तान् असिन् धेहि) उन बलोंका इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

भाष्य— जिस प्रकार उषा प्रकाशता है सूर्य उदयके प्रभात चमकन लगता है, और वज्राका शब्द बजा होता जाता है उसा प्रकार इस ओषधके सेवनसे सतानका विना पुन बलवान होगा ॥ ३ ॥

इस औषधको शरीर अधिक बलवान होगा और इस द्रव्योको शक्ति बढ जायगी ॥ ३ ॥

ऋपभक्त औषधियोंका यह शक्तवर्धक सार ह । शरीरको स्वाधीन रखनेवाला मनुष्य पुरुषोंका शक्तिवर्धक इस सार रूप औषधको धारण करके बलवान बन ॥ ४ ॥

इन औषधियोंका सत्वरसे सामवलीके समान इस बलीका रस ये सब शक्ति बढानेवाल हैं ॥ ५ ॥

ह देवी ! आज इसका इन्द्रियकी शक्ति बढा दो ॥ ६ ॥

इसका इन्द्रियोंका मैं पुष्ट करता हूँ, जैसा हिरण्यगु हिरणिक पकड़ता ह इस प्रकार यह न थकता हुआ चढाई कर ॥ ७ ॥

घाट, खच्चर, मछ और बलमें शक्तियों हैं वे सब शक्तियों, इस शरीरको स्वाधीन करनेवाल मनुष्य । तू इसमें धारण कर ॥ ८ ॥

चलवर्धन ।

इन्द्रियोंके बल बढ़ानेवाली औषधियोंका इस सूक्तमें वर्णन है, विशेष करके पुरुषकी जननेन्द्रियकी शक्ति पुनः पूर्ववत् स्थिर करनेके लिये श्रगमक औषधियोंका रस रोवन करनेका उपदेश इसमें किया है । श्रगमक औषधि और जङ्गल औषधि हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती है, जैसे सोमवल्ली बढ़ा देती है ।

इसीलिये श्रगमककी सोमका भाई में ५ में कहा है । यह श्रगमक औषधि वीर्यवर्धक है । वाजीकरणके लिये अत्यन्त उपयोगी है । (इस विषयमें हम अधिक लिखना नहीं चाहते ।) शुषोम्न वैद्य इस औषधि प्रयोगके विषयमें अधिक विचार करें । यह औषधि वीर्यवर्धनके लिये अत्यन्त गुणकारी औषधि है ऐसा इस सूक्तमें प्रतीत होता है ।

गाढ निद्रा ।

[सूक्त ५]

(कृषिः — ग्रहा । देयता — स्थापनं, कृपणः)

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्राद्दुदाचरत् । तेना सहस्रेणा वयं नि जनान्स्वापयामसि ॥ १ ॥

न भूमिं वातं अति वाति नाति पश्यति कथन । स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसत्ता चरन् ॥ २ ॥

प्रोष्ठे शयास्तल्पे शया नारीर्या वल्लशीचरीः । स्त्रियो याः पुण्यगन्धयुक्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ ३ ॥

एज्जदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् । अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशयरे ॥ ४ ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति । तेषां सं दंष्ट्राम् अक्षीणि ययेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

अर्थ— (सहस्रशृङ्गः वृषभः) सहस्र सौगन्ध्या अर्थात् हजारों किणोष्ठ, युक्त बलवान् चन्द्र (यः समुद्रात् दुदाचरत्) जो समुद्रात् उदय हुआ है, (तेन सहस्रेण) उस बलवान्की सहायतासे (वयं जनान् नि स्वापयामसि) हम जनकों को सुला देते हैं ॥ १ ॥

(न वातः भूमिं अति पति) इस समय न तो वायु भूमिपर अधिक चलता है, (न कथन अति पश्यति) न कोई कारणसे देखा दे, (इन्द्रसत्ता चरन्) इन्द्रका मित्र होकर बढ़ता हुआ भू वायु (सर्वाः स्त्रियः शुनः च स्वापय) सब स्त्रियोंको और कुत्तोंको सुला दे ॥ २ ॥

(प्रोष्ठे-शयाः तल्पे-शयाः) मयकोपर सोनेवाली, साटोंपर सोनेवाली (यल्ल-शीचरी) दिंडोला आदिमें सोनेवाली (याः नारीः) जो स्त्रियो हैं (याः पुण्यगन्धाः स्त्रियः) जो पुण्य गन्धवाली स्त्रियो हैं (ताः सर्वाः स्वापयामसि) उन सबको हम सुला दें ॥ ३ ॥

(एज्ज-जग्रभं चक्षुः अजग्रभम्) इधर उधर मटकनेवाला आँसुको मैने निग्रहमें रखा है, उसी प्रकार (प्राणं अजग्रभम्) प्राणका मैने स्थापन किया है, (रात्रीणां अति शयरे) रात्रीयोंके अंधकारमें (सर्वा अंगानि अजग्रभं) सब अंगोंको मैने निग्रहमें रखा है ॥ ४ ॥

(यः आस्ते, यः चरति) जो बैठता है, जो चलता है, (यः तिष्ठन् वि पश्यति) जो यज्ञ होकर देखा है (तेषां अक्षीणि संदंष्ट्राम्) उनको अँगोंको हम पन्द करते हैं जैसे (यथा इदं हर्म्यं तथा) इस मंदिरके द्वार बंद स्थित जाते हैं ॥ ५ ॥

स्वप्नुमाता स्वप्नु पिता स्वप्नु आ स्वप्नु विदपतिः । स्वप्नन्त्यस्यै ज्ञातयुः स्वप्नव्ययमभितो जनः ॥ ६ ॥

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ध्वापय जन्म ।

ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युपं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः

॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ — (माता स्वप्नु, पिता स्वप्नु) माता सोवे, पिता सोवे, (इवा स्वप्नु, विदपतिः स्वप्नु) कुत्ता सोवे, और प्रजारक्षक सोवे, (अस्य ज्ञातयः स्वप्नु) इसकी ज्ञातिके लोग सोवे, (अयं जनः अभितः स्वप्नु) यह सब लोग चारों ओर सोवे ॥ ६ ॥

दे (स्वप्न) निद्रा । (स्वप्न-अभिकरणेन) नींदके उपायसे (सर्वे जनं नि ध्वापय) सब जनोंको सुला दे । (अभ्यान् जनान् वा-उत्-सूर्ये स्वापय) अन्य जनोंको सूर्य उदय होनेतक सुला दे । परन्तु (अहं इन्द्र इव) मैं शर पुष्पके समान (अ-रिष्टः अ-क्षितः) नाश रहित और क्षय रहित होता हुआ (जागृतान्) जागता रहूँ ॥ ७ ॥

[यह सूक्त अति सरल होवेसे इसका भावार्थ देनेकी आवश्यकता नहीं है ।]

गाढ निद्रा लानेका उपाय ।

इस सूक्तमें मनकी दृढ भावनासे गाढ निद्रा प्राप्त करनेका उपाय बताया है । चन्द्रमा ऊपर आया हो तो उसकी शक्तिका ध्यान करनेसे मन शान्त बनकर गाढ निद्रा आ सकती है (म. १) । मन्द वायु चल रहा है इस प्रकारकी भावनासे भी गाढ निद्रा आ सकती है (मं. २) । आँखोंको, अगों और

अवयवोंको तथा प्राणकी शक्ति करनेसे भी निद्रा आती है (मं. ४) । तट्ठन जियोंको और पुरुषोंको भी प्रयत्नसे अपनी शक्तियाँ शान्त करके सुखसे निद्रा आने योग्य मनकी शक्ति बढ़ाना चाहिये, जिससे सुखपूर्वक वे सो सकेंगे । पास रक्षाके लिये कूर्तोंको भी सुलाना चाहिये । (मं. ९)

जो रक्षक पुरुष हों वे दूसरोंको शान्तिसे सोने दें परन्तु स्वयं उत्तम प्रकार जागते रहें और सबको रक्षा करें । (मं. ७)

॥ यहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

विषको दूर करना ।

[सूक्त ६]

(ऋषिः — गरुत्मान् । देवता — तक्षकः)

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः । स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिष्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्टिरे ।

वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिपम् ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विषं प्रथममावयत् । नामोमदो नारुरुष उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

यस्तु आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्त्राचिदधि धन्वनः । अपस्कृम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम् ॥ ४ ॥

शल्याद्विषं निरवोचं प्राज्ञनादुत पर्णधेः । अपाष्टान्शृङ्गात्कुलमलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (प्रथम दशशीर्षः दशास्यः ब्राह्मणः जज्ञे) सबसे प्रथम दस सिर और दस मुखवाला ब्राह्मण सत्यपन हुआ, (सः प्रथमः सोमं पपौ) उसने पहले सोमरसका पान किया और (सः विषं अ-रसं चकार) उसने विषको खाररहित बना दिया ॥ १ ॥

(यावती द्यावापृथिवी वरिष्णा) जितने दुलोक और भूलोक विस्तारसे फैले हैं, (सप्त सिन्धवः यावत् वितष्टिरे) सात नदियाँ जितनी फैली हैं, वहाँतक (विषस्य दूषणीं तां वाच) विषको दूर करनेवाली उस वाणीको (इतः निरवादिपं) यद्यपि मैंने कह दिया है ॥ २ ॥

हे विष ! (गरुत्मान् सुपर्णः) बेगवान गरुडपक्षीने (प्रथमं त्वा आवयत्) प्रथम तुझको खाया । उसे (न अमोमदः) न तूने उन्मत्त किया और (न अरुरुष) न बेडोष किया, (उत अस्मै पितुः अभवः) परंतु तू उसके लिये अन्न बन गया ॥ ३ ॥

(यः पञ्चाङ्गुरिः) जिस पाँच अंगुलियोंसे युक्त चोरने (चक्रात् चित् धन्वनः अधि) टेढ़े धनुश्वरसे (अपस्कृम्भस्य शल्यात्) बधनसे निकाले शरसे (ते विष आस्यत्) तेरे अन्दर विष चलाया है (अहं विषं निरयोचं) मैंने उस विषको हटा दिया है ॥ ४ ॥

(शल्यात् प्राज्ञनात् उत पर्णधेः) शरसे, निम्नभागसे, पल्लुवाले स्थानसे (विषं निरयोचं) विष मैंने हटाया है । (अपाष्टान् शृङ्गात् कुलमलात्) फालसे, सींगसे और बाणके अन्व भागसे (अहं विषं निरयोचं) मैंने विष दूर किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जानी ब्राह्मणने सोमपान करके विषको दूर किया ॥ १ ॥

यह विष दूर करनेका उपाय मैं सङ्क्षेपित करता हूँ यह सब अगत्तमें फैल जावे ॥ २ ॥

गरुड पक्षीको विषकी भाषा नहीं होती है वह विष खाता है, परन्तु उसको न तो उन्मत्त चड्डा है और न बेडोषी है । विष तो उसके लिये अन्न जैसा है ॥ ३ ॥

चोर लोग जो विषसे पूर्ण बाण चलाते हैं उससे हम वह विष दूर करते हैं ॥ ४ ॥

बाणके आदि, मध्य और अग्रभागसे हम विष दूर करते हैं ॥ ५ ॥

अरसस्तं इपो श्रुत्योऽथौ ते अरसं विपम् । उतारसस्य वृक्षस्य धनृष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥
 ये अपीपन्त्ये अदिह्न्य आस्यन्त्ये अवासृजन् । सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विपगिरिः कृतः ॥ ७ ॥
 वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योपधे । वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विपम् ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (इपो) बाण । (ते शस्यः अरसः) तेरी बाणकी आण निःसार है, (अथो ते विपं अरसं) और तेरा विष सारहित है । हे (अरस) रस रहित शुष्क । (उत अरसस्य वृक्षस्य ते धनुः) सारहित वृक्षवा तेरा धनुष (अरसं) निःसत्व हो जावे ॥ ६ ॥

(ये अपीपन्) जिन्होंने पीसा है, (ये अदिह्न) जिन्होंने लेप दिया है, (ये आस्यन्) जिन्होंने फँका है, (ये अवासृजन्) जिन्होंने लक्ष्मण ओढ़ा है (सर्वे ते वध्रयः कृताः) वे सब निर्बल किये गये हैं, (विपगिरिः वध्रिः कृतः) विषपर्वत भी निर्बल किया गया है ॥ ७ ॥

हे (ओपधे) विषकी औषधि । (ते खनितारः वध्रयः) तेरे खोदनेवाले निःसत्व हुए, (त्वं वध्रिः अस्ति) तू भी निःसत्व है । (स पर्वतः गिरिः वध्रिः) वह पर्वत और पहाड़ भी निर्बल्य हुआ (यतः इदं विपं जातं) जहाँसे यह विष उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार सब बाण हम निर्बल करते हैं ॥ ६ ॥

जो विषकी पीसते हैं, उसका लेप बाणपर करते हैं, जो बाण फेंकते हैं अथवा वेधते हैं, उनके सब प्रयत्न इस रीतिसे निर्बल हुए हैं और सब विष भी निर्वन्मा सिद्ध हुआ ॥ ७ ॥

इस प्रकार विषवलीको खोदनेवाले व जिस पर्वतपर विषवृक्ष उगते हैं वह पर्वत भी निःसत्व हुआ है ॥ ८ ॥

विष दूर करनेका उपाय ।

इस सूक्तमें विष दूर करनेके उपाय कहे हैं । पहिला उपाय ' सोमपान ' करना है । सोमपान करनेसे विष दूर होता है । (मं. १) प्रथम मंत्रमें यह उपाय कहा है । इसमें कहा है कि ' दश शीर्ष और दस मुखवाला ब्राह्मण प्रथम उत्पन्न हुआ, उसने सोमपान किया जिससे विषबाधा नहीं हुई । ' इसमें ' दशशीर्ष और दशाक्ष्य शब्द ब्राह्मणके विशेषण हैं । शीर्ष शब्द बुद्धिवा और आक्ष्य शब्द वक्त्ररत्नका वाचक है । दस गुणा बुद्धिमान् और दस गुणा विद्वान्, यह इस शब्दका भाव है । जो ऐसा विद्वान् सोमपान करके उसका यज्ञशेष सोम पीता है उसका विष दूर होता है, ऐसा यज्ञ आशय दाखता है । ' इस सोमपानसे विषबाधा दूर होती है ' यह उपेक्षा सब जगत्में दी जावे, (मं. २) ताकि सर्वत्र सोमपान होते रहे और सब

देश निर्बल होवें । जल वायुकी निर्दोष और निर्बल करनेका उपाय यह सोमपान है ।

दूसरा उपाय गहवपशीका है । गहव साँप आदि विषग्रन्थुओंकी खाता है, उनका विष उनके पेटमें जाता है, परंतु उसकी विष बाधा नहीं होती, मानो वह विष उसका अन्न ही बन जाता है । संभव है कि इस विषकी योग्य खोज करनेसे विष शमन करनेके उपायका ज्ञान हो जावे । खोज करनेवाले पाठक गहवकी पाचक शक्तिके विषयमें खोज करें और लाभ उठावें ।

अन्य मंत्रोंका विषय सुद्धमें विषदाघ बाण लगनेसे जो विष बाधा होती है, उस संबंधका विष दूर करनेका है । यह विषय हमारे सामक्षमें नहीं आया है । इसलिये इस विषयमें हम अधिक कुछ भी नहीं लिख सकते ।

विष दूर करना ।

[सूक्त ७]

(ऋषिः - गरुडमान् । देवता - वनस्पतिः)

वारिदं वारयाते वर्णावत्यामधि । तश्चाभूत्सासिकं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥
 अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम् । अथेदमध्वराच्यं कर्मभेण वि कल्पते ॥ २ ॥
 कर्मभं कृत्वा तिर्यं पीवस्पाकमुदारधिम् । क्षुधा किल त्वा दुष्टो जक्षिवान्स न रूरुपः ॥ ३ ॥
 वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि । प्र त्वा चरुमिव येपन्तं वचसा स्थापयामसि ॥ ४ ॥
 परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि । तिष्ठान् वृक्ष इव स्थान्यग्निस्राते न रूरुपः ॥ ५ ॥

अर्थ— (वारणाघत्यां अधि) वारणानामक औषधिमें रहनेवाला (इदं वार् वारयाते) यह रस, जल, विषको दूर करता है । (तश्च अभूत्सासिकं) वही अभूतक होता है (तेन ते विष वारये) उससे तेरा विष मैं हटाता हूँ ॥ १ ॥

(प्राच्यं धिपं अ-रसं) पूर्व दिशाया विष रसहीन होवे, (यत् उदीच्यं अरसं) जो उत्तर दिशामें विष हो वह भी रसहीन होवे । (अथ इदं अध्वराच्यं) अब जो नीचेको दिशाया यह विष है वह (कर्मभेण विकल्पते) दहीसे विफल होता है ॥ २ ॥

हे (दुःखान्तो) दोषयुक्त शरीरवाले ! (तिर्यं=तिर्य्यं) तिलोका (पीवः+पाकं) पीके साथ पका हुआ (उदा-रधि = उदर-धि) पेटकी ठीक करनेवाला (कर्मभं) धधि मिश्रित अन्न (क्षुधा किल जक्षिवान्) क्षुधासे अनुबूल खाया जायगा, तो (सः त्वा न रूरुपः) वह तुझे बेहोष नहीं होने देगा ॥ ३ ॥

हे (मदावति) मूर्च्छा मानेवाली ! (ते मदं शरं इव वि पातयामसि) तेरी बेहोशीको बाणके समान दूर फेंक देते हैं । और (येपन्तं चरुं इव) चूनेवाले बर्तनके समान (त्वा वचसा प्रस्थापयामसि) तुझको वचा औषधिसे हम हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(आचितं ग्रामं इत्) इच्छे हुए ग्रामीण जनोंके समान तुमको हम (वचसा परि स्थापयामसि) वचा औषधिसे सब प्रकार ठहरा देते हैं । (स्थासि वृक्ष इव तिष्ठ) स्थानपर तुझके समान ठहर । हे (अग्नि-स्राते) बुरालासे खोसी हुई ! तू (न रूरुपः) बेहोष नहीं करेगी ॥ ५ ॥

भावार्थ— वारणा नामक औषधिका रस विषको दूर करता है, उसमें जो अभूतक सात हाता है, उससे विष दूर होता है ॥ १ ॥

इससे प्राच्य और उदीच्य विष शान्त होता है । निम्नभागका विष दहिसे प्रयोगसे विकृतता होता है ॥ २ ॥

विष शरीरको विगाहता है । उसके लिये मिलेके पाकमें बहुत पी बालकर उसका उत्तम पाक बनाकर और उसको दहीके साथ मिश्रित करके अपने पेटकी स्थिति और भूखके अनुबूल खाया जाय तो विषसे आनेवाली मूर्च्छा दूर होती है ॥ ३ ॥

औषधिसे विषसे मूर्च्छा या बेहोशी जानी हा तो उसके लिये वचा औषधिका प्रयोग किया जावे, इससे मूर्च्छा दूर होगी ॥ ४ ॥ वचा औषधिसे प्रयोगसे विष अपना अमर नहीं कर सकता और बेहोशी दूर होती है ॥ ५ ॥

पयस्तैस्त्वा पर्यैक्रीणन्दुर्गोभिराजिनैरुत । प्रकीरसि त्वमोयधेऽग्निं खातु न रुरुपः ॥ ६ ॥
अनास्रा ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे । वीरान्नो अत्र मा दभुन्तर्द एतत्पुरो दधे ॥ ७ ॥

अर्थ— (पयस्तैः दूर्गैः उत अजिनैः) ओढनेकी चादरें, दुहाले और कृष्णाजिनोसे, हे ओषधे ! तू (प्रकीः अस्ति) विशाक वस्तु है । हे (अभि-खाते) दुहाले छोदी हुई ! तू (न रुरुपः) मूर्च्छित नहीं करती है ॥ ६ ॥

(ये प्रथमाः अनासाः) जो पहिले अष्ट ज्ञानी पुरुष थे उन्होंने (यः यानि कर्माणि चक्रिरे) तुम्हारे लिये जो कर्म किये, वे (नः वीरान् अत्र मा दभन्) हमारे वीरोंको यहाँ न कष्ट दें । (तत् एतत् यः पुरः दधे) वह यह सब तुम्हारे सम्मुख मैं धरता हू ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह औषधि एक विकल बीज है, इससे मूर्च्छा दूर जाती है, इसलिये यह विविध वस्तुएं देकर खरीदी जाती है ॥ ६ ॥

इस प्रकारके औषधिके प्रयोगसे प्राचीन ज्ञानी वैद्योंने जो जो चिकित्साएं की थीं, उनका स्मरण कर और उस प्रकार अपने बालबच्चों तथा पुरुषोंको बिनाशसे बचाओ । यही हमारा कहना है ॥ ७ ॥

दो औषधियां

इस सूक्तमें बारण। और वचा इन दो औषधियोंका उपयोग विष दूर करनेके लिये कहा है ।

विषके पेटमें जानेपर मूर्च्छा आने लगती तब तिलैदन दहीके साथ खानेका उपाय तृतीय मन्त्रमें कहा है ।

[सूचना— ये सूक्त तथा इस प्रकारके जो अन्य सूक्त चिकित्साके साथ सम्बन्ध रखते हैं, उनका विचार ज्ञानी वैद्यों-

को ही करना चाहिये, क्योंकि औषधियाँ चक शब्दोंके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं और केवल भाषाविज्ञानसे यह विषय सुलझा नहीं सकता । इसलिये वैद्यकीय प्राचीन परम्पराको जानेनाले सुयोग्य वैद्य यदि इस विषयकी खोज करे तो इससे जनताके बहुत लाभ हो सकेगा । केवल भाषाविज्ञानी ऐसे सूक्तोंका जो अर्थ करते हैं, उसको सुविज्ञ वैद्य ही ठीक रीतिसे सुधार सकते हैं और अर्थके सत्यासत्यका निर्णय भी वे ही कर सकते हैं ।]

राजाका राज्याभिषेक ।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — अथर्वहिराः । देवता — चन्द्रमा, आपः, राज्याभिषेकः)

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव ।

तस्य भूतेश्वरति राजस्यं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

अर्थ— जो (भूतः) स्वयं प्रभावशाली बनकर (भूतेषु पयः आ दधाति) सब प्रजाजनोंकी दुहादि उपभोगके पदार्थ देता है (सः भूतानां अधिपतिः बभूव) वह ही प्रजाओंका अधिपति हो जाता है । (तस्य राज-स्यं भूतेश्वरति) उसके राज्यशासनके उत्पन्न हो जानेपर स्वयं भूतु ही दण्ड लेकर उसकी वंशवृत्तार्थ राज्यमें प्रवेश करता है । (सः राजा इयं राज्यं अनुमन्यताम्) वह राजा इस राज्यकी अनुमतिसे चले ॥ १ ॥

भावार्थ— जो विशेष प्रभावशाली होता है और सब जनताके लिए विशेष सुखोपभोग प्राप्त कर देनेके कार्य करता है, वही लोगोका अधिपति होता है । जो भूतु सब प्राणियोंका अन्त करनेवाला है वह उस राजाका शासक दण्डधारी होकर उसकी वंशवृत्त करता है । इस प्रकारका जो प्रतापी पुरुष हो वही प्रजाकी अनुमतिसे राज्यशासन चलावे ॥ १ ॥

अभि प्रेहि मापं येन उग्रश्चेत्ता संपन्नहा ।

आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अर्घिं द्रुचन्

॥ २ ॥

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूयं ह्यियं वसन्तिश्रति स्वरोचिः ।

महत्तृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ

॥ ३ ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः ।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्यापो दिव्याः पर्यस्वतीः

॥ ४ ॥

या आपो दिव्याः पर्यसा मदन्त्यन्तरिक्षं उव वां पृथिव्याम् ।

तासां त्वा सर्वासामपाममि पिश्वामि वर्चसा

॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचुन्नापो दिव्याः पर्यस्वतीः ।

यथासौ मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत्

॥ ६ ॥

अर्थ—हे (मित्रवर्धन) मित्रोंको बढानेवाले राजन् । तू (उग्रः चेत्ता संपन्नहा अभिप्रेहि) प्रतापी, बेतना देनेवाला, शत्रुओंका विनाशक होकर आग बढ । (मा अपरेनः) पछि न हट, (आ तिष्ठ) अपने स्थानपर ठहर जा । (तुभ्यं देवाः अधि द्रुचन्तु) तरे लिये विद्वान् लोग योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

(आतिष्ठन्तं विश्वे परिभूयन्) राजगद्दीपर बैठनेवाले राजाको सब लोग अलंकरण करें । यह राजा (अर्घ्यं घपानः स्व-रोचिः चरति) लक्ष्मीको धारण करता हुआ अपने तेजसे युक्त होकर राज्यमें विचरता है । इस (तृष्णः असुरस्य तत् महत् नाम) पलवान्, प्रजाओंके प्राणरक्षक राजाका यही मन्त्र था । यह (विश्वरूपः अमृतानि आ तस्थौ) सब रूपोंसे युक्त होकर विविध सुखोंको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

(वैयाघ्रे अधि व्याघ्रः) व्याघ्र खमाववाले मनुष्योंपर बाघ बनकर (मही दिशः विक्रमस्य) विशाल दिशाओंमें पराक्रम कर । (पर्यस्वतीः आपः) दुग्धादि प्रस करनेवाली (सर्वाः दिशाः) सब प्रजाएँ (सा वाञ्छन्तु) तुम चढ़ें ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षे उव वा पृथिव्यां) अन्तरिक्ष और इस पृथ्वीपर (या दिव्याः आपः) जो दिव्य जल अपने (पर्यसा मदन्ति) सब रससे तुल्य करते हैं (तासां सर्वासां अपां) उन सब जलोंके (वर्चसा त्वा अभिपिश्वामि) तेजसे तेरा अभिषेक करता हू ॥ ५ ॥

(दिव्याः पर्यस्वतीः आपः) दिव्य रसयुक्त जलोंने (वर्चसा त्वा अभिपिश्वन्) अपने तेजसे तुझे अभिषेक किया है (यथा मित्रवर्धनः असः) जिससे तू मित्रोंकी श्रद्धा कानेवाला है वे और (सविता त्वा तथा करत्) सबका प्रेरक देव तुझे वैसा योग्य करे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—राजा अपने मित्र बढावे । यह राजा प्रतापी प्रजामें बेतना बढानेवाला और शत्रुओंका नाशक होकर आग बढे । अपने स्थानमें स्थिर रहे और कभी पीछे न हटे । ऐसे राजाको विद्वान् लोग समय समयपर योग्य मंत्रणा देते रहें ॥ २ ॥

राजगद्दीपर विराजमान होनेवाले राजाको प्रजाजन अलंकरण करते हैं । यह राजा ऐश्वर्यको प्राप्त रहना हुआ तेजस्वी बनकर राज्यमें विचरता है । प्रजाजनोंके प्राणोंकी रक्षा करनेवाले पलवान् राजाका यही मन्त्र था । यह राजा विविध आधिपत्योंके रूप धारण करके विविध सुखोंकी बढाता हुआ अपने स्थानपर रहता है ॥ ३ ॥

राजा दुष्टोंके दमनके लिये योग्य प्रखर उपायोंकी योजना करके सब दिशाओंमें पराक्रम करके विजयी होवे । दूध, जल आदि उपभोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले प्रजाजन ऐसे राजाको अपने शासनके लिये चाहें ॥ ४ ॥

पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो दिव्य जल हैं उन सबके तेजसे यह राज्याभिषेक राजाके ऊपर किया जाता है ॥ ५ ॥

एना व्याघ्रं परिपस्वजानाः सिंहं हिंन्वन्ति महते सौभगाय ।

समुद्रं न सुभुवस्तास्थिर्चासं मर्मज्यन्ते द्वीपिनमुत्सर्वन्तः

॥ ७ ॥

अर्थ— (व्याघ्रं सिंहं परिपस्वजानाः एनाः) व्याघ्र और सिंहके समान पराक्रमी राजाको चारों ओरसे अभिविक्त करनेवाली ये जलधाराएँ इसको (महते सौभगाय हिंन्वन्ति) बड़े सौभाग्यके लिये प्रेरित करती हैं । (सु-भुवः समुद्रं न) जैसे उत्तम भूमिभाग समुद्रको शोभित करते हैं । उसी प्रकार (अस्तु अन्तः तस्थिर्चासं द्वीपिनं) जलोंके अन्दर ठहरनेवाला, द्वीपाधिपति राजाको सब प्रजाएं (मर्मज्यन्ते) समुचित करती हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ— इस दिव्य जलसे अभिविक्त हुआ राजा अपने मित्रोंकी संख्या बड़ावे और परमेश्वर उस राजाको वैसी ही प्रेरणा करे ॥ ६ ॥

यह राजा नरव्याघ्र अथवा नरसिंह अर्थात् नरश्रेष्ठ है । इस राज्याभिषेकसे इसके भाग्यकी वृद्धि होती है । जिस प्रकार अपनी मूर्तिमें रहनेवाला समुद्र चारों ओरके भूभागोंसे समुचित होता है, उस प्रकार चारों ओरसे जलसे घेरित राष्ट्रका अधिपति राजा सब प्रजाओंसे सुपूजित होता है ॥ ७ ॥

राज्याभिषेक ।

राजाके राज्याभिषेकके समयके धर्मविधिमैं कहनेका यह सूक्त है । इस सूक्तके मननसे राज्याभिषेक विधिका ज्ञान होना सम्भव है । राजगद्गोंपर राजाका अभिषेक होनेके लिये विविध जलशायोंका जल लाया जाता है । समुद्र, पवित्र महानदियाँ, अन्य पवित्र स्रोत और आकाशमें प्राप्त होनेवाला दिव्य जल ये सब जल लाये जाते हैं । इस मंत्रपूत जलसे राज्याभिषेक किया जाता है । इसका तात्पर्य बड़ा गंभीर है । राजाका राज्य समुद्र-तक फैला हुआ होना चाहिये । यह पहिला बोध यहाँ मिलता है । जो राज्य समुद्रतक नहीं फैले हुए होते उनका व्यापार व्यवहार ठीक प्रकार नहीं चल सकता, इसलिये समुद्रके किनारे तक राज्यका विस्तार होना देशांतिकके लिये अत्यंत आवश्यक है । इसी विचारका स्फूर्ति देनेके लिये उत्तम मंत्रके 'समुद्र, अस्तु अन्तः, द्वीपिनं' ये शब्द हैं । पंचम मंत्रमें कहा है कि 'तासां सर्वासां अपां चर्चसा अभिपिञ्चामि ।' अर्थात् उन सब जलोंके तेजसे मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ, ताकि तुम इस तेजसे युक्त हो ।

समुद्रतक राज्यविस्तार ।

समुद्रका और महानदियोंका जल दूरीसे राजाके पाससे भिड़ा मोगकर लाया हुआ राज्याभिषेकके कामका नहीं है । अपने

राज्यमें समुद्र चाहिये और महानदियाँ भी अपने राज्यमें चाहिये । और उनसे जल प्राप्त करना चाहिये । इसका विचार करनेसे संस्कारकी चाँजे किस प्रकार राज्यविस्तारके लिये कारणीभूत हो सकती हैं इसका पता लग सकता है ।

कौन राजा होता है ?

जो वीर विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है और जो जनताको (पयः आ दधाति) दुग्ध आदि उपभोगके पदार्थ विपुल देता है तथा बेकारी कम करता है, वही (अधिपतिः शुभ्रः) राजा होता है । इस राजाका सहायक यह स्यु ही होता है, स्यु देव सब जगदकी दण्ड देनेवाला होता है, मानो इस स्युका अश्व ही राजाके पाद आकर निवास करता है । इसीकी सहायतासे राजा अपराधियोंकी दण्ड देता है । इस प्रकार का प्रभावशाली राजा प्रजामें शासन करे । (म. १) यह राजा शत्रुनाशक और मित्रवर्धक तथा शूर बनकर अपना राज्य चलावे और घडावे । (मं. २) राज्यशासन करनेवाले अनेक ओहदेदार ये राजाके ही रूप हैं, इस प्रकारसे मानो, राजा (विश्वरूपः) अनेक रूपवाला होकर राज्य करता है, और (स्व-रोचिः) अपने तेजसे तेजस्वी बनकर राज्य चलाता है । यही राजाकी माहिमा है । (मं. ३) यह राजा वाय और सिंह जैसा पराक्रमी बनकर शत्रुओंका दमन करे और सब प्रकारकी उन्नति सिद्ध करके यशका मार्ग बने ।

अञ्जन ।

[सूक्त ९]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — त्रैकाकुदाञ्जनम्)

एहिं जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् । विश्वेभिर्दुर्वर्द्धत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि । अश्वानामवर्तं परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

उतासिं परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।

उतामृतस्य त्वं वेत्थार्थो असि जीवभोजनमर्थो हरितमेपजम् ॥ ३ ॥

यस्याञ्जनं प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुषरुः । ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिश्चोचनम् । नैनं विश्वेन्धमश्नुते यस्त्वा विभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

अर्थ— (जीवं त्रायमाणं) जीवकी रक्षा करनेवाला, (पर्वतस्य अक्ष्यं) पर्वतसे प्राप्त होनेवाला और आँखोंके लिये हितकारक, (विश्वेभिः देवैः दुर्वर्द्धत्तं) सब देवोंने दिया हुआ, (कं) सुलक्षरूप (जीवनाय परिधिः असि) जीवनके लिये परकोटरूप है, तू (एहिं) यहाँ आ ॥ १ ॥

तू (पुरुषाणां परिपाणं) पुरुषोंका रक्षक, (गवामं परिपाणं असि) गोओंका रक्षक है, (अश्वानां अश्वानां) गेहवान् घोड़ोंके भी (परिपाणाय तस्थिषे) रक्षाके लिये तू रहता है ॥ २ ॥

हे (आञ्जन) अञ्जन ! तू (उत परिपाणं असि) नि संदेह संरक्षक है और (यातु जम्भनं) बुराईयोंका नाश करनेवाला है । (उत त्वं अमृतस्य वेत्थ) और तू अमृतको जानता है, (अथो जीव-भोजन असि) और जीवोंकी पुष्टि करनेवाला है, (अथो हरित-मेपजं) तथा पाण्डुरोगकी औषधि है ॥ ३ ॥

हे (अञ्जन) अञ्जन ! (यस्य अङ्गं अङ्गं परुः परुः प्र सर्पसि) जिसके अंग अंगमें और जोड़ जोड़में तू क्षयता है, (ततः यक्ष्मं वि बाधसे) वहाँसे रोगको हटा देता है, (मध्यमशीः उग्रः इव) मध्यस्थानमें रहनेवाले प्राणके समान तू उग्र है ॥ ४ ॥

हे अञ्जन ! (यः त्वा विभर्ति) जो तेरा धारण करता है (एनं शपथ न प्राप्नोति) इसको दुष्ट भाषण प्राप्त नहीं होता है, (न कृत्या न हिंसक कर्म और (न अभिश्चोचनं) न तो शोक उसके पास आता है । (विश्वेन्ध एनं न अश्नुते) योंका इसको नहीं घेरती है ॥ ५ ॥

भावार्थ— प्राणीमात्रको अपमृत्युसे बचानेवाला, जीवनके लिये सहायक, आँखके लिये हितकारी, सब देवोंसे प्राप्त और पर्वतपर उगनेवाली वनस्पतियोंसे बननेवाला यह अञ्जन है, यह हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

मनुष्य, गौएं और घोड़ोंके लिये भी यह अत्यन्त हितकारी है ॥ २ ॥

यह अञ्जन उग्रतम संरक्षक, बुराईयोंको दूर करनेवाला, मृत्युको दूर करनेवाला, पुष्टि देनेवाला और पाण्डुरोगका नाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

यह अञ्जन जिसके अवयवों और संघियोंमें पहुँचता है वहाँसे रोग हटा देता है ॥ ४ ॥

इस अञ्जनको जो लोग लगते हैं उनको दुष्ट भाषण, शत्रु, हिंसक कर्म, अन्य शोकके कारण और अन्य पीड़ाएं कष्ट नहीं देती ॥ ५ ॥

असन्मन्त्रादुष्वन्यादुष्कृताच्छमलादुत । दुर्हर्द्विधुषो घोरान्तस्मात्तः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥
 इदं विद्वानाञ्जनं सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् । सनेयमश्ने गामहमात्मानं त्वं पूरुष ॥ ७ ॥
 त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा यलास आदहिः । वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिकुक्षुत्तमं ते पिता ॥ ८ ॥
 यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि । यातुंश्च सर्वाञ्जमभयत्सर्वीश्च यातुघान्यः ॥ ९ ॥
 यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यते । उमे ते भद्रे नाम्नी ताम्पो नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

अर्थ—हे अञ्जन । तू (असन्मन्त्रात्) गुरो मंत्रपासे, (दुष्पमात्) गुरो स्वप्ने (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्मसे, (शमलात्) अशुद्धिसे, (उत दुर्हर्द्वः) दुष्ट-हृदयतासे, (तस्मात् घोरान् चक्षुषः) तब भयंकर नेत्र विधासे (नः पाहि) हमारा बचाव कर ॥ ६ ॥

हे अञ्जन । (इदं विद्वान्) इस बातको जाननेवाला मैं (सत्यं वक्ष्यामि) सत्य बोलता हूँ (न अनृतं) असत्य नहीं । हे (पूरुष) मनुष्य । (तव अभ्यं गां आत्मानं) तेरे घोडा, गौ और आत्माको (अहं सनेये) मैं आरोम्य देऊँ ॥ ७ ॥

(तक्मा, यलासः, आत् अहिः) ऊपर, कठोर और उदात्तरीय अवश सर्व ये (त्रयः आञ्जनस्य दासाः) तीन अञ्जनके दास हैं । (पर्वतानां वर्षिष्ठः) पर्वतोंमें श्रेष्ठ (त्रिकुक्षुत्तमं ते पिता) त्रिकुक्षु नामक तेरा पातर है ॥ ८ ॥

(यत् त्रैककुदं आञ्जनं) जो त्रिकुक्षुसे बना हुआ अञ्जन (हिमवतः परि जातं) हिमपृष्ठ पर्वतपर उत्पन्न हुआ वह (सर्वांश्च यातुंश्च जम्भयत्) सब पीछेको दूर करता हुआ (सर्वाः यातुघान्यः च) सब दुष्टोके दूर करता है ॥ ९ ॥

(यदि वा त्रैककुदं असि) यदि तू तीन ककुक्षुसे उत्पन्न हुआ हो, (यदि यामुनं उच्यते) तुम्हें यामुन कहा जाता हो, (ते उमे नाम्नी भद्रे) वे दोनों तेरे नाम कन्याण सूचक हैं । हे अञ्जन । (ताम्पो नः पाहि) उनसे हमारा रक्षा कर ॥ १० ॥

भाषार्थ—इस अञ्जनसे बुरा विचार, गुरो भ्रमति, दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कर्म, अशुद्धता, हृदयके दुष्ट भाव और आँखके भयंकर रोग दूर होते हैं ॥ ६ ॥

मैं इस अञ्जनके गुण जानता हूँ इत्युक्तिसे यह कहता हूँ कि इससे मनुष्य, घोड़े, गौं आदिकोको आरोम्य प्राप्त होता है ॥ ७ ॥
 ऊपर, दाय, कक्षविचार, उदात्ततामक पेटका रोग अवश सर्वथा विद आदि इस अञ्जनसे प्रयोगसे दूर हो जाते हैं । ऊँचे पर्वतोंपरके पदार्थोंसे यह बनता है ॥ ८ ॥

इस अञ्जनसे सब प्रकारकी पीड़ाएँ दूर होती हैं ॥ ९ ॥
 त्रैककुक्षु और यामुन ये इसके नाम हैं, इससे कन्याण प्राप्त होता है । इससे हमारा रक्षा होवे ॥ १० ॥

अञ्जन ।

वेदाङ्गमें अञ्जनके मुख्य दो नाम हैं—
 'यामुनं अथवा यामुनेयं और सौषारिञ्जनं ।'
 इसके पश्चात् शब्द ये हैं—
 'पार्यतेयं, अञ्जनं, यामुनं, छप्पं, माक्षेयं, मेघकं, श्रोतोञ्जं, बुष्यमदं, नीलं, सुवीरजं, नीलाञ्जनं, यधुष्यं, यारिसंमयं, कपोतकं ।' (रा. नि. २. ११)
 इन नामोंमें 'पार्यतेयं, यामुनं' ये दो शब्द हैं । ये ही दो शब्द इस सूक्तके प्रथम और दशम मंत्रमें क्रमशः हैं ।
 अन्य मंत्रोंमें भी हैं, देखिये—
 पर्वतस्य असि । (ए. ९, मं. १)
 पर्वतानां त्रिकुक्षुत्तं ते पिता । (ए. ९, मं. २)
 त्रैककुदं आञ्जनं हिमवतस्परि जातं । (ए. ९, मं. ३)
 त्रैककुदं (आञ्जनं) यामुनं उच्यते । (ए. ९, मं. १०)
 पर्वतसे यह अञ्जन बना है । अञ्जनका विना पर्वत है ।

हिमपर्वतपर यह अञ्जन हुआ। इसको यामुन कहते हैं।^१ अर्थात् वेदके शब्दोंका अर्थ वैद्यक ग्रन्थोंके वर्णनसे इस प्रकार खुल जाता है। अञ्जनके गुण वैद्यक ग्रन्थमें इस प्रकार कहे हैं—

शीतलं तीक्ष्णं स्वादु लेखनं कटु चक्षुष्यं तिक्तं
प्राह्वकं मधुरं स्निग्धं ह्रिक्काक्षयपित्तविषकफघ्नं
नेत्रदोषहरं चातघ्नं श्वासहरं रक्तपित्तघ्नं च ।

(वै निघ.)

शीतल कटु तिक्तं कपायं चक्षुष्यं रसायनं
कफवातविघ्नं च ॥ (रा. नि व १३)

ये वैद्यक ग्रन्थमें कहे अञ्जनके गुण हैं। इनमेंसे कई गुण 'इस सूक्तमें कहे हैं, देखिये—

१ 'अद्यं' (म. १) आँखोंके लिये दितकारी, 'घोरात् चक्षुषः पाहि।' (म. ६) आँखके भयंकर रोगसे बचाता है। यहाँ भाव वैद्यक ग्रन्थमें 'चक्षुष्यं, नेत्रदोषहरं' शब्दसे वर्णन किया है।

२ (म. ८ में) तक्मा (क्षय उवर), यलास (कफ,

श्वास), और अहिः (सर्प विष) का शमन अञ्जनसे होनेका वर्णन है। यहाँ बात उक्त वैद्यक ग्रन्थके वर्णनसे 'ह्रिक्का (श्वास), क्षय (क्षयरोग), विष (विषबाधा) का नाश करनेवाला' इन शब्दोंसे कही है।

इस सूक्तमें हृदयादि अन्दरके अवयवोंपर भी इस अञ्जनका प्रभाव पड़ता है ऐसा कहा है। विचार आदिकी शुद्धता होती है और मनुष्यों तथा पशुओंके शरीरोंके अनेक रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है, वह भी वैद्यक ग्रन्थमें 'कफपित्तवातघ्नं' अर्थात् वात, पित्त, कफ दोषोंका शमन करनेवाला इत्यादि वर्णनसे स्पष्ट हुआ है। कफपित्तवातके प्रकोपसे सब रोग उत्पन्न होते हैं, उन प्रकोपोंका शमन इस अञ्जनसे होता है इसलिये सब रोग दूर करनेवाला यह अञ्जन है। इस दृष्टिसे इस सूक्तके २ से ८ तकके मन्त्रोंके कथनोंका विचार करके बोध प्राप्त करना चाहिये। यह सूक्त सुबोध है और विषय उपयोगी है। इसलिये वैद्यकोंके इस अञ्जनके निर्माण करनेकी विधिका निश्चय करके उसकी प्रकट करना चाहिये।

शंखमणि ।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — अथर्व । देवता — शंखमणिः)

याताञ्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि । स नो हिरण्यजाः शुद्धः कृशः प्रात्यहसः ॥ १ ॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे । शुद्धं हृत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि पदामहे ॥ २ ॥

अर्थ— (याताञ् अन्तरिक्षात्) वायुसे, अन्तरिक्षसे, (विद्युतः ज्योतिषः परि जात.) बिजलीसे और सूर्यादि ज्योतिषोंसे भी सत्र प्रकारसे उत्पन्न हुआ (सः हिरण्यजाः कृशः प्रात्यः) वह सुवर्णसे बना मोती रुपी तेजस्वी शंख (नः अहसः पातु) हमको पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः रोचनानामग्रतः) जो प्रकाशमानोंमें अग्र भागमें रहनेवाला (समुद्राद्, अधि जज्ञिषे) समुद्रसे उत्पन्न होता है उस (शस्त्रेण रक्षांसि हृत्वा) शस्त्रसे राक्षसोंको नाश करके (अत्रिणः वि सद्दामहे) भक्षकोंको पराभूत करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् और सूर्यादिकोंका तेज तथा सुवर्णके गुण लेकर शंख उत्पन्न हुआ है वह रोगोंसे बचाता है ॥ १ ॥

यह स्वयं तेजस्वी है और समुद्रसे प्राप्त होता है, इससे रोगजों पर होते हैं, खूनका शोषण करनेवाले रोगोंके किमी इधमे नष्ट होते हैं ॥ २ ॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः । शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वहंसः ॥ ३ ॥
दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्धाभृतः । स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥
समुद्राज्जातो मणिवृत्राज्जातो दिवाकरः । सो अस्मान्तस्वर्तः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकौऽसि सोमाच्चमर्षिं जज्ञिषे ।

रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रौचनस्त्वं प्र ण आयुषि तारिपत् ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वर्चरत्युत्स्वन्तः ।

तत्ते वघ्नाभ्यायुषे वर्षसे यलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्तत्राभि रक्षतु ॥ ७ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (शंखेन अमीवां, अमतिं) शंखसे रोगको और मति हीनताको (उत शंखेन सदान्वाः) और शंखसे सदा पीडा करनेवाले रोगोंको हम दूर करते हैं । यह (शंखः विश्वभेषजः) शंख सब रोगोंकी औषधि है, इसलिये यह (कृशनः अंहसः पातु) मोतीके समान तेजस्वी शंख पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(दिवि जातः) दुलोकसे हुआ, (समुद्रजः) समुद्रसे जन्मा अथवा (सिन्धुतः परि आभृतः) नदियोंसे इच्छा किया हुआ यह (हिरण्यजाः शंखः) सुवर्णके समान चमकनेवाला शंख है, (सः मणिः) वह मणि (नः आयु-प्रतरणः) हमारे लिये आयुष्यमें दुलोकसे पार करनेवाला होवे ॥ ४ ॥

(समुद्रात् मणिः जातः) समुद्रसे यह शंखरूपी रत्न हुआ है, जैसा (वृत्रात् दिवाकरः जातः) भेषसे सूर्य प्रकट होता है । (सः हेत्या) वह अपने शत्रुसे (देवासुरेभ्यः) देवों वा असुरोंसे (अस्मान् सर्वतः पातु) हम सबको सब प्रकारसे बचावे ॥ ५ ॥

(हिरण्यानां एकः असि) तू सुवर्ण जैसे चमकनेवालोंमें एक है, (त्वं सोमात् अघिं जज्ञिषे) तू सोमसे उत्पन्न हुआ है । (त्वं रथे दर्शतः) तू रथमें दिखाई देता है, (त्वं इषुधौ रौचनः) तू तूणीरमें बमकता है (नः आयुषि प्र तारिपत्) हमारी आयु बढाओ ॥ ६ ॥

(देवानां अस्थि कृशनं बभूव) देवोंका अस्थिरूप श्वेत तेज ही सुवर्ण या मोतीके सदृश बना है । (तत् आरम-न्यत् अप्स्तु अन्तः चरति) वह आत्माको सन्तानोंमें गुप्त होता हुआ जलोंमें विचरता है । (तत् ते) वह तेरे ऊपर (वर्षसे यलाय आयुषे दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) तेज, बल, आयुष्य, दीर्घ आयुष्य, सौ वर्षोंवाला दीर्घायु प्राप्त होनेके लिये (यन्नाभि) बांधता हूँ । यह (कार्शनः तया अभिरक्षतु) शंख मणि तेरा पूर्ण रक्षण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ— शंखसे आत्मके कारण उत्पन्न होनेवाले रोग दूर होने हैं, बुद्धिकी सुस्ती दृढ़ जाती है, शंखसे शरीरकी अन्य पीडा दृढ़ जाती है, शंख सब रोगोंकी औषधि है । यह तेजस्वी शंख हमें रोगोंसे बचाता है ॥ ३ ॥

यह शंख समुद्रमें उत्पन्न होता है और महा नदियोंके मुखपर भी प्राप्त होता है । यह सब आयुषमें हमें दुःखोंसे पार करता है ॥ ४ ॥

समुद्रसे प्राप्त होनेवाला शंख अपने विनाशक गुणसे सब प्रकारके दोषोंसे हमारी रक्षा करे ॥ ५ ॥

शंख सुवर्णके समान तेजस्वी, और चद्रमाके समान श्वेत है । यह शरीरके रसोंपर और बाणोंकी तूणीरपर रखा जाता है । इससे आयुष्यकी दृढ़ि होती है ॥ ६ ॥

यह मानो देवोंका तेज है और बड़ी शंख रूपसे समुद्रके जलके अन्दर प्राप्त होता है । इससे तेज, बल, दीर्घ आयुष्य आदिकी प्राप्ति होती है । यह सब दोषोंसे मनुष्यको बचाता है ॥ ७ ॥

शंखसे रोग दूर करना ।

शंखकी औषधि बनाकर उसका विविध रोगोंको दूर करनेके कार्यमें उपयोग करनेका विषय वैद्यशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें है, यही इस सूक्तका विषय है। इस विषयमें सबसे प्रथम वैद्यशास्त्रके प्रमाण देखिये—

वैद्यशास्त्र ग्रंथोंमें जो इसके नाम दिये हैं उनमें 'पूतः' शब्द है। इसका अर्थ 'पवित्र' है। स्वयं पवित्र होता हुआ जहाँ जाय वहाँ निर्दोषता करनेवाला। शंखका यह गुण है इसीलिये इसका उपयोग औषधि क्रियामें होता है।

शंखके गुण ।

वैद्यशास्त्रमें इसके गुण निम्नलिखित प्रकार कहे हैं—

शंखकूर्मादियः स्वादुरसपाका मरुनुदः ।

शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते चर्चस्याः श्लेष्मघर्चनाः ॥

(सुश्रुत. सू. ४६)

' शंख स्वादुरस, वायुको हटानेवाला, शीत, स्निग्ध, पित्त विकारमें हितकारी, तेज बढ़ानेवाला और श्लेष्मा बढ़ानेवाला है । ' तथा—

कटुः शीतः पुष्टिवीर्यवलदः शुष्मशूलकफ-

श्यासविपद्मश्च ।

(रा. नि. व. १९)

' कटु, शीत, पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक, यत्र बढ़ानेवाला, शुष्म रोग दूर करनेवाला, शूल हटानेवाला, कफ रोग और श्वास दूर करनेवाला और विष दूर करनेवाला है । ' ये वैद्यशास्त्रमें कहे हुए शंखके गुण देखनेसे इस सूक्तका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है और शंखका रोगनिवारक गुण ध्यानमें आ जाता है। इस शंखसे शखद्रव, शंखभस्म, शंखचूर्ण, शखवटी आदि अनेक औषधि विविध रोग दूर करनेके लिये बनाये जाते हैं। इस लिये जिन लोगोंको इन औषधियोंका अनुभव है, उनको शंखके औषधिगुणोंके विषयमें विशेष रीतिसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है। बच्चोंको होनेवाले कई रोगोंके शान्तके लिये शंख पानीमें घोलकर पिलाया जाता है साथ अन्यान्य औषधियाँ भी होती ही हैं। इससे स्वयं सिद्ध है कि यह शंख बड़ी औषधि है।

शंख प्राणी है ।

शंख केवल निर्जीव स्थितीमें बाजारोंमें विक्रता है, परन्तु यह प्राणीका शरीर अथवा शरीरका आवरण है, यह प्राणीके साथ बढता है। यह दृष्टीके समान होता है, कुछ अन्यान्य रासायनिक भेद अवश्य होते हैं, इसलिये यह केवल दृष्टी जैसा

ही नहीं होता। यह जीव है ऐसा इस सूक्तके सप्तम मन्त्रमें कहा है—

देवानां अस्थि कृशानं यभूय,

तत् आत्मन्वत् अप्तु अन्तः चरति ।

(सू. १०, मं. ७)

' देवोंकी हड्डी ही यह शंख रूपमें परिणत हुई है यह (आत्मन्वत्) आत्मासे— जीव सत्तासे— युक्त होकर जलोके अन्दर विचरता है । ' इससे निःसन्देह स्पष्ट हुआ कि शंख यह आत्मावाला अर्थात् जीवधारी प्राणी है। दिव्य गुणोंसे युक्त दृष्टी जैसा, परन्तु उस दृष्टीके घटके अन्दर रहनेवाला यह प्राणी ही है। इसके इस घर जैसे शंखके जो औषधि गुण हैं वे इस सूक्तमें कहे हैं। इस सूक्तमें ओ इसके गुण कहे हैं वे ये हैं—

(१) विश्वमेपजः— बहुत रोगोंकी औषधि। शंखका औषधिसे बहुत रोग दूर हो जाते हैं। (मं. ३)

(२) अंहसः पातु (पाति)— शरीरमें रोग रहनेसे मनुष्यकी पायकी ओर प्रवृत्ति होती है, शंखकी औषधि सेवन करनेसे यह पापप्रवृत्ति दूर होती है। और निरोग होनेसे मनुष्यके मनकी प्रवृत्ति पुण्यकर्ममें हो जाती है। रोग और पाप ये परस्परान्वलन होते हैं। एकके होनेसे दूसरा होता है।

(मं. १, ३)

(३) आयुप्रतरणः— आयुष्यके पार ले जानेवाला, अर्थात् पूर्ण आयु देकर बीचमें आनेवाले रोगरूपी विनाशको हटानेवाला शंख है। (मं. ४)

(४) देवासुरेभ्यः हेत्या पातु (पाति)— देवों और असुरोंसे जो जो रोग या पीडा होना सम्भव है उनसे शख बचाता है। जल, अन्न आदि देवता हैं, शिनका सेवन मनुष्य करता है और जो दोष इनमें होने हैं उनके कारण रोगी होता है। आसुर और राक्षस भाव इंद्रियों और मनोके अन्दर प्रबल होते हैं और इस कारण मनुष्य बीमार होता है। इन सब रोगोंके दूर करनेके लिये शंखकी औषधि उत्तम है। (मं. ५) देवों और असुरोंसे रोग कैसे होते हैं इसका यह विचार पाठक स्मरणमें रखे।

(५) अमीघां शङ्खेन (चिपद्दामहे)— ' आम ' अर्थात् अन्नके अपचनसे होनेवाले रोग ' अमीव ' कहे जाते हैं। इन रोगोंको शंखसे दूर किया जाता है। अर्थात् शंखसे पचनकी शक्ति बढ जाती है और आमके दोष हट जाते हैं। (मं. ३)

(६) अमर्ति शङ्खेन (चिपद्दामहे)— मति, बुद्धि अथवा मनके कुविचार भी पूर्वोक्त आमके कारण ही होते हैं।

शंखसे आमके दोष दूर होते हैं और उफ कारणसे मनके घुरे विचार दूर होते हैं और पापप्रवृत्ति भी दृष्ट जाती है । (मं. १)

(७) शङ्खेन सदान्वाः (घिपयामहे)— शरीरमें, हर एक अवयवमें जिन रोगोंमें बड़ा दर्द हो जाता है वे रोग 'सदान्वाः' कहे जाते हैं । (सदा नो न्यूयमानाः) सदा रोगी चिल्लाते रहते हैं इस प्रकारके रोगोंको शंख दूर करता है ।

(मं. २)

(८) तेज, बल और दीर्घ आयुकी प्राप्ति शंखसे होती है ।

(मं. ७)

इस प्रकार शंखसे रोग दूर होनेके विषयमें इस सूक्तमें कहा है ।

रोग जन्तु ।

इस सूक्तमें रोगकृमियोंको और उनसे होनेवाले विविध रोगोंको दूर करनेके लिये भी इसी शंखकी औषधि लिखी है, इस विषयका धर्षण इस सूक्तमें इस प्रकार है—

(१) रक्षसि— (रक्षः = क्षरः) = जिन रोग-जन्तुओंसे शरीर क्षीण होता जाता है । (मं. २)

(२) अग्निन्— (अग्नि इति) = जिस रोगमें बहुत अन्न खानेपर भी शरीरकी पुष्टि नहीं होती है, स्तन कम होता है, मांस आदि सप्त धातु क्षीण होते हैं । भस्मरोग तथा उष्ण प्रकारके अन्य रोगोंके बीजोंका यह नाम है । (मं. ३)

ये किमियोंके अर्थात् रोगके क्रियोंके नाम हैं । इनसे उत्पन्न होनेवाले सब रोग शंखके सेवनसे दूर होते हैं ।

शंसके गुण ।

इस सूक्तमें इस शंखके जो गुण कहे हैं वे अब देखिये—

(१) समुद्रान् जहिष्ये— यह समुद्रसे उत्पन्न होता है, जलसे उत्पत्ति है इसलिये यह शीतवीर्य है, गुणोंमें शीत है । (मं. १, २, ४, ५)

(२) सोमात् जहिष्ये— सोम अर्थात् औषधियों अथवा चंद्रसे उत्पन्न होनेके कारण गुणकारी, रोग दूर करनेवाला और शीत गुण प्रधान है । (मं. ६)

(३) हिरण्यजः— सुवर्णसे उत्पन्न होनेके कारण बलवर्धक आदि गुण इसमें हैं । (मं. १, ४, ६)

(४) घिद्युत्— आदि तेजोंसे उत्पन्न होनेके कारण यह शंख शरीरका तेज बढ़ानेवाला है । (मं. १)

इस प्रकार इस सूक्तमें शंखके गुण बताये हैं । इन गुणोंकी तुलना पाठक वैद्यप्रयोग गुणोंके साथ करें और इस रीतिसे वैदिक गुणवर्णनकी शैली जाननेका यत्न करें ।

यह वैद्यका विषय है । वैद्यशास्त्रमें शंखका अनेक प्रकारसे उपयोग होता है । इसलिये वैद्योंको इस विषयकी खोज करके इस विषयको अधिक सुबोध करना योग्य है ।

महाराष्ट्रमें पानीमें शंख घोलकर छोटे बच्चोंको पिलाते हैं, जिससे छोटे बच्चोंकी कई बीमारियाँ दूर होती हैं । जबके गलेमें जो शंखका मणि बाँधते हैं, अथवा छोटे शंखको धुवर्णमें जड़कर गलेमें आभूषण बनाते हैं । इससे लाभ होता है ऐसा अनुभव है । वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये ।

॥ यदां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

विश्वशकटका चालक ।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — भृगुवह्निराः । देवता — अनडुह्, इन्द्रः ।)

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत चामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।

अनड्वान्दाधार प्रदिशः पडुर्वोरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चेटे तृषां लुको वि मिमीते अर्ध्वनः ।

भूतं भविष्यद्वुर्वना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्धर्मस्तत्प्रथ्वरति शोशुचानः ।

सुप्रजाः सन्त उदुरे न सर्पथो नाश्रीयादन्डुहो विजानन् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अनड्वान् पृथिवी दाधार) विश्वको शकटको चलानेवाले ईश्वरने पृथ्वीका धारण किया है, (अनड्वान् दां उत उरु अन्तरिक्षं दाधार) इसी ईश्वरने तुलोक और यह ब्रह्म अंतरिक्ष धारण किया है । (अनड्वान् पट उर्वीः प्रदिशः दाधार) इसी ईश्वरने छः बरौ दिशाओंको धारण किया है । (अनड्वान् विश्वं भुवनं मा विवेश) यही ईश्वर सब भुवनमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

(सः अनड्वान् इन्द्रः) वह अनड्वान् इन्द्र है वह (पशुभ्यः विचेटे) पशुओंको निरीक्षण करता है, (शक्रः प्रयान् अर्ध्वनः विमिमीते) यह समर्थ प्रभु तीनों मार्गोंको नाशता है । (भूतं भविष्यत् भुवना दुहानः) भूत भविष्य और वर्तमानकालके पदार्थोंको निर्माण करता हुआ (देवानां सर्वा व्रतानि चरति) देवोंके सब व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

(इन्द्रः मनुष्येषु अन्तः जातः) इन्द्र मनुष्योंके अन्दर प्रकट हुआ है वह (ततः धर्मः शोशुचानः चरति) तबनेवाले सूर्यके समान प्रकाशता हुआ चलता है । इह (अनडुहः विजानन्) सबालकको जानता हुआ (यः न अश्रीयात्) जो अपने लिये भोग न करेगा (सः) वह (सु-प्रजाः सन्) सुप्रकाशमान होकर (उन्-प्ररे न सर्पथ्) देह पातके पश्चात् नहीं मटकता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इन्द्रने पृथ्वी, अन्तरिक्ष, तुलोक और छ दिशाओंका धारण किया है और वह सब भुवनोंमें प्रविष्ट हुआ है ॥ १ ॥

इसी इन्द्रको अनड्वान् कहते हैं, वह सबका निरीक्षक है, इसी समर्थ इन्द्रने तीनों मार्गोंको निर्माण किया है । भूत, भविष्य और वर्तमानकालके सब पदार्थोंका निर्माण करता हुआ वह सब अन्यान्य देवताओंके व्रतोंको चलाता है ॥ २ ॥

यह प्रभु मनुष्योंके अन्दर प्रकट होता है, वह प्रकाशमान सूर्यके समान तेजस्वी है । इस ईश्वरको जो जानता है वह स्वर्ग भी भोगतृष्णाको छोड़ता हुआ, सुप्रकाशमान होकर, देहपतके पश्चात् इधर उधर न मटकता हुआ, अपने मूक स्थानको प्रसन्न करना है ॥ ३ ॥

अनुद्धान्दुहे सुकृतस्य लोके ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात् ।

पर्जन्यो धारा मरुत ऊर्ध्वो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

यस्य नेशो यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य द्वावेशे न प्रतिग्रहीता ।

यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्म नो द्यूत यतमश्नुत्पात् ॥ ५ ॥

येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।

तेन गोप्सु सुकृतस्य लोके घर्मस्य द्यूतेन तपसा यशस्यवः ॥ ६ ॥

इन्द्रो रूपेणाभिर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट् ।

विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानुद्बद्धक्रमत । सोऽदृहयत् सोऽधारयत् ॥ ७ ॥

अर्थ— (सुकृतस्य लोके अनुद्धान् दुहे) पुण्यके लोकमें यह इश्वर तृप्त होता है और (पुरस्तात् पवमान एव आप्याययति) पहिले पवित्र करता हुआ इसको बढाता है । (पर्जन्य अस्य धारा) पञ्चम इसकी धाराएँ हैं, (मरुत ऊर्ध्वः) मरुत अर्थात् वायु स्तन है (अस्य यज्ञः पयः) इसका यज्ञ हा दूध है और (अस्य दक्षिणा दोहः) इसकी दक्षिणा दूधक दादन प्राप्तक समान है ॥ ४ ॥

(यज्ञपति यस्य न ईदो) यज्ञपति इसका स्वामी नहीं है, (न यज्ञः) न यज्ञ स्वामी है (न दाता, न प्रति ग्रहीता अस्य ईदो) न दाता और न लनवाला इसका स्वामी है (य विश्वजिह्व) जो सबका जीतनेवाला (विश्वभृत् विश्वकर्मा) सबका पोषणकर्ता और सबका कर्ता है (घर्म न द्यूत) उस उष्णता दहनवाला हमका वर्णन कहा, वह (यतम चतुष्पात्) बैसा चार पाँववाला है ॥ ५ ॥

(येन देवा शरीर हित्वा) जिसकी सहायतासे देव शरीर त्याग करके (अमृतस्य नाभिः सः आरुहुः) अमृतके केन्द्ररूप आत्माय प्रकाश स्थानपर चढ़े थे (घर्मस्य तेन तेन तपसा यशस्यवः) प्रकाशपूर्णके उस मनसे और तपसासे यशको बढानेकी इच्छा करनेवाले हम (सुकृतस्य लोके गोप्सु) सुकृतक लकमें अपने स्थानको प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

(इन्द्र रूपेण अग्निः) प्रभु ही अपने रूपसे अग्नि बना है वही (परमेष्ठा प्रजापतिः) परमात्मा प्रजापालन कर्ता ईश्वर (यहेन विराट्) सब विश्वको उठानक कारण विराट् हुआ है । वही (विश्वा नरे अक्रमतः) सब नरोंमें व्यापता है वही (वैद्वानरे अक्रमतः) अग्नि अग्निमें फैला है वही (अनुद्बद्धि अक्रमतः) रथ खींचनेवाला प्राणि आदियोंमें फैला है । (सः अदृहयत्) वही दह करता है और वही (सः आधारयत्) बैसा धारण करता है ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह इश्वर पुण्यलोकमें तृप्ति होता है और प्रारम्भ पवित्र करता हुआ इस जीवामाका बढाता है । पर्जन्य इसकी पुष्टिकी धाराएँ हैं, वायु या प्राण इसके स्तन हैं जिनसे उस धाराएँ निकलती हैं, या ही पुष्टिकरक दूध है, और दक्षिणा दोहनप्राप्तके समान है ॥ ४ ॥

यज्ञ यज्ञपति दाता अथवा लेनेवाला इनमेंसे काही भी इश्वर शासन नहीं करता है । यह विश्वको आननेवाला, विश्वका पोषण करनेवाला और विश्ववर्षी सब कर्म करनेवाला है । इसके चतुष्टय चतुष्टयके विषयमें शान प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसकी सहायतासे शरीर त्यागक पशु च अमृतक के रूप आत्मशक्तिपर स्वाभिध्न प्रसन्न रहते हैं, उस प्रकाशको बढानेवाले अग्नि और तपसे यश प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले हम पुण्यलोकमें अपना स्थान प्राप्त करेंगे ॥ ६ ॥

इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है, वही सब मनुष्यों और प्राणियोंमें व्यापता है, वही सर्वत्र है और वही सबको बल देता है ॥ ७ ॥

मध्यमेनदेनदुहो यत्रैव वह आहितः । एतावेदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥
 यो वेदानदुहो दोहान्सप्तानुपदस्वतः । प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥
 पद्भिः सेदिमवकाप्रचिरां जह्वामिस्तुदन् । श्रेणेणान्द्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि मच्छतः ॥ १० ॥
 द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः । तत्रोप ब्रह्म यो वेदु तद्वा अनुदुहो व्रतम् ॥ ११ ॥
 दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यदिनं परि । दोहा ये अस्य संयन्ति तान्निजानुपदस्वतः ॥ १२ ॥

अर्थ— (अनदुहः एतत् मध्यं) इस सचालकका यह मध्य है, (यत्र एव वहः आहितः) जहाँ यह विश्वका भार रखा है । (एतावत् अस्य प्राचीनं) इतना इसका पूर्व भाग है और (यावान् प्रत्यङ् समाहितः) जितना पिछला भाग रखा है ॥ ८ ॥

(यः अन्-उपदस्वतः अनदुहः सप्त दोहान् वेद) जो विनाशको न प्रत होनेवाले इस सचालकके सात प्रवाहोंको जानता है (प्रजां च लोकं च आप्नोति) वह प्रजा और लोकको प्राप्त होता है (तथा सप्त ऋषयः विदुः) ऐसा सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

(पद्भिः सेदि अवकामन्) पावासे भूमिका आक्रमण करता है, (जह्वामि इरां उत्खिदन्) जघाओंसे अन्नको उत्पन्न करता हुआ (श्रेणेण कीलाल) और परिश्रमय रसको उपज कात हुआ (अनद्वान् कीनाशश्च) बैल और किसान (अभिमच्छन्) चलत हैं ॥ १० ॥

(द्वादश वै एताः रात्रीः) निश्रम्ये बारह ये रात्रिया (प्रजापतेः मत्याः आहुः) जिनको प्रजापतिके व्रतके लिये योग्य हैं ऐसा कहा जाता है । (तत्र यः ब्रह्म उपवेद) वही जो ब्रह्मको जानता है (तन् वै अनदुहः व्रतः) वह ही उस विश्वचाकका व्रत है ॥ ११ ॥

(सायं दुहे प्रातः दुहे) में सायंकाल और प्रातः काल दोहन करता है । (मध्य दिनं परि) मध्यदिनके समय भी दोहन करता है । (ये अस्य दोहाः संयन्ति) जो इसके रस प्राप्त होते हैं (तान् अन्-उपदस्वतः विदुः) उनको अविनाशी हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भाषार्थ— सचालक देवका यह मध्यभाग है जिसपर इस सप्तरूपी शकटका भार रखा है । इस मध्य भागके पूर्व भागमें और पश्चिम भागमें यह सप्तरा रहा है ॥ ८ ॥

जो इस सप्तरूपी शकटके सचालक देवके सप्त दोहन प्रवाहोंको जानता है, वह सुव्रजाको और पुण्यलोकोंको प्राप्त करता है, इसी प्रकार सात ऋषि जानते हैं ॥ ९ ॥

प्राचीने भूमिका आक्रमण करता है, जाघोंव अन्न उत्पन्न करता है, श्रेमसे अन्नरस उत्पन्न करता है । इस प्रकारके बैल और किसान ये दोनों साथ साथ चलते हैं ॥ १० ॥

ये बारह रात्रियाँ हैं जो प्रजापति का व्रत करनेके लिये योग्य हैं । उस समयमें ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करना ही विश्वचालकका व्रत है ॥ ११ ॥

प्रातः काल, मध्यदिनके समय और सायंकाल दोहन होता है इस दाहनसे जो रस प्राप्त होते हैं वेही अविनाशी रस होते हैं ॥ १२ ॥

विश्वशक्तका स्वरूप ।

यद् सद्य संसार अथवा यद् सब विश्वरूपी एक बड़ा शक्त है, इस शक्तमें सब मनुष्य आदि प्राणी बैठे हैं और अपने सुकाम-पर जा रहे हैं, इस शक्तका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—

मनो अस्या शन आसीद्यौरासीदुत्तरछदिः ।

शुक्रावनह्वाहावास्तां यद्यात्सूर्या गृहम् ॥ १० ॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।

ध्रोत्रं ते चक्रे आत्मा दिवि पन्थाध्वराचरः ॥ ११ ॥

शुची ते चक्रं पात्या व्यानो अक्ष आहतः ।

अनो मनस्सयं सूर्योद्वह्यती पतिम् ॥ १२ ॥

(ऋ. १०।८५)

‘इसका मनरूपी रथ था, जिस रथका ऊपरका भाग गुल्लक था । दो शूत्र बेल इसको लगे थे जब सूर्यादेवी पतिके घर जाने लगी ’ ॥ १० ॥

‘ये बेल ऋक्षा और क्षत्रके मंत्रोंसे श्रेष्ठ हुए थे, ध्रोत्ररूपी दो चक्र इस रथको लगे हैं और इसका मार्ग आकाशसे चराचर रूपी है ’ ॥ ११ ॥

‘ये चक्र शुद्ध हैं, इसके मध्यमें रथका अक्ष व्यान वायु है । यह मनोमय रथ है जिसपरसे सूर्यादेवी पतिके घर जाती है ’ ॥ १२ ॥

यहां इस रथका ऊपरका भाग गुल्लक है ऐसा कहा है अर्थात् इसका नीचका भाग पृथ्वी है और मध्य भाग अन्तरिक्ष है । शरीरमें मस्तिष्क, छाती और पाव ये रथके तीन भाग हैं, विश्वमें तीन लोक तीन भाग हैं । शरीरमें दस इन्द्रियां घोड़ोंके स्थान-पर हैं उसी प्रकार जगतके विशाल रथको दस देव लगे हैं; जिनसे ये दस इन्द्रियां बनी हैं । जिनकी शरीरके रथकी ठीक करपना हो सकती है उसको विश्वरूपी विशाल रथकी करपना हो सकती है । पिण्ड ब्रह्मण्ड, शरीररथ विश्वरथ, इनकी समान-तया तुलना स्थान स्थानपर होती है, जो यहां विचारसे जान-कर ब्रह्माण्डके विशाल रथकी करपना करना उचित है । इस विश्वरथका सचालक ईश्वर इस सृजके वर्णनका विषय है । यही ‘अनह्वान् अथवा इन्द्र’ है ।

इन्द्र शब्द ईश्वरशब्द प्रसिद्ध है, परंतु ‘अनह्वान्’ शब्द ईश्वरवाचक होनेमें पाठकोंको संका होना सामाजिक है । क्योंकि ‘अनः शक्तं वहति इति अनह्वान्’ अर्थात् शक्त किंवा गाड़ी खींचनेवाला बेल ऐसा इसका अर्थ है । जिस प्रकार शक्तको बेल चलाता है उसी प्रकार विश्वरूपी रथको जो चलाता है वह विश्वरथका (अनह्वान्) बेल ही है । विश्व चलानेवाला

जो प्रभु है वही इसको खींचता है, किंय दूसरेकी शक्ति है इसको चलानेकी ? इसीलिसे प्रथम मंत्रमें कहा है कि ‘भूमि, अंतरिक्ष और गुल्लक सब दिशाओंके साथ उसीके आधारसे रहे हैं और वह सब भुवनेंमें प्रविष्ट हुआ है ।’ (मं. १) इस मंत्रमें जो ‘अनह्वान्’ शब्द आया है वह सब विश्वको आधार देनेवाले सब विश्वमें व्यापक देवताका वाचक है । यद्यपि ‘अन-ह्वान्’ शब्द सरकृतमें ‘बेल’ का वाचक है तथापि यही उसका अर्थ ‘विश्व-चालक’ ऐसा है । कई लोक यहां केवल बेलकी ही कल्पना करते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं उनको उचित है कि वे मंत्रके वर्णनका भी साथ साथ विचार करें और प्रयोगानुकूल अर्थ करके लाभ उठावें ।

‘जिस रथका ऊपरका भाग गुल्लक है, मध्यभाग अंतरिक्ष है और निम्न भाग भूमि है, उस रथमें मनुष्यमात्र बैठे हैं, मैं भी उसमें बैठा हूं, और इस रथको चलानेवाले स्वयं प्रभु हैं, ऐसा यह रथ हम सबको अभीष्ट स्थानको पहुंचा रहा है ।’ यह अत्यंत प्रेक्ष काव्यमय कल्पना इस मंत्रमें कही है । अर्जुनका रथ भगवन् श्रीकृष्ण चला रहे थे, वस्तुतः ‘कृष्णश्च’ अर्थात् कर्म-क्षेत्रमें हरएक मनुष्यका देहपर परमात्मशक्तिके ही चलाया जा रहा है । इसी प्रकार विश्वका यह प्रबंध रथ भी उसीकी शक्तसे चल रहा है । यह कल्पना मनमें लाकर ‘विश्वचालक’ ईश्वरका ज्ञान प्राप्त करना यही हरएक मनुष्यको उचित है । इस कल्पनाका जितना अधिक मनन किया जाय उतना परमात्मशक्तिका अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है और मनुष्य ईश्वरकी अगाध शक्तिको जान सकता है ।

जिस प्रकार रथके अनेक विभाग स्वयं अलग अलग होते हुए भी वे भाग रथमें आनेके कारण सबका एक दूसरेके साथ संबंध अटूट हो जाता है और उसमेंसे एक भाग भी ढीला हो जाय तो सब रथ हट जाता है, इसी प्रकार यह विश्व एक दूसरेसे बंधा है, यद्यपि सूर्य-चंद्रादि लोकलोकान्तर एक दूसरेसे बड़े अंतर पर हैं तथापि उनका परस्पर बंधा हो दृढ संबंध है जैसा रथमें एक चक्रके दूसरे चक्रके साथ । मनुष्यके शरीरमें भी अनेक अवयव होते हैं, वे अलग अलग होते हुए भी परस्पर संबन्धित हैं, उनमेंसे एक अलग हुआ अथवा रोगी हुआ तो सब शरीरपर आगति आ जाती है । इसी प्रकार मनुष्य समाजमें ज्ञानी, झूठ, व्यापारी और कारीगर ये चार अवयव हैं । ये व्यक्तिगत एक दूसरेसे पृथक् होते हैं, परंतु संभवतः ऐसे बंधे हुए हैं कि जैसे शरीरमें अवयव । यदि कई व्यक्तियों संघके नियम तोड़कर शत्रुके साथ मिलीं तो सचका बल नष्ट

होता है। क्योंकि जैसा व्यक्ति। शरीर रख है, समाजका शरीर भी रख है, उसी प्रकार विश्वका शरीर भी एक बड़ा भारी विशाल रख है। तीनों स्थानके नियम समान ही हैं। इस रखकी कल्पना करके और इसका मनन करके पाठक बहुतबोध प्राप्त कर सकते हैं। सब विश्व मिलकर एक रख है, इसमें कोई विभक्त भाव नहीं है, हर एक सजीव या निर्जीव पदार्थ इसी रखका अंग है और इसको इसी कल्पनाके साथ यही रहना चाहिये। इस रखको जो चलाता है वह ही इन्द्र है, वही प्रभु है, वही ईश्वर है—

अनह्वान् इन्द्रः । (सू. ११, म. २)

इस रखको जो चलानेवाला है वह इन्द्र है, इस जगत्में जो गति आ गयी है वह उसकी ही गति है। इस जड़ जगत्को चेतना देनेवाला है वह एक ही ईश्वर है वह क्या करता है, देखिये—

(१) शक्तः प्रयान् अभ्वनः मिमीते।

(२) भूतं भविष्यत् भुवना हुह्वन् ।

(३) देवानां सर्वां व्रतानि चरति।

(सू. ११, म. २)

‘(१) वह समर्थ तीन मार्गोंको नापता है, (२) भूत, वर्तमान और भविष्य कालके भोग देता है, (३) और देवोंके सब व्रतोंको चलाता है।’ ये इसके कार्य हैं।

(१) तीन मार्ग ये हैं— सत्य, रज और तम प्रकृति-बलोंके तीन मार्ग होते हैं। किसको किस मार्गसे जाना चाहिये और कैसा जाना चाहिये, वह उसको पता होता है, वही इन तीन मार्गोंका नाप जानता है।

(२) तीन कालोंमें दोहन— भूत, वर्तमान और भविष्य कालोंमें यह दोहन करता है और पूर्वाक मार्गोंके ऊपरसे चलनेवालोंको भोगके लिये जो चाहिये सो देता है। जिसको जैसा देना योग्य होता है, उसके अनुकूल वैसे उपभोग उसको देता है और उसकी उन्नति बढ़ करता है।

(३) देवोंके व्रतोंको चलाता है— देवोंके व्रत ये हैं— सूर्यका व्रत प्रकाश करनेका है, जलका बहनेका व्रत है, वायुका सुछानेका व्रत है। यह तो बाहरके देवोंके व्रत हैं। शरीरके अंदरके देवोंके ये व्रत हैं— आँखका देखनेका व्रत है, कानका सुननेका व्रत है, प्राणका जीवन देनेका व्रत है, ये सब व्रत आत्माकी शक्तिये हो रहे हैं।

इसका विचार करनेसे इस परमात्माकी महिमाका पता लग सकता है।

मनुष्योंमें देव ।

यह देव जो विश्वरूपी शक्तको चलाता है और सम्पूर्ण भुवनोंमें व्याप्त है वह मनुष्योंमें प्रकट होता है, देखिये—

इन्द्रो मनुष्येषु अन्तः जातः । (सू. ११, मं. ३)

‘यह इन्द्र देव मनुष्योंके बीचमें प्रकट होता है।’ मनुष्यके हृदयमें वह प्रकट होता है, मनुष्य उसको अपने अन्दर देखता और अनुभव करता है, विश्वका ईश्वर मनुष्यके हृदयमें प्रकाशता है। कितना यह सामर्थ्य मनुष्यमें है कि जिसके हृदयमें विश्वका संचालक रहता और प्रकट होता है। मनुष्यको यह अपनी शक्ति जाननी चाहिये। इस ज्ञानका फल देखिये—

(१) अन्नद्वद्धः विज्ञानन्,

(२) या न अग्नीयात्,

(३) सः सुप्रज्ञाः सन् उत्-आरे न सर्पत् ।

(सू. ११, म. ३)

‘(१) इस विश्वरूपी शक्तको चलानेवालोंको जो जानता है, (२) वह अपने लिये स्वार्थसे भोग नहीं करता, इस कारण (३) वह सुप्रज्ञा प्राप्त करता हुआ देवपातके नेतर इधर उधर नहीं भटकता,’ अर्थात् छोटा अपने अमृत धामको पहुँचता है। इसमें प्रथम परमात्माको जानना, और पश्चात् स्वार्थ छोड़ कर परोपकारके कार्यमें अपना जीवन समर्पित करना, इन दोनों ‘ज्ञान और कर्म’ का यथावत् अनुष्ठान करनेसे तीसरे मंत्र-भागमें कही सिद्धि मिल सकती है। यह ईश्वर किस प्रकार जीवात्माको पवित्र करता हुआ उठाता है, यह चतुर्थ मंत्रमें कमपूर्वक कहा है—

(१) पुरस्तात् पचमानः,

(२) एनं आप्याययति,

(३) सुकृतस्य लोके अनह्वान् हुवे ।

(सू. ११, मं. ४)

‘(१) पहलेसे पवित्रता करता हुआ, (२) ईश्वर इसको बढाता है, पुष्ट करता है और इसकी वृद्धि करता है, (३) पुण्य लोकमें यह इसकी वृत्तिके साधन देता है।’ परमेश्वरका उपसक्त होनेसे पवित्र होनेका पहिला लाभ होता है, आत्मिक बलकी वृद्धि होना यह दूसरा लाभ होता है और पुण्यलोक प्राप्त होकर वहां विविध प्रकारकी वृत्ति प्राप्त होना यह तीसरा लाभ है। परमात्माप्राप्तिके यह फल हैं, इस प्रकार पवित्र होता हुआ जीवात्मा उन्नत होता है और अपने निज धामको पहुँचता है। परमात्मा इस प्रकार सहायक होता है क्योंकि

विश्वजित्, विद्यभृत्, विद्यकर्मा ।

(सू. ११, मं. ५)

‘ वह विश्वको जीतनेवाला, विद्यका पालक और पोषक तथा विद्यसंबन्धी सब कर्म करनेवाला है । ’ इसीलिये उपासक निर्मय होता हुआ उसकी सहायतासे आगे बढ़ता है और अपने प्रातःस्थ स्थानको पहुँचता है । वह स्थान, जहाँ इसके जाना है, अमृतका केन्द्र है, जिस अनुष्ठानसे यह जिवारमा बढ़ी पहुँचता है, इस विषयका उपदेश पष्ठ मंत्रमें देखने योग्य है—

व्रतेन तपसा यशस्ययः सुकृतस्य लोकं गेम् ।

(सू. ११, मं. ६)

‘ व्रत और तपसे यश प्राप्त करते हुए पुण्य लोक प्राप्त करेंगे । ’ इस मंत्रमागमें व्रत पालन और तपसा आचरण यश और आत्मोन्नतिका साधन है ऐसा स्पष्ट कहा है । विचार करनेसे पता लग जायगा कि यह तो इह—परलोककी उन्नति प्राप्त करनेका उत्तम साधन है । इस साधनके करनेसे—

शरीरं हित्वा अमृतस्य नाभिं स्वाः आरुरुहुः ।

(सू. ११, मं. ६)

‘ शरीर त्यागनेके पश्चात् अमृतके केन्द्रमें आत्मप्रकाशसे युक्त होकर ऊपर चढ़ते हैं । ’ यह है तपका प्रभाव और मत-पालनका महत्त्व । पाठक इसका महत्त्व जानकर इस मार्गसे अपनी उन्नति सिद्ध कर सकते हैं ।

मं. ७ में ‘ इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् ’ आदि नाम सभी एक देवके हैं, ऐसा कहा है, यह बात ऋग्वेदमें मं. १।१६।४५६ में भी अन्य रीतिले कही है । यही देव सर्वत्र व्यापता है, सबकी बलित्व बनाता है और सबका धारण करता है, अर्थात् हरएकको इसका आधार है और हरएकको यह प्राप्य है । किसीको अप्राप्य है ऐसा नहीं है । अष्टम मंत्रका आशय यह है कि यह ईश्वर सबके बीचमें होनेके कारण यह ही सबका मध्य है, इस कारण अन्य विश्व इसके दोनों ओर समान प्रमाणसे है । यह सबके मध्यमें होनेसे यह विश्व इसके दोनों ओर समानतया विभक्त है, यह बात स्वयं सिद्ध हुई है । जिस प्रकार शकटका मध्य दंड दोनों चक्कोंके बीचमेंसे जाता है और उसके पूर्व और पश्चिमकी ओर शकटके दो भाग होते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर विश्वशकटका मध्य दंड है और सब विश्व इसके चारों ओर है ।

सप्त ऋषि ।

‘ इस अविनाशी ईश्वरके अथवा आत्माके सात दोहन पात्र हैं और उनमें सात प्रवाह दौड़े जाते हैं, इनकी सात ऋषि करके

जानते हैं ’ (मं. ९) यह नवम मंत्रका कथन है । ये सात दोहन पात्र अर्थात् दूध दुहनेके बर्तन हमारे सात ज्ञान इन्द्रिय हैं । दो आँख रूपका दोहन करते हैं, दो कान शब्दरसका दूध निकालते हैं, दो नाक सुवासका रस लेते हैं और एक मुख मधुरादि रस लेता है । ये सात प्रकृतिमाताका दूध दोहन करनेके बर्तन हैं, ये ही रस मनुष्यमात्र पीता है और पुष्ट होकर उन्नति प्राप्त करता है । ये ही सात ऋषि हैं—

सप्त ऋषयः प्रतिदिताः शरीरे

सप्त रक्षन्ति सद्धमप्रमादम् । (यजु. ३।४।५५)

‘ प्रत्येक शरीरमें सप्त ऋषि रहे हैं, ये सात ऋषि इस शरीर रूपी घरकी प्रमाद न करते हुए रक्षा करते हैं । ’ यह बात ऊपरवाले मंत्रमें कही है । यहाँ सात दोहनपात्र ओ कहे हैं वे ही ये सात ऋषि हैं अथवा ये सात ऋषि इन सात दोहन-पात्रोंमें परम माताका दूध निकालते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है । सर्वसाधारणतया सप्त ऋषि जो समझे जाते हैं उनका नाम ऊपर दिया ही है, परन्तु हमारे मनमें एक बात खटकती है वह यह है कि यहाँ दो आँख, दो कान, दो नाक ये छः ऋषि माने हैं, परन्तु वस्तुतः अर्थात् दो आँख एक ही प्रकारका ज्ञान प्राप्त करते हैं इसलिये इनको भिन्न मानना अयुक्त है । यद्यपि गिनतीके लिये ये सात होते हैं तथापि वस्तुतः ये सात भिन्न हैं ऐसा नहीं माना जा सकता । मंत्रमें सात ऋषि भिन्न माने हैं और उनके दोहनपात्र भी भिन्न माने हैं अर्थात् उनमें दुहाने जानेवाला दूध भी भिन्न ही है । यह बात ऊपर माने सप्त पात्र और सप्त ऋषियोंसे सिद्ध नहीं होती इसलिये इनकी अन्य स्थानमें हँडना चाहिये । हमारे मतसे सप्त ऋषि और सप्त दोहनपात्र ये हैं—

१ आत्मा— यह ऋषि परमात्मासे ‘ आनन्द ’ रूपी दूध अपनेमें दुहता है ।

२ बुद्धि (संज्ञान)— यह ऋषि परमात्मासे ‘ चित् ’ अथवा वि-ज्ञान रूपी दूध अपने अन्दर निबोडता है ।

३ अहंकार— यह ऋषि परमात्मासे ‘ मे ’ पणका माव रूपी दूध निकालता है ।

४ मन— यह ऋषि उषीसे ‘ मनन शक्ति ’ रूप दूध दुहता है ।

५ प्राण— यह ऋषि वहाति ही ‘ जीवन ’ रूपी दूध निकालता है ।

६ ज्ञानेन्द्रिय (संघ) — यह ऋषि वर्णसे हो 'विषय ज्ञान' रूपी दूध निचोड़ता है ।

७ कर्मेन्द्रिय (संघ) — यह ऋषि उद्योत 'कर्मशक्ति' रूप दूध निकालता है ।

ये सात ऋषि एक दूसरेसे भिन्न हैं, इनके पास विभिन्न दोहनपात्र हैं और प्रत्येकका निकाला हुआ दूध भा भिन्न है, और उसके सेवनसे पुष्टि भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होता है । इसलिये ये सात ऋषि और य सात दोहनपात्र हैं ऐसा मानना यही उचित है । पाठक इस विषयका अधिक विचार करें और उचित बोध प्राप्त करें ।

बैल और किसान ।

दशम मन्त्रमें बैल और किसानके रूपकसे बड़ा बोधप्रद उप देस दिया है, इसका व्यक्त अर्थ यह है — पाँचोंसे भूमिपरसे चलता है, जाँघोंसे अन्न उत्पन्न करना है, परिश्रमसे रस बनाता है इस प्रकार बैल और किसान बड़ा कार्य करते हैं । 'यद्द तो खेतीमें प्रत्यक्ष दिखता है । परन्तु इस मन्त्रमें केवल इतना ही कहना मुख्य उद्देश नहीं है क्योंकि यही जिस किसानका वर्णन किया है वह 'क्षेत्र-ज्ञ' अर्थात् जीवन्तना है । भगवद्गीतामें इसका नाम 'क्षेत्रज्ञ' आया है । खेतकी जाननेवाला किसान जिस प्रकार खेतसे लाभ उठाता है, उसी प्रकार इस शरीररूपी कार्यक्षेत्रकी यथावत् जाननेवाला यह जीवात्मा रूपी किसान इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी खेती करके बहुत लाभ प्राप्त करता है । इसका खेतोंमें हल चलाने आदिची सहायता करनेवाला परमेश्वर है जिसका वर्णन इसी सूक्तमें 'अनन्वान्' शब्दसे हुआ है । इस प्रकार यह इसका क्षेत्र है और यह खेती है । किसान इस खेतीका उपयोग करनेवाला है । पाठक इस उत्तम रूपकका विचार करके योग्य बोध प्राप्त करें ।

बारह रात्री ।

'ग्यारहवें मन्त्रमें' प्रजापति का व्रत करनेकी बारह रात्रियाँ हैं' ऐसा कहा है । रात्री अन्धकारकी चोतक है, अन्धकार अज्ञानका वाचक है, इसलिये यही बारह गूढ़ अन्धकारकी रात्रियोंका तात्पर्य बारह प्रकारके गाढ़ अज्ञानका है । हरएकके अन्दर यह अज्ञान रहता है और जिस प्रमाणसे यह दूर होता है उस प्रमाणसे मनुष्यकी योग्यता बढ़ती है । जब बारह प्रकारके अज्ञान दूर होते हैं तब यह पुरुष विशुद्धात्मा होता है और मोक्षका भागा होता है । (१) परमात्मा, (२) जीवात्मा,

(३) बुद्धि, (४) अहंकार, (५) मन, (६) प्राण, (७) ज्ञानेन्द्रिय, (८) ज्ञानेन्द्रियोंके विषय, (९) कर्मेन्द्रिय, (१०) कर्मेन्द्रियोंके विषय, (११) शरीर, (१२) विशाल जगत् इन बारह क्षेत्रोंके सर्वप्रथम बारह अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपरीत ज्ञान अथवा जो कुछ कहा जाय मनुष्यमें रहता है, यह सब हटाना चाहिये और इनके विषयमें ज्ञान, विज्ञान, सज्ञान, और प्रज्ञान प्राप्त होना चाहिये । प्रत्येक मनुष्य विचार करके जाने कि अपनेमें ईंन अज्ञानोंमेंसे कौनसा अज्ञान कितना है और कौनसा विज्ञान कितना प्राप्त किया गया है । इसकी पड़ताल करनेसे पता लग जायगा कि जो मार्ग आक्रमण करना है वह कितना हो चुका है और कितना अभी चलनेका बाकी है । यह परीक्षा ही इस मन्त्रमें ला है ऐसा पाठक समझें और इस दृष्टिसे अपनी परीक्षा करें । इससे बड़ा आत्मसुधार हो सकता है ।

व्रत ।

जिस व्रतसे उक्त प्रकारका, बारह प्रकारका अज्ञान दूर हो सकता है वह व्रत इसी ग्यारहवें मन्त्रके उत्तरार्धमें कहा है —

यः ब्रह्म उपवेदं तत्तु व्रतम् । (सू. ११, म. ११)

' जो ज्ञान प्राप्त करता है वह उसका व्रत है । ' यही व्रत मनुष्यकी उन्नति करता है । ज्ञान प्राप्त करना, अर्थात् पुष्पोंक बारह प्रकारका अज्ञान और मिथ्याज्ञान दूर करनेके लिये बारह प्रकारका ज्ञान और विज्ञान प्राप्त करना चाहिये । यह व्रत पालन करनेसे इसके अज्ञानका मल धोया जाता है और यह परिशुद्ध होता जाता है । इसलिये यह व्रत जहातक हो सक मनुष्यकी करना चाहिये ।

बारहवें मन्त्रमें यही अनुज्ञानका स्वरूप कहा है — 'मैं प्रातःकाल, दोपहरके समय और सायंकालके समय इसका दोहन करता हूँ । ' यह दोहन क्या है, इसके दोहनपात्र कौनसे हैं और इसका दोहन करनेवाले कौन हैं, इसका वर्णन इस सूक्तमें इससे पूर्व कहा जा चुका है । यही व्रत है, परमात्मासे संपादन द्वारा ज्ञान और आनंद प्राप्त करना ही यह दोहन है । जो जितना यह दूध पीयेगा वह उतना पुष्ट होगा । ' आनन्दशील तत्त्वसे यह दोहन होता है यह जो जानता है, ' उसीकी इस व्रतसे लाभ हो सकता है, यह अंतिम कथन है । यह निःसन्देह सत्य है । पाठक इस प्रकार इस सूक्तका मनन करें और लाभ उठावें ।

रोहिणी वनस्पति ।

[सूक्त १२]

(ऋषि — ऋभुः । देवता — रोहिणी - वनस्पति)

रोहण्यसि रोहण्यश्चिच्छिन्नस्य रोहणी । रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥
यत्ते रिष्ट यत्ते द्युत्तमस्ति पेट्रे त आत्मनि । धाता तद्भद्रया पुनः स दधत्परुषा परुः ॥ २ ॥
स ते मज्जा मज्जा भवतु समु ते परुषा परुः । स ते मांसस्य विस्त्रस्त समस्थयपि रोहतु ॥ ३ ॥
मज्जा मज्जा स धीयतां चमणा चर्म रोहतु । असृक्ते अस्थि रोहतु मांस मांसेन रोहतु ॥ ४ ॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा स कल्पया त्वचम् । असृक्ते अस्थि रोहतु चिच्छिन्न संघेहोपधे ॥ ५ ॥

अर्थ— हे औषधि ! तू (रोहिणी अस्ति) बढानवाला है तू (छिन्नस्य अस्थि रोहिणी) टूटी हुई हड्डी को पूर्ण करनेवाला है । इ (अ-रुन्धति) प्रत्येक धन करनेवाला औषधि । (इद रोह्य) इसको भर दे ॥ १ ॥

(यत् ते रिष्ट) जा तेरा अंग चाट खाय हुए है (यत् ते द्युत्त) जा अंग जला हुआ है, और जो (ते आत्मनि पेट्रे अस्ति) तरे अपने अंदर पीसा हुआ है, (धाता तद्भद्रया) पोषणकर्ता उस कल्याण करनेवाली औषधिस (तत् परुष पुरुषा पुनः स दधत्) उस जोड़का दूसरे जोड़से फिर जोड़ दे ॥ २ ॥

(ते मज्जा मज्जा स रोहतु) तारी मज्जा मज्जास बढा (उ ते परुषा परुः स) और तेरा पारसे परु बढ जाव । (ते मांसस्य विस्त्रस्त स) तरे मांसका छिन्न भिन्न हुआ मांस बढ जाव । (अस्थि अपि स रोहतु) हड्डी भा जुड़कर ठीक हो जावे ॥ ३ ॥

(मज्जा मज्जा स घायता) मज्जा मज्जास मिल जाव (चमणा चर्म रोहतु) चर्मस चर्म बढ । (ते अस्थि रोहतु) तारा हड्डी और हड्डी बढ जाव और (मांस मांसेन रोहतु) मांस मांससे बढ जाव ॥ ४ ॥

इ औषध । (लोम लोम्ना स कल्पय) रोमका रामक साथ जमा दे । (त्वचा त्वच स कल्पय) त्वचाको त्वचाक साथ मिला दे । (ते अस्थि अस्थि रोहतु) तारा हड्डी और हड्डी बढ (छिन्न स घेहि) टूटा हुआ अंग जोड़ दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह रोहिणी नामक औषधी है जो टूट हुए शरीरक अवयवका बढाती है । इसको रोहिणी और अरुन्धती भा कहत हैं ॥ १ ॥

शरीरका चाट लगा हो अंग जला हो अवयव पासा गया हो तो भा इस औषधिसे दूर एक जाइ पुन पूर्ववत् होता है ॥ १ ॥

इस औषधिस शरीरका मज्जा, पारु मांस और आस्थ बढ और अवयव पूर्व होग ॥ ३ ॥

मज्जा चम हड्डी, हड्डी और मांस भा इससे बढता है ॥ ४ ॥

रोम त्वचा, हड्डी तथा टूटा अवयव इससे बढता है ॥ ५ ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । प्रति तिष्ठोर्ध्वः

॥ ६ ॥

यदि कर्त पतित्वा संशुश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।

ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्पर्षण पर्वः

॥ ७ ॥

अर्थ— (सः त्वं उत्तिष्ठ, प्रेहि) वह तू उठ, आगे चल, अब तू (सुचक्रः सुपविः सुनाभिः रथः) उत्तम चक्रवाले, उत्तम लेहवाली गड्ढावाला, उत्तम नाभिवाले रथके समान (प्रद्रव) दौड़ और (उर्ध्वः प्रतितिष्ठ) ऊंचा खड़ा रह ॥ ६ ॥

(यदि कर्त पतित्वा संशुश्रे) यदि आरा गिरकर घाव हुआ है, (यदि वा प्रहृतः अश्मा जघान) अथवा यदि फेंके हुए पत्थरसे घाव हुआ है तो (ऋभूः रथस्य अंगानि इव) सुतार रथके अवयवोंका जोड़ता है उस प्रकार (पर्षण पर्वः सं दधत्) पोछे पोछ कुछ जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे रोगी ! तू इस औषधिसे आरोग्यको प्राप्त कर चुका है, अब तू उठ, आगे चल, रथके समान दौड़, खड़ा होकर चल ॥ ६ ॥

आरा गिरकर, या पत्थर लगकर शरीरपर घाव हुआ हो, तो भी इस औषधिसे सब अवयव पूर्ववत् आरोग्यपूर्ण होते हैं ॥ ७ ॥

रोहिणी औषधि ।

वैद्यग्रन्थोंमें इस रोहिणी औषधिका नाम ' मांसरोहिणा ' लिखा है, इसके नाम ये हैं—

अशिरुहा, वृत्ता, चर्मकपा, वसा, मांसरोही
प्रहारवल्ली, विकपा, वीरवती ।

इसके गुण—

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा ।

' मांस रोहिणी वीर्यवर्धक और त्रिदोषका नाश करनेवाली है । ' और—

शीता कपाया कृमिघ्नी कण्ठशोधनी रुक्ष्या,
वातदोषहारी च । (रा. नि. व. १२)

' यह औषधि शीतवायु, कफाय रुक्षीवाली, कृमिदोष दूर करनेवाली, कण्ठदोष दूर करनेवाली, रुक्षी बनानेवाली और वात दोष दूर करनेवाली है । '

इस सूक्तमें ' रोहिणी ' के नाम ' मदा और अश्वधती ' जाये हैं, परन्तु वैद्यशास्त्र ग्रन्थोंमें ये नाम एक ही वनस्पतिके नहीं हैं। वैद्यग्रन्थोंमें इसका नाम ' मांसरोहि ' अथवा ' मांस रोहिणी ' कहा है, यह शब्द इस सूक्तकी ही बात सिद्ध करता है। मांसादि सप्त धातु बढानेवाली यह औषधि है ऐसा इस सूक्तने कहा है और वैद्यक ग्रन्थ मांसको बढाती है ऐसा

कहते हैं, इसमें बहुत विरोध नहीं है, क्योंकि जिससे रुधिर और मांस बढता है उससे अन्य धातु भी बढते ही हैं, क्योंकि अन्य धातु रुधिरके आगे स्वयं बनते हैं ।

इसके अतिरिक्त इसको ' प्रहारवल्ली ' वैद्यक ग्रन्थोंने कहा है। प्रहारवल्लीका अर्थ है घाव ठीक करनेवाली औषधि, यह वर्णन भी इस सूक्तके कथनसे संगत होता है। सातवां मंत्र यही वर्णन कर रहा है। इसका नाम वैद्यग्रन्थोंमें ' वीरवती ' अर्थात् ' वीरोंवाली ' है। वीर जिसके पास जाते हैं। इस औषधिके पास वीर दर्शालिये जाते हैं कि यह शस्त्रास्त्रोंके घावोंको अति शीघ्र ठीक करती है। महाभारतमें हम पढ़ते हैं कि दिन भर युद्ध करनेवाले वीरोंके शरीर बाणोंके आघातसे म्लान्गुक्त हो जाते थे, पश्चात् वे वीर रात्रिके समय कुछ औषधि लगाकर सो जाते थे, जिससे उनके शरीर सवेरे तक ठीक हो जाते थे और वे पुनः युद्ध करते थे। संभवतः वह वीरोंके पास रहनेवाली वल्ली यही ' रोहिणी ' ही होगी। इसीलिये इसका नाम वैद्यक ग्रन्थोंमें ' वीरवती ' लिखा है।

यह सूक्त अर्थात् सरल है। पाठक इस वैद्यक ग्रन्थोंके वर्णनके साथ इस सूक्तको पढ़ें और लाभ उठावें। ज्ञानी वैद्योंको उचित है कि वे इस औषधिकी खोज करके प्रकाशित करें ताकि बारबार घावोंसे दुःख भोगनेवालोंको लाभ प्राप्त होनेको समा-
जना हो जावे ।

हस्तरुपर्शसे रोगनिवारण ।

[सूक्त १३]

(ऋषिः — शंतातिः । देवता — चन्द्रमा, विश्वे देवाः)

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतामंश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥
 द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावर्तः । दक्षं ते अन्य आवातु व्युन्न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥
 आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः । त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत इयसे ॥ ३ ॥
 त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः । त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥
 आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः । दक्षं त उग्रमार्मारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! हे देवो ! जो (अवहितं) अवगत होता है उसको (पुनः उन्नयथा) तुम फिर उठाते हो । हे देवो ! हे देवो ! (उत आगः चक्रुषं) जो पाप करता है उसको भी (पुनः जीवयथाः) तुम फिर जिलाते हो ॥ १ ॥

(द्वौ इमौ वातौ) यह दोनों वायु हैं, एक (आ सिन्धोरा) सिन्धु देशतक जाता है और दूसरा (आ परावर्तः) बाहर दूर स्थानतक जाता है । इनमेंसे (अन्यः ते दक्षं आवातु) एक तेरे लिये बल बढ़ावे, (यत् रूपः अन्यः विधातु) जो दोष है उसको दूसरा बाहर निकाल देवे ॥ २ ॥

हे (वात, भेषज आ वाहि) वायो ! तू रोगनाशक रस ला, हे (वात, यत् रूपः वि वाहि) वायो ! जो दोष है, निकाल दे । (हि) क्योंकि, हे (विश्व-भेषज) सर्व रोगके निवारक । (त्वं देवानां दूतः इयसे) तू देवोंका दूत होकर चलता है ॥ ३ ॥

(देवाः इमं त्रायन्तां) देव इसकी रक्षा करें, (मरुतां गणाः त्रायन्तां) मरुतोंके गण इसकी रक्षा करें । (विश्वा भूतानां त्रायन्तां) सब भूत इसकी रक्षा करें (यथा अयं अरपाः असत्) जिससे यह नारोग हो जाय ॥ ४ ॥

(शं-तातिभिः) शांतिदायकोंके साथ और (अयो अ-रिष्ट-तातिभिः) विनाशनिवारक गुणोंके साथ (त्वा आ आगमं) तुझको मैं प्राप्त करता हूँ । (ते उग्रं दक्षं आ अमारिषं) तेरे लिये उग्र बल मैं लाया हूँ । और (ते यक्ष्मं परा सुवामि) तेरे रोगको मैं दूर करता हूँ ॥ ५ ॥

भाष्यार्थ— देवता लोग भिरे हुए मनुष्योंको भी फिर उठाते हैं और जो पाप करते हैं उसको भी फिर सुधारते हैं ॥ १ ॥ दो प्राण वायु हैं, एक कंधोंके अन्दर दक्षिणतक जानेवाला प्राण है और दूसरा बाहर जानेवाला अपान है । पहला बल बढ़ाता है और दूसरा दोषोंको हटाता है ॥ २ ॥

वायु रोगनाशक औषध लाता है और शरीरमें जो दोष होते हैं उन दोषोंको हटाता है । यह सब रोगोंका निवारण करने-वाला है, मानो यह देवोंका दूत ही है ॥ ३ ॥

सब देव, मन्त्रज्ञ, तथा सब भूत इस रोगीकी रक्षा करें और यह सत्त्व नारोग हो जावे ॥ ४ ॥

हे रोगी ! मैं तेरे पास कन्याण करनेवाले और विनाशको दूर करनेवाले सामर्थ्यके साथ आ गया हूँ । अब मैं तेरे अन्दर बल भर देता हूँ और तेरा रोग दूर करता हूँ ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वमेपजोऽयं शिवामिमर्शनः ॥ ६ ॥

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगमी ।

अनामयितुभ्यां हस्ताभ्यां त्वामि मृशामसि

॥ ७ ॥

अर्थ—(अयं मे हस्तः भगवान्) यह मेरा हाथ भगवान् है (अयं मे भगवत्तरः) यह मेरा हाथ अधिक भाग्यशाली है । (अयं मे विश्वमेपजः) यह मेरा हाथ सब रोगोंका निवारक है । (अयं शिव-अभिमर्शनः) यह मेरा हाथ शुभमंगल बढानेवाला है ॥ ६ ॥

(दश शाखाभ्यां हस्ताभ्यां) दश शाखोंवाले दोनों हाथोंके साथ (जिह्वा वाचः पुरोगमि) जिह्वा वाणीके आगे चबानेवाली करता हूँ । (ताभ्यां अनामयितुभ्यां हस्ताभ्यां) उन आरोग्यदायक दोनों हाथोंसे (त्वा अभिमृशामसि) तुझे स्पर्श करते हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ— यह मेरा हाथ सामर्थ्यशाली है और मेरा दूसरा हाथ तो अधिक ही प्रभावशाली है । मेरे इस एक हाथमें सब रोग दूर करनेवाली शक्तियाँ हैं और इस दूसरे हाथमें मंगल करनेका चर्म है ॥ ६ ॥

दस अंगुलियोंके साथ इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूँ और मेरी जिह्वा वाणीसे प्रेरणाके शब्द बोलती है । इस प्रकार नीरोगता करनेवाले इन मेरे दोनों हाथोंसे तुझे स्पर्श करता हूँ ॥ ७ ॥

देवोंकी सहायता ।

पहिला मंत्र देवोंकी सहायताका वर्णन करता है— ' गिरे हुए मनुष्यको भी देव फिर उठाते हैं, एक बार पाप करनेसे जो मरनेकी अवस्थातक पहुँचा है उसको भी देव फिर जीवन देने हैं । ' (मं. १) यह प्रथम मंत्रका कथन मनुष्यको बहुत सहायता देनेवाला है । मनुष्य किसी प्रलोभनमें पसकर पाप करता है, पापसे अस्वस्थ होता है, रोगी होता है और क्षीण होनेतक अवस्था आती है, मृत्यु आनेकी भी संभावना हो जाती है । ऐसी अवस्थामें पहुँचा हुआ मनुष्य देवताओंकी सहायतासे नीरोग होता है और पुनर्दोष आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ऐसी अवस्थामें उदाहृत देनेवाले देव कौनसे हैं ? सप्तिका, जल, अग्नि, सूर्यकिरण, वायु विसृत, औषधि, अन्न, रस, वैद्य आदि देवताएँ हैं कि जिनकी सहायतासे मनुष्य रोगोंको दूर करता है और दीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सकता है । ये सब देव मनुष्यके सहायक हैं । मनुष्य चिन्तामें न रहे, बीमार होनेपर अत्यधिक चिन्ता न करे । क्योंकि चिन्ता एक भयंकर व्याधि है । इस चिन्ताका दूर करनेके लिये इस मंत्रके उपदेशपर विश्वास रखे कि पूर्वोक्त देवताओंकी सहायतासे नीरोगता प्राप्त हो सकती है । देव हमारे चारों ओर हैं और वे मनुष्यमात्रकी तथा प्राणिमात्रकी सहायता करते हैं, उनकी सहायतासे हीन अवस्थामें पहुँचा हुआ मनुष्य उन्नत हो सकता है और रोगी भी नीरोग हो सकता है ।

प्राणके दो देव ।

शरीरमें प्राणके दो देव हैं जो यहाँ बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । प्राण और अपान ये दो देव हैं, एक प्राण हृदयके

अन्दरतक जाता है और वहाँ अपनी प्राणशक्ति स्थापन करके मृत्युको दृष्टाता है और दूसरा अपान है जो शरीरके मलोंको दूर करता हुआ विविध रोगबीजाँक नाश करता है । पहिला बल बढाता है और दूसरा दोषोंको दूर करता है, इस रीतिसे ये दोनों देव इस शरीरकी रक्षा करते हैं और आरोग्य बढाते हैं । यह द्वितीय मंत्रका कथन स्मरण रखने योग्य है । यहाँ प्राण अपान, अथवा श्वास और उत्च्छ्वास ये भी दो देव हैं ऐसा माना जा सकता है ।

देवोंका दूत ।

तृतीय मंत्रका कथन है कि ' प्राण रोग निवारक शक्ति शरीरमें स्थाता है और अपान सब दोषोंको दूर करता है, इस प्रकार यह वायु सब रोगोंको दूर करनेवाला देवोंका दूत ही है । ' (मं. ३) अपने शरीरमें सब ईश्वरीय देवताओंके आश हैं, उनकी सेवा यह प्राण पूर्वोक्त प्रकार करता है, जीवन शक्तिकी प्रत्येक अवयवमें स्थापना करना और प्रत्येक स्थानके दोष दूर करना यह दो प्रकारकी सेवा इस शरीररूपी देवमंदिरमें प्राण करता है । इस विचारसे प्राणका महत्त्व जानना चाहिये ।

चतुर्थ मंत्रमें ' सब देव, सब मनु और सब भूतगण इस रोगकी सहायता करें ' इस विषयकी प्रार्थना है । इसका आशय पूर्वोक्त विचारसे स्तय स्पष्ट होनेवाला है ।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य ।

हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी विद्या आजकल ' मेसेरिज्म ' के नामसे प्रसिद्ध है । यह ' मेसेरिज्म ' शब्द ' मेस्सर ' नामक युरोपीयनके नामसे बना है, यह विद्या उसने प्रथम युरोपमें प्रकाशित की, इसलिये इस विद्याको यहीनाम

उसका गौरव करनेके लिये दिया गया । म. मेस्सर साहबने पचास वर्ष पूर्व युरोपमें इस विद्याका प्रचार किया, परंतु पाठक इस सूक्तमें 'हस्तस्पर्शसे आरोग्य' प्राप्त करनेकी विद्या देख सकते हैं, अर्थात् यह विद्या वेदने कई शताब्दियों पहले ही प्रकाशित थी थी और ऋषिमुनी इसका अभ्यास करके रोगियोंको आरोग्य देते थे । हस्तस्पर्शसे, दृष्टिस्पर्शसे, शब्दके कथन मात्रसे, तथा इच्छामात्रसे आरोग्य देनेकी शक्ति योगाभाससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, इसके अनुष्ठानकी विधिया वेदादि आर्यशास्त्रमें लिखी हैं । इस विद्याको पाठक इस सूक्तके मं. ५ से ७ तक देख सकते हैं । मनको एकाम करना और अपनी सब शक्ति मनमें संप्रहीत करना तथा जिस वायमें चाहे उसका उपयोग करना यह जिसकी साम्य है वह मनुष्य इच्छे लाभ सठा सकता है, अर्थात् इतनी अनुष्ठानसे सिद्धि पहिले प्राप्त करनी चाहिये, पश्चात् हस्तस्पर्शसे आरोग्य प्राप्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो सकती है ।

रोगीपर प्रयोग करनेके समय प्रयोग करनेवाला कैसा भाषण करे यही बात इन तीन मंत्रोंमें कही है, वह अब देखिये—

'हे रोगी मनुष्य ! मेरे अन्दर शक्ति और समता स्थापन करनेका गुण है और दोषों तथा विनाशको दूर करनेका भी गुण है । इन गुणोंके साथ मैं तुम्हारे समीप आ गया हूँ, अब तू विश्वास पारण कर कि, मैं अपने पहिले सामर्थ्यसे तेरे अन्दर बल भर देता हूँ और अपने दूसरे गुणसे तेरा रोग समूल दूर करता हूँ । इस रीतिसे तू निःसंदेह नीरोग और स्वस्थ हो ।

जायगा ।' (मं. ५)

'हे रोगी मनुष्य ! देख ! यह मेरा हाथ बड़ा प्रभावशाली है, और यह दूसरा हाथ तो उससे भी अधिक सामर्थ्यवान् है । यह मेरा हाथ मानो संपूर्ण औषधियोंकी शक्तियोंसे भरपूर है और यह दूसरा हाथ तो निःसंदेह भंगल करनेवाला है । अर्थात् इसके स्पर्शसे तू निःसंदेह नीरोग और बलवान् बनेगा ।' (मं. ६)

'हे रोगी मनुष्य ! ये दस अंगुलियोंके साथ मेरे दोनों हाथ संपूर्ण रोग दूर करनेवाले हैं । इनसे तुमको अब मैं स्पर्श करता हूँ, इस स्पर्शसे तेरा सब रोग दूर होगा और तू पूर्ण नीरोग हो जाएगा । तू अब स्वास्थ्यपूर्ण हुआ है, यह मैं अपने सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली शब्दोंसे भी तुम्हें कहता हूँ ।' (मं. ७)

मंत्रोंसे निकलनेवाला आशय अधिक स्पष्ट करनेके लिये कुछ विशेष शब्दोंका भी उपयोग ऊपर लिखे भावार्थमें किया है । इच्छे पाठकोंको पता लग जायगा कि इसका प्रयोग रोगीके ऊपर किस विधिसे किया जाता है । प्रयोग करनेवालेको अपना मन एकाम करना चाहिये और अपनी मानसिक शक्ति द्वारा रोगीके मनको बलवान् देनी चाहिये । रोगीके मनको प्रभावित करनेसे और अपने पवित्र शब्दों द्वारा रोगीके मनमें विश्वास उत्पन्न करनेसे ही यह बात सिद्ध होती है । जो कितोंपर भी विश्वास नहीं रखते वे अविद्यासी लोग इच्छे लाभ नहीं प्राप्त कर सकते ।

आत्मज्योतिका मार्ग ।

[सूक्त १४]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — आज्यं, अग्निः)

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकास्तो अपदपजनितामग्ने ।

तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्नुदुर्भेषांसः

॥ १ ॥

अर्थ—(हि अग्नेः शोकात् अजः अजनिष्ट) क्योंकि परमात्मरूप विदुः प्रकाश अग्निसे तेजसे अजन्मा जीवतान् प्रकट हुआ है । (सः अग्नेः जनितां अपदपत्) उसने पहिले अपने उत्पत्ति के देवा, (अग्ने तेन देवाः देवतां आयन्) प्रारंभमें उसीसे सहायतासे देव देवत्वको प्राप्त हुए, (तेन मेष्वासाः रोहान् नुदुः) उससे पवित्र बनकर सब स्थानोंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुखायान्दत्तेषु विप्रतः ।

दिवस्पृष्टं स्वर्गत्वा मिथ्रा देवेभिर्नाध्वम्

॥ २ ॥

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षादिवमारुहम् ।

दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्गज्योतिरगामहम्

॥ ३ ॥

स्वर्ग्यन्तो नपेक्षन्त आ द्या रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतोषारं सुविद्वांसो वितेनिरे

॥ ४ ॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम् ।

इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्ग्यन्तु यजमानाः स्वस्ति

॥ ५ ॥

अर्थ— (उखान् हस्तेषु विप्रतः) अश्वोंको हाथोंमें लिये हुए द्रुम (अग्निना नाक क्रमध्वम्) अग्निकी सहायतासे स्वर्गको प्राप्त करा । (दिवः पृष्ठ स्वः गत्या) गुलाबके ऊपर जाकर आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करके (देवेभिः मिथ्राः आध्वं) देवोंके साथ मिलकर बैठो ॥ २ ॥

(अहं पृथिव्याः पृष्ठात् अन्तरिक्षं आरुहं) मैं पृथ्वीके पृष्ठभागसे अन्तरिक्ष लोकको चढ़ गया, (अन्तरिक्षात् दिवं आरुहं) अन्तरिक्षसे गुलोकपर चढ़ गया । (नाकस्य दिवः पृष्ठात्) गुलमय गुलोकके पृष्ठ भागसे (अहं स्वः ज्योतिः अगाम्) मैंने आत्मिक ज्योतिको प्राप्त किया ॥ ३ ॥

(ये सुविद्वांसः) जो वरतम विद्वान् (विश्वतो घार यज्ञं वितेनिरे) जो सब प्रकारकी धारणाशक्ति देनेवाले यज्ञको फैलाते हैं वे (स्वः यन्तः द्यां न अपेक्षन्ते) आत्मिक ज्योतिको प्राप्त करनेवाले स्वर्गमुखकी अपेक्षा नहीं करते, वे (रोदसी आरोहन्ति) पृथ्वी और स्वर्गके ऊपर चढ़ जाते हैं ॥ ४ ॥

हे (अग्ने) ! हे प्रकाशक ! (देवतानां प्रथमः प्रेहि) तू देवोंमें पहिला हमें प्राप्त हो । तू (देवानां उत मानुषाणां चक्षुः) देवों और मनुष्योंका चक्षु ही है । (इयक्षमाणाः सजोषाः यजमानाः) यज्ञ करनेवाले और समान प्रीतिमान रखनेवाले यजमान (भृगुभिः स्वः स्वस्ति यन्तु) तपस्वियोंके साथ आत्मतेजको मुखसे प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ— परमात्माके जगत्प्रकाशक तेजसे यह अन्नमा जीवात्मा प्रकट हुआ । उसी समय उसने अपने पिताका दर्शन किया । देव उसीकी शक्ति प्राप्त करके देवत्वसे युक्त होते हैं । जो उसकी उपासना करते हैं वे पवित्र होते हुए अनेक उच्च अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्नका दान करते हुए द्रुम इस अग्निकी सहायतासे स्वर्गका मार्ग आक्रमण करो । और वहाँसे भी अधिक उच्च भूनिष्ठतामें जाकर आत्मिक ज्योतिके स्थानको प्राप्त होकर वहाँ देवोंके साथ बैठो ॥ २ ॥

पृथ्वीसे अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षसे गुलोक, गुलोकसे ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान है । मैंने इसी क्रमसे इन लोकोंको प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

जो ज्ञानां विद्वान् विश्वधारक यज्ञको फैलाते हैं वे पृथ्वीसे गुलोक तक ऊपर चढ़ते हैं और वहाँसे भी ऊपर आत्मिक प्रकाशका स्थान प्राप्त करते हुए किसी अन्य मुखकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ४ ॥

हे सर्व प्रकाशक ! तू सब देवोंमें मुख्य है, तू हमें प्राप्त हो । तू जैसा देवोंका आद्य है उसी प्रकार मनुष्योंका भी है । यज्ञ करनेवाले और सबके ऊपर समानतया प्रेम करनेवाले जो यजमान होते हैं वे तपस्वी मुनियोंके साथ ही मुखपूर्वक आत्मिक प्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

अजमनजिम पयसा घृतेन दिव्यं सुपूर्णं पयसं बृहन्तेम् ।

तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वशिरोहन्तो अभि नार्कमुत्तमम् ॥ ६ ॥

पञ्चौदनं पञ्चभिर्गुलिभिर्दर्व्याद्धरं पञ्चघृतमौदनम् ।

प्राच्यां दिशि शिरौ अजस्यं घेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं घेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि मसदंमस्य घेष्टुत्तरस्यां दिव्युत्तरं घेहि पार्श्वम् ।

ऊर्ध्वायां दिव्यं अजस्यानूकं घेहि दिशि भुवायां घेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यंमस्य ॥ ८ ॥

श्रुतमजं श्रुतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम् ।

स उत्तिष्ठतो अभि नार्कमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिष्टु ॥ ९ ॥

अर्थ— (दिव्य सुपूर्ण पयसं) दिव्य, अत्यंत पूर्ण, तेजस्वी, गतिमान और (बृहन्त अजं घृतेन, पयसा अजजिम) अजन्मा परम आत्माकी घृत और दुग्धके यज्ञसे पूजा करता है । (उत्तमं नार्कं अभि आरोहन्तः) उत्तम स्वर्गके ऊपर चढ़ते हुए (तेन सुकृतस्य लोकं स्वः गेष्म) उससे पुण्यके आरमप्रकाशके लोकको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

(एतं पञ्चौदनं औदनं) इस पांच प्रकारके अन्नको (पञ्चभिः अंगुलिभिः दर्व्या पञ्चघ्रा उद्धर) पांच अंगुलियों पकड़ो हुई कड़वासे पांच प्रकारसे ऊपर ला । (अजस्य शिरः प्राच्यां दिशि घेहि) अजन्माकी शिर पूर्व दिशामें रख, (दक्षिणायां दिशि दक्षिणं पार्श्वं) दक्षिण दिशामें दाहिने कक्षा भागको रख ॥ ७ ॥

(अस्य मसदं प्रतीच्यां दिशि घेहि) इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें धर, और (उत्तरं पार्श्वं उत्तरस्यां दिशि घेहि) उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें रख । (अजस्य अनूकं उर्ध्वायां दिशि घेहि) अजन्माकी शीर्षको ऊर्ध्व दिशामें रख, (अस्य पाजस्यं भुवायां दिशि घेहि) और इसके पेटको ध्रुव दिशामें रख, तथा (अस्य मध्यं मध्यतः अन्तरिक्षे) इसका मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार (सर्वैः अंगैः संभृतं) सब अंगोंसे सम्पन्नता प्राप्त हुआ अण्वण (विश्वरूपं श्रुतं अजं) विश्वरूप बना हुआ परिपक्व अजन्मा आत्माको (श्रुतया त्वच्चा प्र ऊर्णुहि) परिपक्व आच्छादनसे आच्छादित कर । (सः) वह तू (इतः उत्तमं नार्कं अभि उत्तिष्ठ) यहाँसे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करनेके लिये उठ और (चतुर्भिः पद्भिः दिष्टु प्रति-तिष्ठ) चारों पाँवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

भाष्यार्थ— दिव्य पूर्ण तेजस्वी गतिमान और अजन्मा परम आत्माकी ही इस एतादिकी आनुतिथीके यज्ञ द्वारा पूजा करते हैं । इससे उत्तम स्वर्गको प्राप्त करते हुए उसके भी ऊपरके आरिषड प्रकाशके स्थानको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

यह पांच प्रकारका यज्ञीय अन्न है । पांच अंगुलियों द्वारा कड़वी पकड़कर इस अन्नको पांच प्रकारसे ऊपर ले । इस अजन्माकी शिर पूर्व दिशामें और दक्षिण कक्षा दक्षिण दिशामें रख ॥ ७ ॥

इसका कटिभाग पश्चिम दिशामें, उत्तर कक्षा भागको उत्तर दिशामें, पीठकी शीर्ष ऊर्ध्व दिशामें, पेट ध्रुव दिशामें और मध्य भाग अन्तरिक्षमें रख ॥ ८ ॥

इस प्रकार अपने सब अंगोंसे परिपूर्ण विश्वरूप बने हुए परिपक्व अजन्मा आत्माको परिपक्व परमात्माके आच्छादनसे आच्छादित कर, उत्तम स्वर्गलोको प्राप्त करनेके लिये उठो और अपने चारों पाँवोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

दानसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है । यहाँ अन्न उतलझुगमान है । भूतसे पीडितको अन्नदान, तृषास पांडितको जलदान, अज्ञातस पीडितको ज्ञानदान, निवेलतस पीडितको बल द्वारा सहायता, निधनतास पांडितको धनदान, मारतस्यसे पांडितको स्वातन्त्र्य प्राप्ति करनेके कार्यमें सहायता आदि अनेक विध दान होते हैं, य सब अन्नदानके उतलझुगसे जानना चाहिये । ये सब यज्ञ हैं और यज्ञसे समतिकरण कर्मके ये प्रमुख अंग हैं । जनताभी यज्ञ द्वारा परमात्माका अर्पण इसी रीतिये होता है । इस यज्ञ द्वारा मनुष्य स्वर्गमें पहुँचता है इत्यादी नहीं, परन्तु उसके भी ऊपर जो आत्मप्रकाशालोक है वही जाता है और वही देवोंका साथ बैठ जाता है । इस प्रकार मनुष्यका देवता बनता है । (म २)

पृथ्वासा अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षमें तुलोक, तुलोकसे आत्मिक प्रकाशका लोक ऊपर है । यह उभयता म्यागये नहीं, प्रत्युत अवस्थायि है । अर्थात् य चार लोक चरके चार मजलोंके समान एक दूसरेके ऊपर नहीं हैं प्रत्युत एकके अन्दर दूसरी और दूसरीके अन्दर तीसरी है । स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा ये चार अवस्थाएँ मनुष्यके अन्दर ही हैं । इ हाके बाह्यरूप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, यो और स्व (आत्मप्रकाश) हैं और इहाका नाम भूः, भुवः, स्व, मपः इ-है । त्रिप्रकार स्थूलक अन्दर सूक्ष्म शरीर होता है उसी प्रकार पृथ्वी लोकके अन्दर अन्तरिक्ष लोक होता है । इनमेंसे साधारण मनुष्य स्थूल मूलोक्तमें विचरता है, अन्तरिक्ष आदि उच्च भूमिकाओपर वह तब कार्य कर सकेगा, जब वह उतना शुद्ध और परिष्कृत होगा । वडे महान् तपस्वीयोंके लिये ही वह बात साध्य होती है ।

(म २)

निश्वाधार यज्ञ ।

‘ यज्ञ (निश्चितो धार यज्ञ) विश्वका साथ प्रकाशसे आधार देनेका है । ’ (म ४) यह यज्ञार्थ मनुष्य कष्टन पूर्ण होतासे सत्य है । यज्ञका अर्थ है त्याग । इस ‘ त्याग ’ से ही जगत्की स्थिति है । हरएक रथानमें यह सत्य है । पिता अपने वीर्यके स्व गर्भे धनानको उत्पन्न होकर लिये आधार देता है और माता अपने गर्भधारणके लिये जा कष्ट होती है उनकी रुढ़नी है और उस प्रमाणसे स्वपुत्रका त्याग करती है और आगे दुग्धादि विलाहर भी बहुत त्याग करती है । इस प्रकार मातापिताके अर्पण त्यागसे कृष्ण निर्माण होता है । इसी प्रकार यह त्याग पशुपक्ष, वृक्षान्तर्यामि आदि यष्टिमें भी है, विशेषे उनका सृष्टि रहती है । सर्व अपने प्रकाशका अर्पणके लिये

अर्पण करता है इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि देवताएँ अपनी शक्तियोंका जगत्का भलाईके लिये त्याग करती हैं । इस त्यागसे जगत्की स्थिति हुई है । परमात्मा अपने त्यागसे ही यह ससार बनाया है । इस प्रकार विचार करनेसे पाठकोंको पता लग सकता है कि इस त्यागसे अर्थात् आत्मसमर्पण रूप महायज्ञसे ही विश्व बन रहा है । इसलिये यज्ञको संपूर्ण विश्वका आधार कहते हैं वह नितान्त सत्य है ।

ये सुविद्वांसः चिद्व्यतोधार यज्ञ चित्तानरे ।

(ते) रोदसी चां रोदन्ति, स्वर्गन्त, न अपेक्षन्ते ।

(सू १४, म ४)

‘ जो उच्च विद्वान् इस विश्वाधार यज्ञकी कल्पिते हैं अर्थात् अपने आवृत्त करते हैं वे इन भूमिसे धीरे धीरे ऊपर चढ़ते हैं, वे वहाँके स्वर्गलोककी भी इच्छा नहीं करते और वे उसके भा ऊपर जाकर आत्मसमर्पणके प्रकाशमय स्थानको प्राप्त करते हैं । ’ यह लोक तो आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करनेसे ही प्राप्त हो सकता है ।

सच्चा चक्षुः ।

पञ्चम मन्त्रमें इस परमात्माको ‘ देवों और मनुष्योंका चक्षुः ’ कहा है—

देवताना उत मानुषाणां चक्षुः । (सू १४, म ५)

‘ देवों और मनुष्योंका आँख यह आत्मा है । ’ मनुष्योंके आँख मनुष्योंके शरीरोंमें रहते ही हैं, परन्तु ये स्वयं कार्य नहीं कर सकते । सूर्यके प्रकाशके बिना आँख देखनमें असमर्थ है । इसलिये सूर्यको ‘ आलम्बा आलम्बा ’ कहते हैं । परन्तु सूर्य भी परमात्माकी प्रकाश शक्ति के बिना प्रकाश देनेका कार्य नहीं कर सकता, इसलिये परमात्माको ‘ मयंका सूर्य ’ करते हैं । इससे यह हुआ कि ‘ आलम्बा आलम्बा सूर्य और सूर्यका सूर्य परमात्मा ’ है, इसलिये वस्तुतः ‘ आलम्बा सच्चा आलम्बा ’ परमात्मा ही हुआ । यही मान ऊपरके मंत्रभागका है । यह केवल आँखके नियममें ही सत्य है ऐसा नहीं परन्तु हरएक इन्द्रियके नियममें भी वैसा ही सत्य है, अर्थात् वह अज्ञ आलम्बा आलम्बा है उसी प्रकार कानका कान, नाकका नाक, मनका मन और बुद्धिका बुद्धि है । इसी प्रकार सब इन्द्रियोंका वही मूल स्रोत है । इसका ऐसा जानना और अनुभव करना विद्या और अनुष्ठानका साध्य है । यही—

देवतानां प्रथमः ।

(सू १४, म ५)

‘ सब देवताओंमें यह पहला है ’ अर्थात् इसके पूर्व कोई नहीं है, इसके पूर्व यह था और इसके पश्चात् रहेगा । पूर्व के वडे प्रकाशमान देव नि शब्दे वच शान्तिाती हैं, परन्तु इसी

याकिसे वे बने हैं और इसीकी शक्ति लेकर अपना कार्य कर रहे हैं। जिस देवताकी ऐसी महिमा होती है उसीका यजन यज्ञोभि होता है, इसीलिये 'यज्ञ' नाम आत्माका है। सचा यज्ञ पुरुष वही है। जो यज्ञमें इस यज्ञपुरुषकी पूजा करते हैं वे—

इयक्षमाणाः सजोपाः यजमानाः स्वः भृगुभिः

स्वस्ति यन्तु । (सू. १४, मं. ५)

'यज्ञ करनेवाले, समान प्रेमभाव रखनेवाले यजमान आत्मिक प्रकाशके स्थानको भृगुओंके सङ्ग सुगमताके साथ जाते हैं।' उसकी पूजा करनेका यह फल है। 'भृगु' उनका नाम होता है कि जो तपस्वीके अपने पापोंका भर्जन करते हैं। तपके सामर्थ्यसे पापका नाश करनेवाले तपस्वियोंको 'भृगु' कहते हैं। ये तपस्वी सोभि आत्मिक प्रकाशके लोकको जाते हैं, वहाँ ही ये याज्ञक जाते हैं कि जो पूर्णक प्रकर यज्ञ करते हैं और सबपर समान प्रेमभाव रखते हैं, अर्थात् जिनकी सर्वत्र समष्टि हो गई है। अन्त्य लोग उस आत्मिक लोकको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं हैं। पण मन्त्रका भी इसी आशयको बता रहा है—

दिव्यं सुपर्णं पयसं वृद्धन्तं अजं पयसा घृतेन
अनजिम । (सू. १४, मं. ६)

'दिव्य पूर्ण वेगवान् बड़े अन्नमा आत्माकी दूध और घीसे मैं यज्ञमें पूजा करता हूँ।' यह मन्त्रभाग अत्यन्त स्पष्ट है। यज्ञमें उसीकी पूजा दहनकी आहुतियोंसे होती है। दहनकी आहुतियों देना यह आत्मसमर्पणका प्रारंभ है, इसी यज्ञका रूप अन्तमें आत्मसर्वस्वका समर्पण होता है। इस पूर्ण समर्पणकी पहिली छोटी ओझी आहुतियों समर्पित करना है। समर्पण शक्ति बढ़ानेसे ही उसकी सच्ची पूजा होती है और साथ साथ अपनी आत्मिक शक्ति भी बढ जाती है।

तेन उत्तमं नाकं अभि आरोहन्तः

सुष्ठुतस्य स्वः लोक गेष्मः । (सू. १४, मं. ६)

'उससे उत्तम स्वर्गधामकी प्राप्त होते हुए हम सुष्ठुतके आत्मज्योतिरूप लोकको प्राप्त करेंगे।' यह पूर्वाक प्रकाशके आत्मयज्ञका फल है। सच्चे वैदिक यज्ञका यह अन्तिम साध्य है।

पश्चात्तु भोजन ।

यही पश्चात्तु भोजनका विधान है। लोकमें प्रसिद्ध पश्चात्तु सब जानते ही हैं, दूध, दही, घी, मिथी और मधु इन पाँच पदार्थोंको पंचामृत कहा जाता है। परन्तु यहाँ आत्मसमर्पणरूप महायज्ञमें हमारी इन्द्रियाँ गाँवें हैं और इस यज्ञमंशमें उनका दोहन होता है, उस दूधसे जो पच अमृत बनता है वह यहाँ अमोष्ट है। यह 'पञ्च+ओदन' है। पच ज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त

होनेवाला यह पथ अमृत है। ज्ञानका नाम अमृत है। यहाँ पच ज्ञान पथ ओदन कहा है क्योंकि ऐसा ओदन या अन्न स्थूल शरीरका पोषण होता है, उसी प्रकारसे यह पाँच प्रकारका ज्ञान-रस या 'सुधारास' आत्मसुद्धिमनका पोषण करता है। इसका उद्धार करना चाहिये—

एतं ओद्वनं दृष्या पञ्चधा उद्धर । (सू. १४, मं. ७)

'यह अन्न कड़वीसे पाँच प्रकारसे ऊपर ले' अर्थात् पाँच प्रकारसे इसका उद्धार कर। यह अन्न पंचविध है एक दूसरेसे भिन्न है, पाँच प्रकारोंसे इसका उद्धार होना संभव है। इससे ही ज्ञात हो सकता है कि यह पंचज्ञानेन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाला पच-विध ज्ञान ही है। हरएक इन्द्रियसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चनीच होता है, इसीलिये यहाँ सूचना दी है कि 'उद्धर' उद्धार कर अर्थात् पाँच प्रकारका ज्ञान ऐसा प्राप्त कर कि जिसका उद्धार हो सके। दो प्रकारका ज्ञान सम्मुख आया तो जिससे उद्धार होगा वही ज्ञान स्वीकार कर और अन्यको दूर कर। हरएक विषयमें ये दोनों प्रकार मनुष्यके सम्मुख आते हैं। उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि यह पाँच प्रकारका ज्ञान इस प्रकारसे प्राप्त करे कि जिससे अपना निश्चयसे उद्धार हो सके। अज्ञात वर्तनसे उद्धार करनेका कार्य कड़वीसे अथवा चमससे होता है, इस लिये इस मन्त्रमें भी कड़वीसे उद्धार करनेका उपदेश किया है। पच ज्ञानरूपी पच पक्काजका उद्धार करनेकी कड़वी यहाँ कौनसी है यह अब विचारणीय प्रश्न है। इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखने योग्य है—

तिर्यग्विलम्बमस ऊर्ध्वं बुधास्तस्मिन् यशो निहितं
विश्वरूपम् । तत्रासत ऋषयः सप्त सांके ये
अस्य गोपा महतो पमूयुः ॥ (अथर्व १०।८।९)

'तिरिछ मुखवाला एक चमस है, जिसका निम्न भाग ऊपरकी ओर है, उसमें विश्वरूप यश रखा है। वहाँ ही सप्त ऋषि साथ साथ रहते हैं, जो इसके रक्षक हैं।' यहाँ जो चमस कहा है वह मनुष्यका सिर है, इसका मुँह नीचे और निम्न भाग ऊपर है, इसमें विश्वरूप यश नाम विश्वका ज्ञान और आत्माका विज्ञान इकट्ठा हुआ है, सप्त ऋषि यहाँ इस सिरमें रहते हैं जो इसके रक्षक हैं। इस मंत्रसे चमस या कड़वीका ठीक पता लग सकता है। यह सब मस्तकका रूप है, इसीसे ज्ञानरूप पाँच प्रकारका अन्न लिया जाता है, और अच्छे बुरेका विचार भी यहाँ ही होता है।

इस सूक्तके 'द्वयो' शब्दका संबंध इस मंत्रके 'चमस' शब्दसे जोड़कर देखें, पाठक जानें कि ये द्वौ (कड़वी) और

चमस एक ही है । पाठशेखी सूचनार्थ निवेदन यहाँ दे कि यक्षमें जो जो सामग्री अवस्था चमसादि साधन आवश्यक होती हैं वे सब अन्तर्में अपने शरीरपर ही घटायें जाते हैं । वेदकी यह परिभाषा है । यहाँ चमस शब्द शरीरमें घटायी है, समिधा शब्द अन्य स्थानपर घटायें हैं । इस प्रकार सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंके मंत्रोंमें घटायें हैं । इस प्रकार वेद व्रतयोगा कि अन्तिम यज्ञ आत्मसर्वस्वके समर्पणसे ही होना है । अस्तु । इस प्रकार यहाँ पञ्चविध ज्ञानको अपने उद्धारके लिये प्राप्त करनेका उपदेश सप्तम मंत्रके पूर्वार्थमें किया गया । इसके पश्चात् दो मंत्रोंसे अर्थात् सप्तमका उत्तरार्थ और अष्टम पूर्ण मंत्रसे अपने शरीरको विध्वरूप बनानेका उपदेश कहा है ।

विश्वरूप बनो ।

अपना शरीर यह केवल अपने लिये नहीं प्रायुत यह सब विश्वकी भलाईके लिये है, इसको विश्वके लिये समर्पण करना चाहिये । मैं सब जगत्का एक अवयव हूँ । अवयवकी पूर्णता अवयवोंके लिये समर्पित होनेसे ही हो सकती है । जिस प्रकार शरीरके अवयवकी पूर्णता सब शरीरके भलाईके कार्यमें पूर्णतया समर्पित होनेसे ही सकती है, उसी प्रकार एक मनुष्यकी पूर्णता उसका समर्पण समष्टिके लिये होनेसे ही हो सकती है । यही आत्मसमर्पणकी कल्पना यहाँ इन मंत्रोंसे बताई है जिसका स्वरूप यह है—

- १ पूर्व दिशाके लिये मेरा सिर अर्पण किया है,
- २ दक्षिण दिशाके लिये मेरी दक्षिण कक्षा अर्पण की है,
- ३ पश्चिम दिशाके लिये मेरा पिछला भाग अर्पण किया है,
- ४ उत्तर दिशाके लिये मेरी उत्तर कक्षा अर्पण की है,
- ५ ऊर्ध्व दिशाके लिये मेरी पीठकी रीढ़ अर्पण की है,
- ६ भुव दिशाके लिये मेरा पेट समर्पण किया है और
- ७ मध्य दिशा रूप अंतरिक्षके लिये मेरा मध्य भाग है ।

(सू. १४, मं. ७-८)

इम प्रकार मेरा संपूर्ण शरीर सब दिशाओंके लिये समर्पित होनेसे 'मैं सब विश्वके लिये जीवित हूँ ।' मेरा यह यह भाग विश्वके इस इस भागके लिये समर्पित हुआ है, इस प्रकार संपूर्ण विश्वके लिये मेरा आत्मसमर्पण हो गया है, अब मेरा जीवन जगत्के लिये हुआ है, मैंने सबकी भलाईके लिये यह आत्मयज्ञ किया है, यह इस उपदेशका तात्पर्य है । इसके पश्चात्—

सर्वैः भङ्गैः विश्वरूपं संभृतं द्रुतं मजं
द्रुतया द्रवचा मोर्णुहि । (सू. १४, मं. ९)

'अबने सब अंगोंसे विध्वरूप हुए अतएव परिपक्व बने हुए

अजन्मा जीवात्माको परमात्माके परिपक्वत्वका सहस आच्छादनसे आच्छादित करो।' अपने आपको चारों ओरसे परमात्मा द्वारा आच्छादित अनुभव करो, अपने चारों ओर परमात्माका अनुभव करो । यह बात स्वभावतया स्वयं ही हो जायगी । इसके मंतर—

चतुर्भिः पाद्भिः दिक्षु प्रति तिष्ठ ।

इतः उत्तमं नाकं भूमि उत्तिष्ठ ॥ (सू. १४, मं. ९)

'अबने चारों पावोंसे सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित हो और यहाँसे सीधा उत्तम स्वर्गके लिये चल ।' अब तुम्हें कोई भीषमें रुकावट नहीं होगी । यहाँ वर्णन किये हुए चार पाँव आप्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुषार हैं । चतुष्पाद अज आत्माका वर्णन माँह्म्य उपनिषद्में है—

सोऽयमात्मा चतुष्पाद् ॥ १ ॥

जागरितस्थानो यद्भिः प्रक्षः... प्रथमः पादः ॥ २ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रक्षः... द्वितीयः पादः ॥ ३ ॥

सुषुप्तस्थान एकी भूतः प्रक्षानघम एवानन्दमयो

ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राक्षस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

..... अष्टमव्यवहार्य एकात्मप्रत्ययसारं
... चतुर्थं मन्यन्ते ॥ ७ ॥ (माँह्म्य उपनिषद्)

'यह अज आत्मा चतुष्पाद है । इसका प्रथम पाद जागृति है जिसमें बाहरके जगत्का ज्ञान होता है । इसका द्वितीय पाद स्वप्न है जिस अवस्थामें इसकी प्रज्ञा अन्दर ही अन्दर होती है । इसका तीसरा पाद सुषुप्ति अर्थात् ग्राह निद्रा है, जिस समय एकीभूत होकर आनन्द अवस्थामें लीन होता है । और इसका चतुर्थ पाद अष्टत तथा अव्यवहार्य है ।'

यह वर्णन इस आत्माका चतुष्पाद स्वरूप बता रहा है । कई लोग चार पावोंका वर्णन होनेसे 'चतुष्पाद अज' का तात्पर्य 'चार पाववाला बकरा' समझते हैं और अर्थका अनर्थ करते हैं, उनको उचित है कि वे इस उपनिषद्के वचनका भी यही मनन करें । सीधा उत्तम स्वर्गधाममें जाना इन ही चार पावोंसे संभवनीय है यह बात स्पष्ट होनेसे इस विषयमें अधिक लिखनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है । आप्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुषारोंमें जो अनुभव मिलते हैं और आप्रतिमें जो कर्म किये जाते हैं, उनसे ही मनुष्यकी उन्नति होनी है, इसके बिना कोई अन्य मार्ग नहीं है ।

एक शंका ।

इस सूत्रमें 'भूलोकके ऊपर अन्तरिक्ष, अन्तरिक्षके ऊपर स्वर्ग, स्वर्गके ऊपर आत्मप्रकाशका लोक है, ऐसा कहा है ।'

(मं. ३) मंत्रमें 'आरुह' पद भी दर्शाता है कि यहाँ 'उपर चढ़नेका भाव' है । इसलिये साधारण लोक इन लोकोंको एकके ऊपर दूसरा मानते हैं । ये लोक शरीरमें भी हैं शुद्धसि नाभितक भूलोक, नाभीमें गलेतक अन्तरिक्ष लोक, सि स्पर्गलोक हैं और आरमप्रकाशका लोक हृदयस्थानमें जहाँ दण्डु होता है वहाँ है । यहाँ पता लगता है कि यद्यपि शरीरमें पहिले तीन लोक एक दूसरेके ऊपर हैं तथापि चतुर्थलोक निम्न प्रदेशमें अथवा मध्यमें है । अर्थात् यहाँका ऊपरका भाव स्थानसे ऊपर ऐसा नहीं है, प्रत्युत अवरथा, योग्यता, श्रेष्ठ अनुभव आदिकी उचतासे यहाँ मतलब है । वास्तविक स्थिति यह है कि 'भूः,

भुवः, स्वः, महः' आदि लोक किंवा पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, आरमज्योति आदि लोक हरएक स्थानमें हैं । त्रिव प्रकार एक ही स्थानमें परपर, रेत, जल, वायु, उष्णता, विद्युत् आदि रहते हैं, उसी प्रकार एक स्थान लोक एक ही स्थानमें है, जो मनुष्य अपने सूक्ष्म इन्द्रियोंकी सूक्ष्म लोकोंमें कार्य करने योग्य सूक्ष्म बनाते हैं, वे हा उच्च लोकोंके भागी होते हैं, अर्थात् यहाँ रहता हुआ मनुष्य भी आत्मप्रकाशके लोकका अनुभव ले सकता है ।

पाठक इस सूक्तका इस रीतिसे मनन करे और उन्नित षोडश प्रात करके अपनी आध्यात्मिक उन्नतिका मार्ग आक्रमण करे ।

वृष्टि ।

[सूक्त १५]

(ऋषिः — अथर्वान् । देवता — मरुतः पर्जन्यश्च)

समुत्पतन्तु प्रदिशो नमस्वतोः समभ्राणि वातैर्ज्वानि यन्तु ।

महऋषमस्य नदतो नमस्वतो वाश्वा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् ।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥

समीक्षयस्व गाव्यतो नभांस्यपां वेगांसुः पृथगुद्भिजन्ताम् ।

वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुषां विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (नमस्वतोः प्रदिशः सं उपपतन्तु, बादलसे युक्त दिशाएँ उमड़ जाय, (वातैर्ज्वानि अध्यापि सं यन्तु) वायुसे चलाये गये उदक युक्त मेघ मिलकर आवें । (महऋषमस्य नदतोः नमस्वतोः) महावतवान् गजना करते हुए (नमस्वतोः वाश्वा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) बादलोंकी गते युक्त जलपातोंसे भूमिची तृप्ति करें ॥ १ ॥

(तविषाः सुदानवाः समीक्षयन्तु) बलवान् जलदा उत्तम दान करनेवाले मेघ दिशाएँ दें । (अपां रसाः ओषधीभिः सचन्तां) जलोंके रस औषधियोंसे संयुक्त हो आवें । (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) शिट्टीकी धाराएँ भूमिची समृद्ध करें । (विद्वरूपाः ओषधयोः पृथक् जायन्तां) विविध स्वरवाली औषधियाँ अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ २ ॥

(गाव्यतः नभांसि समीक्षयस्व) गजनेवाले मणोंसे युक्त आकाश दिशाओं । (अपां वेगांसुः पृथक् उद्भिजन्तां) जलोंके वेग विविध प्रकारसे उत्पन्न आवें । (वर्षस्य सर्गाः भूमिं महयन्तु) शिट्टीकी धाराएँ भूमिची समृद्ध करें । (विद्वरूपाः वीरुषाः पृथक् जायन्तां) विविध स्वरवाली औषधियाँ अनेक प्रकारसे उत्पन्न हों ॥ ३ ॥

भावार्थ— बारों दिशाओंमें बादल आ जाय, वायु जोरसे बहे, उध वायुमें मेघ आकाशमें आ जाय, और बड़ी गरजन होकर बड़ी वृष्टि हों ॥ १ ॥

मेघसे आनेवाला जल वनस्पतियोंकी मिले और सब वनस्पतियों उत्तम परिपुष्ट हो आवें ॥ २ ॥

गुणास्त्योप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।

सर्गां वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु

॥ ४ ॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ ।

महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु

॥ ५ ॥

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधि भूमिं पर्जन्य पर्यसा समद्धि ।

त्वयां सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशरुरेत्वस्तम्

॥ ६ ॥

सं वीऽवन्तु सुदानं व उरसां अजगरा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु

॥ ७ ॥

आशामाशां वि द्योततां वातां वान्तु दिशोदिशः ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु

॥ ८ ॥

अर्थ—हे पर्जन्य ! (घोषिणः मारुताः गुणाः त्वा पृथक् उपगायन्तु) गर्जना करनेवाले वायुओंके गण तेरा पृथक् पृथक् गान करें । (वर्षतः वर्षस्य सर्गाः पृथिवीं अनु वर्षन्तु) वर्षते हुए मेघकी धाराएं पृथ्वीपर अनुकूल वर्षें ॥ ४ ॥

हे (मरुतः) वायुओ ! (अर्कः त्वेयः नभः) सूर्यकी उष्णतासे बादलोंको (समुद्रतः उत्पातयत) समुद्रके ऊपर ले जाओ (अथ उदीरयत) और ऊपर उड़ाओ । (महऋषभस्य नदतः नभस्वतः) बड़े बलवान् और शब्द करनेवाले बादल्युक्त आकाशसे (वाश्राः आपः पृथिवीं तर्पयन्तु) वेगवान् जलधाराएं पृथ्वीको तृप्त करें ॥ ५ ॥

हे (पर्जन्य) मेघ ! तू (अभिक्रन्द) गर्जना कर, (स्तनय) बिजुल कड़के, (उदधि अर्दय) समुद्रको दिला दे । (पर्यसा भूमिं समद्धि) जलसे भूमि मिणा दे । (त्वयां सृष्टं बहुलं ययं एतु) तेरे द्वारा उत्पन्न हुई बड़ी वृष्टि हमारे पास आवे । (कृश-गुः) भूमिका कृषक (आशार-एषी) आश्रयकी इच्छा करनेवाला होकर (अस्तं एतु) अपने घरको चला आवे ॥ ६ ॥

(सु-दानयः उत अज-गराः उरसाः) उत्तम जल देनेवाले बड़े छोट (यः सं वीऽवन्तु) झुम्झारी रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ (पृथिवीं अनु वर्षन्तु) पृथिवीपर अनुकूल वर्षा करें ॥ ७ ॥

(आशां आशां विद्योततां) दिश दिशमें बिजुलियां चमकें । (दिशो दिशः वाताः वान्तु) हरएक दिशमें वायु बहें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु संयन्तु) वायुओं द्वारा जलाये गये मेघ पृथिवीकी ओर अनुकूलतासे आवें ॥ ८ ॥

भाषार्थ—गर्जना करनेवाले मेघोंसे जोरकी वृष्टि हो आवे और उस वृष्टिसे औपधियां उत्तम रसवाली होवें ॥ ३ ॥

वायु जोरसे मेघोंकी लावें और प्रबल धाराओंसे अर्द्ध वृष्टि हो आवे ॥ ४ ॥

सूर्यकी उष्णतासे समुद्रके पानीकी शोष होकर वायुसे ऊपर आवे, वही वह इषट्ठी होकर मेघ बनें, वही बिजलीकी गर्जना होकर पृथ्वीकी तृप्ति करनेवाली वृष्टि होवे ॥ ५ ॥

मेघ गर्जना करें, बिजली कड़के, समुद्र उठल पड़े, भूमिपर ऐसी वृष्टि हो आवे कि किसान अपने घर जाकर आश्रय लें ॥ ६ ॥

जल देनेवाले मेघ सबकी रक्षा करें, उनसे भूमिपर उत्तम वृष्टि होवे ॥ ७ ॥

हरएक दिशामें बिजुलियां चमकें, वायु जोरसे चले, उनसे चलाये मेघ सब वृष्टि करें ॥ ८ ॥

आपो विष्टुदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानं व उत्सा अजग्रा उत ।

मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमर्तु

॥ ९ ॥

अपामग्निस्तुन्भिः संविद्वानो य ओषधीनामधिपा वभूव ।

स नो वर्षं वन्तुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्पतिं

॥ १० ॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादापं ईरयन्नुदधिर्मर्दयाति ।

प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वादेतेन स्तनयित्नुनेहि

॥ ११ ॥

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणान नीचीरपः सृज ।

वदन्तु पृश्निवाहवो मण्डूका हरिणानु

॥ १२ ॥

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः

॥ १३ ॥

अर्थ— (आपः विष्टुत् अभ्र वर्षं) जल, विष्टुत्, मेघ, वृष्टि (उत अजग्राः सुदानम्, उत्साः) और बड़े जल देनेवाले स्रोत (य. स अवन्तु) सुन्दारा रक्षा करें । (मरुद्भिः प्रच्युताः मेघाः पृथिवीं अनु प्र अवन्तु) वायुओं द्वारा प्रेरित मेघ भूमि की रक्षा करें ॥ ९ ॥

(अपां अग्निः) मेघ के जलोत्प्रेरक होनेवाला विष्टुत् रूप अग्नि (तनूभिः संविद्वानः) सब शरीरों के साथ एक रूप होता हुआ (य. ओषधीनां अधिपा वभूव) जो औषधियों का पालक होता है (सः जातवेदाः) वह अग्नि (दिवः परि अमृतं वर्षं) आकाश में अमृत रूपी वृष्टिजल जो (प्रजाभ्यः प्राणं) प्रजाओं के लिये प्राणरूप है (नः) हमारे लिये (वन्तुतां) देवे ॥ १० ॥

(प्रजापतिः सलिलात् समुद्रात् आपः आ ईरयन्) प्रजापति जलमय समुद्र से जल छोड़ प्रेरित करता हुआ (उदधिं मर्दयाति) समुद्र की गति दता है । इस (अश्वस्य वृष्णः रेतः प्र प्यायतां) वेगवान् वृष्टि, करनेवाले मेघ से जल बड़े । वृष्टि (एतेन स्तनयित्नुना अर्वाद् वा इहि) इस गर्भना करनेवाले के साथ यहाँ आवे ॥ ११ ॥

(अपः निषिञ्चन् असुर) जल की वृष्टि करनेवाला मेघ (नः पिता) हमारा पालक है । हे (वरुण) श्रेष्ठ वरुण धारण करनेवाले मेघ । (अपां गर्गरा श्वसन्तु) जलों के गडगड शब्द करनेवाले मेघ बचें । (अपाः नीची. अप. सृज) जल को नीचे की ओर प्रवाहित कर (पृश्निवाहवः मण्डूकाः) विचित्र रंगयुक्त बाहुवाले मेंढके (हरिणा अनु-वदन्तु) भूमि पर आकर शब्द करें ॥ १२ ॥

(मण्डूकाः पर्जन्यजिन्वितां वाचं) मेंढक पर्जन्य से प्रेरित वाणी की (अवादिषुः) बोलते हैं, जैसा कि (संघ-स्वरं शशयानाः व्रतचारिणः ब्राह्मणाः) सालभर एक स्थान में रहकर व्रत करने वाले ब्राह्मण बोलते हैं ॥ १३ ॥

भाषार्थ— मेघ, विष्टुत्, वृष्टि, जल, अजग्रा य सब मनुष्यों की रक्षा करें । वायु से चलाये मेघ पृथिवी पर उतार दें ॥ ९ ॥

मेघों में विष्टुत् अग्नि है वही वृष्टि करता है इसलिए वह औषधियों का अधिपति है । वह ऊपर से वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवे, उसने प्राणियों को जीवन मिले, इस प्रकार हम सब की रक्षा हो ॥ १० ॥

यह प्रजापालक समुद्र के जल को प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं । इससे भूमि के ऊपर पानी उठ प्राप्त होवे । यह मेघ बिजुली के साथ हमारी भूमि के पास आ आवे ॥ ११ ॥

मेघ की वृष्टि से पृथ्वी पर बड़े स्रोत बहें । जल में मेंढक उतार शब्द करें ॥ १२ ॥

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि ।

मध्ये हृदस्य सुवस्व विगृह्य चतुरः पदः

॥ १४ ॥

खण्वखाश्च खैमृखाश्च मध्ये तदुरि ।

वर्षं वंनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत

॥ १५ ॥

महान्तं कोशमुदन्तामि पिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः ।

तन्वतां यज्ञं बह्वधा विसृष्टा आनन्दिनीरोपधयो भवन्तु

॥ १६ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (मंडूकि) मेंढकी ! हे (तादुरि) छोटी मेंढकी ! (उप प्रवद) बोल, (वर्षं आ वद) वर्षाको सुला । और (हृदस्य मध्ये) तालाक मध्यमें (चतुरः पदः विगृह्य) चार पैर लेकर (सुवस्व) तैर ॥ १४ ॥

(खण्व-खे) हे बिलमें रहनेवाली, हे (खैम-खे) शीत रहनेवाली (तदुरि) हे छोटी मेंढकी ! (वर्षं मध्ये वंनुध्वं) वृष्टिके बीचमें आनंदित हो । हे (पितरः) पालको ! (मरुतां मनः इच्छत) वायुओंका मननीय शान चाहो ॥ १५ ॥

(महान्तं कोशं उदन्त) बड़े जलके खजानेको अर्थात् मेघको प्रेरित कर और (अमि पिञ्च) जलखिचन कर । (सविद्युतं भवतु) आकाश बिजुलियोंसे युक्त हो (वातः वातु) वायु बढ़ता रहे । (यज्ञं तन्वतां) यज्ञको करो । (ओपधयः) ओपधियों (बह्वधा विसृष्टाः) बहुत प्रकारसे उत्पन्न हुई (आनन्दिनीः भवन्तु) आनन्द देनेवाली होवें ॥ १६ ॥

भाषार्थ— व्रत करनेवाले ब्राह्मणोंके समान ये मेंढक मानो सालभर व्रत कर रहे थे, अब अपना व्रत समाप्त करके बाहर आये हैं और प्रवचन कर रहे हैं ॥ १३ ॥

मेंढक मेंढकों सुलावे और वे जलसे तालाव भरनेके बाद उसमें खूब तैरें ॥ १४ ॥

वृष्टि ऐसी हो कि जिसे मेंढक आनंदित हो जाय ॥ १५ ॥

मेघ आज्ञाय, एवं वृष्टि हो, विज्रली कड़के, वायु बहे, ओपधियों पुष्ट हों, खूब लक्ष उत्पन्न हो और यज्ञ बढ़ते जाय ॥ १६ ॥

यह सूक्त पत्रंजयका लक्षण काव्य है, अत्यंत स्पष्ट होनेके इसके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

॥ यदां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

सर्वसाक्षी प्रभु ।

[सूक्त १६]

(ऋषि — प्रजा । देवता — वरुण । सत्यानुतान्वीक्षणम् ।)

बृहन्नैवामधिष्ठाता अन्तिकार्दिव पश्यति ।

य स्तायन्मन्यंते चरन्तसर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वर्ञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्गम् ।

द्वौ सैनपद्य यन्मुन्त्रयेते राजा तद्वेदु वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्वृहती दूरेअन्ता ।

उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतासिन्नल्पे उदके निर्लीनः ॥ ३ ॥

उत यो धामन्तिसर्पात्परस्ताञ्च स मृच्याति वरुणस्य राज्ञः ।

दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राश्वा अर्वि पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (एषां बृहन् अधिष्ठाता अन्तिकात् इव पश्यति) इनका बड़ा अधिष्ठाता समीपके समान देखता है । (यः स्तायत्) जो फैलाता और पालन करता, (चरन्) विचरता और चलाता हुआ, (मन्यते) जानता है । (देवाः इदं सर्वं विदुः) दिव्य जन यह सब जानते हैं ॥ १ ॥

(यः तिष्ठति, चरति) जो खड़ा होता है अथवा चलता है, (च यः यञ्चति) और जो ठगाता है, (यः निलायं चरति, यः प्रतङ्गं) जो गुप्त व्यवहार करता है अथवा छुपा व्यवहार करता है तथा (द्वौ सैनपद्य यत् मन्त्रयेते) दो जन एक साथ बैठकर जो कुछ विचार करते हैं (तत्) उस सबको (तृतीयः राजा वरुण, वेद) तीसरा राजा वरुण जानता है ॥ २ ॥

(इयं भूमि) यह पृथिवी, (उत उत असौ वृहती दूर अन्ता द्यौः) और यह बड़ा दूर अन्तरपर दिखनेवाला ध्रुव है, यह सब (वरुणस्य राज्ञः) वरुणराजाका है । (उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी) और दोनों समुद्र वरुणकी दोनों कोखों हैं, (उत अस्मिन् अल्प उदके निर्लीनः) तथा वह इस अल्प उदकमें भी लीन हुआ है ॥ ३ ॥

(उत यः परस्तात् धां अतिसर्पात्) और जो दूर ध्रुवके परे मा चला जावे (सः वरुणस्य राज्ञः न मृच्याति) वह इस वरुणराजाके शासनसे छूट नहीं सकता । (अस्प दिवः स्पशः इदं प्र चरन्ति) इस दिव्य देवके इन इस जगत्में संचार करते हैं । वे (सहस्र-अश्वा भूमि अति पश्यन्ति) हजार आँखवाले भूमिको विषय देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— इन सपूर्ण लोकलोकान्तरोंका एक बड़ा अधिष्ठाता है जो इन सबका निरीक्षण प्रत्येकके समीप रहकर समान करता है, वह सबका विचार करता है और रक्षा करता है, सबको चलाता है और सबमें विचरता है तथा सबको जानता है। उस प्रभुके ये गुण सब ज्ञानीजन जानते हैं ॥ १ ॥

कोई मनुष्य ठहरा हो, कोई चलता हो, कोई चित्तोकी ठगाता हो, कोई परके अंदर छिपकर कुछ करता हो और कोई शाली जगहमें कार्य करता हो, अथवा दो मनुष्य एक स्थानमें बैठकर कुछ आपसमें गुप्त विचार करत हो, इन सब बातों की वह प्रभु सही समय जानता है ॥ २ ॥

यह भूमि और यह बड़ा ध्रुव तथा इनके बीचके सब पदार्थ उसी प्रभुके हैं । वे सब समुद्र उसकी कोखोंमें हैं, वह जैवा सब समुद्रोंमें है वैया ही पानीकी छेड़ी छेड़ी बूदमें भी है ॥ ३ ॥

८ (अथर्व भाष्य, काण्ड ४)

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
 संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्रमो नि मिनेति तानि ॥ ५ ॥
 ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विपिता रुशन्तः ।
 छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु ॥ ६ ॥
 शतेन पाशैरभि धेहि वरुणं मा ते मोक्ष्यन्तुवाङ् नृचक्षः ।
 आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोशं इवाग्रन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥
 यः समाम्पोऽहं वरुणो यो व्याम्पोऽहं यः सन्देक्ष्योऽहं वरुणो यो विदेक्ष्यः ।
 यो देवो वरुणो यश्च मानुषः ॥ ८ ॥

अर्थ— (राजा वरुणः तत् सर्वं वि चष्टे) वरुणराजा उस सबको देखता है (यत् रोदसी अन्तरा यत् परस्तात्) जो भूमि और गुलोकके बीचमें है और जो परे है । (जनानां निमिषः अस्य संख्याताः) मनुष्योंकी पलकोंके क्षणकोंकी भी उसने गिना है । (तानि नि मिनेति) उनको वह मापता है (इव श्रमो अक्षान्) अथे जुगाड़ी पाशोंकी नापता है ॥ ५ ॥

हे (वरुण) वरुणदेव ! (सप्त सप्त त्रेधा विपिताः) सात सात तीन प्रकारसे बंधे हुए (ये ते रुशन्तः पाशाः तिष्ठन्ति) जो तेरे विनाशक पाश हैं वे (सर्वे अनृतं वदन्तं छिनन्तु) सब असत्य बोलनेवालोंको बांध दें अथवा छिन्नभिन्न करें । (यः सत्यवादी तं सति सृजन्तु) जो सत्यवादी है उसको छोट दें ॥ ६ ॥

हे (वरुण) ईश्वर ! (शतेन पाशैः पने अभि धेहि) सौ फाँसोंसे इसको बांध ले । हे (नृचक्षसः) मनुष्योंको देखनेवाले ! (अनृतवाक् ते मा मोचि) असत्य बोलनेवाला तेरेसे न छूट जावे । (जाल्मः उदरं श्रंसयित्वा) दुष्ट नीच अपने उदरकी गिराकर, (अग्रन्धः कोश इव) न बंधे कोशके समान (परिकृत्यमानः आस्तां) कटा हुआ पड़ा रहे ॥ ७ ॥

(वरुणः यः समाम्प्यः) वरुण जो समान भाव रखनेवाला और (यः व्याम्प्यः) जो विषम भाव रखनेवाला है । (वरुणः यः सन्देक्ष्यः, यः विदेक्ष्यः) वरुण जो समान देशमें रहनेवाला और जो विशेष देशमें रहनेवाला है, (वरुणः यः दैवः यः च मानुषः) वरुण जो देवोंके संबंधी और जो मनुष्य संबंधी है ॥ ८ ॥

भाषार्थ— यदि कोई क्रकमें करके गुलोकसे भी परे दूर कहीं भाग जावे तो भी वह इन प्रभुके शासनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि इसके दिव्य गुण चर इस जगत्में संचार करते हैं और वे हजारों आँखोंसे इस भूमिका निरीक्षण करते हैं ॥ ४ ॥

जो कुछ इस भूमि और गुलोकके मध्यमें है उस सबका निरीक्षण वह प्रभु स्वयं करता है । यहाँ तक कि मनुष्योंके पलकोंकी क्षणकोंकी भी वह गिनता है, अर्थात् उसकी अज्ञात ऐश कृष्ण भी नहीं दे ॥ ५ ॥

जो असत्य बोलते हैं उनको वह प्रभु अपने हिंसक पाशोंसे बांध देता है और जो सत्यवादी होते हैं उनको मुक्त करता है ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! तू दुष्टको सैकड़ों पाशोंसे बांध देता है, असत्यवादी तेरे पाशोंसे नहीं छूट सकता । जो दूष्ट मनुष्य अपने पेटके लिये दूसरोंकी सत्ताता है, तू उसके पेटका नाश करता हुआ अन्तमें उसका भी नाश करता है ॥ ७ ॥

सबके साथ समान भाव रखनेवाला, सब देशमें समान रीतिसे रहनेवाला एक दिव्य वरुण देव अर्थात् परमेश्वर है इसी प्रकार विषम भाव रखनेवाला और छोटे छोटे स्थानोंमें रहनेवाला एक मानुष वरुण अर्थात् मनुष्योंमें रहनेवाला जीवतमा भी है ॥ ८ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इदृशी । तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदधर ॥८॥

[सूक्त १८]

समं ज्योतिः सूर्येणाह्वा रात्रीं समावर्तती । कुणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥१॥

यो देवाः कृत्वा कृत्वा हरादधिदुषो गृहम् । वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुर्ष पद्यताम् ॥२॥

अमा कृत्वा प्राप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति । अश्मानस्त्वस्यां दुग्धायाम् बहुलाः फट् करिक्रति ॥३॥

सहस्रधामन्विशिखान्विग्रीवां छायाया त्वम् । प्रति स चक्रुर्षे कृत्वा प्रियां प्रियावर्ते हर ॥४॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्वा अदूदुपम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्षा गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥५॥

अर्थ— हे अपामार्ग औषधि । तू (सर्वासां ओषधीनां एकः वशी इत्) सब औषधियोंकी वशमें रखनेवाली एक ही औषधि निश्चयसे है । (तेन ते आस्थितं) उससे तेरे शरीरमें स्थित रोगको हम (मृज्मः) दूर करते हैं । हे रोमी ! (अथ त्वं अगदः चर) अब तू नीरोग होकर चल ॥ ८ ॥

(सूर्येण समं ज्योतिः) सूर्यके समान ज्योति है, और (अह्ना समावर्तती रात्री) दिनके समान रात्री है । सब (कृत्वरीः अरसाः सन्तु) विनाशक बातें रखीं हो जाय । (सत्यं ऊनये कुणोमि) सबको मैं रक्षाके लिये करता हूँ ॥ १ ॥

हे (देवाः) देवो ! (यः कृत्वा कृत्वा अ-विदुषः गृहं हरात्) जिसक प्रयोग करके अश्वानीके घरका हरण करे, (धारुः वत्सः मातरं इव) दुध पीनेवाला बालक अपनी माताके पास जानेके समान, वह जिसक विधि (तं प्रत्यक् उप-पद्यतां) उसके प्रति लौटकर आवे ॥ २ ॥

(यः प्राप्मानं कृत्वा) जो पाप करके (तेन अमा अन्यं जिघांसति) उससे राय दूसरेको मारना चाहे, (तस्यां दुग्धायाम्) उसके जल जानेपर (बहुलाः अश्मानः फट् करिक्रति) बहुत पत्थर फट शब्द करेंगे अर्थात् नाश करेंगे ॥ ३ ॥

हे (सहस्र-धामन्) सहस्र धामवाले ! (रवं विशिखान् विग्रीवान् शायय) तू शिखारहित और शीवारहित करनेवालोंको मुला दे । (प्रियां कृत्वा चक्रुर्षे प्रियावर्ते) प्रिय कृत्वा करनेवालोंको प्रियके पास (प्रति हर स्म) पहुँचा ॥ ४ ॥

(अनया ओषध्या सर्वाः कृत्वा अदूदुपम्) इस औषधिले सब दुष्ट कुलोंका नाश करता हूँ । (यां क्षेत्रे चक्रुः) जो क्षेत्रमें किया हो, (यां गोषु) जो गोशोंमें और (या वा ते पुरुषेषु) जो तेरे पुरुषोंमें किया है ॥ ५ ॥

मावार्थ— अपामार्ग औषधि सब औषधियोंके, ज्ञाने, अर्थमें रखनेवाला औषध है । शरीरके सब रोग उसके दूर होते हैं और मनुष्य उसके सेवनसे नीरोग होकर बिचरता है ॥ ८ ॥

सब विनाशक प्रयत्न असफल हो जाय । सबहीसे सबकी उत्पन्न रक्षा हो सकती है, देखो सूर्यकी सत्य ज्योति आकाशमें चमक रही है, जिससे दिनका प्रकाश फैलाता है । इसी प्रकार सबसे उत्पत्ति होगी ॥ १ ॥

जो घातपातके प्रयोग करके दूसरोंके घरबारका नाश करते हैं, वे प्रयत्न वापस जाकर उन घातक लोगोंका ही नाश करें ॥ २ ॥ जो स्वयं पापकर्म करके उसके दुष्टरोंका भी साथ साथ नाश करना चाहता है, उस प्रयत्नसे उसी पापीका स्वयं नाश होगा, ऐसा तबे हुए पत्थर स्वयं फट जाते हैं ॥ ३ ॥

जो दूसरोंका गला काटने और शिखादि काटनेवाले घातक होते हैं उनका नाश कर और प्रिय कार्य करनेवालोंको उसके प्रेमीके पास सुस्थित पहुँचाओ ॥ ४ ॥

इस औषधिले सब नाशक दुष्ट रोगादि दूर हो जाते हैं । सेतोंमें, गी आदि पशुओंमें और मनुष्योंमें होनेवाले सब दोष इससे दूर होते हैं ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमद्गुरिम् । चकार भद्रमुस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥
 अपामार्गोऽपं मार्तुं क्षेत्रियं शपथश्च यः । अपाहं यातुधानीरपु सर्वा अराध्यः ॥ ७ ॥
 अपमृज्य यातुधानानपु सर्वा अराध्यः । अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदपं मृज्महे ॥ ८ ॥

[सूक्त १९]

उतो अस्पथन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् । उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ॥ १ ॥
 ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्पदेन ।
 सेनैवपि त्विपीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्रामोष्योपधे ॥ २ ॥

अर्थ— (या चकार) जो करता या परन्तु (कर्तुं न शशाक) पूर्ण काटनेके लिये समर्थ न हुआ, परन्तु (पाद अंगुरि शश्रे) पांव, अंगुलि आदि तोष दी है, (अस्मभ्य भद्र चकार) हमारे लिये उसने कहाया किया परन्तु (सः आत्मने तपन) उसने अपने लिये पीडा प्राप्त की है ॥ ६ ॥

(अपामार्ग क्षेत्रिय, यः शपथः च अपमार्तुं) अपामार्ग औषधि क्षेत्रिय रोगको और जो दुर्बलनका स्वभाव है उसको दूर करे । (अहं सर्वाः यातुधानीः अराध्यः अप) और सब पीडा करनेवाली निस्तेजताको दूर करे ॥ ७ ॥

(यातुधानान् अपमृज्य) यातना देनेवालोंको दूर करके तथा (सर्वाः अराध्यः अप) सब निस्तेजताओंको दूर करके है (अपामार्गं) अपामार्ग औषधि । (त्वया वयं तत् सर्वं अप मृज्महे) तैरे योगये हम सब कुछ दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(उतो अस्पथन्धुकृत् असि) यदि तू शत्रु बनानेवाला है या (उतो नु जामिकृत् असि) शत्रु बनानेवाला है, तू (उतो कृत्याकृतः प्रजा) इसका कर्म करनेवालोंको संतानोंको (वार्षिकं नडं इय आछिधि) वर्षा में उत्पन्न होनेवाले पाषके समान दूर कर ॥ १ ॥

-(नार-सदेन कण्वेन ब्राह्मणेन) नरोंकी परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् ब्राह्मणे (परि उक्ता असि) ऐसा वर्णन किया है । हे (औषधे) औषधि । तू (त्विपीमती सेना इय पयि) तेजस्वी सेनाके समान रोगरूप शत्रुपर हमला करती है, (यत्र प्रामोषि) जहाँ तू प्राप्त होती है (तत्र भयं न अस्ति) वहाँ भय नहीं रहता है ॥ २ ॥

भाषार्थ— जो दुष्टोंका सर्वस्व नाश करना चाहता है, परन्तु कर नहीं सकता, इसलिये कुछ अवयवका ही नाश करता है, या अश्वघी हानी करता है, उसने तो अपनी ही हानी की है । हमारा तो कल्याण ही उससे हुआ है ॥ ६ ॥

अपामार्ग औषधिसे मातापितासे प्राप्त हुए क्षेत्रियरोग, चिकित्सापान, जिसमें रोगी चिन्मत्ता है वे रोग, यातना त्रिषमं बहुत होती है, तेजहीन शरीर होता है, वे सब दोष दूर होते हैं ॥ ७ ॥

यातना बढानेवाले और तेज घटानेवाले दोष अश्वामार्ग औषधिक प्रयोगसे हम दूर करते हैं ॥ ८ ॥

तू स्वयं शत्रु बनानेवाला हो या मित्र बढानेवाला हो, परन्तु अपने समाजसे पातक कर्म करनेवालोंको सखरिबार दूर कर ॥ १ ॥

वही परिषदोंमें बैठनेवाले विद्वान् पण्डितोंका मत है कि यह औषधी रोगोंका पूर्ण नाश करती है, और जहाँ जानी है वहाँ रोगका भय दोष नहीं रहता ॥ २ ॥

अग्रमेव्योपधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत ज्ञातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥३॥
 यदुदो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वन् । तत्स्त्वय्योपधेऽपामार्गो अजायथाः ॥४॥
 विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता । प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥५॥
 असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्ब्रह्मचः । तद्वै ततो विधुपायत्प्रत्यकर्तारमृच्छतु ॥६॥
 प्रत्यङ् हि संवभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् । सर्वांन्मच्छपथौ अधि वरीयो यावया वधम् ॥७॥
 शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा । इन्द्रस्ते वीरुधा पत उग्र ओज्मानमा दधत् ॥८॥

अर्थ— (ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित करती हुई (ओपधीनां अग्रं एषि) ओषधियोंके आगे आगे तू जाती है। (उत पाकस्य ज्ञाता असि) और परिवक्ता रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोगबीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) वह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (असुरान् निरकुर्वन्) असुरोंको हटाया था, हे (ओपधे) ओषधि ! (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक ओषधि रूपमें प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

तू (शतशाखा विभिन्दती) सैकड़ों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है। (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है। (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यङ् विभिन्धि) तू उसे हटप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत् भूम्याः समभवत्) असत्यरूप दुष्टता भूमिसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः धाँ पति) वह बड़ा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है। (ततः तत् वै कर्तारं विधुपायत्) वहपि वह निश्चयपूर्वक कर्ताको ही श्रेष्ठ करता हुआ (प्रत्यङ् मृच्छतु) उसको वापस पहुँचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यङ् प्रतीचीनफलः संवभूविथ) तू ही प्रत्यक्ष उलटे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (भूत् सर्वांन् शपयान्) मुझसे सब घुरे वचनोंकी और (वरियः वधं अवि यावया) ऊपर उठनेवाले शत्रुको दूर कर ॥ ७ ॥

(शतेन मा परि पाहि) औ उपायोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभि रक्ष) हजारों यन्त्रोंसे मेरा संरक्षण कर। हे (वीरुधा पते) ओषधियोंके स्वामी ! (उग्र इन्द्रः ते ओज्मानं आ दधात्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अन्दर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

जिस बलसे देवोंने असुरोंको हटाया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है। इसलिये जो रोग हमारा नाश करते हैं उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर थोड़ा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्र ही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताकी भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें दोषोंको उलटा करनेका गुण है इसलिये दुर्मायण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्योंकि इसमें इन्द्रका तेज मरा है ॥ ८ ॥

अपामार्ग औषधि।

हिंदी भाषामें 'छटजीरा, चिराचिरा' ये नाम त्रिषेक हैं उसको संस्कृतमें 'अपामार्ग' औषधि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं, धन, कृष्ण और लाल ये अपामार्गके तीन भेद हैं। ये तीनोंके गुण समान ही हैं त्रिनका वज्रैव वैद्यक प्रयोगमें इस प्रकार किया है—

तिकोष्णः कटुः कफघ्नः अर्शःकण्ठदुःखराम्रो रक्तघ्नः प्राद्वी घान्तिरुत् । (राजनि. व. ४)
(सन्निपातज्वरचिकित्सायां) पृश्निपर्णी स्वपा-
मार्गः । चक्रपाणिदत्तद्रव्यगुणः ।

बीषनः तिक्तः कटुः पाचको रोचनः छर्दिक-
फमेदोवातघ्नः हृद्रोगाध्मानार्शः कण्ठ्यादिकं
हन्ति । (भावप्र ५ भा. १)

तत्पत्रं रक्तपित्तघ्नं । (मर. व. १)

श्वेतव्यापामार्गकस्तु तिकोष्णो प्राद्वकः सरः ।
किञ्चित्कटुः काशिकरः पाचकोऽग्निदीपकः ।
नस्ये घान्तो मृदास्तः स्यात्कफकण्डूदरापहः ।
दुर्निमानं रक्तयुजं मेदोदुबुद्धे तथा । वात-
सिन्धमापघ्नीदृष्ट्यान्त्यामानो यित्तशकः । रक्ता-
पामार्गकः किञ्चित्कटुकः क्षीतलः स्मृतः
मन्यावष्टम्भममिष्टद्वान्विष्टम्भकारकः । रुद्धो
मणं विषं यातं कफः कण्ठं च नाशयेत् । योज-
नस्य रसे पाके दुर्जरं स्याद् दुक्षीतलं । मला-
पष्टम्भकं रुद्धं घान्तिकृत्कफपित्तजित् । तोया
पामार्गकश्चोक्तः कटुः द्रोघकफावहः । कास्तं
यातश्च श्लेष्मं च नाशयेदिति च स्तुतः ।

(वै. वि. नि.)

नाशक है। प्रग, विष, वात, कफ, सूजली, आदिको दूर करता है ।

यह अपामार्गका वैद्यक प्रयोगका वर्णन देखाकर हम इन सूक्तोंमें कहे वर्णनका विचार करेंगे। सूक्त १७-१९ इन तीनों सूक्तोंमें इसी 'अपामार्ग' वनस्पतिका वर्णन है, इन तीनों सूक्तोंका ओ एक ही 'शुक्र' ऋषि है।

शुष्का और तृष्णा मारक।

सू. १७, म. ६-७ में 'शुष्काय मरिचका रोग' अर्थात् जिसमें भूख अधिक लगती है, जितना खाया जाय उतना मल हो जाता है इस कारण जिसको मलरोग कहते हैं, तथा 'तृष्णाका रोग' जिसमें व्याघ्र बहुत लगता है, इन रोगोंको अपामार्ग औषधि दूर करती है ऐसा कहा है। यही बात ऊपर लिखे पद्यनमें कही है—

योजनस्य रसे पाके दुर्जरं स्याद् दुक्षीतलम् ।

'अपामार्गका बाँझ पचनेके लिये कठिन है, खादु और क्षीतल है।' पचन कठिनतासे होता है इसलिये यह मलरोगके लिये अच्छा है और क्षीतल होनेसे तृष्णारोगको घटान करता है। इस प्रकार वैद्यशास्त्रका वर्णन योजनसे वर्णनके साथ पद्यनसे मंत्रका आशय स्वयं स्पष्ट हो जाता है।

यवासीर।

सू. १७, म. ५ में 'दुर्गाम्नी' शब्द आगवा है। वैद्यक ग्रंथमें 'दुर्गाम्नी' शब्द आगवा है। यह बगारोका वाचक है। वेदमें जहाँ औषधि प्रकरणमें 'दुर्गाम्नी' शब्द आया है वहाँ प्रायः बगारोका संबंध रहता है। कई लोग 'दुष्ट' बानी, आदि मित्र अर्थ करते हैं। परंतु वह ठीक नहीं है। वेदमें यह 'दुर्गाम्नी' नाम बगारोके लिये आया है। 'दुर्गाम्नी, दुर्गाम्नी, दुर्गाम्नी' ये छंद बगारोके विशेष भेदोंका वाचक हैं।

अग्रपेण्योपधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥३॥
 यदुदो देवा असुरांस्त्वयात्रै निरकुर्वन् । तत्स्त्वध्वोपधेऽपामार्गो अजायथाः ॥४॥
 विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता । प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्मौ अभिदांसति ॥५॥
 असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्बचः । तद्वै ततो विधुपायत्प्रत्यक्तीरमृच्छतु ॥६॥
 प्रत्यह् हि संवभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् । सर्वान्मच्छपथौ अधि वरीयो यावया वधम् ॥७॥
 शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा । इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानुमा दधत् ॥८॥

अर्थ— (ज्योतिषा इव अभिदीपयन्) तेजसे प्रकाशित करती हुई (ओपधीनां अग्र एषि) ओषधियोंके आगे आगे तू जाती है । (उत पाकस्य त्राता असि) और परिपक्वका रक्षक और (रक्षसः हन्ता असि) रोगबीजोंकी नाशक तू है ॥ ३ ॥

(अदः यत् अग्रे त्वया देवाः) यह जो पहिले तेरे साथ रहनेसे देवोंने (असुरान् निरकुर्वन्) अशुरोंको हराया था, हे (ओपधे) ओषधि । (ततः त्वं अपामार्गः अजायथाः) उससे तू अपामार्ग नामक ओषधि रूपमें प्रकट हुई है ॥ ४ ॥

तू (शतशाखा विभिन्दती) सैकड़ों शाखावाली होकर रोगोंका भेदन करती है । (विभिन्दन् नाम ते पिता) विभेदन करनेवाला तेरा पिता है । (यः अस्मान् अभिदांसति) जो हमारा नाश करता है (त्वं तं प्रत्यक् विभिन्धि) तू उसे हरप्रकारसे नष्ट कर ॥ ५ ॥

(असत् भूम्याः समभवत्) असत्यरूप दुष्टता भूमिसे उत्पन्न हुई तो भी वह (तत् महत् व्यचः धां पति) वह वर्षा विस्तृत होकर आकाशतक फैलता है । (ततः तत् वै कर्तारं विधुपायत्) वहासे वह निश्चयपूर्वक कर्ताकी ही संतप्त करता हुआ (प्रत्यक् मृच्छतु) उसीको वापस पहुँचता है ॥ ६ ॥

(त्वं हि प्रत्यह् प्रतीचीनफलः संवभूविथ) तू ही प्रत्यह् उल्टे फल करनेवाला उत्पन्न हुआ है, इसलिये (मत् सर्धान् शपयान्) मुझसे सब घुरे बचनोंको और (वरियः घघं अवि यावय) ऊपर उठनेवाले बाहोंको दूर कर ॥ ७ ॥

(शतेन मा परि पाहि) सौ उपार्श्वोंसे मेरी रक्षा कर और (सहस्रेण मा अभि रक्ष) हजारों यन्त्रोंसे मेरा संरक्षण कर । हे (वीरुधां पते) औषधियोंके स्वामी । (उग्रः इन्द्रः ते ओज्मानं आ दधात्) उग्र वीर इन्द्र तेरे अन्दर पराक्रमकी शक्ति धारण करे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— यह तेजस्वी औषधी वनस्पतियोंमें मुख्य है, यह शुभ गुणोंकी रक्षक और रोगबीजोंकी नाशक है ॥ ३ ॥

जिस बलसे देवोंने अशुरोंको हराया था, उस बलको लेकर यह अपामार्ग औषधि उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

यह औषधि अनेक प्रकारसे रोगोंको दूर करती है तथा इस औषधिको जो अपने पास रखता है वह भी रोगोंको दूर कर सकता है । इसलिये जो रोग हमारा नाश करते हैं उनको इस औषधिसे दूर किया जावे ॥ ५ ॥

भूमिपर घोडा भी असत्य उत्पन्न हुआ तथापि वह शीघ्र ही सर्वत्र फैलता है और वापस आकर कर्ताका भी नाश करता है ॥ ६ ॥

इस औषधिमें बीजोंको उलटा करनेका गुण है इसलिये दुर्माण और जो भी विनाशक दोष हों उनको इससे दूर किया जावे ॥ ७ ॥

सौ और हजारों रीतियोंसे यह वनस्पति रक्षा करती है क्योंकि इसमें इन्द्रका तेज भरा है ॥ ८ ॥

३ रक्षः— विविध प्रकारके हमीदोष होना,

४ अ-यय— शरीरकी वृद्धि न होना, परंतु शरीरकी कृशता बढना, क्षीणता उत्पन्न करनेवाले रोग,

५ अ-राद्यः— राय अर्थात् तेज, शोभा, कम्ति जो स्वस्थ शरीर पर होता है, वह न होना, फीका रंग होना।

ये पञ्चम मंत्रके रोगवाचक शब्द वैद्यक प्रयोगके पूर्वोक्त वर्णनके साथ पढ़नेसे इनका आशय खुल जाता है। ये सब अयचनके रोग हैं और श्वेत अपामार्ग अग्नि प्रदीप्त करनेवाला होनेके कारण इन रोगोंका नाशक मिथ्यसे हो सकता है।

सारक।

सूक्त १७ के द्वितीय मंत्रमें 'सरा' पद है, और उक्त वैद्यक ग्रंथमें 'सरा' पद है। दोनोवा आशय 'शरक, रेचक' अर्थात् शोच श्रुद्धि करनेवाला है। शोच श्रुद्धि होनेसे भूष बढना, अग्निदीपन होना स्वभाविक है। आगे तृतीय मंत्रमें 'रसस्य हरणं' पद है। रसका हरण होनेसे ही शोष होता है और प्यास बढती है। 'सृष्णामार' रोग इसी कारण होता है। इस रोगकी यह दवा है। शरीरके रसका हरण जिस रोगमें होता है उस रोगका शमन इस अपामार्ग औषधिसे होता है। इस सूक्तके द्वितीय और तृतीय मंत्रमें 'शपथ' शब्द बार बार आगया है। शपथका अर्थ है दुर्मापण, जिस समय मनुष्यका स्वभाव चिडचिडा होता है उस समय मनुष्यकी प्रकृति दुर्मापण करनेकी ओर हो जाती है। चिडचिडा स्वभाव पेटके कारण होता है। यह दोष इस अपामार्ग औषधिके सेवनसे दूर हो जाता है। क्योंकि इससे अपचन दोष दूर होता है, पेट ठीक होता है और पेटके ठीक होनेसे चिडचिडा स्वभाव दूर होता है और दुर्मापण करनेकी प्रकृति भी दूर जाती है।

१७ वें सूक्तका शेष वर्णन अपामार्गिका प्रयोग परक है; इसलिये उक्तके विषयमें अधिक लिखना आवश्यक नहीं है।

सूक्त १८ वें मंत्र में २ से ६ तक कुछ ऐसे घातक कृत्यका वर्णन है जो दूसरेके घातके लिये दुष्ट मनुष्य किया करते हैं। क्षेत्रमें, गौओंके नाशके लिये और मनुष्योंके नाशके लिये करते हैं। इस अंतमें हमने देखा है कि अग्न्यश्रमसे एक जाती जो मृत गौका मांस खाती है, वह प्रायः ऐसे प्रयोग करती है। क्षेत्रमें जहाँ गौवे घास खानेके लिये जाती हैं, वहाँके घासमें कुछ विष रखा जाता है। घास खानेसे यह विष गौआदि पशुओंके पेटमें जाता है और वह पशु पण्डा आदि पशुओंमें मर जाता है। पशु मरनेके पश्चात् वे ही अग्न्यक्ष लोच उसकी ले जाते हैं

और खाते हैं। येतमें गौओंके संबंधमें ये लोग घातक प्रयोग किया करते हैं और बड़े प्रयत्न करनेपर भी इनसे गौओंका बचाव करनेका उपाय, अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है।

इस उपायके विषयमें सू १८ के सप्तम मंत्रमें वेदने कहा है कि अपामार्ग औषधिसे उपयोगसे पूर्वोक्त विष दूर होता है और पशु बच सकता है। वैद्यक ग्रंथमें वेचनमें अपामार्गिका गुण विषनाशक लिखा है। इस गुणके कारण ही पूर्वोक्त घातक प्रयोगमें इस औषधिके प्रयोग होता है। इस सूक्तके अन्त्य शपथ-वादिके विषयमें पूर्व सूक्तके प्रसंगमें लिखा जा चुका है, वही यहाँ समझना चाहिये।

यहाँ इस सूक्तमें एक दो बातें सामान्य उपदेशके विषयमें बड़ी महत्त्वकी कही हैं जो हरएक पाठकके अवश्य ध्यानमें धारण करनी चाहिये।

सत्यसे रक्षा।

ऊतये सत्यं कृणोमि।

(सू १८, म. १)

'रक्षाके लिये सत्यको किया है' अर्थात् यदि रक्षा करनेकी इच्छा है तो सत्य पालन करना चाहिये। सत्य ही सबकी रक्षा होना सम्भव है। दूसरेका घातपात करनेवाले इस बातका स्मरण रखें कि, इस घातक कृत्योंसे उनकी उन्नति कभी नहीं हो सकती। सत्य पालन यह एक मात्र उपाय है जिससे उनकी उन्नति और रक्षा हो सकती है। सत्य प्रत्यक्ष सूर्यके समान है, प्रकाशपूर्ण होनेसे दिन भी सत्यरूप हो है, इनके जिस प्रकार अन्धकारका नाश होता है उसी प्रकार सत्यसे असत्यको दूर किया जाता है।

दूसरेके घातके यत्नसे अपना नाश।

द्वितीय मंत्रमें यह बात अधिक स्पष्ट कर दी है कि 'जो इस प्रकारके दुष्ट कृत्य करके दूसरोंको ब्रह्म देना चाहते हैं उनका ही नाश अन्तमें हो जाता है। जिस प्रकार बालक माताके पास जाता है उसी प्रकार उनका यह घातक यथा उनके ही पास जाता है।' (सू. १८।२) यह बोध स्मरण रखने योग्य है। यह मंत्रमें यही बात दुहराई है 'दुष्ट मनुष्यने जिनका पुरा करनेका यत्न किया उनका तो कल्याण हुआ, परन्तु उसी घातकको ब्रह्म हुआ।' (सू. १८।५) ऐसा ही हुआ करता है। इसलिये घातपातके भाव अच्छे नहीं हैं, क्योंकि अन्तमें उनसे उन दुष्टोंका ही नाश हो जाता है। इस प्रकार १८ वे सूक्तका विचार हुआ। अब १९ वें सूक्तका विचार करते हैं—

असत्यसे नाश ।

असद्भूषाः सममयत्तद्यामेति महद्ययः ।

तदै ततो विधूपायस्प्रत्यक्षतोरमृच्छतु ॥

(सू १२, म. ६)

इस सूक्त में छठे मंत्रमें असत्यसे कर्नाश ही वैसा नाश होता है यह बात विस्तारपूर्वक कही है । पृथ्वीपर योद्धा भी असत्य किया तो वह चारों ओर फैता है, और वह कर्ता ही कष्ट देता हुआ उसीका नाश करता है । (म ६) इसत्रिये कभी असमर्थसे जाना नहीं चाहिये । जगत्में सुख और शान्ति फैल-

नेका यह एक ही मार्ग है कि प्रत्येक मनुष्यको सिखाया जावे कि वह कभी असत्यमें प्रवृत्त न हो और सत्यपालनमें ही दम-चित्त हो जावे ।

द्वितीयमंत्रमें अपामार्गका वर्णन करते हुए कहा है कि 'अहाँ यह औषधि पहुँचेगी वहाँ कोई मय नहीं रहेगा ' इतना इस अपामार्ग औषधापका महत्त्व है । तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें भी इसी औषधिही प्रशंसा कही है । और देश मंत्रोंमें काश्यप्य वर्णन द्वारा इसी अपामार्ग वनस्पतिका गुणवर्णन किया है ।

वेदोंको इन तीनों सूक्तोंका अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि यह उनका ही विषय है ।

दिव्य दृष्टि ।

[सूक्त २०]

(ऋषि — मातृनामा । देवता — मातृनामा ।)

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति । दिवंमुन्तरिक्षमाद्भुमि सन् तदैनि पश्यति ॥१॥

तिस्रो दिवंस्तिष्ठः पृथिवीः पद् चेमाः प्रदिशः पृथक् । त्वयाहं सर्वो भूतानि पश्यानि देव्योपधे ॥२॥

दिव्यस्य सुवर्णस्य तस्य हासि कनीनिका । सा भूमिमा रुरोहिध वर्षं श्रान्ता वृष्टीव ॥३॥

अर्थ—दे (देवि) दिव्य दृष्टिदेवी । तू (तत् मा पश्यति) यह सब प्रत्यक्ष देखती है, (प्रति पश्यति) प्रत्येक पदार्थ। देखती है, (परा पश्यति) दूर देखती है, (पश्यति) और देखती है (दिव्य अन्तरिक्ष आत् भूमि) सुलोह, अन्तरिक्षको और भूमिसे अपार (सर्व पश्यति) यह सब देखती है ॥ १ ॥

दे देवि आर्यो । (तिष्ठः दिव्य तिष्ठः पृथिवीः) तीनों सुलोह और तीनों पृथिवीलोह (इमाः च पृथक् पद् प्रदिशः) और ये पृथक् छ पदिशाएँ और (सर्वो भूतानि) सब भूत इन सबके (अहं रजया पश्यामि) मैं तेरे सामर्थ्यसे देखता हूँ ॥ २ ॥

(तस्य दिव्यस्य सुवर्णस्य) उग्र शिखर सर्वधे (कनीनिका ह आसि) छटा प्रतिमा तू है । (मा) यह तू (भूमि मा रुरोहिध) भूमिपर भारी है (आग्ना यधूः पश्य रज) पानी हुई वर्षा शिखर प्रहर रजरा गठी है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—ह दिव्य दृष्टि । तेरी कृपासे ही सब ओर देखा जाता है, और मिलीकटके अनर्गतके सब पदार्थका इन प्रत्यक्ष किया जाता है ॥ १ ॥

इस औषधिसे प्रयोगसे राष्ट्र उत्तम होनी है और शिखर मिले, सब दिशाएँ और सब भूत अरिहा ज्ञान प्राप्त किया जाता है ॥ २ ॥

सर्वेकी ही छोटोकी प्रतिमा वहाँ हमारा अंग है । शिखर पशर कुलवधू पचकर रजमें बैठ जाती है, उग्र प्रहर यह अन-करी कुलवधू पचकर रज वहीरजो रजमें अचर बैठ गई है ॥ ३ ॥

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् । तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥४॥
 आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमपं गूहयाः । अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥५॥
 • दर्शय मा यातुधानोन्दर्शय यातुधान्यः । पिशाचान्सर्वान्दर्शयेति त्वा रमे ओपधे ॥६॥
 • कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरङ्गाः । धीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥७॥
 • उदग्रमं परिपाणायातुधानं किमीदिनम् । तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥८॥
 • यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यथातिसर्पति । भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥९॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (सहस्राक्षः देवः तां मे दक्षिणे हस्ते आ दधत्) सहस्र नेत्रवाले सूर्यदेवने उग्र दृष्टिको भरे दक्षिण हाथमें रखा है । (तया अहं सर्वं पश्यामि) उससे मैं सब देखता हूँ (यः च शूद्रः उत आर्यः) जो शूद्र है और जो आर्य है ॥ ४ ॥

(रूपाणि आविष्कृणुष्व) स्वर्गोंको प्रकटकर (आत्मानं मा अप गूहयाः) अपनेको मत छिपा रख । (अथो) और हे (सहस्र-चक्षो) हजार नेत्रवाले देव । (त्वं किमीदिनः प्रति पश्याः) तू अब क्या भोगू ऐसा कहनेवालोंको देख ॥ ५ ॥

(मा यातुधानं दर्शय) मुझको यातना देनेवालोंको दिखा । (यातुधान्यः दर्शय) पीढक वृत्तियोंको दिखा । हे ओपधे । तू (सर्वान् पिशाचान् दर्शय) सब रक्त पीनेवालोंको दिखा, (इति त्वा आ रमे) इसलिये तेरी घृणावता लेता हूँ ॥ ६ ॥

(कश्यपस्य चक्षुः असि) तू दृष्टाकी आँख है, (चतुरङ्गाः शुन्याः च) चार आँखवाली शुनीकी भी तू आँख है (धीध्रे सर्पन्तं सूर्यं इव) आकाशमें चलनेवाले सूर्यके समान (पिशाचं मा तिरस्करः) कृपित पीनेवालोंको मन छिपाने दे ॥ ७ ॥

(किमीदिनं यातुधानं) आज क्या भोग करूँ ऐसा कहनेवाले यातना देनेवाले दुष्टको (परि-पाणात् उदग्रमं) रक्षासे मने पकड़ा है । (तेन) उससे (अहं सर्वं पश्यामि) मैं सब देखता हूँ (उत शूद्रं उत आर्यं) कौन शूद्र है और कौन आर्य है ॥ ८ ॥

(यः अन्तरिक्षेण पतति) जो अन्तरिक्षसे चलता है (यः च दिवं यथातिसर्पति) और जो शुलोकको भी लोचता है (तं पिशाचं प्रदर्शय) उस रूषिमें भी जानेवालोंको दिखा दे ॥ ९ ॥

भाषार्थ— सूर्य देवने यह दर्शनशक्ति मुझे दी है जिससे मैं सब देखता हूँ और यह भी जानता हूँ कि कौन धेष्ट है और कौन दुष्ट है ॥ ४ ॥

दिश्य दृष्टिसे सब रूपोंका प्रकाश हो जावे, कोई इससे छिपकर न रहे, कौन दुष्ट अपने स्वार्थ भोगके लिये दूसरोंको कष्ट देता है यह भी इससे ज्ञात होवे ॥ ५ ॥

कौन कष्ट देनेवाले हैं, उनको घृणाकाए कौन हैं, दूसरोंका रक्त पीनेवाले कौन हैं, यह सब इसे ज्ञात हो जावे ॥ ६ ॥

सब दृष्टा आत्मा है, यह आँखले देखता है वही चार विभागोंमें कार्य करनेवाली बुद्धिका भी आँख है ॥ ७ ॥

मैंने अपना रक्षाका प्रबंध ऐसा किया है कि कौन स्वार्थी भोगतृष्णाके लिये दूसरोंको कष्ट देते हैं इसका पता लग जावे । इससे मैं धेष्ट और दुष्टको यथावत् जानता हूँ ॥ ८ ॥

अन्तमें जो अन्तरिक्षमें चलता है, शुलोकका भी लोचन करता है और भूमिका भी जो नाथ है उसका दर्शन इसी दृष्टिसे हो जावे ॥ ९ ॥

मातृनाम्नी औपधि ।

संस्कृतमें 'माता' नामवाली औपधियाँ अनेक हैं उनमें 'आखुकर्णी, महाधावणिका और घृतकुमारी' ये तीन दृष्टिदोषका निवारण करनेवाली प्रसिद्ध हैं—

संस्कृत नाम

- १ आखुकर्णी
- २ महाधावणिका
- ३ घृतकुमारी

भाषामें नाम

- भोपली (वै० निध०) चक्षुष्या
— (रा० नि० व० ५) लोचनी
थिरुक्कमारी (भा०) नेत्र्या

गुण

- (नेत्रका बल बढ़ानेवाली)
(नेत्र बलवर्धक)
(नेत्र बलवर्धक)

'माता' इन तीनोंका नाम है और ये तीनों औपधियों नेत्रके लिये हितकारक हैं । यहाँ इस सूक्तमें इनमेंसे कौनसी अपेक्षित है, इसका निश्चय करना ध्वनि वैयर्थ्या ही कार्य है । इस औपधिके प्रयोगसे नेत्रका बल बढ़ाकर अति बृद्ध अवस्था तक नेत्र उत्तम कार्य करने योग्य अवस्थामें रखना अनुष्ठानी मनुष्यके लिये समर्थ है । यहाँ 'माता और मातृनाम्नी' दोनोंका एक ही आशय है ।

पहले दो मंत्रोंमें इस 'माता' औपधिका तथा 'दर्शन-शक्ति' का वर्णन है । दृष्टिसे सब कुछ देखा जाता है और इस औपधीसे दृष्टि बलवती हो जाती है, इसलिये इस औप-धिकी कृपासे, मानो, हरएक मनुष्य सब कुछ देख सकता है ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि हमारी दृष्टि सूर्यकी पुत्री है, वह हमारे आत्माके साथ ब्याही है । वह यहाँ अपने पतिके घर— इस जीवात्माके शरीररूपी घर—में आ गई है । यहाँ आकर सुषालका बहुत कार्य करनेसे थक गई है और थक जानेके कारण उसने विधाम किया है अर्थात् बृद्धावस्थामें दृष्टि मन्द होगई है, इस समय इस 'माता' औपधिके प्रयोगसे वह थकी हुई दृष्टि पुनः पुनर्वत् तक्षणी जैसी हो सकती है ।

चतुर्थ मंत्रका कथन है कि सहस्राक्ष सूर्य देवने यह दृष्टि हमें दी है; जिससे सब कुछ देखा जाता है । यहाँ स्थूल पदार्थोंके दर्शनसे भी और अधिक देखनेका वर्णन है जैसा 'आर्य और शूद्र' स्वका ज्ञान भी प्राप्त करना । कौन मनुष्य श्रेष्ठ है और कौन दुष्ट है, इसका भी विचार उसका वाग्द आचार देखनेसे विदित हो जाता है यह तात्पर्य यहाँ है । वेदने यहाँ स्थूल देखते हुए सूक्ष्मता ज्ञान प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है । पंचम और षष्ठ मंत्रका भी यही आशय है । षष्ठ मंत्रका कथन है कि 'यह दृष्टि वस्तुतः आत्माका ही चक्षु है ।' अर्थात् इस

शरीरमें 'द्रष्टा' अपना जीवात्मा है । वही इस आँखकी खिडकीसे बाहरके पदार्थ देखता है । इसलिये सच्चा चक्षु तो उसके पास है और यह हमारा नेत्र केवल खिडकी जैसा है । इसलिये इस मंत्रमें कहा है कि आत्माका अंतर्गामीका आँख ही सच्चा आँख है, जो छलना चाहिये । जीवात्माका नाम 'कश्यप' अथवा 'पश्यक' है ।

क्योंकि वही देखनेवाला है । उसके पास एक चार आँख-वाली शुनी अर्थात् कुत्ता है, जो इस शरीररूपी अस्थानमें रहकर कार्य करता है, यह चार आँखवाली कुत्ता हमारी बुद्धि है और वह स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इन चार भूमिकाओंमें अपने चार आँखोंसे देखती है । इन प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें देखनेका उनका आँख भिन्न भिन्न है । यह वहाँका यथार्थ ज्ञान देती है और वहाँ पातक शत्रु घुसने लगा तो उसको हटा देती है, और इन क्षेत्रोंकी सुरक्षित रखती है । अब तक यह चार आँखवाली कुत्ता आगती है तब तक यहाँ सूर्यके प्रकाशके समान तेजस्वी प्रकाश होता है, जिस प्रकाशमें जीवात्मा अपने पातक वैशियोंको अलग करता हुआ अपने मार्गसे आगे बढ़ता है । यहाँ इस सप्तम मंत्रने दृष्टिके चार क्षेत्र बतलिये हैं और सूचित किया है कि केवल इस स्थूल आँखको द्वारा हमसे कार्य नहीं चल सकता, प्राप्त इन चार विभिन्न आँखोंकी खोलनेका यत्न होना चाहिये और वहाँकी अवस्था देखनेकी शक्ति लानी चाहिये । स्थूल दर्शन शक्ति की अपेक्षा यहाँकी दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है जो सूक्ष्म पातकों देखती है ।

अष्टम मंत्रमें उपदेश दिया है कि पूर्वोक्त चार कार्य क्षेत्रोंमें (परि-पाणं) सुरक्षाका ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि वहाँ पातक दुष्ट कोई आगये तो उनको पकड़कर एकदम दूर करना चाहिये । कभी पातक दुष्ट माववालेकी अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदिमें घुसने देना नहीं चाहिये । जो मनुष्य अपने संपूर्ण

कार्यक्षेत्रोंमें इस प्रकारका सुरक्षाका प्रबंध करता है वह उन्नत होता है, अन्य गिर जाते हैं ।

अन्तिम मंत्रमें कहा है कि ' जो प्रत्येक पदार्थके अन्दर विचरता है, जो शुलोकके भी परे है और जो इस भूमिका एक मात्र स्वामी है उसको देख । ' इसको देखना यह अन्तिम देखना है । इस परमात्माका दर्शन करना यह अन्तिम वस्तुका दर्शन करना है । इसका नाम ' विशाच ' कहा है ' पिशित+अञ्च् ' अर्थात् रक्तके प्रत्येक कण कणमें जो पहुंचा है, प्रत्येक पदार्थमें हर एक कणमें जो फैला है उसको देखना चाहिये । जिस समय उसका दर्शन होता है उस समय मनुष्यकी अन्तिम आँख खुल जाती है और यह मनुष्य दिव्य पुरुष हो जाता है ।

उस परमात्माका प्रत्यक्ष करना मनुष्य मात्रका कर्तव्य है । यह अनुष्ठान करना चाहिये, जिस समय अन्दरको ' पवित्रता ' होगी उसी समय उसके दर्शन होंगे ।

वेदने यहाँ स्थूल पदार्थको दिखाते दिखाते, सूक्ष्म पदार्थोंकी तथा सूक्ष्मतम परमात्माको भी दर्शानेका किम्वदुक्तिप्रयत्न किया है यह पाठक अवश्य देखे । स्थूल नेत्र इन्द्रियका बल बढ़ानेवाली ' माता ' नामक औषधि आन्तरिक आँखोंकी शक्ति बढ़ानेवाली भी ' औषधि ' ही है, परंतु यहाँ ' ओष+धी ' (ओष+धी) दोनोंको घोंघर अन्तःशुद्धि करना औषधिक। सांकेतिक तात्पर्य है । इस प्रकार अर्थके श्रेष्ठ मनन करके पाठक इस सूक्तका उपदेश जानें ।

॥ यदा चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥



गौ ।

[सूक्त २१]

(ऋषि — प्रह्ला । देवता — गाव ।)

आ गावो अगमन्तु भद्रमक्रन्तसीदन्तु गोष्ठे रणयन्तस्मे ।

प्रजावतीः पुरुरूपो इह स्युरिन्द्राय पूर्वोरूपसो दुहानाः ॥ १ ॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेददाति न स्वं मुपायति ।

भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने सिल्ये नि दधानि देव्युम् ॥ २ ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यधिरा दधर्पति ।

देवांश्च यामिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सहः ॥ ३ ॥

अर्थ— (गाव आ अगमन्) गौवं आगई हैं और (उत भद्र अक्रन्) उहोने कस्याण किया है । (गोष्ठे सीदन्तु) वे गोशालामें बैठे और (अस्मे रणयन्) हमें सुख दें । (इह प्रजावतीः पुरुरूपा स्युः) यहाँ उत्तम बचोंके पुक्त बहुत रूपवाली हो आय । (इन्द्राय उपस पूर्वोः दुहानाः) और परमेश्वरक यज्ञके लिये उप दालके पूर्व दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

(इन्द्रः यज्वने गृणते च शिक्षते) ईश्वर यज्ञकर्ता और सद्गुणदेवता काको सब ज्ञान देता है । वह (इत् उप ददाति) निश्चयपूर्वक धनादि देता है (स्व न मुपायति) और अदनेका नहीं छिपाता । (अस्य रयिं भूयः भूयः इत् वर्धयत्) इसके धनको अधिकअधिक बढ़ाता है और (देव्यु अभिन्ने सिल्ये नि दधाति) देवता प्रप्त करनेका इच्छा करनेवालाको अपनेसे भिन्न नहीं ऐसे स्थिर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

(तां न नशन्ति) वह यज्ञकी गौवें नष्ट नहीं होती, (तस्करः न दभाति) चार उनको दबाता नहीं, (आसां व्यधि आ दधर्पति) इनको ब्यथा करनेवाला शत्रु इनपर अपना अधिकार नहीं चलाता, (यामिः देवान् यजन्ते) जिनके देवोंका यज्ञ किया जाता है और (ददाति च) दान दिया जाता है (गोपतिः तामि सह ज्योक् इत् सचते) गोपालक उनके साथ बिरकालतक रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— गौवें हमारे घरमें आगई हैं और उहोंने हमारा कस्याण किया है । वह गौवें इस गोशालामें बैठे और हमारा आनंद बढ़ावें । वह गौवें यहाँ बहुत बचोंके पुक्त और अनेक रगरूपवाली होकर ईश्वरके यज्ञके लिये प्रातःकाल दूध देनेवाली होवें ॥ १ ॥

ईश्वर सर्वम कर्ता और सद्गुणदेवता दाताको उत्तम ज्ञान देता है और धनादि भी देता है तथा उसके सामुख अपने आपको प्रकट करता है । वह ईश्वर इस उपायके धनकी वृद्धि करता है और देवत्वकी इच्छा करनेवाले भक्तको अपने ही अदरके विपर स्थानमें धारण करता है ॥ २ ॥

इन गौयोंका नाश नहीं होता, और उनको नहीं चुराता है, न इनको कोई कष्ट देता है । इनके दूधसे ईश्वरका यज्ञ किया जाता है । इस प्रकार गौओंका पालनकर्ता गौओंके साथ बिरकाल आनन्दमें रहता है ॥ ३ ॥

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्रुते न संस्कृतत्रयं यन्ति ता अभि ।
 उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्त्यस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः ।
 इमा या गावः स जनासु इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

यूयं गावो मेदयथा कुशं चिदश्वीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम् ।
 भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वयं उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

प्रजावतीः सुयवंसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः ।
 मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिवृणक्तु ॥ ७ ॥

अर्थ—(रेणुक-काटः अर्वा ताः न अश्रुते) पावोंसे धूलि उडानेवाला घोड़ा इन गौवोंकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकता । (ताः संस्कृतत्रयं न अभि उप यन्ति) वे गौवें पाकदि सस्कार करनेवाले पास भी नहीं जाती । (ताः गावः) वे गौवें (तस्य यज्वनः मर्त्यस्य) उध यज्ञकर्ता मनुष्यकी (उरुगाय अभयं अनु विचरन्ति) बड़ी प्रशंसनीय निर्भयतामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

(गायः भगः) गौवें धन है, (गावः इन्द्रः) गौवें प्रभु है, (गावः प्रथमस्य सोमस्य भक्षः) गौवें पहिले, सोमरक्षा अन्न है (मे इच्छात्) यह मैं जानता हूँ । (इमा या गावः) ये जो गौवें हैं । हे (जनाः) लोगों । (सः इन्द्रः) बड़ी इन्द्र है । (हृदा मनसा चित् इन्द्रं इच्छामि) हृदयसे और मनसे 'निषयपूर्वक मैं इन्द्रकी प्राप्त करनेकी इच्छा करता हूँ ॥ ५ ॥

हे (गावः) गौवों । (यूयं कुशं चित् मेदयथ) तुम दुर्बलको भी पुष्ट करती हो, (अश्वीरं चित् सुप्रतीकं कृणुथ) निस्तेजको भी सुंदर बनाती हो । हे (भद्रवाचः) उत्तम वाचवाली गौवों । (गृहं भद्रं कृणुथ) घरकी कल्याणरूप बनाती हो इसलिये (सभासु यः बृहत् वयः उच्यते) सभाओंमें तुम्हारा बड़ा वश गाया जाता है ॥ ६ ॥

(प्रजावतीः) उत्तम वचोवाली (सु-यवसे रुशन्तीः) उत्तम घासके लिये भ्रमण करनेवाली, (सु-प्रपाणे शुद्धाः अपः पिबन्तीः) उत्तम जलस्थानोंमें शुद्ध जल पीनेवाली गौवों । (स्तेनः अघशंसः यः मा ईशत) चोर और पापी तुमपर अधिकार न करे । (यः रुद्रस्य हेतिः परि वृणक्तु) तुम्हारी रक्षा शस्त्रसे बाराँ ओरसे होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ— कुतलिये घोड़ेको भी गायकी योग्यता प्राप्त नहीं होती । ये गौवें अन्न पकानेवालीकी पाक शास्त्रमें नहीं जाती । ये गौवें यज्ञमानकी निर्भय रक्षामें विचरती हैं ॥ ४ ॥

गौवें ही मनुष्यका धन, बल और उत्तम अन्न हैं । इसलिये मैं सदा गौवोंकी उत्तम हृदय और मनसे चाहता हूँ ॥ ५ ॥

अर्थात् दुर्बल मनुष्यकी गौवें अपने दूधसे पुष्ट बनाती हैं । निस्तेज पांडुरोगीको सुंदर तेजस्वी करती हैं । गौवोंका शब्द कैसा आह्लाददायक होता है । ये गौवें हमारे घरकी कल्याणका स्थान बनाती हैं, इसीलिये 'सभाओंमें गौवोंके वशका वर्णन किया जाता है ॥ ६ ॥

गौवें उत्तम बटुओंसे युक्त हो, वे उत्तम घास खा ज्ञाय, शुद्ध स्थानका पवित्र जल पीयें । कोई पापी या चोर उनका स्वामी न बने और वे सर्वदा सुरक्षित रहें ॥ ७ ॥

गौका सुन्दर काव्य ।

यह सूक्त गौका अत्यंत सुंदर काव्य है । इतना उत्तम वर्णन बहुत ही शोभे स्थानपर मिलेगा । गौका महत्त्व इस काव्यमें अति उत्तम शब्दों द्वारा बताया है । जो लोग गौका यह काव्य पढ़ेंगे, वे गौका महत्त्व जान सकते हैं । गौ घरकी शोभा, कुटुंबका आरोग्य, बल और पराक्रम तथा परिवारका धन है, यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दों द्वारा बताया है ।

गौ घरकी शोभा है ।

इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रमाग देखिये—

(१) गावः भद्रं अक्रन् । (सू. २१, मं. १)

(२) गावः ! भद्रं गृहं कृणुय । (सू. २१, मं. ६)

‘ गौवें घरकी कल्याणका स्थान बनाती हैं । ’ अर्थात् जिस घरमें गौवें रहती हैं वह घर कल्याणका धाम होता है । जो पाठक गौका महत्त्व जानेंगे वे इस बातकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं ।

पुष्टि देनेवाली गौ ।

मनुष्यकी पुष्टि बढ़ानेवाली गौ है, इस लिये हरएक घरमें गौका निवास होना चाहिये । इस विषयमें निम्न लिखित मंत्रमाग देखिये—

(१) गावः ऋसे रणयन् । (सू. २१, मं. १)

(२) गावः ! यूयं कृशं चित् मेदयथ ।

(सू. २१, मं. ६)

(३) अधीरं चित् सुप्रतीकं कृणुय ।

(सू. २१, मं. ६)

‘ गौवें हमें रमणीय बनाती हैं । कृश मनुष्यको गौवें पुष्ट बनाती हैं । निरुतेजको उत्तेज करती हैं । ’ इसी लिये घरमें गौ रखनी चाहिये और हरएकको उस गौ माताका दूध पीना चाहिये । तथा उसकी उत्तम सेवा करना चाहिये । हरएक गृहस्थोंका यह आवश्यक कर्तव्य है ।

गौ ही धन, बल और अन्न है ।

मनुष्यको धन, बल और अन्न गौ ही देती है । सब यश गौसे प्राप्त होता है इस विषयमें निम्नलिखित मंत्रमाग देखिये—

(१) गावः भगः । गावः इन्द्रः । गावः

सोमस्य मक्षः । इमाः याः गावः सः इन्द्रः ।

(सू. २१, मं. ५)

‘ गौवें धन हैं, गौवें ही इन्द्र (बलकी देवता) हैं, गौवें ही (दूध देनेके कारण) अन्न हैं । जो गौवें हैं वही इन्द्र है । ’

१० (अथर्व. माध्य. काण्ड ४)

गौवोंको ‘ धन ’ कहा ही जाता है । महाराष्ट्रमें गौका नाम ‘ धण ’ है, यह धन शब्दका ही अपभ्रंश रूप है । धनकी देवता वेदमें भग है, वह गौके रूपमें हमारे पास आगई है । जो लोग गौको अपने घरमें स्थान नहीं देते वे, मानो, धनको ही अपने घरसे बाहर निकाल देते हैं ।

‘ इन्द्र ’ देवता बल, पराक्रम और विजयकी है । वही गौके रूपमें हमारे घरमें आती है । जो कोई अपने घरमें गौका पालन नहीं करता वह, मानो, बल, पराक्रम और विजयको ही दूर करता है ।

अन्नकी देवता ‘ सोम ’ है वही गौके रूपमें हमारे पास आती है । गौ स्वयं दूध देती है जिससे दही, छाछ, मखन, घी आदि अमृतरूप पदार्थ बनते हैं । बैलके यन्त्रसे अन्न उत्पन्न होता है । इस प्रकार गौ हमारा अन्नका प्रबंध करती है । ऐसी उपयोगी गौको जो लोग अपने घर नहीं पालते वे, मानो, अन्नको ही दूर करते हैं । इस प्रकार गौके पालनसे धन, बल और अन्न प्राप्त होता है और गौको न पालनेसे दारिद्र्य, बल-हीनत्व और योग्य अन्नका अभाव इनकी प्राप्ति होती है । इससे पाठक ही विचार करें कि गोपालनसे कितने लाभ हैं और गौकी न पालनेसे कितनी हानियाँ हैं । यदि बलवान्, धनवान्, यशस्वी, प्रतापी होनेकी इच्छा है, तो गौको पालना चाहिये, और गौका दूध प्रतिदिन पीना चाहिये ।

यज्ञके लिये गौ ।

परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ और यज्ञकी सांगताके लिये गौ होती है । वैदिक धर्ममें जो कुछ किया जाता है वह परमात्माके नामसे और यज्ञके नामसे ही किया जाता है । सब कर्मका अन्तिम फल मनुष्यकी सन्नति ही है, परंतु उसका सब प्रयत्न ‘ यज्ञ ’ के नामसे होता है । गौका दूध तो मनुष्य ही पीते हैं, परंतु घरमें गौका पालन यज्ञकी सांगताके लिये किया जाता है, अपना पेट भरनेके लिये नहीं । यह त्यागकी शिक्षा वैदिक धर्ममें इस प्रकार दी जाती है । प्रथम मंत्रमें ‘ उषाके पूर्व गौ दूध देती है और उस दूधसे इन्द्रका यज्ञ होता है, ’ ऐसा जो कहा है इसका हेतु यही है । यज्ञका शेष घृत, दूध आदि मनुष्य पीते हैं । परंतु वह भोगके हेतुसे नहीं पीते, परंतु ‘ ईश्वरका प्रसाद ’ मानकर पीते हैं । गौ परमेश्वरके यज्ञके लिये है, उसका प्रसाद रूप दूध पीया जाता है । इतने विश्वास और भक्तिसे यदि दूध पीया जाय तो वह निःसन्देह अत्यंत लाभकारी होगा ।

इस यज्ञसे ‘ देव भी मनुष्यके लिये धन, यश, ज्ञान आदि

देता है और अपने पासके स्थिर धाममें उसको रखता है । '

(मं. २)

यह द्वितीय मंत्रका कथन है। उसके भावसे सब कर्म करनेसे यह लाभ होना स्वाभाविक है। तृतीय मंत्रका कथन है कि 'यज्ञके लिये गौ होती है, इस लिये उसका नाश नहीं होता, रोग उसको कष्ट नहीं देता, चोर उसको चुराता नहीं, कन्तु उसको छताता नहीं, ऐसी सुरक्षित अवस्थामें गौवें यज्ञमानके पास रहती हैं, यज्ञमान देवोंकी प्रसन्नताके लिये यज्ञ करता है और उससे उसके पास गौवोंकी संख्या बढ़ जाती है। चतुर्थ मंत्रमें भी गौका मनुष्य ही वर्णन किया है । 'घोडा, गौ अथवा मनुष्यके लिये उपयोगी नहीं है, गौवें पाकसंस्कार करनेवालेके पास कभी नहीं जाती, वे गौवें यज्ञमानकी विस्तृत रक्षामें रहती हैं और आनन्दसे विचरती हैं । 'यह सब वर्णन गौका यज्ञके लिये उपयोग होता है यही बात बता रहा है।

अवध्य गौ ।

ऐसी उपयोगी गौ है, इसलिये वह अवध्य होनी ही चाहिये। इस विषयमें शंका नहीं हो सकती। इस चतुर्थ मंत्रमें यही बात विशेष स्पष्टतापूर्वक कही है। देखिये—

तस्य यज्वनः मर्त्यस्य उरुगायं अभयं ताः गावः
अनु विचरन्ति । (सू. २१, मं. ४)

'उस याज्ञक मनुष्यके बहुत प्रशंसनीय निर्भयतामें वे गौवें विचरती हैं । ' अर्थात् यज्ञकर्ता यज्ञमानके पास गौवें न भय-लासे रहती हैं, वही उनको किसी भी प्रकार कोई पीडा दे नहीं सकता। गौवोंके लिये यदि कोई अशान्त निर्भय स्थान हो सकता है तो वह यज्ञमानका घर ही है। यह वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि 'यज्ञमान गौको काटकर उसके मांसका हवन करता है' यह मिथ्या कल्पना है। गामेधमें भी गोमांस हवनका कोई संबंध नहीं है, इस विषयमें इसी मंत्रका तृतीय श्रृंग देखने योग्य है—

ताः गावः संस्कृतश्च न अभि उपयन्ति ।

(सू. २१, मं. ४)

'वे गौवें मांससंस्कार करनेवालेके पास नहीं जाती । ' अर्थात् गौके मांसका पाक संस्कार कोई नहीं करता। यही 'संस्कृतश्च' शब्द है। 'संस्कृतः' का अर्थ है अच्छी प्रकार 'काटने-वाला' यही 'कुत्तु' पाशुका अर्थ काटना है। काटे हुए मांसको पकानेवाला जो होता है उसका नाम 'संस्कृतश्च' है। जो पशुको काटते हैं और जो पशुको पकाते हैं उनके पास कभी गौ नहीं पहुँचती। अर्थात् गौके मांसका यज्ञमें या पाकमें कहीं भी

संस्कार नहीं होता है। गोमांसके हवनका तथा गोमांसके भक्षणका यही पूर्ण निषेध है। गौवें यज्ञमानकी विस्तृत रक्षामें रहती हैं, इसलिये यज्ञमें गोवध, गोमांस हवन अथवा गोमांस-संस्कार भी सम्भवनीय नहीं हैं। इस मंत्रने इतनी तीव्रताके साथ गोमांस संस्कारका निषेध किया है कि इसको देखनेके पश्चात् कोई यह नहीं कह सकता कि वेदके गोमेधमें गोमांस हवनका संबंध है।

उत्तम घास और पवित्र जलपान ।

यज्ञमान यज्ञके लिये गौकी रक्षा करता है इसलिये वह उनकी पालनाका बड़ा प्रबंध करता है। यह प्रबंध किस प्रकार किया जाय इस विषयमें अन्तिम मंत्र देखने योग्य है।

(गावः) सुयवसे रुशन्तीः ।

सुप्रपाणे शुद्धा अपः पिबन्तीः ॥ (सू. २१, मं ७)

'गौवें उत्तम घास खावें और उत्तम जलस्थानमें शुद्ध जल पीवें । ' शुद्ध घास खाने और शुद्ध जल पीनेसे गौकी उत्तम रक्षा होती है। इस प्रकार गौकी रक्षा करें और गौके दूधसे सब पाठक दृष्टपुष्ट, बलिष्ट, यशस्वी, तेजस्वी, प्रतापी और दीर्घायु हों ।

गौकी पालना ।

गौकी पालना कैसी करनी चाहिये इस विषयका उत्तम उप-देश भी इन्हीं मंत्रोंसे हमें मिलता है। 'उत्तम स्थानका शुद्ध जल गौकी पालना चाहिये' यह वेदकी आज्ञा है। शुद्ध जल हो और वह उत्तम स्थानका हो। पाठक यह स्मरण रखें कि गौ जो खाती है और जो पीती है उसका परिणाम आठ दश घण्टोंमें उसके दूधपर होता है, यह नियम है। जलका भी यह नियम है कि वह स्थानके शुण्दोष अपने साथ ले जाता है। हिमालय के पहाड़ोंसे आनेवाला जल दूध ला देनेवाला होता है, कई स्थानोंका कच्चा करनेवाला और कई स्थानोंका ज्वर उत्पन्न करनेवाला होता है। इस कारण गौको अच्छे आरोग्यपूर्ण जलस्थानका शुद्ध जल ही पिलाना चाहिये, जिससे दूधमें अच्छे अच्छे गुण आ जावें और उस दूधको पीनेवालोंकी अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त होवे।

घास भी अच्छी भूमिका होना चाहिये और (सु-यवस्) उत्तम जो आदिका होना चाहिये। सुरे स्थानका सुरी प्रकार उत्पन्न हुआ नहीं होना चाहिये। कई लोग गौको ऐसी घुरी चोंजे खिलाते हैं कि उससे अनेक दोषोंसे युक्त दूध उत्पन्न होता है। गौवें मनुष्यके शीघ्र आदिकी भी खाती हैं। यह सब दोष उत्पन्न करनेवाला है। उत्तम घास और शुद्ध जल खा पी कर गौसे जो दूध उत्पन्न होगा वही आरोग्यवर्धक होगा। गौ पालनेवाले इन निर्देशोंसे बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

क्षात्रबल संवर्धन ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — घसिष्ठ, अथर्वो वा । देवता — इन्द्रः)

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् ।	
निरमित्रानक्षुण्णस्य सर्वास्तात्रन्धवास्मा अहमुत्तरेषु	॥ १ ॥
एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य ।	
वर्गं क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै	॥ २ ॥
अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विद्वतिरस्तु राजा ।	
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य	॥ ३ ॥
असौ दावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुषे इव धेनू ।	
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोपधीनां पशूनाम	॥ ४ ॥

अर्थ— हे इन्द्र । तू (मे इम क्षत्रियं वर्धय) मेरे इस क्षत्रियको बड़ा, और (इमं मे विशां एकवृष इव कृणु) इस मेरे इस क्षत्रियको प्रजाओंमें अद्वितीय बलवान् तू कर । (अस्य सर्वान् अमित्रान् निरक्षुण्णहि) इसके सब शत्रुओंको निर्धूल कर और (अह-उत्तरेषु) मे-प्रेष्ठ मे-प्रेष्ठ इस प्रकारकी स्वर्षामें (तान् सर्वान्) उन सब शत्रुओंको (अस्मै रन्धय) इसके लिये नष्ट कर ॥ १ ॥

(इमं ग्रामे अश्वेषु गोषु वा भज) इस क्षत्रियको ग्राममें तथा घोड़ों और गौवोंमें योग्य भाग दे । (यः अस्य अमित्रः तं निः भज) जो इसका शत्रु है उसको कोई भाग न दे । (अयं राजा क्षत्राणां वर्गं अस्तु) यह राजा क्षात्र-गुणोंकी मूर्ति होवे । हे इन्द्र ! (अस्मै सर्वं शत्रु रन्धय) इसके लिये सब शत्रु नष्ट कर ॥ २ ॥

(अयं धनानां धनपतिः अस्तु) यह सब धनोका स्वामी होवे (अयं राजा विशां विद्वतिः अस्तु) यह राजा प्रजाओंका पालक होवे । हे इन्द्र ! (अस्मिन् महि वर्चांसि धेहि) इसमें बड़े तेजोंकी स्थापन कर । (अस्य शत्रुं अवर्चस कृणुहि) इसके शत्रुको निरस्त्र कर ॥ ३ ॥

हे दावापृथिवी ! (घर्मदुषे धेनू इव) धारोष्ण दूध देनेवाली दो गौवोंके समान (अस्मै भूरि वाम दुहाथां) इसके लिये बहुत धनादि प्रदान करो । (अयं राजा इन्द्रस्य प्रियः भूयात्) यह राजा इन्द्रका प्रिय होवे तथा (गवां पशूनां ओपधीनां प्रियः) गौ, पशु और औषधियोंका प्रिय होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— हे प्रभो ! इस मेरे राष्ट्रमें जो क्षत्रिय हैं उनके क्षात्रतेजका बड़ा और इस राजाको सब प्रजाजनोमें अद्वितीय बलवान् कर । इस हमारे राजाके सब शत्रु निर्धूल हो जायें और सब स्वर्षाओंमें इसके लिये कोई प्रतिपक्षी न रहे ॥ १ ॥

प्रलेख ग्राममें, घोड़ों और गौओंमेंसे इस राजाकी योग्य करनार प्राप्त हो । इसके शत्रु निर्धूल बन जायें । यह राजा सब प्रकार क्षात्र शक्तियोंकी मूर्ति बन और इसके सब शत्रु दूर हो जायें ॥ २ ॥

इस राजाकी सब प्रकारके धन प्राप्त हो, यह राजा सब प्रजाजनोका उत्तम पालन करे, इस राजामें सब प्रकट तेज बढे और इसके सब शत्रु धीके पडें ॥ ३ ॥

युनजिमे त उत्तरावन्तुमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते ।

यस्त्वा करदिकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥

उत्तरस्त्वमधरे ते सप्तना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते ।

एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भ्रा भोजनानि ॥ ६ ॥

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽयं वाधस्व शत्रून् ।

एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा सिंहा भोजनानि ॥ ७ ॥

अर्थ— (ते उत्तरावन्तं इन्द्रं युनजिमे) तेरे साथ भेद्य गुणवाले प्रभुजी मैं सयुक्त करता हूँ। (येन जयन्ति) जिससे विजय होता है और कभी (न पराजयन्ते) पराजय नहीं होता है। (यः त्वा जनानां एकवृषं) जो तुझसे मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और (उत मानवानां राज्ञां उत्तमं करत्) मनुष्योंके राजोंमें उत्तम करे ॥ ५ ॥

हे राजन् ! (त्वं उत्तरः) तू अधिक ऊँचा हो, (ते सप्तना) तेरे शत्रु और (ये के च ते प्रति-शत्रवः) जो कोई तेरे शत्रु हैं वे (अधरे) नीचे होंगे। तू (एकवृषः) अद्वितीय बलवान्, (इन्द्रसखा) प्रभुका मित्र (जिगीवान्) जयशाली होकर (शत्रूयता भोजनानि वा भर) शत्रु जैसा आवाण करनेवालोंके भोजनके साधन यहाँ ला ॥ ६ ॥

(सिंहप्रतीकः सर्वाः विशाः अद्धि) सिंहके समान प्रभावशाली होकर सब प्रजाओंसे भोग प्राप्त कर। (व्याघ्र-प्रतीकः शत्रून् अयं वाधस्व) व्याघ्रके समान बलवान् होकर अपने शत्रुओंको हटा दे। (एकवृषः इन्द्रसखा जिगीवान्) अद्वितीय बलवान्, प्रभुका मित्र, और विजयी बनकर (शत्रूयतां भोजनानि वा खिद्) शत्रूके समान व्यवहार करनेवालोंके भोजनके साधन छीनकर ले आ ॥ ७ ॥

माचार्थ— ये दोनों यावा पृथिवी लोक इसकी सब प्रकारके धन देंगे, यह राजा सबका प्रिय बने। ईश्वर, मनुष्य, पशुपक्षी और औपधियोंके विषयमें भी यह प्रेम रखे ॥ ४ ॥

यह राजा ईश्वरके साथ अपना आंतरिक सवध जोड़ दे, जिससे इनका सदा जय होवे और पराजय कभी न होवे। यह राजा इस प्रकार मनुष्योंमें अद्वितीय बलवान् और मनुष्योंके सब राजोंमें प्रेष्ठ होवे ॥ ५ ॥

यह राजा ऊँचा बने और इसके सब शत्रु नीचे हों। यह अद्वितीय बलवान्, ईश्वरका भक्त और विभ्रया होकर शत्रुका पराभव करके उनके उपभोगके पदार्थ प्राप्त करे ॥ ६ ॥

सिंह और व्याघ्रके समान प्रतापी बनकर सब प्रजाओंसे योग्य भोग प्राप्त करे और शत्रुओंको धूर करे। अद्वितीय बलवान्, प्रभुका भक्त और विजयी बनकर शत्रुका पराभव करके उनके धन अपने राज्यमें ले आवे ॥ ७ ॥

स्पर्धा ।

'अहं-उत्तरेषु' यह शब्द प्रथम मन्त्रमें है। यह स्पर्धाका वचक है। 'मैं सबसे ऊँचा हूँ' यह इच्छा प्रत्येक मनुष्यमें रहती है। मैं सबसे आगे बढ़ूँ, मैं सबसे अधिक ज्ञान प्राप्त करूँ, मैं सबसे अधिक यश, धन, प्रभुत्व आदि प्राप्त करके सबसे अधिक प्रतापा, यशस्वा और समर्थ बनूँ। यह इच्छा हरएकमें होती ही है। धर्मभावसे इस इच्छाका उतम उपयोग करके मनुष्य उद्योग हो सकता है। इस प्रकार ऊँचा होनेके लिये अपने शत्रुओंसे अपना बल बढाना चाहिये। शत्रुने जितनी विद्या,

बल, कला और हुस्वर प्राप्त किया है उससे अपनी विद्या, बल, कला और हुस्वर बढ़ जलिये ही मनुष्यकी उत्पत्ति हो सकती है। सत्तातिहा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह सूक्त सामान्यतः शत्रियोंका यश बढानेका उपदेश करता है और विशेषतः राजाका बल बढानेका उपदेश दे रहा है। राय अत्यन्तमें अपना राष्ट्र अप्रत्यानमें रहने योग्य उत्पन्न करना हरएक राजाका आवश्यक कर्तव्य है। हरएक कार्यक्रममें जो जो शत्रु होंगे, उनकी नीचे करके अपने राष्ट्रके वारोंकी उत्पत्ति करनेसे उक्त सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

हरएक मनुष्यकी ऐसी इच्छा होनी चाहिये कि मेरे राष्ट्रके क्षत्रिय वीर बड़े विजयी हों, किसी राष्ट्रके पीछे हमारा राष्ट्र न रहे। वेद कहता है कि 'अहं-उत्तरेषु' यह मंत्र राष्ट्रके हरएक मनुष्यके मनमें जाग्रत रहे। मैं सबसे आगे होऊंगा, मेरा राष्ट्र सब राष्ट्रोंके अप्रमाणमें रहेगा, इसकी धिद्धिके लिये हरएकके प्रयत्न होने चाहिये। प्रत्येक मनुष्य अपने गुण और कर्मकी वृद्धिकी पराकाष्ठा करके अपने आपको और अपने राष्ट्रको उच्च स्थानमें लानेका प्रयत्न करे। यह माव 'अहं-उत्तरेषु' पदमें है। प्रत्येक मनुष्यमें जैसा क्षात्रतेज रहता है उन्ही प्रकार प्रत्येक राष्ट्रमें भी रहता ही है। इस गुणका उत्कर्ष करना चाहिये, इस गुणके उत्कर्षसे ही शत्रु कम हो सकते हैं।

राजाकी वृद्धिके लिये वह अपने राष्ट्रमें शिक्षाका ऐसा प्रबंध करे कि जिससे सब प्रजा एक उद्देश्यसे प्रेरित होकर सब शत्रुओंका पराजय करनेमें समर्थ हो। हरएक कार्यक्षेत्रमें किसी प्रकारकी भी असमर्थता न हो। 'विशां एक धृष कृणु

द्वयं।' (मं १) प्रजाओंमें अद्वितीय बल उत्पन्न करनेवाला तू दो, यह अन्दरका तात्पर्य इस मन्त्रमें है। यही विजयकी कृपा है। राजाका प्रधान कर्तव्य यही है कि वह प्रजामें अद्वितीय बलकी वृद्धि करे। यह बल चार प्रकारका होता है, ज्ञान-बल, वीर्यबल, धनबल और कलाबल। यह चार प्रकारका बल अपने राष्ट्रमें बढा बढाकर अपने राष्ट्रको सब जगत्में अप्र स्थानमें लाकर ऊँचे स्थानपर रखना चाहिये, तभी सब शत्रु हीन हो सकते हैं। यहाँ दूसरोंकी गिरानेका उपदेश नहीं प्रत्युत अपने राष्ट्रीय उद्वार करनेका उच्च उपदेश यही है। दूसरे भी उन्नत हों और हम भी हों। उन्नतिमें स्पर्धा हो, गिरावटकी स्पर्धा न हो। मंत्रका पद 'अहं-उत्तरेषु' है न कि 'अहं-नीचेषु'। पाठक इस दिव्य उपदेशका अवश्य मनन करें।

यह सूक्त अत्यंत सरल है और मंत्रका अर्थ और भावार्थ पढ़नेसे सब आशय मनके सामने खड़ा हो सकता है, इसलिये इसके स्पष्टीकरणके लिये अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

पाप मोचन ।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — मृगारः । देवता — प्रचेता अग्निः ।)

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धतै ।

विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः

॥ १ ॥

यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा पुष्टं कल्पयसि प्रजानन् ।

एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः

॥ २ ॥

अर्थ — (यं बहुधा इन्धते) जिसको बहुत प्रकार प्रकाशित करते हैं, उस (पाञ्चजन्यस्य प्रचेतसः प्रथमस्य अग्नेः) देव जनोंमें निवास करनेवाले विशेष ज्ञानी और सबमें प्रथमसे वर्तमान प्रकाशक देवताका (अग्नेः) मैं मनन करता हूँ। (विशः विशः प्रविशि-वांसमीमहे) प्रत्येक प्रजाजनमें प्रविष्ट हुएँको हम प्राप्त करते हैं (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

हे (जात-वेदः) उत्पन्न हुए पदार्थमानको जाननेवाले ! (यथा हव्यं वहसि) जिस प्रकार तू हवनको पहुँचाता है और (प्रजानन् यथा पुष्टं कल्पयसि) जानता हुआ जिस प्रकार यज्ञको बनाता है (एव देवेभ्यः सुमतिं न आवह) उन्ही प्रकार देवोंसे उत्तम मतिसे हमारे पास ले आ और (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह तू हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ — पाँचों प्रकारके मनुष्योंमें जो चेतना देता है और विविध प्रकारसे प्रकट होता है उस प्रत्येकके हृदयमें उद्भूतकर प्रकाश देनेवाले परमात्माको हम प्राप्त करते हैं जो हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

[सूक्त २४]

(ऋषि — मृगार । देवता — इन्द्र ।)

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रम स्तोमा उप मेम आशुः ।

यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

य उग्रीणामुग्रवाहुर्वयुयो दानवानां बलमारुहः ।

येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

यश्वर्षणिप्रो वृषभः स्वविंध्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम् ।

यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्टः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

यस्य वशासं ऋषभासं उसणो यस्मै मीयन्ते स्वरवः स्वविंद ।

यस्मै शुक्रः पवते ब्रह्मशुम्भितः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य मन्महे) इन्द्रका हम ध्यान करते हैं, (अस्य वृत्रमः इत् शश्वत् मन्महे) इस शत्रुनाशक प्रभुका विध्वंस हम सदा ध्यान करते हैं, (हमे स्तोमाः मा उप मा अशुः) ये इसके स्तोम भेरे पास आगये हैं । (यः दाशुषः सुकृतः हव मेति) जो दानी सत्कार्यके कर्ताके पुकारको सुनकर आता है (सः नः अहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

(यः उग्रीणां वृषभः) जो बलवान् वीर (उग्रीणां वयुः) प्रचण्ड वीरोंका भी बालक है और जो (दानवानां बलमारुहः) अधुरोंके बलको तोड़ देता है, (येन सिन्धवः गावः जिताः) जिसने नदियों और गौंसे जीतकर वशमें की हैं (सः नः अहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

(यः यश्वर्षिप्रो वृषभः स्वविंद) जो मनुष्योंको पूर्ण करनेवाला, बलवान् और आत्मिक प्रकाशको पास रखनेवाला है, (ग्रावाणः यस्मै नृम्णं प्रवदन्ति) ये पत्थर जिसके पास बल है ऐसा कहते हैं, (यस्य सप्त होता अध्वरः मदिष्ट) जिसके सात होतागण जिसमें कार्य करते हैं ऐसा आर्हिसाम्य यह अत्यंत आनन्द देनेवाला है (सः नः अहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

(यस्य वशासः ऋषभासः उक्षण) जिसके कार्यके लिये गौंसे, बैल और सांड होते हैं, (यस्मै स्वविंदः स्वरवः मीयन्ते) जिस आत्मिक बलवालेके लिये सब यज्ञ होते हैं (यस्मै ब्रह्मशुम्भितः शुक्र पवते) जिसके लिये वेदोच्चारण पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है (सः नः अहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ— सब अंगके प्रभुका हम ध्यान करते हैं, उसके गुणोंका हम मनन करते हैं, वह शत्रुओंका नाश करनेवाला प्रभु है उसके प्रशंसाके स्तोत्र ही हमारे मनके सम्मुख आते हैं । जिससे वह सत्कर्म करनेवाले दानी महोदयकी प्रार्थना सुनता है । वह हमें पापसे बचावे ॥ १ ॥

जो बलवान् प्रभु वीरोंकी भी वीर्य देनेवाला है, दुष्टोंके बलका जो नाश करता है, जिसका अमृत रस धारण करती हुई नदियाँ और गौंसे इस पृथ्वीपर विचरती हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ २ ॥

जो मनुष्योंकी पूर्ण बनानेवाला बलवान् और आत्मशक्ति का ज्ञाता है । साधारण परमर भी जिसके बलका प्रशंसा करते हैं और जिसके लिये सब यज्ञ चलाये जाते हैं वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

जिसके यज्ञकर्ममें गौ, बैल आदि यन्त्र भी अपना बल लगाते हैं, जिसके आत्मिक बलके लिये ही अनेक यज्ञ किये जाते हैं, जिसके यज्ञमें मंत्रोंसे पवित्र हुआ सोम शुद्ध किया जाता है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टि-सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्ठौ ।

यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्ओजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम् ।

येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ६ ॥

यः संग्रामानयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्रुयानि ।

स्तौमीन्द्रं नाथितो जौहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

अर्थ— (सोमिनः यस्य जुष्टि कामयन्ते) सोमयाजक जिसकी प्रीतिकी इच्छा करते हैं, (ये इषुमन्तं गविष्ठौ हवन्ते) जिस शस्त्रबलिकी इच्छापूर्तिके लिये पुकारते हैं (यस्मिन् अर्कः शिश्रिये) जिसमें सूर्य आश्रय लेता है (यस्मिन् ओजः) जिसमें बल रहा है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

(यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे) जो पहिला कर्म करनेके लिये ही प्रकट हुआ है । (यस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धम्) जिस अद्वितीय देवका पराक्रम सर्वत्र जाना जाता है, (येनः उद्यतः वज्रः अहि अभ्यायत) जिससे उठाया वज्र शत्रुका सब प्रकारसे हनन करता है (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

(यः वशी संग्रामान् युधे स नयति) जो वशमें रखनेवाला योद्धाओंके समूहोंको युद्ध करनेके लिये बलाता है (यः द्रुयानि पुष्टानि संसृजति) जो दोनों पुष्टोंको संगतिके लिये छोड़ता है इस प्रकारके (इन्द्रं नाथितः स्तौमि) प्रभुकी उष नाथके वशमें रहता हुआ मैं स्तुति करता हूँ और (जौहवीमि) उसको बार बार पुकारता हूँ (सः नः अंहसः मुञ्चतु) वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— जिसकी सहायिके लिये सोमयाजक यज्ञ करते हैं, जिसकी प्रार्थना अपनी इच्छापूर्तिके लिये की जाती है, जिसके आधारे सूर्य जैसे गोल रहे हैं इतना प्रचंड बल जिसमें है वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ५ ॥

जो जगद्रूपी कार्य करनेके लिये ही पहलेसे प्रकट हुआ है, इस कार्यसे जिसका बल जाना जाता है, जिसके वज्रके समुच्च कोई शत्रु खड़ा नहीं रह सकता, वह प्रभु हमें पापसे बचावे ॥ ६ ॥

जो सबको वशमें रखता है, जो धर्मयुद्धके लिये प्रेरित करता है, जो दोनों बलवानोंको मित्रता करनेके लिये प्रेरित करता है, उसकी आज्ञामें रहता हुआ मैं उसकी प्रार्थना करता हूँ कि वह हमें पापसे बचावे ॥ ७ ॥

पापसे बचाव ।

अग्निके उद्देश्यसे परमात्माकी प्रार्थना गत सूक्तमें की गई, अब इस सूक्तमें परमेश्वरकी प्रार्थना इन्द्र नामसे की गई है । इन्द्र बलकी देवता है, सबमें जो बलका संचार होता है वह इन्द्रके प्रभावसे ही है । इन्द्रके बलसे ही सब बलवान् हुए हैं । बलके बिना क्रुमिवाट पतंग भी नहीं ठहर सकते यह दर्शनके लिये तृतीय मंत्रमें कहा है कि—

प्रावाणः यस्मै नृशूणं प्रवदन्ति । (सू. २४, मं. ३)

‘ये पत्थर बल जिसके लिये बहते हैं ।’ अर्थात् बलके लिये जिसकी प्रशंसा करते हैं । बल इधीके पापसे प्राप्त होता है ऐसा निश्चयपूर्वक बताते हैं । पत्थर कहते हैं कि अपने अंदर जो बल है, जो दृढता है, और जो शक्ति है वह उसीकी

है । जिस प्रभुके लिये ये सब यज्ञ होते हैं । यह साक्षी बैठी पत्थर देते हैं इसी प्रकार हरएक पदार्थ दे सकता है, क्योंकि हरएक पदार्थका बल उससे प्राप्त हुआ होता है ।

यह ईश्वर (प्रथमः) आदि देव है और इसका प्रकट होना (कर्मकृत्याय) इस जगद्रूपी कर्म करनेके लिये ही है । अर्थात् यह प्रकट होकर जगद्रूपी कार्य करता है किंवा इस जगद्रूपी बड़े कार्यको देखनेसे ही उसके अस्तित्वका ज्ञान होता है और (अस्य प्रथमस्य वीर्यं अनुबुद्धं) इस आदि देवके बल और पराक्रमका ज्ञान हो सकता है । यदि यह बड़ा कार्य समुच्च न आया तो किसीको केशा उसका पना लग सकता है । यह प्रबल सामर्थ्य इसी प्रभुका है इस लिये कोई शत्रु इसके समुच्च खड़ा रह नहीं सकता । यह सो—

उप्राणी उपग्रहाहुः ।

(सू. २४, मे. २५)

लामं पट्टवानेका येन चरे न की दुसरोको दधानेका । यही उपाय पापसे बचनेका है ।

वीर लोग इसीके बलसे प्रेरित होकर युद्ध करते हैं । धर्म-युद्ध करनेवाले भी इसीके बलसे युक्त होते हैं, यदी-सबका उच्चा नाम है । जो लोग इसको नाय मानकर अपने आपको सनाय समझेंगे, वेही पापसे बच सकते हैं ।

सब यज्ञकर्ता अपने यज्ञ इसीकी प्रीतिके लिये करते हैं । सब यज्ञोंमें इसीके लिये हवन किया जाता है, यज्ञमें दिया हुआ दान इसीको पट्टवता है और वह दाताको कामना पूर्ण करता है इस परमेश्वरकी मूर्तियों मनुष्य पवित्र बने और पापसे बचे ।

वह उपग्राहको भी बर्ष देनेवाला बाहुबलशाली वीर है । अर्थात् हमारे उपसे उप जो वीर हैं वे उसके बर्षसे वीर्यवान् हुए हैं, उसके बलसे बलिष्ठ और उसके सामर्थ्यसे समर्थ बने हैं । यह अनुभव यदि वीर पुरुष करेंगे तो उनकी समर्थता विशेष प्रभावशाली होगी । इस लिये निवेदन है कि कोई अपने बलकी धमकसे दूसरोंको कष्ट न पहुँचावे । जिस बलके कारण उसके मनमें धर्मक उत्पन्न होती है वह बल तो उसी प्रभुका है, यदि वह अपना बल नापस लेगा तो फिर किस बलके कारण ये लोग धर्मक करेंगे ? इसका विचार करके अपने बलसे दूसरोंको

[सूक्त २५]

(ऋषिः — मुगारः । देवता — सविता, वायुः ।)

वायोः सवितुर्विदधानि मन्महे यावात्मन्वद्विश्यो यौ च रक्षथः ।

यौ विश्वस्य परिभू बभूवधुस्तौ नो मुञ्चन्तमंहसः ।

॥ १ ॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजौ युपितमन्तरिक्षे ।

ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चन्तमंहसः ।

॥ २ ॥

तव व्रते नि विशन्ते जनास्तस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रमानो ।

युवं वायो सविता च धुवंनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चन्तमंहसः ।

॥ ३ ॥

अर्थ— (वायोः सवितुः) वायु और सविता इन दो देवोंके (विदधानि मन्महे) जानने योग्य गुणोंका हम मनन करते हैं । (यौ वातमन्वत् जगत् विशयः) जो दोनों आकाशवाले जगम अगस्त्यमें प्रविष्ट होते हैं (यौ च रक्षथः) और जो दोनों रक्षा करते हैं । (यौ विश्वस्य परिभू बभूवधुः) जो दोनों संपूर्ण जगत्के तारक होते हैं (तौ नः अंहसः मुञ्चन्त) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ययोः पार्थिवानि वरिमा संख्याताः) जिन दोनोंके पृथिवीके ऊपरके विविध कर्म गिन लिये हैं । (याभ्यां अन्तरिक्षे रजः युपितं) जिन दोनोंने मिलकर अन्तरिक्षमें मेघमंडलकी धारण किया है, (कश्चन ययोः प्रायं न अन्धानशे) कोई भी जिनकी गतिको नहीं प्राप्त होता है (तौ नः अंहसः मुञ्चन्त) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(चित्रमानो) विचित्र प्रमाणुक । (तव व्रते जनाः नि विशन्ते) तेरे व्रतमें ही सब मनुष्य रहते हैं । (स्वपि उदिते प्रेरते) तेरा उदय होनेपर कार्यमें प्रेरित होते हैं । (वायो सविता च) वायो और दे सविता । (युवं मुवनानि रक्षथ) तुम दोनों सब प्राणियोंकी रक्षा करते हो (तौ नः अंहसः मुञ्चन्त) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

सावाच्यं— विश्वमें वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और जेष्ठ) ये दोनों अनेक प्रकारसे प्राणिमात्रकी धारणा करते हैं । ये सब प्राणियोंमें व्यापक होकर उनकी रक्षा करते हैं । ये दोनों सब जगत्के तारक होते हैं इसलिये वे हमें पापसे बचावें ॥ १ ॥

इन दोनोंके अनेक कर्म हैं । ये ही अन्तरिक्षमें मेघमंडलका धारण करते हैं । इनके साथ किसी अन्यकी तुलना नहीं हो सकती है । ये दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदा च सेधतम् ।

सं ह्युर्जयो संजयः सं बलेन तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

रयि मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवता सुशेवम् ।

अयक्ष्मताति मह इह धेत्तं तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाधः ।

अर्वाग्नामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

उप श्रेष्ठा न आशिपो देवयोर्धामन्नस्थिरन् ।

स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— हे (वायो सविता च) वायो और सविता । (इतः दुष्कृतं अप सेधतं) महासि दुष्कर्म करनेवालोंको दूर हटा दो तथा (रक्षांसि शिमिदां च) घातकों और पीडकोंको भी दूर करो । (ऊर्जया बलेन हि सं संजयः) शारीरिक और आत्मिक बलसे हमें संयुक्त करो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

हे सविता और हे वायो । (मे तनू) मेरे शरीरमें (सुसेवं रयिं) सेवन करने योग्य काश्ति और (पोषं दक्षं) उपयुक्त बल (वा सुवतां) उत्पन्न करें (इह महः अयक्ष्मताति धत्तं) यह बड़ी नीरोगता धारण करें और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

हे सविता और हे वायो । (ऊतये सुमतिं प्रयच्छत) रक्षाके लिये उत्तम बुद्धि दान करो । (प्रवतः चामस्य अर्वाक् नि यच्छत) प्रकर्षयुक्त धनका भाग हमें प्रदान करो । तथा (महस्वन्तं मत्सरं मादयाधः) बुद्धि करनेवाला, घोमादि अन्न वृत्तिके लिये दो और (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(न श्रेष्ठाः आशिपः) हमारी श्रेष्ठ आर्क्षाएं (देवयोः चामन् उप अस्थिरन्) उक्त दोनों देवोंके धाममें स्थिर हों । (सवितार वायुं च देवं स्तौमि) सविता और वायु देवकी मैं स्तुति करता हूँ इसलिये कि (तौ नः अंहसः मुञ्चतं) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

भाषार्थ— सूर्य निश्चित तेजवाला है, (शरीरमें आँख भी वैसी हो है) इसके उदय होने अर्थात् छुल जानेके पश्चात् ही प्राणीकी प्रवृत्ति कार्यमें होती है । विध्वनं वायु और सूर्य (तथा शरीरमें प्राण और आँख) प्राणियोंकी रक्षा करते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

ये दोनों सबको दुराचारसे बचावें, घातकों और पीडकोंको सर्वथा दूर करें, शारीरिक शक्ति और आत्मिक बल प्रदान करें और हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे मेरे शरीरमें तेजस्विता, पुष्टि, बल और नीरोगता प्राप्त हो और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये दोनों हमारी रक्षा करनेके लिये हमें शुद्ध बुद्धि, उत्कर्षको ले जानेवाला घन और पोषक अन्न दें और हमें पापसे बचावें ॥ ६ ॥

ये हमारी श्रेष्ठ आर्क्षाएँ वे दोनों देव सुनें और पूर्ण करें तथा हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

सविता और वायु ।

सविता और वायु इन दो देवोंका वर्णन इस सूक्तमें है । सूर्य और इना यह इनका प्रसिद्ध अर्थ है । मनुष्यके आरोग्यके लिये सूर्य और वायुका कितना उपयोग है यह सब जानते ही हैं । सूर्य न रहा और वायु न रहा तो मनुष्यका जीवन उसी समय नष्ट होगा । सूर्यप्रकाश विपुल मिलनेसे और शुद्ध वायु विपुल प्राप्त होनेसे मनुष्य नरोगी हो सकता है और अंधेरे घरमें रहनेसे और दूषित वायुमें रहनेसे विविध प्रकारकी बीमारियां मनुष्यके पीछे लगती हैं । यह विषय वेदमें अनेक स्थानों पर आ गया है तथा यह विषय अब सर्वसाधारणको भी ज्ञात हुआ है । इसलिये इन दो देवोंका हमारी नरोगताके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है यह यहाँ विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सूर्य देवता ।

‘सूर्य आत्मा जगत्स्तत्स्थुपथ्य’ (ऋग्वेद) यह ऋग्वेदमें कहा है । सूर्य स्थावर जगमका आत्मा ही है । इतना सूर्यका महत्त्व है । सूर्यके कारण ही स्थावरजगम पदार्थ रहते हैं, सबकी स्थिति सूर्यके कारण है, इतना सूर्यका महत्त्व होनेसे सूर्यदेवका समग्र हमारे आरोग्यसे कितना है यह स्वयं ज्ञात हो सकता है ।

यह सूर्य हमारे शरीरमें अपने एक अंशसे नेत्र इन्द्रियमें रहा है । ‘सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।’ (ऐ० उप०) सूर्य आँख बनेकर चक्षुओंमें रहा है । नेत्र इन्द्रिय स्वयं प्रकाश है, इस नेत्रसे प्रकाशका किरण निकलता है और उसका परिणाम बाह्य पदार्थपर होता है । मन्त्राचर्यादि सुनियमयुक्त व्यवहारोंसे यह अपने अन्दरका सामर्थ्य बढ़ता है और अनियमसे घटता भी है । यह नेत्रस्थानमें रहा हुआ सूर्यका अंश हमें योग्य और अयोग्य पदार्थोंका दर्शन कराता है । इस नेत्रेन्द्रियका पिता सूर्य है । यह नेत्र अपने पितासे प्रकाशकी सहायता लेकर यहाँका कार्य चलाता है और विविध रूपोंको बताता है । अपनी वस्तुतया साधन करनेवालोंका दर्शन करने और अवगति करनेवालोंका दर्शन न करनेसे साधक पापसे बच जाता है । यह है सूर्यदेवका पापसे बचानेका कार्य । पवित्र दृष्टिसे अनेक प्रकार पापसे बचना सम्भव है । सब दृष्टिको परमात्मशक्तिरूप मानने और देखनेसे मनुष्यकी दृष्टि ही पवित्र हो जाती है । दृष्टिकी पवित्रता होनेसे मनुष्य पापसे बच जाता है । मनुष्य जो पाप करता है वह दृष्टिके दोषसे ही करता है । विचार करनेसे पाठकोंकी स्वयं ज्ञात होगा कि दृष्टिकी पवित्रतापर ही बहुत सारी मनुष्यकी शुद्धता निर्भर है । दृष्टि बंद रहती तो काम, लोभ, मोह आदि विचार उतने प्रमाणसे कुछ अंशमें कम रहेंगे ।

॥ यहाँ पञ्चम अनुधाक समाप्त ॥

चाणी, बल और नेत्र ।

पूर्व सूक्तोंमें अग्निसे मिथसे वाणिजी शुद्धता, इन्द्रके मिथसे बलकी पवित्रता और इस सूक्तमें सूर्यके मिथसे नेत्र इन्द्रियकी पवित्रता प्राप्त करनेकी सूचना कही है । पापसे बचनेका अनुष्ठान यह है । इस प्रकार अपने अंदरकी शक्तियोंकी पवित्र और पुनर्जात करनेसे मनुष्य पापसे बचता है । यह अनुष्ठान करनेसे बाह्य देवताओंकी सहायता रादा उपस्थित रहती ही है, परंतु उस सहायतासे वेही लोग लाभ उठा सकते हैं, जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी अन्तःशुद्धि करनेका अनुष्ठान करते रहते हैं । अन्योको वैसा लाभ नहीं हो सकता ।

सूर्यचक्र ।

सूर्यका सूत्रा अंश पेटके पास सूर्यचक्रमें रहता है इसका अधिकार पचन इन्द्रियपर रहता है । पेटके बराबर पीछे यह चक्र है । इसमें सूर्य शक्ति रहती है जो अन्न पाचनका कार्य करती है । इसके कार्यके लिये ही सोम आदि अन्न रस दिये हैं । (मं. ६) ऐसे शुद्ध अन्नका मनुष्य करना और अशुद्ध अन्नका सेवन न करना, यह पथ्य उनको संमालना चाहिये, जो पापसे बचना चाहते हैं । अशुद्ध अन्नसे मनकी शक्ति ही दुष्ट बनती है और शुद्ध अन्नके सेवनसे पवित्र बनती है, जो पवित्र बनना चाहते हैं वे इसका अवश्य मनन करें ।

प्राण ।

अब वायुका विचार करना चाहिये । ‘वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।’ (ऐ० उप०) वायु प्राण बनेकर नाकके द्वारा फेफड़ोंमें जाता है और वहाँ शक्ति शुद्ध करता है । इसके शुद्धता करनेके कारण ही प्राणी जीवित रहते हैं । इसके अशुद्ध होनेके कारण प्राणी मर जाते हैं । इस प्रकार यह जीवनका हेतु है । योगशास्त्रमें इसी प्राणका आयाम ‘प्राणायाम’ कहलाता है । जिस प्रकार शोकनीसे वायु देकर प्रदीप क्रिये अग्निमें सुवर्ण आदि धातु परिशुद्ध होते हैं, इसी प्रकार प्राणायामद्वारा उत्पन्न होनेवाले अग्निप्रदीपनसे शरीरके और इन्द्रियोंके सब दोष नष्ट होते हैं । मन शान्त होता है तर्क, वितर्क और झुठकें नहीं करता । इस कारण आरिभक्त शक्तिका उन्नति होनेमें सहायता होती है । पापसे बचनेमें वायु देवताकी सहायता इस प्रकार होती है । अनुष्ठान करनेवाला पुरुष जब अपने अंदर रहनेवाले इन देवोंको ठाक मार्गपर चलाता है, तब बाहरके देवोंकी सहायता स्वयमेव उसको प्राप्त होती है । यह पापसे बचनेका अनुष्ठान है । पाठक इसके अपने अंदर पठायें और लाभ उठावें ।

पाप-मोचन ।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — सृगारः । देवता — द्यावापृथिवी ।)

मन्वे वाँ द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेयाममिता योजनानि ।

प्रतिष्ठे हर्मवतं वर्धनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

प्रतिष्ठे हर्मवतं वर्धनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गर्भारि कविभिर्नमस्ये ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

ये अमृतं विभुथो ये हवींषि ये स्रोत्या विंभुथो ये मनुष्यानि ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

ये उंसिया विभुथो ये वनस्पतीन्ययोर्वा विश्वा सुर्वनान्यन्तः ।

द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

अर्थ— हे द्यावा पृथिवी ! (सुभोजसौ सचेतसौ) तुम दोनों उत्तम भोग देनेवाले, और उत्तम ज्ञानवाले हो, (वाँ मन्वे) तुम दोनोंका मैं मनन करता हूँ । (ये अमिता योजनानि अप्रथेया) जो तुम दोनों अपरिमित योजनोंकी दूरीतक फैले हो, (हि वर्धनां प्रतिष्ठे अमवतां) क्योंकि तुम दोनों निवास करनेवाले प्राणी आदिकोंको आधार देनेवाले होते हो (ते न. अहसः मुञ्चत) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

तुम दोनों (प्रवृद्धे सुभगे उरूची देवी) बड़ विशाल, उत्तम ऐश्वर्यसे युक्त विस्तृत देवियों (वसूनां प्रतिष्ठे हि अमवतं) निवास करनेवालोंको आश्रय देनेवाला हो । ये (द्यावापृथिवी मे स्योने भवतं) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख दायी हो और (ते न. अहसः मुञ्चत) वे दोनों हमें पापसे बचावें ॥ २ ॥

(अहं) मैं (सुतपसौ असन्तापे) उत्तम तेजस्वी परतु सताप न देनेवाली (कविभिः नमस्ये उर्वी गर्भारे) कवियों द्वारा नमन करने योग्य बड़ा लबी बीबी और बड़ी गर्भार द्यावा पृथिवीकी (हुवे) प्रार्थना करता हूँ । ये (द्यावा०) मेरे लिये सुख देनेवाली हों और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये अमृतं ये हवींषि विभुथः) जो तुम दोनों अमृतरूपी जल और अन्नका धारण करती हो, (ये स्रोत्याः ये मनुष्यानि विभुथः) जो नदी आदि प्रवाहोंकी और जो मनुष्योंका धारण करती हो । वे तुम (द्यावा०) द्यावापृथिवी मेरे लिये सुख देनेवाली बनें और हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ये उंसिया ये वनस्पतीन् विभुथः) जो तुम दोनों गौओं और वनस्पतियोंका धारण पोषण करती हो, (ययोर्वा अन्त विश्वा भुवनानि) जिन तुम दोनोंके बीचमें सब भुवन हैं, वे (द्यावा०) तुम द्यावा पृथिवी मेरे लिये सुखदायक हों और वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति ।

द्यावापृथिवी भवंतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः

॥ ६ ॥

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न देवात् ।

स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः

॥ ७ ॥

अर्थ— (ये कीलालेन ये घृतेन तर्पयथः) जो तुम दोनों अन्न और पेयसे सबको तृप्त करते हो, (याभ्यां कृते किंचन न शक्नुवन्ति) जिन तुम दोनोंके बिना कोई भी कुछ भी कर नहीं सकते, वे तुम (द्यावा०) यावा पृथिवी के लिये सुखदार्था वनो और हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(येन येन वा पौरुषेयेण कृतं) जिस किसी कारणसे पुरुष प्रथमसे किया हुआ, (न देवात्) देवकी प्रेरणासे किया हुआ नहीं, (यत् इदं मे अभिशोचति) जो यह मुझे शोकमें डालता है, उस वृद्धको दूर करनेके लिये (द्यावा पृथिवी स्तौमि) यावा पृथिवीकी मैं स्तुति करता हूँ और (नाथितः जोहवीमि) मैं उनसे सनाय होकर प्रकाशता हूँ कि (ते नः अहसः मुञ्चन्तु) वे दोनों हम सबको पापसे बचावें ॥ ७ ॥

द्यावा पृथिवी ।

यह सूक्त मृगार सुक्तोंमें पापमोचन विषयका चतुर्थ सूक्त है । और इसमें घुलोक और पृथिवी लोकके योगसे पातकसे मुक्त होनेकी आकांक्षा की है । पृथिवी लोक वह है जिसके ऊपर हम रहते हैं और घुलोक वह है जो तारासे युक्त आकाश है । अर्थात् यह सब ब्रह्माण्ड इनके बीचमें समाया है । कोई चीज इनसे बाहर नहीं है । जितनी सब शक्तियाँ हैं इनके बीचमें आ गई हैं । इन सब शक्तियोंकी सहायतासे हम अपना सुधार करके पापसे मुक्त होना है ।

ये द्यावापृथिवी देवता (अमिता योजना । मं. १) अगणित योजन विस्तृत हैं । ये जितने विस्तृत हैं इशका गणित नहीं हो सकता । आक शका विस्तार जाना नहीं जा सकता है और न गिना जाता है । सशेषसे बढ़ना हो तो इतना ही बढ़ा जा सकता है कि ये दोनों (प्रवृद्धे ऊरुची । म २, उर्वी, गंभीरे । म ३) बड़े विस्तृत महान् गंभीर हैं अर्थात् बड़े गहरे हैं । तथापि इनकी गहराईका किशकी पता नहीं लग सकता ।

ये दोनों हरक पदार्थ मात्रके लिये (प्रतिष्ठे) आधार देती हैं । इनकी शक्तियोंका विचार करनेसे (स-चेतसी) मनमें एक प्रकारका स्फुरण होता है, इसलिये (कविभिः नमस्ये) कवि लोक इनके विषयमें बड़ा आदर धारण करते हैं, इनमें सुगंधित तेजस्वा गोल (सु-तपसी) उत्तम प्रकार प्रकाशित हो रहे हैं तथापि ये किसीकी (अ-सम्भवे) छन्ताप

नहीं देते, प्रत्युत सतत हृदय जब इनकी ओर दृष्टिसेष करता है तब उनके हृदयका बुझ बुर होता है और वही शान्तिका राज्य होता है ।

ये दोनों लोक (सु-भोजसी) उत्तम भोजन देते हैं । (कीलालेन तर्पयत) अन्नसे समुष्ट करते हैं और अन्न तृप्ता लगती है तब भी (घृतेन) अलसे शान्ति देते हैं । क्यों कि इनके अंदर (अमृतं हवींषि विभ्रतः) जल और अन्न रहता है । इनके अंदर (उस्त्रियाः) गोवं हैं जो उत्तम दूध देती हैं, तथा उत्तम वनस्पतियाँ हैं जो उत्तम रस देती हैं । इस कारण इन दोनोंसे सबका पालन पोषण होता है । मनुष्योंको जिस समय शोक होता है उस समय मनुष्य पुण्या या आकाशके उत्तम हृदय देखे और उनमें दिव्यताका अनुभव करे । इससे उनका शोक पूर्णतया दूर हो सकता है । घुलोक पिता है और पृथ्वी माता है । मानो, यह दोनों मिलकर एक गृहस्थीका परिचार है । देखो, ये कैसे अपना सब शक्तियोंसे परोपकार कर रहे हैं । ये अपने तेजसे हमें मार्ग बताते हैं, अन्धसे हमारी नृप्ति करते हैं, अलसे हमारी शान्ति बढ़ाते हैं और अन्याय्य रीतिसे हमारी सहायता करते हैं । इसी प्रकार हम अपनी शक्तियोंका परोपकारार्थ व्यवस्था चाहिये, हमें अपने अन्तःकरण इनके समान विस्तृत और उदार बनाना चाहिये । अपना जीवन जनताकी मलाईके लिये समर्पण करना चाहिये । और सब जगत्की एक परिवार मानकर सबके साथ इनके सदस्य समान व्यवहार करना चाहिये । यह है पापमोचनका मार्ग ।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — मृगारः । देवता — मरुत ।)

मरुतां मन्ये अर्धि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु ।

आशूनिव सुयमानह्य ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोर्षधीषु ।

पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

पर्यो धेनुनां रसमोर्षधीनां ज्वमर्वतां कवयो य इन्वथ ।

शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

अपः समुद्रादिवमुद्धहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति ।

ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

ये क्लीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति ।

ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्पयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनैरुगार ।

यूयमीशिषे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ—(मरुतां मन्ये) मरुतों का मैं मनन करता हूँ कि वे (मे अर्धि ब्रुवन्तु) मुझे उपदेश दें और वे (हम वाज वाजसाते अवन्तु) इस अच्छी अन्नदानके प्रसंगमें रक्षा करें । (सुयमान् आशून् इव) सतत नियमोंसे चलने वाले घोड़ोंके समान इनको (ऊतये अह्ने) रस के लिये मैं बुलाता हूँ । (ते नः अंहसः मुञ्चन्तु) वे हमको पापसे बचावें ॥ १ ॥

(ये सदा अक्षितं उत्सं व्यचन्ति) जो सदा अक्षय अन्नप्रवाहको फैलाते हैं (ये ओषधीषु रसं आसिञ्चन्ति) जो औषधियोंमें रस छींचते हैं इस प्रकारके (पृश्निमातृः मरुतः पुरः दधे) अन्तरिक्षरूप मातासे उत्पन्न मरुतोंको मैं अपने सम्मुख रखता हूँ, वे हमको पापसे बचावें ॥ २ ॥

(धेनुनां पर्यः) गर्वाँके दूधका (औषधीनां रसं) औषधियोंके रसको, (अर्वतां जवं) और घोड़ोंके वेगको (ये कवयः इन्वथ) जो सुम कवि होकर प्राप्त करते हो, वे (मरुतः नः शग्माः स्योनाः भवन्तु) मरुतग हमें शांति देने और सुख देनेवाले होंगे और हमें पापसे बचावें ॥ ३ ॥

(ये समुद्रात् आपः दिवं उद्धहन्ति) जो समुद्रसे अलको गुलाकतक पहुँचाते हैं और जो (दिवः पृथिवीं अभि सृजन्ति) गुलाकसे पृथ्वीपर पुन छोड़ते हैं (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः चरन्ति) जो समर्थ मरुत जलोंके साथ विचरते हैं वे हमें पापसे बचावें ॥ ४ ॥

(ये क्लीलालेन ये घृतेन तर्पयन्ति) जो अन्न और पेषसे सबकी तृप्ति करते हैं (ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति) और जो अन्नको पुष्टिकारक पदार्थके साथ उत्पन्न करते हैं, (ये ईशानाः मरुतः अद्भिः वर्पयन्ति) जो समर्थ मरुत जलोंसे वृष्टि करते हैं, वे हमें पापसे बचावें ॥ ५ ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वमरुतं शर्धः पतनासूग्रम् ।

स्तौमि मरुतो नाधितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वहंसः

॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः मरुतः) दिव्य मरुतो ! (यदि इदं मरुतेन) यदि यह जगत् वायुसे युक्त हुआ, (यदि दैव्येन इहम् आर) और यदि दिव्य शक्तिसे युक्त हुआ, तो हे (चसवः) निवासको ! (तस्य निष्कृतेः यूयं ईशिष्ये) उसके उद्धारके लिये तुम ही समर्थ हो, वे तुम हमें पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

(मरुतं मनीकं शर्धः) मरुतोका सैनिक बल (पतनासु तिग्मं) सेनाओंमें तीक्ष्ण और (सहस्वत् उग्रं विदितं) बलयुक्त प्रचण्ड शक्तिवाला सबको विदित है। इसलिये मैं (मरुतः स्तौमि) मरुतोकी प्रशंसा करता हूँ और (नाधितः जोहवीमि) उनसे सनाप होकर उनको बुलाता हूँ कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ७ ॥

मरुत् देवता ।

मरुत् नाम विश्वमें वायुका है, देहमें प्राण भी मरुत् कहलाता है। इसका नाम मरुत् इसलिये है कि यह (मरु+उत्) मरनेवालोंको ऊपर उठाता है। शरीर मरनेवाला है उसको उठाकर सड़ा करनेवाला प्राणवायु ही है। मरनेवालोंको उठानेका वमनकार प्राण ही करता है, किंवा अन्यमें यह शक्ति नहीं है। जैसे पशुओंमें घोड़े बैंगवान् होते हैं उसी प्रकार देवोंमें वायु वेगवान् है। इनके कारण ही सब प्रकारका (चाज) बल, अन्न, जीवन आदि यथायोग्य रीतिसे अपने अपने स्थानमें रहता है। वायु न केवल मनुष्योंका प्राण है परंतु औषधि वनस्पतियों भी वही जीवनका संचार करता है, और वनस्पतियोंमें जो लतमोलम रस प्राप्त होता है वह सब इसी प्राणका कार्य है। वनस्पतियोंमें पौष्टिक रस, गौओंमें अमृतके समान दूध, आकाशमें मेघोंमें निर्दोष जल रखनेवाला यह विश्वव्यापक प्राण ही है।

यह विश्व प्राण ही समुद्रके जलको ऊपर ले जाता है, वहां उसके मेघ बनते हैं और वृष्टि द्वारा फिर शुद्ध जल हमें प्राप्त होता है यह इसीका वमनकार है। पृथ्वीके ऊपरके सब अन्न और पेय इसके कारण मिलते हैं, हर एक अन्नपानमें जो पौष्टिक सत्वाद्य है वह इसी कारण है। यह जीवन देनेवाली प्राणशक्ति वायुमें है, इसीलिये वायुको सबका निवासक कहा है।

जो वीरोंमें तेज, बल, सामर्थ्य और वीर्य है वह सब इसके कारण है, यह मरुतोका और प्राणोंका कार्य सबको देखना

चाहिये। देखनेसे पता लगेगा कि पापसे बचनेका उपदेश मरुत् किस ढंगसे दे रहे हैं।

जगत्में देखिये अन्य सब देव अस्तोको जाते हैं, परंतु वायुरूपी प्राण सदा समरस रहकर सबको जीवन देता है। इसी प्रकार शरीरमें सब अन्य इंद्रिय तथा अवयव अन्नका भोग लेते हैं और कार्य करनेसे थक भी जाते हैं और विश्राम भी लेते हैं। परंतु प्राण ही ऐसा एक है कि जो स्वयं भोग नहीं लेता, न विश्राम चाहता है और न कभी थक जाता है। निःस्वार्थ सेवा करनेका उपदेश इससे प्राप्त होता है। जो जनताकी निःस्वार्थ सेवा करेंगे वे निष्पाप बन जायेंगे।

वेदमें 'मरुत्' देवता द्वारा वीरोंका वर्णन होता है। मरते हैं और फिर ऊपर उठते हैं यह अर्थ इस (मरु+उत्) शब्दमें ऋषि देखते हैं। शरीरमें देखिये प्राण शरीरमें जाता है, वहांका कार्य करता है, अर्थात् शरीरके लिये स्वयं मर जाता है, और फिर उठता है यह भाव यहाँ प्रत्यक्ष है। प्रतिक्षणमें शरीरके लिये प्राण मरता है, इसीलिये शरीर जीवित रहना है। प्राणका परोपकार शरीरपर होता है, इसीलिये शरीर जीवित रहता है। अर्थात् इस प्राणके यज्ञसे शरीरकी स्थिति होती है। अपने सब समाज अर्थात् राष्ट्रमें भी यही होना चाहिये। राष्ट्रकी भलाईके लिये जब अनेक वीर आत्मसमर्पण रूप यज्ञ करते हैं तब राष्ट्र यशस्वी होता है। जब रक्षाधीन लेवट मनुष्य राष्ट्रमें आत्मिक सख्तायें होते हैं तब वह राष्ट्र गिर जाता है। मनुष्य इसी आत्मसमर्पणसे निष्पाप बनता है यह भी यहाँ मिलता है।

[सूक्त २८]

(श्रुतिः — मृगारः । देवता - भवाशर्वा ।)

भवाशर्वा मुन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

ययोरभ्युध्व उत यदुरे चिद्यौ विदिताविपुमृतामसिधौ ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणां हुवेऽहं दुरेगं व्यूती स्तुवन्मैम्यग्री ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

यावरिभार्थे बहु साकमग्रे प्र चेदस्त्राष्टमभिर्भा जनेषु ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

ययोर्विधानापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषु मातृपेषु ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

यः कृत्याकृन्मूलकृधातुघानो नि तस्मिन्धत्तं वर्जमुग्री ।

यावत्स्येशथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नौ मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

अर्थ— हे (भवा-शर्वा) जगत् उत्पन्न करनेवाले और अगत्क लय करनेवाले ! (घां मन्वे) तुम दोनोंका मनन करता हू । (तस्य वित्तं) उधकी तुम दोनों आनते हो । (यत् इदं प्रदिशि यिरोचते) जो यह दिशाओंमें चमकता है वह धव (ययोः वां) जिन तुम दोनोंका हाँ है (अस्य द्विपदः यौ ईशाथे) इस द्विपाद जगत्के जो तुम दोनों स्वामी हो, (यौ चतुष्पदः) जो चार पाववालोंके भी स्वामी हो (तौ नः अहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

(ययोः अभ्युध्वे उत यत् दूरे) जिन तुम दोनोंके समीप यह सब है और जो दूर भी है और (यौ चित् इषु-भृतां अस्तिष्ठौ विदितौ) जो निययसे बाण धारण करनेवालोंके बाण फेंकनेके समय तुम दोनों आनि आते हो, जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे दोनों तुम हमें पापसे बचाओ ॥ २ ॥

(सहस्राक्षौ शत्रुहणौ) तुम दोनों हजारों आँखवाले और शत्रुविनाशक हो (दूर-गम्यूती उग्री) तथा दूरतक गमन करनेवाले उग्र हो, तुम दोनोंको (अहं हुवे स्तुवन्मैमि) मैं पुकारता हूँ और स्तुति करता हूँ प्रात होता हूँ । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ३ ॥

(अग्रे यौ साक यद् अरेभाथे) पहिले जो तुम दोनोंने मिलजुलकर बहुत कार्य आरंभ किये और (जनेषु च अभिर्भा इत् प्र अघ्नाष्ट्रम्) लोकोंमें तेजको उत्पन्न किया । जो तुम दोनों द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ४ ॥

(ययोः घघात्) जिनके वध करनेकी सामर्थ्यसे (देवेषु उत मानुषेषु अन्तः) देवों और मनुष्योंके अन्दर (कश्चन न अप-पद्यते) कोई भी नहीं बच सकता, और जो द्विपाद और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ५ ॥

(यः कृत्याकृत्) जो दंडा करनेवाला (यः यातुघान-मूल-हृत्) जो यातना बडानेवाला मूलको कटनेवाला हो (तस्मिन्, उग्री, यज्ज निधत्तं) उग्रपर, हे तपवीरो ! अपना बन्ध गिराओ । जो ऐसे तुम दोनों द्विपादों और चतुष्पादोंके स्वामी हो, वे हमको पापसे बचाओ ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासुग्री सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी ।

स्तौमि भवाशर्वी नाथितो जोहवीमि ती नो मुञ्चतमंहसः

॥ ७ ॥

अर्थ— हे (उम्रौ) उम्र स्वभाववाले । (नः पृतनासु ग्राधि ब्रूतं) हमसे सगृहोंमें, सेनाओंमें योग्य उपदेश करो । (यः किमीदी) जो स्वार्थी हो उस पर (वज्रेण सं सृजतं) वज्रपहार करो । इसलिये मैं (भवाशर्वी) भव और शर्वकी (स्तौमि) स्तुति करता हूँ । और (नाथितो जोहवीमि) उनसे सनाय होकर उनकी पुकारता हूँ कि (ती नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ ७ ॥

मम और शर्व ।

ये दो शक्तियाँ हैं, एक 'मम' अर्थात् बढानेवाली शक्ति है और दूसरी 'शर्व' अर्थात् घातक शक्ति है । इस सब जगत्में ये दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं । एकड़े वृद्धि हो रही है और दूसरीसे नाश हो रहा है । बालकमें विनाशक शक्तिका जोर कम रहता है और वर्धक शक्तिका अधिक रहता है, इस कारण बालक बढता है । वृद्धमें यह बात उलटी हो जाती है इस कारण वृद्ध क्षीण होता है । जगत्में इन दोनों परमात्म शक्तियोंका कार्य किस प्रकार चल रहा है यह बात इस सूक्तमें अच्छी प्रकार बताया है । मनुष्यमें भी ये दोनों शक्तियाँ हैं । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है उसको उचित है कि वह इन शक्तियोंका ऐसा उपयोग करे कि जगत्में उससे घातघात न बढे, परन्तु शान्ति और सुख बढे । इस प्रकार करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है ।

मनुष्यमें 'मम' शक्ति है जिससे वह नाना प्रकारके सुखोपभोगके और दूसरे पदार्थ उत्पन्न करता है और मनुष्यमें दूसरी

'शर्व' शक्ति भी है, जिससे वह तोड़मरोड़ कर विघातक कार्य भी करता है । जो मनुष्य पापसे बचना चाहता है, उसको उचित है कि वह अपना भवशक्तिका उपयोग लोककल्याणके सकारणोंमें करे । अर्थात् जनताका जिससे हित होगा ऐसे सुम कार्य करनेमें उस शक्तिका उपयोग करे । उसके पास दूसरी शर्वशक्ति है, इससे घात घात किया जा सकता है यह बात सत्य है, परंतु इसका भी उपयोग जनताकी भलाईके लिये किया जा सकता है । जो मानवोंकी उन्नतिका विघात करनेवाले दुष्ट हैं उनकी दूर करनेके कार्यमें इस शक्तिका उपयोग करनेसे यह विघातक शक्ति भा परोपकार करनेवाली बन सकती है । इस प्रकार इस शक्तिका भी उपयोग जब परोपकारमें होगा तब मनुष्यकी दोनों शक्तियोंसे परोपकार होनेके कारण दुष्टका ध्वंश जीवन यशमय होगा और इसके पाप नष्ट होंगे और यह पुण्यात्मा बनता जायगा । यह उपाय आत्मशुद्धिके लिये आवश्यक है जो इस सूक्त द्वारा सूचित किया है । इसलिये पाठक इन शक्तियोंको अपने अंदर देखें और उनसे उक्त प्रकार व्यवहार करके अपने आपको पापसे बचावें ।

[सूक्त २९]

(ऋषि. — मृगारः । देवता - मित्रावरुणौ ।)

मन्वे वा मित्रावरुणावृतावृथौ सचेतसौ द्रुहणो यौ नुदर्थे ।

प्र सत्यावानमवथो गेरपु ती नो मुञ्चतमंहसः

॥ १ ॥

अर्थ— हे (मित्रा-वरुणौ) मित्र और वरुण । (वां मन्वे) मैं आप दोनोंका मनन करता हूँ, आप दोनों (ऋता-वृथो सचेतसौ) सत्यके बढानेवाले और शक्तियुक्त देनेवाले हैं, (यौ द्रुहणः नुदर्थे) जो तुम दोनों शोदधारियोंको हरा देते हो । (भरेपु सत्यावानं प्र अवथः) स्वर्धाओंमें सत्य पालन करनेवालेकी उत्तम रक्षा करते हो । (ती नः अंहसः मुञ्चतं) वे तुम दोनों हमें पापसे बचाओ ॥ १ ॥

मित्र और वरुण ।

मृगार सूक्तोंमें यह सप्तम या अन्तिम सूक्त है । २३ से २९ ये छात सूक्त पापमोचन विषयके हैं और इन सातों सूक्तोंका ऋषि मृगार है । ये सूक्त भाषाकी दृष्टिसे बहुत सरल हैं, परंतु पापमोचनके अनुष्ठानकी दृष्टिसे बड़े गंभीर हैं । इनका विषय ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये निम्न लिखित कोष्टक देखिये—

सूक्त	देवता	अपने शरीरमें शक्ति	अनुष्ठान-विधि
२३	अग्नि	वाक्शक्ति	वाक्चंदम
२४	इन्द्र	बल	बलका सदुपयोग
२५	वायुः सविता	प्राण, नेत्र	प्राणायाम और नेत्रकी पवित्रता
२६	धावापृथिवी	स्थूलसूक्ष्मशक्तियाँ	सत्कर्ममें अपनी शक्तियोंका समर्पण
२७	मरुतः	प्राण	प्राणायाम
२८	मयाशर्वा, रुद्रः	चर्चक और घातक शक्तियाँ	अपनी इन शक्तियोंका उत्तम उपयोग करना
२९	मित्रावरुणौ	मित्रभाव और श्रेष्ठभाव	दोनोंका सदुपयोग

इस कोष्टकका निरीक्षण करनेसे पता लग जायगा कि पाप-मोचनका अनुष्ठान किस रीतिसे किया जाता है । इस अनुष्ठान का तात्पर्य समझनेके लिये एक उदाहरण लीजिये, एक मनुष्य कहता है कि 'सूर्यदेव हमें मार्ग दिखावे' इस वाक्यसे सूर्यका मार्ग दिखानेसे संबंध है यह बात निश्चित होगई । परंतु यदि कोई मनुष्य अपने आँख बंद करेगा, और मार्गकी ओर अपनी दृष्टि नहीं डालेगा, तो सूर्य भगवान सहस्र किरणोंसे प्रकाश करता हुआ भी उसको मार्ग नहीं दिखा सकेगा । इससे अनुष्ठानका मार्ग निश्चित हुआ । वह यह है कि 'मनुष्य अपने अन्दरकी शक्तिकी सन्मार्गका बोध होने योग्य सरल मार्गपर रखनेका यत्न करे और बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त करनेकी इच्छा करे ।' ऐसा करनेसे ही उसकी कामना पूर्ण हो सकती है ।

किसी मनुष्यको किसी नगरको जाना है, वह मार्ग जानना चाहता है । यदि वह अपने आँख खोलकर अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर मार्ग देखनेका यत्न करेगा, तो ही वह सूर्य देवताके प्रकाशसे अधिकसे अधिक लाभ उठा सकता है । इसी प्रकार अन्धान्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये । यहाँ प्रचलित विषय 'पापमोचन' है । भक्त अपने आपकी पापसे बचाना चाहता है, इसलिये उसको पञ्चोक्त उदाहरणके न्यायसे ही अपनी सब शक्तियोंका संयम करके उनके संयम द्वारा अपने आपकी पापसे बचानेका परम यत्न करना चाहिये, और उस प्रयत्नके करनेके समय बाह्य शक्तियोंकी सहायता प्राप्त हो, ऐसी इच्छा करनी चाहिये । स्मरण रहे कि बाह्य शक्तियाँ तो पूर्ण रीतिसे

सहायता देनेके लिये तैयार ही हैं, जो न्यूनता है वह अपने प्रयत्नकी ही है । आँख बंद करनेवाला मनुष्य सूर्य प्रकाशसे लाभ नहीं उठा सकता, प्रस्तुत आँख खोलकर देखनेवाला ही लाभ उठा सकता है, अर्थात् इस पुरुषका प्रयत्न अवश्य होना चाहिये । यही बात विशेष स्मरण रखने योग्य है । ऊपरके संपूर्ण सातों सूक्तोंमें जो सात बाह्य शक्तियोंकी प्रार्थना की है और उनकी सहायताकी याचना की है वह अपने अनुष्ठानकी तैयारीके साथ ही की है, यह पाठकोंके अवश्य स्मरण रखना चाहिये । अन्यथा अनुष्ठानके बिना ये सूक्त कोई लाभ दे नहीं सकते ।

'सूर्य हमें मार्ग दिखावे' ऐसा कहनेवालेको अपने आँख खोलकर मार्ग देखनेका यत्न करना चाहिये, 'जल हमारी तृषा शांत करे' ऐसा कहनेवालेको प्रथम जल अपने हाथमें लेकर पीनेका प्रयत्न करना चाहिये, 'अज हमारे शरीरकी पुष्टि बढ़ावे' ऐसी प्रार्थना करनेवालेको उचित है कि वह उत्तम अन्न तैयार करे और उसका सेवन विधिवत् रीतिसे करे और पचाव कहें कि यह अन्न मेरा शरीर पुष्ट करे । हरेक प्रार्थना उसके पूर्व करने योग्य अनुष्ठानकी सूचना करती है यह बात ध्यानमें धारण करने योग्य है । प्रत्येक प्रार्थनाका अनुष्ठानपूर्वक उच्चार होना चाहिये । अनुष्ठानपूर्वक की हुई प्रार्थना ही सफल होती है, अर्थात् अनुष्ठान रहित प्रार्थना निष्फल होती है । वैदिक प्रार्थनाओंसे मनुष्यको जो उन्नतिका मार्ग दिखाई देता है वह इस रीतिसे अनुष्ठानपूर्वक प्रार्थना करनेसे ही है अन्यथा नहीं ।

अनुष्ठान अपने अन्दरके देवताओंद्वारा अर्थात् अपने इन्द्रियों और अवयवों द्वारा किया जाता है, इनका संबंध जिन बाह्य देवताओंसे है उनसे सहायता प्राप्त की जाती है । अर्थात् कोई प्रार्थना अनुष्ठानके बिना नहीं की जाती । पहिले अपनेसे अतिना हो सकता है उतना अनुष्ठान करके जब अपनी शक्ति अल्प प्रतीत होती है और अधिक शक्तिकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय प्रार्थनाका समय होता है । इस रीतिसे इन बातों पूर्णता मानन करनेसे पापमोचनके अनुष्ठानकी रीति का स्वयं पता लग जाता है । सारांश रूपसे इन सूक्तोंसे बोधित होनेवाला अनुष्ठान यह है ।

‘वाणीको पवित्र बनानेका प्रयत्न करना, अर्थात् मुनसे अपवित्र शब्दोंका उच्चारण न करना, अपने बलका उपयोग सुकर्म में करना और कभी परपोडा न करना, अपने प्राणोंका कुंभकादि द्वारा आयास करके मनको शांत और गंभीर बनाना, नम्रादि इन्द्रियोंको शुभ कर्मोंमें लगाना और उनको अशुभ प्रवृत्तियोंसे दृष्टाना, अपने अंदर जो कोई सामर्थ्य हो उसकी सुकर्ममें लगाना और असुकर्मसे दूर रहना, सपूर्ण दश प्राणोंका व्यवहार उत्तम चलनेका यत्न करना, अपने अंदर वर्षक और पातक शक्तियाँ हैं, उनसे किसीका पात पात न करना, परंतु उन शक्तियोंको सम्यग्में प्रवृत्त करना, अपने अन्दर जो मित्रभाव है और वरिष्ठताका भाव है उसकी प्रशंसा मंगल कार्यमें करना और उनको असमय कार्यसे दूर करना ।’ सारांश रूपसे यह अनुष्ठानकी विधि है । इसमें जिस अपनी शक्तिद्वारा अनुष्ठान किया जा रहा हो, उसके साथ संबंध रखनेवाली बाह्य देवताकी प्रार्थना अधिक शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छासे करना चाहिये । अर्थात् अपना अनुष्ठान और प्रार्थना एक क्षेत्रकी होनी चाहिये । पानी पीनेके समय अन्नकी प्रार्थना न हो और भोजन करनेके समय दूसरे किसी अन्य देवकी प्रार्थना न हो । प्रार्थनासे अपना संबंध विश्वकी विशाल शक्तियोंसे किया जाता है । इस एकतामतासे बड़ा लाभ होता है ।

२९ वें सूक्तमें कहा है कि जो (सत्यवान्) सत्यका पालन करनेवाला होता है, उसको परमात्मकी शक्तियोंकी सहायता मिलती है (म. १-२) । इन मंत्रोंमें यह कहकर आगे सत्यपालन करनेवाले अनुष्ठानी महारमाओंको किस प्रकार सहायता मिलती है इसकी नामावली दी है । ये नाम एक एक विशेष गुणकी सूचना दे रहे हैं, इस कारण इन नामोंका विचार करनेसे कौन अनुष्ठानी मनुष्य ईशकी सहायता प्राप्त कर सकता है इसका बोध होता है । इसलिये इनका स्मरण देखते हैं—

- १ सत्यवान्— सत्यप्रतिष्ठ, सत्यका पालन करनेवाला ।
- २ अंगिरस्— अंगोंमें जो जीवन रक्ष है उसकी विद्या जाननेवाला ।
- ३ अगस्ति— (अग-स्ति) पापको दूर करनेके प्रयत्नमें जो दक्षित होता है ।
- ४ जमदग्नि— (जमत्+अग्नि) प्राण आदि अमियोंको प्रज्वलित करनेवाला ।
- ५ अग्नि— (अतति) भ्रमण करके सद्गुरुके लिये यत्न करनेवाला ।
- ६ कश्यप— (पश्यकः) सूक्ष्मदर्शी ।
- ७ वसिष्ठ— सत्यका सुखपूर्वक निवाह करनेवाला ।
- ८ इयावाश्वः— (इये गतौ) गतिशील, प्रयत्नशील ।
- ९ घन्मश्वः— (घग्नि) रतन्ध (अश्वः) घोड़ेवाला अर्थात् जिसके इन्द्रिय रूपी घोड़े चंचल नहीं हैं ।
- १० पुरुमिठः— (पुरु) बहुत (मिठ) धनादि साधन संपन्न ।
- ११ विमदः— (विगतः मदः) जिसकी चमत् नष्ट हुई है ।
- १२ सप्तवधिः— जिन्होंने अपने सातों इन्द्रियोंको स्वस्थ किया है ।
- १३ भरद्वाजः— (भरत्+वाजः) जो अन्नका दान करता है ।
- १४ गविष्टिरः— (गवि) वाणियोंमें जो स्थिर रहता है अर्थात् जो अपने वचनका सचा है ।
- १५ विश्वामित्रः— (विश्वस्य मित्रः) सबका मित्र, किशोका द्वेष न करनेवाला ।
- १६ कुत्सः— दोषोंकी निंदा करनेवाला ।
- १७ कक्षीयान्— (कक्षी) गतिशील, प्रयत्नशील ।
- १८ कण्वः— शब्दविद्यामें प्रवीण ।
- १९ मेघातिथिः— (मेघा) बुद्धिकी प्राप्त करनेवाला ।
- २० त्रिशोकाः— स्थूल, सूक्ष्म और कारण इस तीन विषयोंके अज्ञानका मिश्रण शोक होता है ।
- २१ उग्रना काव्यः— संघर्षी कवि ।
- २२ गोतमः— (गो) गतिशील, प्रयत्नशील ।
- २३ मुद्गलः— (मुद्) आनन्दको धारण करनेवाला, आनन्द श्रुतिसे रहनेवाला ।

इन ऋषिनामोंके स्तुतिार्थ ये हैं, पाठक मनन करेंगे तो उनको इन शब्दोंसे अधिक बोध भी प्राप्त हो सकते हैं । इन अर्थोंसे पता चलता है कि आत्म-सुधारका प्रयत्न ये जिस ढंगसे करने-वाले हैं । इस प्रकारके प्रयत्न करनेवालोंको पूर्वोक्त देवताएं सघ प्रकाशकी सहायता करती हैं और उनकी उन्नति होनेके लिये मदद देती हैं । जो लोग इनके समान प्रयत्न करेंगे उनको भी इसी प्रकार देवताओंसे सहायता प्राप्त होगी । परंतु जो लोग अपनी उन्नतिके प्रयत्नमें दक्ष नहीं होते, उनको सहायता प्राप्त नहीं होती, इस विषयमें दो शब्द देखिये—

(१) मुह्यन्— मोह करनेवाला, घातपात करनेवाला ।

(म. १-२)

(२) मिथुया चरन्— मिथ्या व्यवहार करनेवाला ।

(मं. ७)

पाठक यहां स्मरण रखें कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवताएं सदा सहाय करनेके लिये तैयार ही हैं, परन्तु उनसे सहायता प्राप्त करनेका यत्न मनुष्यको करना चाहिये । मनुष्यसे दान न हुआ तो लाभ होना असम्भव है । जो मनुष्य आत्मसुधारका यत्न करते हैं वे पूर्वोक्त ऋषियोंके समान उन्नति प्राप्त करते हैं, अन्य लोग प्रयत्न न करनेके कारण पीछे रहते हैं । उन्नतिके यह नियम पाठक स्मरण रखें ।

इस प्रकारके जो लोग होते हैं, उनकी अवनति होती है । इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे अपनी उन्नतिके अनुष्ठान करें, समर्पण चले, पूर्वोक्त ऋषिओंको सदा आदर्श अपने समुख रखें और उन्नतिके पथसे सोंपे ऊपर नडे । वर्यापि अवनतिके मार्गसे न चले ।

राष्ट्री देवी ।

[३०]

(ऋषिः — अथर्व । देवता — चाक्ष ।)

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदैवैः ।

अहं मित्रावरुणोभा विमर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा

॥ १ ॥

अहं राष्ट्रीं संगमनीं वर्धनां चिकितुषीं प्रभुमा युक्षिवाणां ।

तां मां देवां व्यदधुः पुरुषा भूरिस्थात्रां भूर्यवैशयन्तः

॥ २ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मारुषाणाम् ।

यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं संमेधाम्

॥ ३ ॥

अर्थ— (अहं) मैं परमात्मशक्ति (रुद्रेभिः, वसुभिः, आदित्यैः, विश्वदैवैः चरामि) रदों, वसुओं, आदित्यों और विश्वदैवोंके साथ चलती हूँ । (अहं उभा मित्रावरुणा विमर्मि) मैं दोनों मित्र और वरुणको धारण करती हूँ और (अहं इन्द्राग्नी, अहं उभा अश्विना) मैं इन्द्र और अग्नि, तथा मैं दोनों अश्विनोंको धारण करती हूँ ॥ १ ॥

(अहं राष्ट्रीं) मैं प्रकाशक शक्ति (यक्षिणां सङ्गमनीं) वसुओंको प्राप्त करानेवाली, और (चिकितुषीं) ज्ञान देनेवाली हूँ इसलिये (यक्षिणां प्रयमां) सब पूर्वजोंमें पहिली पूजने योग्य हूँ । (तां भूरिस्थात्रां मां) तब विशिष्ट प्रकारसे स्थित मुझको (भूति आवेशयन्तः देवाः) बहुत प्रकारके आवेशको प्राप्त होनेवाले देव (व्यदधुः) विशेष प्रकारसे धारण करते हैं ॥ २ ॥

मया सोऽन्नमसि यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम् ।

अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुति श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तव्य उ ।

अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥

अहं सोममाह्नसं विमर्ष्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।

अहं दधामि द्रविणा हविर्भते सुप्राव्याडु यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरुपस्वन्तः समुद्रे ।

ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोत्तामूं द्यां वर्ष्मणोर्ष स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वातं इव प्र वाम्पारममाणा भुवनानि विश्वा ।

परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव ॥ ८ ॥

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

॥ इति अष्टमः प्रपाठकः ॥

अर्थ— (देवानां उत मानुषाणां जुष्टं) देवों और मनुष्योंको स्वीकार करने योग्य (इहं) यह माषण (अहं स्वयं एव वदामि) मैं स्वयं ही बोलती हू । (ये कामये) जिस जिसको मैं योग्य समझती हू (तं त उन्नं कृणोमि) उस उसको मैं उन्न वीर बनाती हू तथा (तं ब्रह्माण, तं ऋषि, तं सुमेधां) उसीको ब्रह्मा, ऋषि अथवा सतीको उत्तम बुद्धिमान करती हू ॥ ३ ॥

(यः विपश्यति) जो यह विशेष रीतिसे देखता है (सः मया अन्नं असि) वह मेरी कृपासे अन्न खाता है । (यः प्राणति) जो प्राण लेता है और (यः ईं उक्तं शृणोति) जो माषण सुनता है वह यह मेरी शक्तिसे ही है । ओ (मां अमन्तवः) मुझे न माननेवाले हैं (ते उपक्षयन्ति) वे विनाशको प्राप्त होते हैं । हे (श्रुत) सुननेवाले ! (श्रुधि) श्रवण कर । (ते श्रद्धेयं वदामि) तेरे लिये यथा रखने योग्य यह उपदेश मैं करती हू ॥ ४ ॥

(ब्रह्मा-द्विषे शरवे हन्तव्ये उ) ज्ञानके द्वेषी घातपात करनेवालेका नाश करनेके लिये (अहं रुद्राय धनुरा तनोमि) मैं रुद्रके लिये धनुषकी तानती हू, (अहं जनाय समदं कृणोमि) मैं जनोके लिये हर्ष देनेवाले पदार्थ उत्पन्न करती हू, (अहं द्यावा-पृथिवी आ विवेश) मैंने द्यावापृथिवीमें प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

(अहं आह्नसं सोमं विमर्षि) मैं प्राप्त करने योग्य सोम रात्राका धारण करती हू । (अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगं) मैं त्वष्टा और पूषाका धारण करती हू । (अहं हविर्भते सुन्वते यजमानाय) मैं हवन करने और क्षीमघवन करने वाले यजमानके लिये (सुप्राव्या द्रविणा दधामि) उत्तम रक्षा करने योग्य धन देती हू ॥ ६ ॥

मे (अस्य मूर्धन् पितरं सुवे) इसके धिरपर रखको निशुल करता हू । (मम योनिः समुद्रे अन्तः) मेरा मूलस्थान प्रकृतिके समुद्रके अलोंके मध्यमें है । (ततः विश्वा भुवनानि वि तिष्ठे) वहासि सब भुवनोमें विशेष रीतिसे स्थित होती हू (उत वर्ष्मणा अमूं द्यां उप स्पृशामि) और अपनी महिमासे सब गुलोकको स्पर्श करती हू ॥ ७ ॥

(विश्वा भुवनानि आरभमाणा) सब भुवनोका आरंभ करनेवाली (अहं एव वातः इव प्रवामि) मैं ही अकेली वायुके समान फैलती हू । और (दिवा परः) गुलोकके परे और (एना पृथिव्यै परः) इस पृथ्वीके भी परे (महिम्ना एतावती सं बभूव) अपने महत्त्वसे इतनी विशाल होती हू ॥ ८ ॥

राष्ट्री देवी ।

'राष्ट्री देवी' यह परमात्माकी प्रबल तेजस्वी शक्तिका नाम है। यह शक्ति स्वयं अपनी महिमा वर्णन कर रही है, ऐसा काव्यमय वर्णन इस सूक्तमें है। तृतीय मंत्रमें कहा ही है कि ' (अहं एव स्वयं हृदं च दामि)' मैं ही यह स्वयं कहती हूँ । ' इसलिये यह वर्णन अन्य सूक्तोंके वर्णनकी अपेक्षा विशेष महत्वका है यह बात स्वयं स्पष्ट हो रही है । पाठक भी इस दृष्टिसे इसका अधिक मनन करें । यह सूक्त परमात्म शक्तिका वर्णन करनेके कारण इस सूक्तके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अर्थ संभवनीय हैं । आधिदैविक अर्थ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओंके संबन्धमें होता है, यह अर्थ हमने मंत्रके अर्थ करते हुए दिखा है । परमात्माकी शक्ति अग्नि, इन्द्र, अश्विनी देव आदि सृष्ट्यन्तर्गत महाशक्तियोंमें प्रकाशित हो रही है, यह भाव आधिदैविक अर्थमें प्रधान रहता है । पाठक इस अर्थको पूर्वस्थलमें देखें । अब यहाँ आध्यात्मिक और आधिभौतिक अर्थ देते हैं । आध्यात्मिक अर्थ अपने शरीरमें देखना होता है और आधिदैविक अर्थमें जहाँ परमात्माकी शक्तिका संबंध जानना होता है, वहाँ आध्यात्मिक अर्थमें जीवामाकी शक्तिका संबंध देखना होता है। वहाँ अब यह आध्यात्मिक अर्थ देखिये-

आध्यात्मिक भावार्थ ।

'मैं जीवामाकी शक्ति हूँ और मैं (रुद्रमिः) प्राणोंके साथ (वसुमिः) निवासक जलादि शारीरिक घातु रसोंके साथ (आदित्येः) आदान शक्तियोंके साथ तथा (विश्वदेवैः) सब इंद्रियोंके साथ रहकर वहाँका व्यवहार चलाती हूँ । मैं शरीरके (मित्रा-चरुणौ) सौ और घेम शक्तियोंको अर्थात् आग्नेय और रसात्मक शक्तियोंका धारण करती हूँ । मैं (इन्द्र-अग्नी) जीवन धिगुत् और शरीरकी उष्णताको कायम रखती हूँ और मैं ही (अश्विनी) दोनों प्राण और अजानको चलाती हूँ ॥ १ ॥

मैं शरीरकी (राष्ट्री) प्रकाशक शक्ति हूँ अर्थात् मेरे प्रभावके कारण इस देहमें तेजस्विता स्थिर रहती है, मैं ही यहाँ (वसुनां स्तंभमनी) रस रक्तादि विविध घातु रसोंको उत्पन्न करके शरीरको सुरक्षित रखती हूँ । मैं ही (चिकित्सुषी) ज्ञान देनेवाली हूँ इसलिये मैं वहाँ आध्यात्मयज्ञमें (यज्ञियानां प्रथमा) पूजनीयोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य हूँ । मैं (भुरि-स्था-त्रां) विविध अवयवों और इंद्रियोंमें रहकर शरीरकी रक्षा करती हूँ और (आयेद्ययन्तः देवाः) मेरे प्रवेशके कारण सब इंद्रियां मानो (मां व्यदधुः)

मेरा ही विविध प्रकारसे धारण करती हैं और मेरी शक्तितेसे ही अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ हुई हैं ॥ २ ॥

देव क्या और मनुष्य क्या मुझ आत्मशक्तिका ही महत्त्व गाते हैं, मैं स्वयं भी अपना यह वर्णन करती हूँ, जिसपर मैं प्रसन्न होती हूँ वह मनुष्य उग्र वीर, मादृग्न, ऋषि और ज्ञानी महात्मा बन जाता है ॥ ३ ॥

मनुष्य खाता है, देखता है, श्वास लेता है, शब्द सुनता है वह सब (मया) मुझ शक्तिकी सहायतासे ही करता है । जो लोग मुझे नहीं मानते वे नाशको प्राप्त होते हैं । सब लोग मेरा यह भाषण श्रवण करें और मुझ आत्मशक्तिपर धृष्टा रहें, धृष्टासे ही मुझ शक्तितेसे उनको लाभ होता है ॥ ४ ॥

ज्ञानविरोधी घातक विचारोंको दूर करनेके लिये मैं ही आत्मशक्ति इस शरीरमें (रुद्राय) प्राणको प्रेरणा करती हूँ, मैं ही मनुष्यको आनंद और हर्ष देती हूँ, तात्पर्य इस शरीरमें (द्यौः) शिरसे लेकर (पृथिवी) पैरतक मैं शक्ति रूपसे फैली हूँ ॥ ५ ॥

मैं प्राप्त करने योग्य (सोमं) अथवा धारण यहाँ करता हूँ, मैं ही (त्वष्टा) भेदक और (पूषा) पोषक शक्तियोंको शरीरमें धारण करती हूँ । मैं (हवि) उत्तम अन्न और रस स्वाकारनेवाले और इस शरीररूपी यज्ञशालामें शतशतवारंशरीक स्रज करनेवालेको उत्तम यश देती हूँ ॥ ६ ॥

मैं इस शरीरके ऊपर रसक शक्तिको नियुक्त करती हूँ, मैं यहाँ हृदयके अंदरके हृदयाशयके जीवनरसमें रहती हूँ, वहाँ हर एक अवयवमें कार्य करती हूँ और ऊपर शिरतक फैलती हूँ ॥ ७ ॥

सब इंद्रियों और अवयवोंको उत्पन्न करती हूँ मैं वायुके समान फैलती हूँ और इस शरीरमें शिरसे लेकर पैरतक अपनी महिमासे फैली हूँ ॥ ८ ॥

अध्यात्मवर्णनका मनन ।

पूर्वोक्त मंत्रोंका यह आध्यात्मिक अर्थ है । जो आशय अपने अंदरकी शक्तियोंका होता है वह आध्यात्मिक कहलाता है । मंत्रोंमें जो देवताके शब्द होते हैं वे ही मनुष्यके अंदरकी विविध शक्तियोंके वाचक होते हैं, उनको अन्तःशक्तियोंका वाचक जानेनेसे आध्यात्मिक अर्थ जाना जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका मनन कर सके हैं । ऊपरके आध्यात्मिक अर्थका विचार करनेसे पाठकोंकी स्वयं पता लग जायगा कि अप्यारममें किस शब्दका क्या अर्थ होता है । अब इसी सूक्तका

आधिभौतिक आशय देखिये । मानव सप या प्रणिषधके विषयवा जो अर्थ होता है वह आधिभौतिक अर्थ होता है—

आधिभौतिक भावार्थ ।

‘मै राष्ट्रशक्ति (रुद्रमिः) वारों (वसुमिः) धनिकों (आदित्यैः) विष प्रकाशक विद्वानों और (विश्वेदेवैः) सब ज्ञानियोंके साथ रहती हू । मैं दोनों (मित्रावरुणौ) मित्र जनों और वरिष्ठ लोगोंके, (इन्द्र-अग्नि) शूर वीरों और ज्ञानियोंके तथा (अश्विनौ) दोनों प्रकारके अश्विनो कुमारोंके अर्थात् वैद्योंके राष्ट्रमें धारण करती हू ॥ १ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति हूँ, मैं ही सब धनों और धनिकोंको एकजित करती हूँ, मैं राष्ट्रशक्ति (चिकितुषी) ज्ञान वशनेवाली हूँ मैं पूजनीयोंमें सबसे मुख्य हूँ, मैं राष्ट्रके अनेक स्थानोंमें (भूरि-स्था-त्रा) रहकर राष्ट्रकी रक्षा करती हूँ इस मुख राष्ट्रशक्ति द्वारा (आपदेशयन्तः देवाः) अवेश अर्थात् स्फुरणको प्राप्त हुए सब विद्वान् लोग, मानो, मेरा ही विशेष प्रकार धारण करते हैं ॥ २ ॥

मैं जैसी देवजनोंके वैसी ही साधारण मनुष्योंको भी सबनीय हूँ अर्थात् सब मुख राष्ट्रशक्तिका धारण करें । मैं स्वयं कहती हूँ कि जिसपर मैं प्रसन्न होता हूँ वह उभरी, ज्ञानी, अग्नि अथवा बुद्धिमान् मनुष्य बनता है ॥ ३ ॥

राष्ट्रमें जो पुरुष अन्न भोग लेते हैं, जो देखते हैं, सुनते हैं अथवा जो श्लाघाश्रय करते हैं वह सब मेरी ही शक्तिके करते हैं । (मां भ्रमन्तवः) मुख राष्ट्रशक्तिका अपमान करनेवाले अथवा मुझे मान न देनेवाले लोग नाशको प्राप्त होते हैं । वे लोगो ! यह बात तुम धम्मासे सुनो इसमें तुम्हारा हित है ॥ ४ ॥

(ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तव्ये) ज्ञान प्रचारक हेवी और घातघात करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके लिये मैं ही (रुद्राय धनुः आतनोमि) वीर पुरुषोंके पास सब शस्त्रास्त्र तैयार रखती हूँ । मेरी कृपासे ही राष्ट्रके लोग आनन्दमें रहते हैं, मानो मैं राष्ट्रशक्ति पृथ्वीसे लेकर घुलोकतक अर्थात् सर्वत्र फैली हूँ ॥ ५ ॥

मैं राष्ट्रशक्ति ही प्राप्त करने योग्य (सोमं) सोम आदि वनस्पतियोंका अन्न धारण करती हूँ । (अहं त्वष्टार) मैं कारीगरोंका और (पूषण भग) पोषणकर्ता धनवानोंका राष्ट्रमें धारण करती हूँ । जो (हविष्मते यजमानाय) अन्नादि द्वारा यज्ञ करनेवाले सज्जन होते हैं, उनको मैं उचित प्रमाणमें धन देती हूँ ॥ ६ ॥

मैं ही राष्ट्रशक्ति (अस्य मूर्धन्य पितरं सुवे) इस राष्ट्रके शिरपर रक्षा करनेवाले राजाको उत्पन्न करती हूँ, मेरी उत्पत्ति (स+उत्+त्रे) एक होकर उत्कर्षक लिये जो राष्ट्रीय प्रयत्न होते हैं, उन प्रयत्नोंमें होती है । यहाँ मैं उत्पन्न होती हूँ और पश्चात् राष्ट्रके हरएक कोनेमें फैलती हूँ, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मैं पृथ्वीसे स्वर्गतक फैली हूँ ॥ ७ ॥

राष्ट्रमें मैं सब सस्याओंको आरम्भ करती हूँ और चलाती हूँ । मानो, मैं प्रबल वायुके समान संचार करती हूँ, यहाँ तक कि ऊँचास नीच तक मेरा अपूर्व संचार होता है, वह मेरी महिमा है ॥ ८ ॥

इस राष्ट्रीय अर्थका मनन ।

इस सूक्ते आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ये तीनों भावार्थ यहाँ दिये हैं, पाठक इन तीनोंही तुलना अच्छी प्रकार करें और उत्तम बोध प्राप्त करें । वैयक्तिक और राष्ट्रीय इन अर्थोंके विषयमें विशेष उपदेश प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यका कर्मक्षेत्र ही यह है । इन मंत्रोंके शब्द तीनों भूमिकाओंमें किस प्रकार अर्थ बताते हैं यह निम्नलिखित षोडशसंज्ञात हो सकता है—

मंत्रके शब्द	आधिदैविक	आधिभौतिक	आध्यात्मिक
	भाव	भाव	भाव
रुद्राः	मेघस्थानीय विद्युत्	वीर	प्राण
वसुः	पृथिव्यादि भाठ वसु	धन और धनिक	शरीरस्थ धातु
आदित्य विश्वेदेवाः	सूर्य सब प्रकाशमान आग्यादि देव	ज्ञानप्रकाशक सब कर्मचारी गण	मस्तिष्क सब इंद्रिय
मित्रः वरुणः	सूर्य चन्द्र	प्रकाशक विद्वान् ज्ञानतज्ज्ञानी	नेत्र मन
इन्द्रः अग्निः अश्विनौ त्वष्टा पूषा	विद्युत् अग्निः अश्विनौ देवशिल्पी	शूर वक्ता वैद्य कारीगर	जाग्रत मन वाणी श्वासउच्छ्वास विमाजकशक्ति
समुद्रः द्यौः पृथिवी	प्रकृति सुलोक भूलोक	पोषणकर्ता ज्ञानी सेवक	पोषकशक्ति हृदय शिर पाव

मंत्रके शब्द इस रीतिसे अन्यान्य भूमिकाओंमें अन्यान्य अर्थोंके वाचक होते हैं। इन अर्थोंको जाननेसे ही मंत्रका संपूर्ण अर्थ जानना संभव है। व्यक्तिमें गुणोंके रूपसे अर्थ देखना है, राष्ट्रमें गुणी जनोका भाव लेना है और विश्वमें उक्त देवोंको देखना होता है। जैसा व्यक्तिमें शौर्य गुण है, इससे शत्रु दूर किये जाते हैं। इसी गुणसे गुणी बने हुए शूर क्षत्रिय वीर राष्ट्रमें होते हैं, इनमें शौर्य गुणका प्राधान्य होता है, इनका ही रूप विश्वमें इन्द्र शक्ति है जो विद्युत् रूपमें दीखती है। व्यक्तिमें शौर्य, राष्ट्रमें शूर और विश्वमें विद्युत् ये सब वैदिक इन्द्र देवताकी विभूतियाँ हैं। पाठक इस प्रकार सब देवताओंकी विभूतियाँ जानने तो उनको एक ही वेद मंत्रसे सब भूमिकाओंमें क्या बोध लेना है, इसका ज्ञान हो सकता है।

इस सूक्तमें 'राष्ट्री' शब्द है। राष्ट्र जिसके कारण रहता है, जिस शक्तिके राष्ट्र उत्पन्न अवस्थामें रहता है, जिस शक्तिके राष्ट्र बढता है और अभ्युदयसे युक्त होता है उस शक्तिका नाम राष्ट्री है। यह राष्ट्र शक्ति 'आदित्य, रुद्र, वसु और विधेदेव' इनके साथ रहती है, यह प्रथम मंत्रका कथन है। ये देवतावाचक चार शब्द क्रमशः 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' अर्थात् कारीगरोंके वाचक हैं। ब्राह्मणचैव पूर्ण आदित्य ब्राह्मण वर्णका बोधक, रुद्र वीरमरु आदि नाम वीर्यादिके लिये सुप्रसिद्ध हैं, अतः ये क्षत्रिय वर्णके वाचक, वसु शब्द धनवानों और धनोका प्रसिद्ध है अतः यह वैश्योंका सूचक और विधेदेव शब्द सब अन्य व्यवहार वर्तमानोंका वाचक होनेसे अवशिष्ट कारीगरोंका वाचक है। देवताओंमें इन्द्र शब्दों द्वारा चातुर्वर्ण्य बोधित होता है और इन देवताओंके मंत्रोंसे चातुर्वर्ण्यके धर्म कर्मोंका बोध हो सकता है। यह राष्ट्री शक्ति इन लोगोंके अंदर रहती है, इनमें कार्य करती है और इनके द्वारा प्रकट होती है।

यह राष्ट्री शक्ति (अग्नि-मन्त्र) आदित्य, रुद्र-क्षत्र-क्षत्रियो, (मित्र) सहायके, (घरुणो) = राजा) राजपुत्रों और (अश्विनो) = अश्विनी कुमारों) आयुर्वेदके विद्वानोंका आश्रय देकर इनका धारण पोषण करती है। राष्ट्रमें इनका पोषण करके इनके द्वारा अन्य धारण जनोकी सुख पहुंचाती है। यह इस राष्ट्रीय शक्तिकी महिमा देखने योग्य है।

यह राष्ट्रीय शक्ति (यस्मिन् संगमनी) सब प्रकारके धनधान्योंको प्राप्त कराती है। राष्ट्रीय शक्तिका जिस देशमें उदय होने लगता है वही उस शक्तिके विकासके कारण सब

प्रकारके धन इकट्ठे होने लगते हैं, तथा जिस देशमें राष्ट्र शक्तिका विकास बंद होता है, उस देशमें दरिद्रता बढती है। पतित राष्ट्र और उन्नत राष्ट्रका यह विपन्नता और संघर्षतासे संबंध देखने योग्य है, इतिहासमें पाठक इसका अनुभव कर सकते हैं।

इस राष्ट्र शक्तिका मनुष्योंमें आवेश होता है, अर्थात् जिस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अपनी राष्ट्रभक्तिके साथ एक होकर मड़े राष्ट्रीय पुरुषार्थमें प्रवृत्त होते हैं, उस समय इस राष्ट्री देवोका संचार उन मनुष्योंमें होता है, (भूरि-आवेशयन्ता) विशेष प्रकारका दैवी आवेश मनुष्योंमें उस समय होता है और ऐसे दैवी स्फुरणसे युक्त हुए लोग संख्यामें थोड़े भी क्यों न हों, शक्तिका बड़ा कार्य करके दिखा देते हैं। यह राष्ट्रीदेवीके आविष्कारका चमत्कार है। इसी लिये उनको सब (यक्षियानां प्रथमा) पूजनियोंमें पहिली पूजा करने योग्य करके कहते हैं। चारों वर्ग इसकी पूजा अपने हृदयमें करते हैं और राष्ट्रभक्तिते अपने हृदय परिपूर्ण करते हैं। वेदमें अन्यत्र भी कहा है कि—

इच्छा सरस्वती मही विष्णो देवीर्मयोभुयः।

यर्हिः सीदन्मद्यधिघ्नः ॥ (ऋग्वेद १।१३।५)

'मातृमाषा, मातृसंभृता और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियाँ कल्याण करनेवाली हैं। इसलिये ये अन्न-वर्णमें बिना विस्मरण हुए स्थान प्राप्त करें।' अर्थात् हर एक मनुष्यके मनमें इन तीन देवियोंको योग्य और सम्मानका स्थान प्राप्त हो। और कभी ऐसा न हो कि लोग इन तीन देवियोंका योग्य आदर न करें। इस मंत्रके उपदेशानुसार मातृभूमिकी भक्ति हर एकको करनी चाहिये और यही उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें '(प्रथमा यक्षियानां राष्ट्री) यह राष्ट्रशक्ति पूजनियोंमें सबसे प्रथम पूजा करने योग्य है, 'शब्दों द्वारा कहा है।' यदि इस अन्तर्गत सुखपूर्वक जीवन-व्यवस्था करनेकी इच्छा है तो इस राष्ट्रदेवताकी पूजा करना चाहिये और उस देवीके लिये अपना बलि देनेके लिये सिद्ध होना चाहिये।

राष्ट्र देवीका सब प्रसन्न होली सब लोग उसकी प्रीतिके लिये अपने सर्वस्वका समर्पण करनेको तैयार होते हैं। शानी जन सदा ही राष्ट्र देवीके लिये अपने सर्वस्वका अर्पण करनेको तैयार होते हैं। इसीलिये ऐसा लगाना पुरुष (सः अन्नं अस्ति) अन्न भोग प्राप्त करता है ऐसा चतुर्थ मंत्रमें कहा है।

यदि उस मातृभूमिकी योग्य उपासना न की अथवा इसका अपमान किया, किंवा इसका योग्य सात्कार नहीं किया तो,

ऐसे (अ-मन्तवः उपश्रयन्ति) राष्ट्रीय शक्तिका अपमान करनेवाले लोग सत्वर नाशको प्राप्त होते हैं । यह बात (अवेद्यं वदामि) विश्वास रखने योग्य है अर्थात् ऐसा होता ही है । पाठक राष्ट्र भक्तिका महत्त्व कितना है यह बात इस मन्त्रे जानकर कभी राष्ट्रोद्वेग कार्य न करें और सदा राष्ट्र भक्ति करते हुए और राष्ट्रके लिये आत्मसर्वस्वका समर्पण करके अपने जीवनका सर्वमैथयज्ञ करने द्वारा विजयी और यशस्वी हों ।

राष्ट्रके अंदर भी जो दुष्ट लोग होते हैं वे सज्जनोंको क्रोध देते हैं, तथा राष्ट्रके बाहर भी जो दुष्ट दुर्जन होते हैं वे भी राष्ट्रपर हमला करके घातपान और खून खराबी करते हैं । इनका नाश करनेके लिये राष्ट्रक (रुद्राय) वीरपुरुषोंके पास (धनुः) विविध प्रकारके धनुष्यादि शस्त्रास्त्र तैयार रखनेका कार्य राष्ट्रशक्तिका ही है । जो राष्ट्र जीवित और जाग्रत होता है वह अपने शत्रुके नि पातके लिये आवश्यक शस्त्रास्त्र तैयार रखता ही है और योग्य प्रसंगमें योग्य रीतिसे उनका उपयोग करके विजय भी प्राप्त करता है । अभ्युदय प्राप्त करनेवाले राष्ट्रका अपनी रक्षाके लिये जाग्रत रहना अत्यंत योग्य और अत्यंत आवश्यक भी है ।

यह राष्ट्र शक्ति (स्वष्टारं) कभीगरीका पोषण करती है इसी प्रकार जो मनुष्य जनोका पालन पोषण करते हैं उन (पूषण) पोषक जनोका अथवा उन (भृगं) भयवानोंका समान प्रकार धारण पोषण करती है । ऐसे पुरुषोंको कभी अवनीतिमें नहीं रखती, प्रत्युत उन्नत करती है । इसी प्रकार जो लोग अपने धनधान्यका (यजमान) यज्ञ करते हैं, अर्थात् जनताकी भलाईके लिये अपने धनधान्यका समर्पण करते हैं, उनको कभी धनही न्यूनता नहीं रहती । अर्थात् जितना वे दान करते हैं उमसे अधिक (द्रविणा दधामि) धन उनको प्राप्त होता है, फिर वे अधिक दान करते हैं और फिर उनका

धन बढ़ता ही जाता है । इस प्रकार यज्ञसे वृद्धि होती है और जनताका सुख बढ़ता ही जाता है ।

राष्ट्रके ऊपर नियामक और पालकको उत्पन्न करना और राजगद्दीपर उसकी स्थापना करना (अस्य सूर्यं पितरं सुवे) यह राष्ट्रशक्ति ही करती है । अर्थात् जीवित और जाग्रत राष्ट्रके लोग अपनी राज्यशासन व्यवस्थाके लिये सुयोग्य राज्याध्यक्षका स्वयं निर्वाचन करते हैं और उसको राज्यके ऊपर नियुक्त करते हैं । यह राष्ट्रशक्तिका उत्पत्तिस्थान (समुद्रे अगतः) राष्ट्रीय हलचलके महासागरके अंदर होता है । (सं०) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (द्र) गति करना अथवा प्रयत्न करना राष्ट्रीय हलचलका स्वरूप है । इसका ही नाम ' समुद्र ' (सं+उत्+द्र) है । इस हलचलमें यह राष्ट्रशक्ति प्रगट होती है और हरएकके अन्तःकरणमें फैलती है, मानो इस प्रकार यह (विभ्वा भुवनानि वितिष्ठे) सर्वत्र भुवनोंमें फैलती है, अर्थात् भूमिसे स्वर्गतक विस्तृत होती है, हरएक कार्यमें यह प्रकट होती है, हरएक हलचलके तथैव यह रहती है । इस प्रकार इसकी महिमा है ।

जिस समय जनतामें राष्ट्रशक्तिका संचार होता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रशक्ति रूप (घात इव प्रधामि) संज्ञावातका जोरसे प्रवाद चल रहा है । और इसका वेग रोकना अब असंभव है । इस शक्तिका वेग यहाँ तक प्रचंड होता है कि (दिवः परः) सुलोकसे भी परे और (एना पृथिव्याः परः) इस पृथ्वीके भी पार वह वेग कार्य कर रहा है । आकाश पाताल इस शक्तितसे भरे हैं और कोई स्थान खाली नहीं है ।

राष्ट्रशक्तिका महिमा यह है । जो इसके उपासक होते हैं वे अपने राष्ट्रको अभ्युदयके उच्च शिखरपर स्थापित करते हैं यह जानकर पाठक राष्ट्रभक्ति द्वारा मिलनेवाली उन्नति प्राप्त करें और आगेके अभ्युदयके लिये अपने आपको योग्य बनावें ।

॥ यहाँ पद्य अनुवाक समाप्त ॥

उत्साह ।

[सूक्त ३१]

(ऋषिः — प्रह्लादः । देवता — मन्व्युः ।)

त्वया मन्वो सुरयमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन् ।

तिग्मेपेव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः

॥ १ ॥

अग्निरिव मन्वो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि ।

हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व

॥ २ ॥

सहस्व मन्वो अभिमातिमसौ रुजन्मृणन्मृणन्प्रेहि शत्रून् ।

उग्रं ते पाजो नन्वा ररुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्

॥ ३ ॥

एको बहूनामसि मन्व ईडिता विश्विशं युद्धाय सं शिशधि ।

अकुत्तरुक्त्वया युजा वयं धुमन्तं घोपं विजयाय कृमसि

॥ ४ ॥

अर्थ— हे (मरुत्वन् मन्वो) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी प्रणाली करनेवाले उत्साह । (त्वया स-रय आरु-जन्तः) तेरी सहायतासे रथ सहित शत्रुको विनष्ट करते हुए और स्वयं (हर्षमाणाः हृषितासः) आनन्दित और प्रवृत्त होकर (आयुधाः सं-शिशानाः) अपने आयुधोंसे तीक्ष्ण करते हुए (तिग्म-इपयः अग्निरूपाः नरः) तीक्ष्ण शस्त्रालयवाले अग्निसे समान तेजस्वी नेतागण (उप प्र यन्तु) चढ़ाई करें ॥ १ ॥

हे (मन्वो) उत्साह । (अग्निः इव) तू अग्निसे समान (त्विषितः सहस्व) तेजस्वी होकर शत्रुको पराजित कर । हे (सहुरे) समर्थ । (हूतः नः सेनानी एधि) पुकारा हुआ हमारी सेनाको चलावेवाला हो । (शत्रून् हत्वाय) शत्रुओंको मारकर (वेदः विभजस्व) धनको बांट दे और (ओजः विमानः) अपने बलको मापता हुआ (मृधः वि नुदस्व) शत्रु-ओंको हटा दे ॥ २ ॥

हे (मन्वो) उत्साह । (असौ अभिमाति सहस्व) इसके लिये अभिमान करनेवाले शत्रुको पराजित कर, (शत्रून् रुजन् मृणन् प्रमृणन् प्रेहि) शत्रुको तोड़ता हुआ, मारता हुआ और कुचलता हुआ चढ़ाई कर । (ते उग्रं पाजः ननु वा ररुध्रे) तेषां प्रभावशाली बल मिश्रणसे शत्रुको रोक सकता है । हे (एकज) अद्वितीय । (वयं वशी वशं नयासि) तू स्वयं संयमी होनेके कारण शत्रुको अपने वशमें कर सकता है ॥ ३ ॥

हे (मन्वो) उत्साह । तू (एकः बहूनां ईडिता असि) अकेला ही बहुतोंमें धरकार पानेवाला है । तू (विशं विशं युद्धाय स शिशधि) प्रत्येक प्रजाजनको युद्धके लिये उत्तम प्रकार शिक्षित कर । हे (अ-कुत्तरुक्) अद्भुत प्रकाश-वाले । (त्वया युजा वयं) तेरी मित्रताके साथ हम (धुमन्तं घोपं विजयाय कृमसि) हर्ष युक्त शब्द विजयके लिये करते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ— मनुष्यको उत्साह होताश होने नहीं देता । जिनके मनमें उत्साह रहता है वे शत्रुओंको नष्ट करते हैं, और प्रसन्नचित्तसे अपने शस्त्रास्त्रोंको सदा सज्ज करके अपने तेजको बढ़ाते हुए, शत्रुपर चढ़ाई करते हैं ॥ १ ॥

उत्साहसे तेज बढ़ता है, उत्साहसे ही शत्रु पराजित होते हैं । उत्साही युद्ध सेनापालक होगा, तो वह शत्रुका नाश करके धन प्राप्त करता है । फिर अपने बलको बढ़ाता हुआ दुष्टोंको दूर कर देता है ॥ २ ॥

उत्साहसे शत्रुका पराजय कर और शत्रुओंका नाश उत्साहसे कर । उत्साहसे तुम्हारा बल बढ़ेगा और तुम शत्रुको रोक सकोगे । हे शत्रु । तू पहिले अपना संयम कर और जब तुम अपना संयम करोगे तब तुम शत्रुको भी वशमें कर सकोगे ॥ ३ ॥



विजेपकृदिन्द्र इवानवन्नयोऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।

प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्या तमुत्सं यत् आवभूथं

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो विमर्षि सहभूत उत्तरम् ।

क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि

॥ ६ ॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं घत्तां वरुणश्च मन्युः ।

भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्

॥ ७ ॥

अर्थ—हे (मन्यो) उत्साह! (इन्द्रः इव विजेपकृत्) इन्द्रके समान विजय करनेवाला और (अनव-अव) उत्तम वचन बोलनेवाला होकर (इह अस्माकं अधिपाः भव) यहाँ हमारा स्वामी हो । हे (सहुरे) समर्थ! (ते प्रिये नाम गृणीमसि) तेरा प्रिय नाम हम उच्चारते हैं । (ते उत्सं विद्या) और उस स्रोतको जानते हैं कि (यत् आवभूथं) जहासे तू प्रकट होता है ॥ ५ ॥

हे (वज्र सायक सहभूत) वज्रधारी, बाणधारी और साथ रहनेवाले । तू (आभूत्या सहजाः) ऐश्वर्यके साथ उत्पन्न होनेवाला (उत्तर सहः विमर्षि) अधिक उत्तम वल धारण करता है । ते (पुरुहूत मन्यो) बहुतवार पुकार गये उत्साह । तू (क्रत्वा सह) कर्म शक्तिके साथ (मेद्ये) मित्र बन कर (महाधनस्य संसृजि) बड़ा धन प्राप्त करनेवाले महापुद्गले उत्पन्न होनेपर (पधि) हमें प्राप्त हो ॥ ६ ॥

(मन्युः वरुणः च) अशाह और श्रेष्ठत्वाका भाव (उभयं धनं) दोनों प्रकारका धन अपात् (संसृष्टं) उत्पन्न किया हुआ और (सं-आकृतं) संपन्न किया हुआ, (अस्मभ्यं घत्तां) हमें दे । (हृदयेषु भियो दधानाः शत्रवः) हृदयोंमें भयोंकी धारण करनेवाले शत्रु (पराजितासः अप निलयन्तां) पराजित होकर दूर भाग जावें ॥ ७ ॥

मावार्थ—स्वभावतः उत्साही पुरुष बहुतेमें एकाग्र होता है और इसलिये सब वस्तुका सत्कार करते हैं । शिक्षाद्वारा ऐसा प्रबंध करना चाहिये कि राष्ट्रका हर एक मनुष्य उत्साही हो जावे और जीवनयुद्धमें अपना कार्य करनेमें समर्थ होवे । उत्साहसे ही प्रकाश बढ़ता है और विजयकी घोषणा करनेका सामर्थ्य प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

उत्साह ही इन्द्रके समान विजय करनेवाला है । उत्साह कभी निराशके शब्द नहीं सुलवाता । इसलिये हमारे अन्तःकरणमें उत्साहका स्वाभिव्यक्ति स्थिर होवे । हम उन समर्थ महापुरुषोंका नाम लेते हैं कि जिनके अन्तःकरणमें उत्साहका स्रोत बहता रहता है ॥ ५ ॥

उत्साहके साथ सब शस्त्रास्त्र तैयार रहते हैं । उत्साहके साथ सब ऐश्वर्य रहते हैं और उत्साह ही अधिक बलका धारण करता है । यह प्रशंसनीय उत्साह सदा हमारा साथी बने और उसके साथ रहनेसे जीवनयुद्धमें हमारा विजय होवे ॥ ६ ॥

उत्साह और वरिष्ठता ये दो गुण साथ साथ रहते हैं, और ये सब धन प्राप्त करते हैं । स्वयं उत्पन्न किया हुआ और स्वयं संपन्न किया हुआ धन इनसे प्राप्त होता है । उत्साही पुरुषके शत्रु मनमें बरते हुए परास्त होकर भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यशका मूल मंत्र ।

मनुष्य सदा यश प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, परंतु बहुत थोड़े मनुष्योंकी पता है कि अपने मनमें उत्साह रहनेसे ही यश प्राप्त होनेकी सम्भावना होती है । यश प्राप्त होनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इस सूक्तमें इसी 'उत्साह' की प्रेरक देवता मान कर उसका वर्णन किया है जो पाठक यशस्वी होना चाहते हैं वे इस सूक्तका मनन करें और उत्साहकी यश देनेवाला जान कर अपने मनमें उत्साहकी स्थापना करके जगत्में यशस्वी बनें । यशस्वी बननेका उपाय जो तृतीय मंत्रमें कहा है वह

सबसे प्रथम देवते योग्य है—

त्वं वशी (शत्रुन्) वश नयासै । (सू. ३१, मं ३)

'त्वं' तू पहिले वशी अपात् समयमें बन, अपने आपको तू सबसे प्रथम वशमें कर, पश्चात् तू अपने शत्रुओंको वशमें कर सकेगा । 'शत्रुओंको वशमें करनेका काम उतना कठिन नहीं है । जितना अपने अन्तःकरणको वशमें करनेका कार्य कठिन है । जिन्होंने अपने आपको वशमें कर लिया उन्होंने, मानी, सब शत्रुओंको वशमें कर लिया ।

यब उद्धार अपने हृदयसे प्रारंभ होता है, इसलिये शत्रुको

वशमें करनेका कार्य भी अपने हृदयसे ही प्रारंभ होना चाहिये। हृदयके अंदर काम-क्रोधादि अनेक शत्रु हैं जिनका परास्त करनेसे अथवा उनको वशमें करनेसे ही मनुष्यका बल बढता है और पश्चात् वह शत्रुको वश करनेमें समर्थ होता है। 'अपने आपको वशमें करो तब तुम शत्रुको वशमें कर सकोगे,' यह उन्नतिका नियम है। पाठकगण इस नियमका अच्छी प्रकार स्मरण करें।

उत्साहका महत्त्व ।

वेदमें 'मनु' शब्द उत्साह अर्थमें आता है। जिसको 'क्रोध' अर्थवाला मानकर बहुत लोग अर्थका अनर्थ करते हैं। इस सूत्रमें भी 'म-नु' शब्द 'उत्साह' अर्थमें है। यह उत्साह क्या करता है देखिये—जब यह उत्साह अपने (स्व-रथं) मन रूपी रथपर आरोह होता है, उस समय मनुष्य (हर्षमाणाः) प्रसन्न चित्त होते हैं, उनका (हृषितासः) मन कभी निराशायुक्त नहीं होता, आनंदसे सब कार्य करनेमें समर्थ होता है। उत्साहसे (मर+उत्+चञ्) मरनेकी अवस्थामें भी उठनेकी आशा बनी रहती है, कैसी भी कठोर आपत्ति क्यों न आजाय, मन सदा उत्तेजित रहता है। उत्साहसे मनुष्य (अस्मिरूपाः नराः) अधिक समान तेजस्वी बनते हैं। (शश्वन् हत्वा) शत्रुओंकी मारनेका सामर्थ्य उत्पन्न होता है। जिस मनुष्यमें यह उत्साह अन्ताशक्तिशाली (नः सेनानीः) संचालक सेनापति जैसा बनता है वही (आजः मिमानः) बल बढता है और (मृधः विनुदस्य) शत्रुओंकी दूर करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है। उत्साहसे (उग्र

पाजः) विलक्षण उग्र बल बढता है जिसके सामने (ननु आरुह्ये) कोई शत्रु उठार नहीं सकता अर्थात् यह उत्साही युद्ध सब शत्रुओंको रोक रखता है, और पास आने नहीं देता। राष्ट्रमें (विशं विशं युद्धाय सं शिक्षाधि) हर एक मनुष्यको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करनेसे हर एक मनुष्य अपने जीवनयुद्धमें निधयपूर्वक विजय प्राप्त करनेके लिये समर्थ हो जावे। (विजयाय धोषं कृणमसि) विजयका आनंद ध्वनि ही मनुष्य करें और कभी निराशाके बीचडमें न पड़े। यह उत्साह (विजय-कृत) विजय प्राप्त करनेवाला है। इस समय इन्द्रादिकोंने जो विजय प्राप्त किया है वह इसी उत्साहके बलपर ही किया है। एक बार मनमें जो मनुष्य पूर्ण निराशाही बनता है वह आगे जीवित भी नहीं रहता। अर्थात् जीवन भी इस उत्साहपर निर्भर रहता है। इसलिये हमारे मनका (अस्माकं अधिपाः) स्वामी यह उत्साह बने और कभी हमारे मनमें उत्साहहीनता न आवे। यह उत्साह ऐसा है कि जिसके (सह-भूत) साथ बल उत्पन्न हुआ है। अर्थात् जहाँ उत्साह उत्पन्न होगा वहाँ निःसंदेह बल उत्पन्न होगा ही। इसीलिये हर एक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मनमें उत्साह सदा स्थिर रखनेका प्रयत्न करे और कभी निराशाके विचार मनमें आने न दे। इसी उत्साहसे सब प्रकारके घन मनुष्य प्राप्त कर सकता है। शत्रुको परास्त करता है और विजयी होता हुआ इधर लोकेमें आनंदसे विचरता है।

पाठक इस विचारके साथ इस सूत्रका मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें।

[सूक्त ३२]

(श्रुतिः — प्रह्ला, रक्तंदः । देयता - मनुष्य ।)

यस्ते मनुयोऽर्विषद्वज्र सायक सह ओजः पुष्पति विश्वमानुषक् ।

साह्याम दासमार्य त्वया युजा वयं सहैरुक्तेन सहैसा सहैस्वता

॥ १ ॥

अर्थ—हे (वज्र सायक मनुयो) राजाशत्रुको उत्साह । (यः ते अधिघत्) जो तेरा सेवन करता है वह (विश्व सहः ओजः) सब बल और सामर्थ्यको (मानुषक् पुष्पति) निरन्तर पुष्ट करता है । (सहैरुक्तेन सहैस्वता) बलको बढ़ानेवाले और विजयी (त्वया युजा) तुम सहायकके साथ (वयं दासं आर्यं साह्याम) हम दासों और आर्योंको अपने वशमें करेंगे ॥ १ ॥

भाषार्थ—जिसके पास उत्साह होता है, उसकी सब प्रकारका बल और राजाशत्रुका सामर्थ्य प्राप्त होता है और वह हर एक प्रकारके शत्रुको वशमें कर सकता है ॥ १ ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।	
मन्युर्विश ईडते मातृषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः	॥ २ ॥
अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जिहि शत्रून् ।	
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भ्रा त्वं नः	॥ ३ ॥
त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिपाहः ।	
विश्वचर्षणिः सद्गुरिः सदीयान्स्माखोजः पृतनासु धेहि	॥ ४ ॥
अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविपस्य प्रचेतः ।	
त्वं त्वा मन्यो अक्रतुजिहीडाहं स्वा तनूबलदावा न एहि	॥ ५ ॥

अर्थ—(मन्युः इन्द्रः) उत्साह ही इन्द्र है, (मन्युः एव देवः आस) उत्साह ही देव है, (मन्युः होता वरुणः जात वेदाः) उत्साह ही इन्द्रन कर्ता, वरुण और जातवेद आदि है । वह (मन्युः) उत्साह है कि जिसकी (याः मातृषीः विशाः ईडते) जो मानव प्रजाई हैं वे सब प्रशंसा करती हैं । ई (मन्यो) उत्साह ! (सजोषाः तपसा नः पाहि) प्रीतिसे युक्त होकर तू तपसे हमारी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (तवसः तवीयान् अभीहि) महान्से महान् शक्तिवाला तू यहाँ आ । (तपसा युजा शत्रून् चिजहि) अपने तपके सामर्थ्यसे युक्त होकर शत्रुओंका नाश कर । (अमित्रहा, वृत्रहा, दस्युहा त्वं) शत्रुओंका नाशक, आवरण करनेवालोंका नाशक और डाकुओंका नाशक तू (नः विश्वा वसूनि आ भर) हमारे लिये सब धनोंको भर दे ॥ ३ ॥

हे (मन्यो) उत्साह ! (त्वं हि अभिभूति-ओजाः) तू ही विजयी बलसे युक्त, (स्वयं-भूः भामः) अपनी ही शक्तिसे बढनेवाला, तेजस्वी, (अभिमाति-पाहः) शत्रुओंका पराभव करनेवाला, (विश्वचर्षणिः सद्गुरिः) सबका निरीक्षण, समर्थ, (सदीयान्) और बलिष्ठ हो । तू (पृतनासु अस्मासु ओजः धेहि) युद्धोंमें हमारे अन्दर शक्ति स्थापन कर ॥ ४ ॥

हे (प्रचेतः मन्यो) ज्ञानवान् उत्साह ! मैं (तव तविपस्य अभागः सन्) तेरे बलका भाग न प्राप्त करनेके कारण (क्रत्वा अप परेतः अस्मि) कर्मशक्तिसे दूर हुआ हूँ । इसलिये (अक्रतुः अहं ते त्वा जिहीड) कर्म हीन सा होकर मैं तेरे पास प्राप्त हुआ हूँ । अतः तू (नः स्वा तनूः बलदावा आ इहि) हमको अपने शरीरसे बलका दान करता हुआ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि सब देव इस उत्साहके कारण ही बडे शक्तिवाले हुए हैं । मनुष्य भी इसी उत्साहकी प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह उत्साह अपने सामर्थ्यसे सबको बचाता है ॥ २ ॥

उत्साहसे बल बढता है और शत्रु परास्त होते हैं । डाकु, चोर और दुष्ट दूर किये जा सकते हैं और सब प्रकारका धन प्राप्त किया जा सकता है ॥ ३ ॥

उत्साहसे विजयी बल प्राप्त होता है, शत्रुओंका पराभव हो जाता है, अपनी सामर्थ्य बढ जाती है, तेजस्विता फैलती है, और हरएक प्रकारका बल बढता है । वह उत्साहका बल युद्धके समय हमें प्राप्त हो ॥ ४ ॥

जिसके पास यह उत्साह नहीं होता है, वह कर्मकी शक्तिसे हीन हो जाता है । इसलिये हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनमें उत्साह धारण करे और बलवान् बने ॥ ५ ॥

अयं ते अस्म्युप न एहर्वाद् प्रतीचीनः संहरे विश्वदायन् ।

मन्यो वज्रिन्ममि न आ वधृत्सु हनाय दस्यूक्त योष्यायेः

॥ ६ ॥

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽर्घा वृत्राणि जडघनाय भूरि ।

जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभारुपांशु प्रथमा पिपाव

॥ ७ ॥

अथ— हे (संहरे) समर्थ । हे (विश्वदायन्) सर्वस्वदाता । (अयं ते अस्मि) यह मैं तेरा ही हूँ । (प्रतीचीनः नः अर्वाद् उप एहि) प्रत्यक्षतासे हमारे पास आ । हे (मन्यो) उत्साह । हे (वज्रिन्) राजपुत्र ! (नः अभि आ वधृत्सु) हमारे पास प्राप्त हो । (आयेः योषि) मित्रको पहचान, (उत दस्यून् हनाय) और हम शत्रुओंको मारे ॥ ६ ॥

(अभि प्र इहि) आगे बढ़ा । (नः दक्षिणतः भव) हमारे दक्षिण ओर हो । (अथ नः भूमि वृत्राणि जडघनाय) और हमारे सग प्रतिवर्त्तियोंको मिटा देव । (ते मध्वः अग्र धरुणं) तेरे मधुर रसका मुख्य धारण करनेवालेको (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूँ । (उभौ उपांशु प्रथमा पिपाव) हम दोनों एकात्ममें सबसे पहिले उस रसका पान करें ॥ ७ ॥

भाष्यार्थ— उत्साहसे सब प्रकारका बल प्राप्त होता है । यह उत्साह हमारे मनमें आकर स्थिर रहे और उसकी सहायतासे हम मित्रोंकी बढावे और शत्रुओंको दूर करें ॥ ६ ॥

उत्साह धारण करके आगे बढ़, शत्रुओंको परास्त कर और मधुर भोगोंको प्राप्त कर ॥ ७ ॥

उत्साहका धारण ।

पूर्व सूक्तमें कहा हुआ उत्साहका वर्णन ही इस सूक्तमें अन्य रीतिसे कहा है । जिस पुरुषमें उत्साह नहीं होता, वह अभागा होता है, ऐसा इस सूक्तके पद्य मन्त्रमें कहा है । यह मन्त्र यहाँ देखने योग्य है—

अभागाः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्या तयिपस्य ।

(सू. ३२, म. ५)

‘उत्साहके बलका भाग प्राप्त न होनेके कारण मैं कर्म शक्तिये बुर हुआ हूँ और अभागा बना हूँ ।’ उत्साहहीन होनेसे जो बड़ी भारी हानी होती है वह यह है । उत्साह इत जाते ही बल कम होता है, बल कम होते ही पुरुषार्थ शक्ति कम होता है, पुरुषार्थ प्रयत्न कम होते ही भाग्य नष्ट हो जाता है, इस रीतिसे उत्साहहीन मनुष्य नष्ट होजाता है ।

परन्तु जिस समय मनमें उत्साह बढ जाता है उस समय वह उत्साही मनुष्य (स्वर्गभूः) स्वयं ही अपना अमनुष्य साधन करने लगता है, स्वयं प्रयत्न करनेके कारण (भाग्यः) तेजस्वी बनता है, (अभिमानि-साहः) शत्रुओंकी दगावट है, और (अभिभूति-भोजः) विशेष सामर्थ्यसे युक्त होता है । इससे भी अधिक सामर्थ्य उसकी हो जाती है जिसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इसका आशय यह है कि ओ मनुष्य अमनुष्य और नि श्रेयस प्राप्त करना चाहता है, वह उत्साह अवश्य

धारण करे । उत्साहहीन मनुष्यके लिये इस अगत्तमें कोई स्थान नहीं है और उत्साही पुरुषके लिये कोई बात अमभव नहीं है । पाठक इसकी स्मरण रखे अपने मनमें उत्साह बढावे और पुरुषार्थ प्रयत्न करके सब प्रकारका यश प्राप्त करे और इदपर लोकमें आदर्श पुरुष बने ।

उत्साह मनमें रहता है, यह इन्द्रका स्वभाव-धर्म है । वेदके इन्द्र सूक्तमें उत्साह बढानेवाला वर्णन है । ओ मनुष्य अपने मनमें उत्साह बढाना चाहते हैं वे वेदके इन्द्र सूक्त पढ़ें और उनका मगन करें । इन्द्र न मकता हुआ शत्रुका पराभव करता है, यह उससे उत्साहके कारण है । इन सूक्तोंमें भी इसी अर्थका एक मन्त्र है जिसमें कहा है कि ‘इस उत्साहके कारण ही इन्द्र प्रभावशाली बना है ।’ इसलिये पाठक इन्द्रके सूक्त मननपूर्वक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि उत्साह क्या चीज है और वह क्या कर सकता है । उत्साह बढानेके लिये उत्साही पुरुषोंके साथ संगठन करना चाहिये । उत्साही मग्न पडना चाहिये और किसी समय निद्रासाहका विचार मनमें आगया, तो उसको इटाकर उसके स्थानमें उत्साहका विचार स्थिर करना चाहिये । मोटा भी निद्रासाह मनमें उत्पन्न हुआ तो अल्प समयमें बढ जाता है और मनको मग्न कर देता है । इसलिये उन्नति चाहनेवाले पुरुषोंको उचित है कि वे इस रीतिसे अपने मनकी रक्षा करें ।

पाप-नाशन ।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — प्रह्ला । देवता - पाप्मनाशनः अग्निः ।)

अप नः शोशुचदुधमर्षे शुभ्रगंध्या रयिम् । अप नः शोशुचदुधम् ॥ १ ॥	
सुक्षेत्रिया सुगात्रया वसुया च यजामहे । अप नः शोशुचदुधम् ॥ २ ॥	
प्र यज्ञन्दिष्ट एषां प्रासाकांसश्च सूरयः । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ३ ॥	
प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ४ ॥	
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति मानवः । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ५ ॥	
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ६ ॥	
द्विपो नो विश्वतोमुत्पत्तिं नृवेव पारय । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ७ ॥	
स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये । अप नः शोशुचदुधम् ॥ ८ ॥	

अर्थ— हे (अग्ने) प्रदाशक देव ! (नः अघ अपशोशुचत्) हमारा पाप निःशेष दूर होवे और हमारे पाप (रयि शुभ्रगंधि) धन शुद्ध होकर आवे । (नः अघ अप शोशुचत्) हमारा पाप दूर होवे ॥ १ ॥

(सुक्षेत्रिया सुगात्रया) उत्तम क्षेत्रके लिये, उत्तम भूमिक लिये, (च वसुया यजामहे) और धनके लिये हम यजन करते हैं । हमारा पाप दूर होवे ॥ २ ॥

(एषां यत् भन्दिष्टः प्र) इनके बीचमें जिस प्रकार अत्यंत कल्याण युक्त होकर (असाकांसः सूरया च) और हमारे शानी जन भी उत्तम अवस्था प्राप्त करें । इसके लिये जैसा चाहिये वैसा हमारा पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

हे (अग्ने) तेजस्वी देव ! (यत् ते सूरयः) जैसे तेरे विद्वान् हैं वैसे (ते वयम् जायेमहि) तेरे बनकर हम श्रेष्ठ हो जायेंगे, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ४ ॥

(यत्) जैसे (सहस्वत अग्ने) बलवान् अग्निके (मानवः विश्वतः प्रयसि) किरण चारों ओर फैलते हैं, उस प्रकार मेरे फैले, इसलिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ५ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू ही सबके ऊपर होनेवाला है, वैसा बननेके लिये हमारा पाप दूर होवे ॥ ६ ॥

हे (विश्वतो-मुख) सब ओर मुखवाले देव ! (नावा इव) नौकाके समान (नः द्विपः अग्नि पारय) हमें शत्रुओंके समुद्रसे पार कर और हमारे पाप दूर कर ॥ ७ ॥

(सः) वह तू (नः अति पर्य) हमें पार कर (नावा सिन्धु इव) जैसे नौकासे समुद्रके पार होते हैं । और (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः अघ अप शोशुचत्) हमारे सब पाप दूर हों ॥ ८ ॥

पापको दूर करना ।

इस सूक्तमें पापको दूर करनेसे जो अनेक लाभ होते हैं उनका वर्णन है । पापको दूर करनेसे और शुद्ध होनेसे (रयि) धन मिलता है, (सुक्षेत्र) उत्तम क्षेत्र प्राप्त होता है, (सुगन्तु) उत्तम मार्ग सज्जतिके लिये खुला होता है, (भन्दिष्ठः) कल्याण प्राप्त होता है, (सरयः) विद्वानोंकी सघाति मिलती है, (सरयः जायेमहि) ज्ञान संपन्नता प्राप्त होती है, (भानवः विश्वतः यन्ति) प्रकाश चारों ओर फैलता है,

(परिभूः) समस्त अधिक प्रभाव हो जाता है, (अति पारयति) दुःख दूर हो जति है और (स्वस्ति) कल्याण प्राप्त होता है, ये लाभ पापको दूर करनेसे होते हैं । जिस प्रमाणसे पाप दूर होगा और पवित्रता हो जायगी, उस प्रमाणसे वक्त लाभ हो जायगे । पाठक इस बातका उत्तम स्मरण रखें और अर्हातक हो सके बर्हातक प्रयत्न करके स्वयं निष्पाप बननेका यत्न करें, तो सक्त लाभ स्वयं ही उनके पास बलकर आ जायगे ।

अन्नका यज्ञ ।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — ब्रह्मोदनम् ।)

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरं मोदुनस्यं ।

छन्दांसि पक्षौ मुखं मस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसाऽधि यज्ञः

॥ १ ॥

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् ।

नैपां शिश्रं प्र दहति जातवैदाः स्वर्गं लोके बहु स्रैर्णमेषाम्

॥ २ ॥

विष्टारिणमोदुनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन ।

आस्ते यम उप याति देवान्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः

॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्य ओदनस्य शीर्षं ब्रह्म) इस अन्नका शिर ब्रह्म है । (अस्य पृष्ठं बृहत्) इस अन्नकी पीठ बड़ा घन है । और (ओदनस्य उदरं वामदेव्यं) इस अन्नका उदर—मध्यभाग—उत्तम देव संवेधी है । (अस्य पक्षौ छन्दांसि) इसके दोनों पार्श्वभाग छन्द हैं और (अस्य मुखं सत्यं) इसका मुख सत्य है । इसकी (तपसः) उष्णतासे (विष्टारी यज्ञः) अधिजाताः) फैलनेवाला यज्ञ होता है ॥ १ ॥

(अन्-अस्थाः) अस्थिरहित, (पवनेन शुद्धाः पूताः शुचयः) प्राणायामसे शुद्ध, पवित्र और निर्मल बने हुए (शुचि लोकं अपि यन्ति) शुद्ध लोकको प्राप्त होते हैं । (जातवेदाः एषां शिस्नं न प्रदहति) अग्नि इनके सुखसाधन रूप इन्द्रियको नहीं जला देता और (स्वर्गं लोके एषां बहु स्रैर्णं) स्वर्गलोकमें इसके बहुत मुख होता है ॥ २ ॥

(ये विष्टारिण ओदुनं पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (एनान् कदाचन अचर्तिः न सचते) इनको कभी भी दरिद्रता नहीं प्राप्त होती है । जो (यमे आस्ते) नियममें रहता है वह (दिवान् उप याति) देवोंको प्राप्त होता है । और वह (सोम्येभिः गन्धर्वैः सं मदते) ज्ञान्त गन्धर्वोंसे मिलकर आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इस अन्नका शिर ब्राह्मण, पीठ इन्द्रिय, मध्यभाग वैश्य [और शेष साग शूद्र] है । छंद इसके दाये बाये भाग हैं, इसका मुख सत्य है । इस अन्नसे विस्तृत यज्ञ सिद्ध होता है ॥ १ ॥

विश्वेदी, शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनेते हुए यज्ञकर्ता लोग उच्च लोकको प्राप्त करते हैं । सुख प्राप्त करनेके इसके इन्द्रिय अभिसे नहीं जलते हैं; उच्च लोकमें वह ये सुख प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विष्टारिणमोदुर्न ये पचन्ति नैनान्यमः परिं मुष्णाति रेतः ।

रथी हं भूत्वा रथयान ईयते पक्षी हं भूत्वाति दिवः समंति

॥ ४ ॥

एष यज्ञानां विस्तृतो यद्विष्टो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश ।

आण्डीकं कुमुदं सं तनोति विसं शालूकं शर्फको मुलाली ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः

॥ ५ ॥

घृतहृदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः

॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना ।

एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना

उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः

॥ ७ ॥

अर्थ— (ये विष्टारिणं ओदुर्न पचन्ति) जो इस व्यापक अन्नको पकाते हैं (यमः एताम् रेतः न परि मुष्णाति) यम इनके वीर्यको नहीं कम करता । वह (रथी हं भूत्वा रथयाने ईयते) रथी होकर रथ मार्गमें विचरता है । और (पक्षी हं भूत्वा अति दिवः सं पति) पक्षीके समान होकर गुल्लकवा पार करके ऊपर जाता है ॥ ४ ॥

(एष यज्ञानां यद्विष्टः पिततः) यह सब यज्ञोंमें अन्न और विस्तृत है । इस (विष्टारिणं पक्त्वा दिव्यं आ विवेश) विस्तृत यज्ञका अन्न पकाकर यजमान गुल्लकमें प्रविष्ट होता है । (शं-कफः मुलाली) शान्त शिवा होकर मूल शक्तिकी वृद्धि करनेवाला (आण्डीकं कुमुदं विसं शालूकं) अण्डके समान बटनेवाले आनन्ददायक कमल कण्डके समान बटनेवालेको (सं तनोति) ठीक प्रकार फैलाता है । (एताः सर्वाः धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, (स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमानाः सम्मताः पुष्करिणीः) स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां (त्वा उप तिष्ठन्तु) तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ५ ॥

(घृत-हृदाः मधुकूलाः) घाँके प्रवाहवाली, मधुर रसके तटवाली, (सुरोदकाः) निर्मल जलसे युक्त (उदकेन दध्ना क्षीरेण पूर्णाः) जल, दही और दूधसे परिपूर्ण (एताः सर्वा धाराः त्वा उपयन्तु) ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों । स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ६ ॥

(क्षीरेण दध्ना उदकेन पूर्णा) दूध, दही और उदकसे भरे हुए (चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि) चार पथोंको चार प्रकारसे प्रदान करता हूँ । ये सब धाराएं तुझे प्राप्त हों, स्वर्गलोकमें मधुर रसको देनेवाली सब नदियां तेरे समीप उपस्थित हों ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं उनको कभी कष्टकी अवस्था नहीं प्राप्त होता । वह अहिंसा, सत्य, धर्म, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये सब पालन करता हुआ देवत्व प्राप्त करता है और बड़ाका आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

जो लोग इस अन्नदानरूप यज्ञको करते हैं वे कभी निर्वार्य नहीं होते । वे इस लोकमें बैठते हैं और रथी कहलाते हैं और अन्तमें गुल्लकके भी ऊपर पहुँचते हैं ॥ ४ ॥

यह अन्नयज्ञ सब यज्ञोंमें अन्न है, जो इसको करत हैं वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं । वहाँ शान्तिसे युक्त होते हुए अन्त शक्तिसे संपन्न होकर आनन्द प्राप्त करते हैं । वहाँ सब मधुर रस अनायाससे उनको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

इममौदुनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् ।

स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

अर्थ— (इमं विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गं ओदनं) इस विस्तृत लोकोंको जीतनेवाले और स्वर्ग देनेवाले अन्नको (ब्राह्मणेषु नि दधे) ज्ञानियोंके लिये प्रदान करता हूँ । (स्वधया पिन्वमानः) अपनी धारक शक्तिसे तृप्त करनेवाला (सः मे मा क्षेष्ट) वह अन्नदान मेरी हानि न करे । (विश्वरूपाः कामदुघा धेनुः मे अस्तु) विश्वरूपा कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मेरे लिये होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ— घी, शहद, शुद्ध जल, दूध, दही आदिके स्रोत मिलनेके समान पूर्ण तृप्ति वनको प्राप्त होती है ॥ १ ॥

दूध, दही, जल और शहदसे पूर्ण भरे हुए चार घड़े विद्वानोंको दान करनेसे उत्तम लोक प्राप्त होकर पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

यह अन्नका दानरूप यज्ञ करनेसे और यह अन्न ज्ञानियोंको देनेसे किसी प्रकारकी भी हानि नहीं होती है । अपनी शक्तिसे तृप्ति होनेकी अवस्था प्राप्त होनेके कारण, मानो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु ही प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

अन्नका विष्टारी यज्ञ ।

ब्राह्मणोंको दान ।

‘विष्टारी यज्ञ’ का वर्णन इस सूक्तमें किया है । ‘विष्टारी’ शब्दका अर्थ है ‘विस्तार करनेवाला’ अर्थात् जिसका परिणाम बड़ा विस्तृत होता है । यह यज्ञ (ओदनस्य) अन्नका किया जाता है । अन्न पका हो, या कच्चा हो, अर्थात् पका कर तैयार किया हुआ हो अथवा घान्त्यके रूपमें हो अथवा जिससे घान्त्य खरीदा जाता है ऐसे धनादिके रूपमें हो, इस सबका अर्थ एक ही है ।

इस सूक्तमें ‘पचन्ति’ किया है जो पकाये अन्नकी सूचना देती है, तथापि यह भाव गौण मानना भी अवश्य नहीं होगा । सप्तम मंत्रमें (क्षीर, दाधि, उदक, मधु) दूध, दही, उदक, और शहद ये चार पदार्थ विष्टारी यज्ञमें दान देनेके लिये कहे हैं । ये पदार्थ कोई पके अन्नके रूपमें नहीं हैं । दूध तथाया जा सकता है, परंतु शहद और दही पकानेकी वस्तु नहीं हैं । इसलिये इस विष्टारी यज्ञके लिये सब अन्न पकाया ही होना चाहिये ऐसी बात नहीं है । सप्तम पक्ष तो पकाये अन्नका दान करना अर्थात् विद्वानोंको दियाना ही है, मध्यम पक्ष विद्वानोंको घान्त्य समर्पण करना है और गौणपक्ष घान्त्य खरीदनेके धन आदि साधन अर्पण करना है । जल, शहद, दूध, घी, मक्खन तथा धानपानके अन्गान्य पदार्थ देना भी इस यज्ञका अंग है । जलदान करनेका अर्थ कुआर खुदवाकर अर्पण करना, दूध देनेका तात्पर्य दूध देनेवालों गोवं देना । शहद, घी आदि तैयार अवस्थामें देना इत्यादि बातें स्पष्ट हैं ।

यह विष्टारी यज्ञका दान ब्राह्मणोंको देना चाहिये इस विषयमें अष्टम मंत्रमें कहा है—

इमं ओदनं निदधे ब्राह्मणेषु । (सू. ३४, मं. ८)

‘यह अन्न ब्राह्मणोंको देता हूँ’ अर्थात् यह अन्न ब्राह्मणोंमें विभक्त करता हूँ । किसी अन्यके लिये देना नहीं है । ऐसा क्यों करना इसका योशाया विचार करना चाहिये । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद ये पंचजन हैं, इनमेंसे क्षत्रिय राजप्रवचका कार्य करता है और ऐश्वर्यसंपन्न तथा अधिकारसंपन्न रहता है, इस लिये उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । वैश्य कृषि और मयविक्रयादि व्यापार करता है तथा शूद्र भी प्राप्त करता है, इस लिये धनसंपन्न होनेके कारण उसको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । शूद्र सब कारीगर करनेवाले और उत्पादक धंदा करनेवाले होते हैं, इसलिये उनके पास धन होता है, अतः काम घटा करके धन कमानेकी शक्यता होनेके कारण इनको दान लेनेकी आवश्यकता नहीं है । निषाद प्रायः जंगलमें रहते हैं, स्थायी इलाहें बनाकर नहीं रहते, वनमें जहाँ वन्य खाद्यपत्र प्राप्त होगा, वहाँ जाकर निवास करते हैं । इस लिये ये किसीके पास दान नहीं माँग सकते । क्षेप रहं ब्राह्मण, इनके पास कोई उत्पादक धंदा नहीं कि जिससे ये धन कमायें, राज्य प्रबंधमें विशेष अधिकार इनको नहीं है जिससे क्षत्रियके समान इनकी संपन्नता बढ सके, इस लिये इसकी जन्माश्रय निर्धनता रहती है । दूसरे धनघान्त्य दिया तो इसकी शक्ति

चलेगी, अन्यथा भूखा रहना ही आवश्यक होगा, इस लिये ब्राह्मणको दान देना चाहिये । ब्राह्मण ही दान लेनेका अधिकारी है इसका सामाजिक दृष्टिसे यह कारण है ।

ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय ?

अन्य वर्णके लोग ब्राह्मणोंको दान क्यों दे इसका भी कारण ब्रह्मना चाहिये । इस सूक्तमें दानका जो फल लिखा है वह इस प्रसंगमें देखिये—

(१) शुद्ध, पवित्र, निर्मल और विदेहा होकर पवित्र लोकको प्राप्त करता है । (मं. २)

(२) स्वर्गलोक प्राप्त करता है । (म. ४)

(३) स्वर्ग लोकमें उसके मधुर रसकी धाराएं प्राप्त होती हैं । (मं. ५-७)

ये फल अलौकिक हैं अर्थात् भूलोकमें यहां प्राप्त होनेवाले नहीं हैं । स्वर्गमें क्या होता है और क्या नहीं इस विषयमें साधारण मनुष्यकी यहाँ ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । तथापि इस विषयमें थोड़ासी कल्पना आनेके लिये स्वर्गका थोड़ासा स्वरूप बयान करते हैं—

मृत्युलोक ।

(१) इहलोक— इस लोकमें मनुष्य जीवित अवस्थामें रहते हैं । स्थूल शरीरसे विचरते हैं, अपने स्थूल इंद्रियोंसे सुख-दुःखका अनुभव प्राप्त करते हैं । मनुष्यका जीवन इस लोकमें होनेके कारण यहाँके अनुभव प्रत्यक्षानुभव करके कहे जाते हैं ।

स्वर्गलोक ।

(२) परलोक— दूसरा लोक । इसमें यह देह छोड़नेके पश्चात् प्राप्त होनेवाले लोकोंका समावेश होता है । इस स्थूल देहसे इस जगत्में जिस प्रकार व्यवहार होते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म देहसे अन्य लोकोंमें व्यवहार होते हैं परंतु इसमें थोड़ासा भेद है । स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चार प्रकारके देह मनुष्यकी प्राप्त होते हैं और ये एक दूसरेके अंदर रहते हैं । जिस प्रकार स्थूल देहका कार्यक्षेत्र इस दृश्य जगत्में है, उसी प्रकार सूक्ष्म देहका कार्यक्षेत्र सूक्ष्म जगत्में होता है । स्थूल देहसे सूक्ष्म जगत्में कार्य नहीं हो सकता, परंतु सूक्ष्म देहसे स्थूल जगत्में अंशरूप प्रेरणाका कार्य हो सकता है यह सत्य है, तथा केवल सूक्ष्म देहसे अर्थात् मरणक पश्चात् अवशिष्ट रहे हुए सूक्ष्म देहसे इस स्थूल जगत्में कार्य नहीं कर सकते । इन लोकोंका विचार करनेके लिये इस व्यवस्थाकी ठोस कल्पना होनी चाहिये ।

वासना देह ।

स्थूल देहका कार्य सब जानते ही हैं, इसके अंदर पहिला सूक्ष्म देह ' वासना देह ' है, भद्र और अभद्र वासना मनुष्य करता है, वह इस देहसे करता है । जो मनुष्य घातपात और हिंसा आदिकी अभद्र वासनाओंसे अपने आपको अपवित्र करते हैं और इसा प्रकारके दुष्ट कार्योंमें अपनी आयु व्यतीत करते हैं, उनका यह वासना देह बड़ा मलिन होता है और जो लोग अपनी वासनाएं पवित्र करते हैं, शुद्ध और निष्पाप कामनाओंका धारण करते हैं, उनका वासना देह शुद्ध और पवित्र बनता है ।

मृत्यु आनेसे मनुष्यका स्थूल देह नष्ट हुआ तो भी स्थूल देहके नाशसे यह ' वासना देह ' नष्ट नहीं होता, अर्थात् मृत्युके नगर भी और स्थूल देह नष्ट हो जानेपर भी यह जीव अपने वासना देहसे अपनी वासनाएं करता है । आमरणान्त हिंसक वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी वासनाएं हिंसामय क्रूर होती हैं और शांत तथा सम वृत्तिसे रहे हुए मनुष्यकी शान्तिपूर्ण निर्भय वृत्तिकी वासनाएं होती हैं । हिंसापूर्ण वासनाओंसे अशान्ति और निर्भयताकी वासनाओंसे शान्ति होती है । वासना देहके कार्यक्षेत्रमें मनुष्यको इस प्रकार सुख-दुःख केवल अपनी वासनाओंसे ही प्राप्त होता है । गुरी वासनाओंके प्राक्त्वसे जो अशान्ति होता है उसीका नाम नरक है और शुभ वासनाओंकी प्रबलतासे मनुष्य स्वर्ग सोपानके मार्गसे ऊपर चढ़ता है अर्थात् शान्तिपुष्पका अनुभव मरणोत्तरके कालमें भी करता है । मनुष्य अपना स्वर्ग और नरक स्वयं बनाता है ऐसा जा कहते हैं उसका हेतु यहाँ है । जो मनुष्य अपने अंदर शुभ वासनाओंको स्थिर करता है और आत्मशुद्धिका साधन करता है वह अपने लिये स्वर्ग रचता है और जो मनुष्य अपने अंदर हान वासनाएं बढाता है, वह अपने लिये नरकका अग्नि प्रज्ज्वलित करता है ।

नरकके दुःख ।

कामों और क्रोधों पुरुष अपनी कुवासनाएं अतृप्त रहनेके समय कैसे तडफने रहते हैं, इसका अनुभव जिनको है वे जान सकते हैं कि मरणोत्तरके कालमें अतृप्त वासनाओंके मउक उठनेसे मुतात्तमको केसा तडफना पड़ता होगा, यही उसका नरक-वास है । इस वासना देहका गुरी वासनाओंका आल ज्वलत चलता रहता है तबतक यह तडफना उसके लिये अत्यंत अपरिहार्य ही है और कोई दूसरा इस समय उसके इन कष्टोंको दूर नहीं कर सकता । क्योंकि उसके ये कष्ट स्वयं उसकी अंदरकी वासनाओंके कारण होते हैं । अब वासनाएं उठ उठ कर उनका

परिणाम न होनेके कारण कुछ समयके पश्चात् स्वयं नष्ट होती है, तब उसका यह नरकनाश समाप्त होता है ।

इस रीतिसे शुभाशुभ वासनाकी तरंगें उठना अब बन्द हो जाता है तब इसका यह भोग समाप्त होता है, मानो इस समय इसका वासना देह ही फट जाता है अर्थात् इसकी वासना देहकी भी मृत्यु हो जाती है । इस वासना देहसे मनुष्य स्वप्न देखता है । शुभ और अशुभ स्वप्नका अनुभव होना शुभाशुभ वासनाओंसे भी होता है । यदि मनुष्य अपने स्वप्नोंका विचार करेगा, तो भी उसको अपने मरणोत्तरकी स्थितिकी कल्पना हो सकती है और अपनी वासनाओंकी शुभाशुभ अवस्थाका भी पता उसको लग सकता है, तथा मरणोत्तर नरक प्राप्त होगा या स्वर्ग प्राप्त होगा, इसका भी ज्ञान हरएकको इससे हो सकता है । अपनी वासनाओंकी परीक्षासे यह समझना कठिन नहीं है ।

कल्पवृक्ष और कामधेनु ।

अब पूर्वोक्त प्रकार वासना देहकी मृत्यु हो जाती है तब मृतात्माका कारणदेह कार्य करनेके लगता है । यहाँ यदि उसके शुभ और सत्य प्रियताके विचार हुए तो उसको अपने संकल्पोंसे ही मृत और आनंद मिलता है । जो कल्पना होगी, वह मूर्तस्वरूप इस समय उपास्थित होगी । यही कल्पवृक्षका स्थान है, या स्वर्गीय कामधेनु भी यही है । जो कल्पना उठेगी वह मूर्तस्वरूप धारण करके इसके समुत्पन्न आ जायगा । शुभ मंगल कल्पनाओंसे सुख और अन्य कल्पनाओंसे दुःख होगा । कल्पवृक्षके नीचे बैठा हुआ मनुष्य यदि 'व्याघ्रका हमला अपने ऊपर होनेकी कल्पना' करेगा तो उसकी कल्पना होते ही व्याघ्रका हमला होकर वह उसी समय मर जायगा । इसमें कल्पवृक्षका कोई दोष नहीं है, परंतु कल्पना करनेवालेका ही दोष है । क्योंकि दूसरा मनुष्य समुत्पन्न फलभोजकी कल्पना करके समुत्पन्न फलोंका आस्वाद भी लेगा । यह केवल कल्पनाके ही खेल है । इस कारण देहकी अवस्थामें येही संकल्पोंके खेल होते हैं । यदि इसके शुभ संकल्प बने हों, तो इस समय उसके लिये ये शुभसंकल्प अलंत सुख दे सकते हैं । स्वर्गलोकमें भी, दूध, शहद, दहीकी मीठी नदियाँ पास होंगी, और अन्यान्य सुख मिलेगा, ऐसा जो इस सूक्तमें कहा है, वह सुख इस प्रकार उसके शुभ विचारोंके कारण ही उसको प्राप्त होगा । शहदकी कल्पना होते ही वह उसको प्राप्त होगा और इसी प्रकार अन्य सुख भी इसकी मिलेंगे । मंत्र ५, से ८ तक जो स्वर्ग सुखका वर्णन किया है, उसका तात्पर्य यह है । अब अष्टम मंत्रमें—

विश्वरूपा धेनुः कामधेनु मे अस्तु ।

(घ. ३५, मं. ८)

'विश्वरूपा कामना पूर्ण करनेवाली कामधेनु मुझे स्वर्गमें मिले' ऐसा जो कहा है, यह कामधेनु इसी समय इस रीतिसे प्राप्त होती है । इस स्वर्गलोकके संकल्पका प्रभाव देखिये कैसा वर्णन किया है—

संकल्पसिद्धि ।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति ... ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतयादितलोककामो भवति ... ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति ... ॥ ९ ॥

यं यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो भवत्येते ॥ १० ॥

(छं. ८१२५-१०)

'अन्नपान, मानावजाना, स्त्रीसुख आदि जिसकी कामना वह इस समय करता है, उसके संकल्पसे ही उसको उन सब सुखोंकी प्राप्ति होती है ।' यह छांदोग्य उपनिषद्में कहा हुआ वर्णन इस सूक्तके वर्णनके साथ पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि दोनों वर्णन समान ही भाव व्यक्त कर रहे हैं ।

स्वर्गमें शहद, दही, दूध, घी, शुद्धोदक आदिकी नहरें हैं, यह बात वस्तुतः नहीं है । परंतु शहदकी कल्पना उठनेसे जितना चाहे चटा शहदका तालाव या सोत उसको प्राप्त हो सकता है और उसके सेवन करनेका आनंद उसको केवल संकल्पके प्रभावसे ही मिल सकता है ।

इस सूक्तमें 'स्वर्गलोकमें बहुत (बहु स्त्रैण) स्त्रीसुख (मं. २); मीठे रसकी चाराएं (मधुमत् पिन्वमानाः चाराः) (मं. ५-७); (घृतचूदाः) घीके तालाव; (मधुकूलाः) शहदकी नदियाँ; (क्षीरेण दध्ना पूर्णाः) दूध और दहीसे भरे हुए (मं. ८)' इत्यादि जो वर्णन है वह पूर्वोक्त रीतिसे अनुभवमें आनेवाला है, यह पाठक स्मरणमें रखें । 'कारण' शरीरकी यह अवस्था है जहाँ सङ्कल्पकी सिद्धि होती है ।

कुराणमें बहिस्त ।

कुराणशरीरमें जो 'बहिस्त' की कल्पना है और उस बहिस्तमें पार्थिक श्रोत बढने और शहदकी नदियाँ होनेका जो वर्णन है वह इस सूक्तसे लिया हुआ प्रतीत होता है । इस सूक्तके पंचम मंत्रमें 'बहिष्ठः' शब्द है जो स्वर्गदायक यज्ञका वाचक है और साथ साथ स्वर्गका भी दूरतः वाचक है, उसीका कुराणशरीर पर समान है । परंतु वेदादि मंत्रोंमें जो स्वर्गकी कल्पना विशद की है और ऊपर बताये छांदोग्योपनिषद्में जो कल्पना स्पष्ट कर दी है, उस प्रकार कुराणशरीरमें नहीं की है, इसलिये उस

होते हैं । अर्थात् ब्राह्मणका अर्थ गुरुकुल, विद्यालय और विध्व-
विद्यालयका आचार्य और महाचार्य । इसको दान देनेसे वह
दान सब विद्यार्थियोंका भला करता है अर्थात् परम्परासे वह
दान राष्ट्रके हरएक परतक पहुंचता है ।

गुरु-कुल ।

राष्ट्रके विद्यार्थी- प्रायः श्रैवाण्योक्त विद्यार्थी अथवा समय
समय पर पंच वर्णियोंके भी विद्यार्थी- ब्राह्मणोंके घरोंमें रहकर
विद्याभ्यास करते थे । कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं होता था कि
जो अध्यापन न करता था । एक एक कुलपतिके आश्रममें दस
हजारसे साठ साठ हजार तक विद्यार्थी पढ़ते थे । और प्रायः
ब्राह्मणोंके घर ' गुरु-कुल ' ही हुआ करते थे । पाठक यह अव-
स्था अपने आँखोंके सामने आँवेंगे, तो उनको पता लग जायगा
कि, ब्राह्मणको दिया हुआ दान सब राष्ट्रमें अथवा सब जन-
तामें किस रीतिसे विस्तृत होता है, फैलकर हरएकके पास किस
रीतिसे जाकर पहुंचता है ।

दानकी रीति ।

ऐसे ब्राह्मणोंके आश्रमोंकी भूमिमें कृषे सुदवाकर जलदान
करना, बहुत दूध देनेवाली गायें उनको देकर दूध देना, गहद,

मीठा, मिश्री, घी, मक्खन आदिका दान करना, गेहूं, चावल,
आदि धान्य देना अथवा धान्यकी जहाँ अच्छी उपज होती है
ऐसी भूमि दान करना, अथवा आश्रममें अन्न ले जाकर वहाँ
पकाकर वहाँके आश्रमवासियोंकी खिलाना, अथवा लड्डू आदि
पदार्थ बनवाकर वहाँ भोजना दिया अन्य रीतिसे अन्नदान
करना । यह विष्टारी यज्ञकी रीति है । यह बड़ा उत्कारी यज्ञ
है और यह दानयज्ञ करनेसे पूर्वोक्त प्रकार स्वर्ग आदिका सब
प्राप्त हो सकता है ।

शुभभावनाकी स्थिरता ।

जब मनुष्य इस प्रकारका दान करता है तब उसके मनमें
शुभ भावना होती है । घरबार इस प्रकारका दान करनेसे वह
शुभ भावना मनमें स्थिर हो जाती है । दान करनेसे मनकी
प्रसन्नता भी बढ़ जाती है । स्वयं भोग भोगनेसे जो प्रसन्नता
नहीं होती वह दान देनेसे प्राप्त होती है । और बारंबार दान
देनेसे वह मनमें स्थिर हो जाता है । इस रीतिसे यह विष्टारी
यज्ञ मनुष्यके मनपर शुभसंस्कार स्थिर करता है । ये ही शुभ
संस्कार वस्त्रका मन जीवित अवस्थामें प्रसन्न रखनेके लिये
सहाय्यक होते हैं और मरणोत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार प्रसन्नता
देते हैं । इस रीतिसे यह यज्ञ मनुष्यकी उन्नति करता है ।

मृत्युको तरना ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — प्रजापतिः । देवता — अतिमृत्युः ।)

यमोदुनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तृपसा ब्रह्मणेऽपचत् ।

यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषाचैर्नादिनेनाति तराणि मृत्युम्

॥ १ ॥

अर्थ — (ऋतस्य प्रथमजाः प्रजापतिः) ऋत नियमका पहिला प्रवर्तक प्रजापति (ब्रह्मणे यं ओदुनं अपचत्)
ब्रह्मके लिये जिस अन्नको पकाता रहा, (यो लोकानां वि-धृतिः) जो लोकोंका विशेष धारण करनेवाला है और (न अभि
रेषात्) जो कमी किसीको हानि नहीं पहुंचाता है, (तैर्नादिनेन मृत्युं मति तराणि) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार
करूँ ॥ १ ॥

भाषार्थ — जिसने संपूर्ण सत्य और अष्टल नियमोंका सबसे पहिले प्रवर्तन किया, उस प्रजापतिने विशेष महत्त्व प्राप्तिके
लिये यह ज्ञान रूप अन्न तैयार किया, यह सब लोकोंका विशेष रीतिसे धारण पोषण करता है और इससे किसीका भी नाना नहीं
होता है । इसी ज्ञानसे मैं मृत्युको दूर करता हूँ ॥ १ ॥

येनार्तरन्भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वर्विन्दन्तर्पसा श्रमेण ।

यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वे तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसैन ।

यो अस्तस्मनादिवंमूर्ध्वो महिस्मना तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः ।

अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यः प्राणदः प्राणदवान्बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः श्रन्ति ।

ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।

यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदुनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ६ ॥

अये— (येन भूत-कृतः मृत्युं अति तरन्) जिससे भूतोंको बनानेवाला मृत्युके पार हो गये, (यं तपसा श्रमेण अन्वर्विन्दन्) जिसको तप और परिश्रमसे प्राप्त किया, और (य पूर्वे ब्रह्म ब्रह्मणे पपाच) जिसको पहिले ब्रह्मने ब्रह्मके निमित्त पकाया (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करू ॥ २ ॥

(यः विश्वभोजसं पृथिवीं दाधार) जो सबको भोजन देनेवाली पृथ्वीका धारण करता है, (यः रसेन अन्तरिक्षं वा पृणात्) जो रससे अन्तरिक्षको भर देता है, (य महिस्मना ऊर्ध्वः दिवं अस्तधात्) जो अपना महिमासे ऊपर की गुलोकको धारण किये हुए है, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करू ॥ ३ ॥

(यस्मात् त्रिंशत्-अराः मासाः निः-मिताः) जिससे तीस दिन रूपी अरोंवाले महिने बनाये हैं, (यस्मात् द्वादश-अर संवत्सराः निः-मित) जिससे बारह महिने रूप अरोंवाला वर्ष बनाया है, (परियन्तः अहोरात्रा ये न आपुः) गुजरते हुए दिन रात जिसका प्राप्त नहीं कर सकते (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करू ॥ ४ ॥

(यः प्राण दः प्राण-द-वान् बभूव) जो जीवन देनेवाला प्राणके दाताओंका स्वामी हो हुआ है (यस्मै घृतवन्तः लोकाः श्रन्ति) जिसके लिये घृतयुक्त लोक रख देते हैं, (यस्य सर्वा प्रदिश ज्योतिष्मतीः) जिसकी सब दिशा उपदिशाएँ तेजवाली हैं (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करू ॥ ५ ॥

(यस्मात् पक्वात् अमृतं संबभूव) जिस परिपक्वसे अमृत उत्पन्न हुआ, (यः गायत्र्याः अधिपतिः बभूव) जो गायत्रीका अधिपति हुआ, (यस्मिन् विश्वरूपाः वेदाः निहिता) जिसमें सब प्रकारके वेद रखे हैं, (तेन०) उस अन्नसे मैं मृत्युको पार करू ॥ ६ ॥

भाषार्थ— इसीसे भूतोंको उत्पन्न करनेवाला मृत्युके पार हो गये, जिसकी प्राप्ति तप और परिश्रमसे होती है और जो पहिले ब्रह्मने महत्त्व प्राप्तिके लिये परिपक्व किया था, उसी ज्ञानसे मैं भी मृत्युको दूर करता हू ॥ २ ॥

जिसने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरिक्षमें अलको भर दिया और गुलोक ऊपर स्थिर किया उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हू ॥ ३ ॥

जिससे तीस दिनवाले महिने और बारह महिनोवाला वर्ष बना और प्रतिक्षण गमन करनेवाले दिन रात भी जिसका अन्त न लगा सके, उस ज्ञानरूप पक्काजसे मैं मृत्युको दूर करता हू ॥ ४ ॥

जो स्वयं जीवनशक्ति देनेवाला है और जीवन देनेवालोंका भी जो स्वामी है, जिसकी तृप्तिके लिये संपूर्ण जगत्के रस प्रवाहित हुए हैं और जिसके तेजसे सब दिशाएँ तेजमय हो चुकी हैं, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हू ॥ ५ ॥

अथ वाधे द्विपन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽपु ते भवन्तु ।

ब्रह्मोदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्धाघानस्य देवाः

॥ ७ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(देव-पीयुं द्विपन्तं अपवाधे) देवत्वके नाशक शत्रुओंको मैं हटाता हूँ । (ये मे सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो मेरे प्रतिस्पर्धी हैं वे दूर होंगे । मैं (विश्व जितं ब्रह्मोदनं पचामि) विश्वको जीतनेवाला ज्ञान रूपी अन्न पकाता हूँ । (देवाः श्रद्धाघानस्य मे शृण्वन्तु) सब देव श्रद्धा धारण करनेवाले मेरा यह भाषण सुनें ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ है, जो वाणीका पति है और जिसमें सब प्रकारका ज्ञान रखा है, उस ज्ञानरूप अन्नसे मैं मृत्युको दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

देवत्वका नाश करनेवालोंको मैं प्रतिबंध करता हूँ, मेरे प्रतिस्पर्धीयोंको भी मैं दूर करता हूँ और जगत्को जीतनेवाला ज्ञान-रूपी अन्न परिपक्व करता हूँ । मैं इसमें श्रद्धा रखनेवाला हूँ अतः मेरा यह कथन सब ज्ञानी जन सुनें ॥ ७ ॥

ब्रह्मोदन ।

'ब्रह्म' शब्द 'ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, ज्ञान' इत्यादिका वाचक है । यहाँ विशेषकर ज्ञानवाचक है । 'ओदन' शब्द अन्नका वाचक है । श्रुतिले 'ब्रह्मोदन' शब्द 'ज्ञानरूप अन्न' यह अर्थ बताता है । बुद्धिका अन्न 'ज्ञान' है । शरीर-का अन्न चावल आदि खाद्यपेय है । इन्द्रियोंका अन्न उसके विषय हैं, मनका अन्न मन्तव्य है और बुद्धिका अन्न ज्ञान है । आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसमें 'चित्' शब्द ज्ञान-वाचक है, अर्थात् इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है । इसका फलित यह हुआ कि आत्मका स्वभाव गुण ही ज्ञान है । यह ज्ञान प्राप्त करके, अर्थात् इसकी खाकर बुद्धि पुष्ट होती है ।

आत्माका गुण ज्ञान होनेसे वह सदा उसके साथ रहना स्वभाविक है । जिस प्रकार दीप और आकाश एकत्रित रहते हैं, उसी प्रकार आत्माका प्रकाश ही ज्ञानरूप है, इस कारण वह उसके साथ रहता है । दीप बड़ा, अथवा प्रकाश कदा तो दोनों एक ही घात है । व्यवहारमें यही बात है, मैं प्रकाशसे पड़ता हूँ या दीपसे पड़ता हूँ, इसका अर्थ एक ही होता है । इसी प्रकार 'मैं ज्ञानसे मृत्युको दूर करता हूँ, अथवा मैं आत्म-शक्तिसे मृत्युको पार करता हूँ, या आत्मसे मृत्युको दूर करता हूँ' इसका तात्पर्य एक ही है ।

इस सूक्तमें 'मैं ब्रह्मोदनसे मृत्युको पार करता हूँ' (तेन ओदनेन अतितराणि मृत्यु । म० १-६) यह वाक्य

छः बार आगया है । इसका आशय भी पूर्वोक्त प्रकार ही सम-झना उचित है । मैं आत्मके ज्ञानरूप अन्नसे मृत्युको दूर करता हूँ । गुण और गुणीका अभेद अन्यत्र मानकर गुणके वर्णनसे गुणीका वर्णन यहाँ किया है । इसीलिये 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सुलोक्का धारक यह है' यह तृतीय मन्त्रका वर्णन सार्थ होता है । क्योंकि परमात्माने इस त्रिलोकीका धारण किया है इस विषयमें किसीको संदेह नहीं हो सकता । परन्तु इसमें कहा है कि ब्रह्मोदनने त्रिलोकीका धारण किया है । ज्ञानरूप अन्नसे त्रिलोकीका धारण हुआ है अर्थात् ज्ञान जिसका गुण है उस परमात्मासे त्रिलोकीका धारण हुआ है, यह अर्थ अब इस स्पष्टीकरणसे स्पष्ट हुआ ।

इसी दृष्टिसे तृतीय, चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका आशय जानना उचित है—

'जिसका ज्ञान गुण है उसी आत्माने पृथ्वीका धारण किया, अन्तरीक्षमें जल भर दिया और आकाशको ऊपर स्थिर किया है' ॥ ३ ॥ उसी आत्मासे सूर्य-चंद्रादिकें गति होकर दिन, रातिने धीरे धीरे चरते हैं, परन्तु ये कालके अवयव कालको मापते हुए भी उस परमात्माका मापन करनेमें असमर्थ हैं ॥ ४ ॥ यह सबको जीवन देता है और सब अन्य जड़िन देनेवालोंका यह ईश है, अर्थात् इसकी शक्ति प्राप्त करके ही वे सब जीवन देनेमें समर्थ होते हैं । सब पदार्थमात्रमें जो सब सब होते हैं वे जिसको एक समग्र ही प्राप्त होते हैं और सब अमर्त्य दिशा उपदिष्टाएँ जिसके तेजसे तेजस्वी बनते हैं, उसके ज्ञानशक्तसे पुष्ट होता हुआ मैं मृत्युको दूर करता हूँ ॥ ५ ॥

यह इन तीनों मंत्रोंका आशय है। इन मंत्रोंमें गुणोंके वर्णनसे गुणोंका वर्णन किया है। अर्थात् उस आत्मामें जो रस भरा है उसीको प्राप्त करके अमर बनाना है और मृत्युको दूर करना है।

अमृतकी प्राप्ति ।

आगे छोटे मंत्रमें, कहा ही है कि 'यस्मात् पक्तात् अमृतं स वभूव' (म ६) जिस परिपक्व आत्मासे अमृत उत्पन्न हुआ, उस अमृतको प्राप्त करके मैं मृत्युको दूर करता हूँ। यह बात स्पष्ट है कि परमात्मा सबसे अधिक परिपक्व, पूर्ण, रसमय और अमृतरस युक्त है तथा उसीका पान करके सब अन्य जन तृप्त होते हैं। यही गायत्री रक्षा (गाय-त्री) करनेवाली वामदेवीका अधिपति है, इसीलिये उसमें सब वेद रखे हैं। जिसमें वाणा रहती है उसीमें वेद रहते हैं। यह पशु मंत्रका कथन अब स्पष्ट हो गया है।

आत्मशुद्धि ।

सप्तम मन्त्रमें आत्मशुद्धिपर बहुत जोर दिया है, इसका

आशय यह है— (१) देव भिन्दकोंको दूर करना, (२) प्रति-स्पर्धियोंको दूर करना, (३) सत्यपर श्रद्धा रखना, (४) और विध्वंस विमर्शक लिये इस ब्रह्मज्ञानरूपी अन्नको पकाना और पश्चात् अन्न्योंके साथ स्वयं उसको सेवन करना। इससे मनुष्यकी उत्पत्ति होगी और वह मृत्युको दूर कर सकेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। देवकी निंदा करनेक श्रद्धाहीन विचार अपने मनमें उत्पन्न हुए तथा कामक्रोधादि विरोधी भाव मनमें आय, तो उनको दूर करनेसे आत्मशुद्धि होती है और अन्य श्रद्धादिके धारण करनेसे उत्पत्ति होती है। इस रीतिसे मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ मृत्युको दूर कर सकता है।

तप ।

यह सब तपक आचरणसे और परिश्रमसे साध्य हो सकता है। आत्मोद्धारके लिये तप करेंगे वेही अपना उद्धार कर सकते हैं, यह द्वितीय मन्त्रका कथन ध्यानमें धारण करके पाठक तपके आचरण द्वारा अपने आपको पवित्र करके मृत्युको दूर करेंगे ता उनका जीवन सफल होगा।

॥ यदां सतम अनुयाक समाप्त ॥



सत्यका बल ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — चातनः । देवता — सत्योजा अग्निः ।)

तान्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा । यो नो दुरस्यादिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥ १ ॥
 यो नो दिप्सादिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति । वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्रेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥
 य आगरे भृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये । क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वास्तान्सहसा सहे ॥ ३ ॥
 सहे पिशाचान्सहसैषां द्रविणं ददे । सर्वान्दुरस्पतो हन्मि सं म आकूतिक्रिष्यताम् ॥ ४ ॥
 ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते ज्वम् । नदीषु पर्वतेषु ये सैः पशुभिर्विदे ॥ ५ ॥

अर्थ— (सत्य-ओजाः वैश्वानरः) सत्य बलवाला विश्वका नेता (वृषा अग्निः) बलवान् तेजस्वी देव (तान् प्र दहतु) उनको भस्म कर डाले, (यः नः दुरस्यात्) जो हमें दुष्ट अवस्थामें फेंके (च दिप्सात्) नाश करे, (अयो यः नः अरातीयात्) और जो हमारे साथ शत्रुके समान चर्ताव करे ॥ १ ॥

(यः अदिप्सतः नः दिप्सात्) जो निरपराधों हम सबका नाश करनेका यत्न करे, अथवा (यः च दिप्सतः दिप्सति) जो नाश करनेवालेको भी स्वयं ही बध देता है, (वैश्वानरस्य अग्नेः दंष्ट्रयोः) विश्वचालक तेजस्वी देवकी दोनों दाढ़ीमें (तं अपि दधामि) उसको मैं धरता हूँ ॥ २ ॥

(ये आगरे) जो घरमें (प्रति क्रोशे अमावास्ये) कलहके अवसरमें अथवा अमावास्याकी रात्रिमें (भृगयन्ते) खोजते फिरते हैं, (अन्यान् दिप्सतः क्रव्यादः तान् सर्वान्) दूसरोंके पातक मांसभोजी उन सबको (सहसा सहे) अपने बलसे पराभूत करता हूँ ॥ ३ ॥

(पिशाचान् सहसा सहे) रक्त पीनेवालोंका बलसे पराभव करता हूँ । (पशुं द्रविणं ददे) इनका धन लेता हूँ । (दुरस्पतां सर्वान् हन्मि) दुष्ट अवस्थातक पहुँचानेवाले सब दुष्टोंका नाश करता हूँ । (मे आकूतिः सक्रिष्यतां) मेरी यह सकल्प सकल हो जावे ॥ ४ ॥

(ये देवाः तेन हासन्ते) जो दिव्य जन उसके साथ हँसी खेल करते हैं, (सूर्येण जवं मिमते) और सूर्यसे वेगका परिमाण करते हैं, उनसे और (नदीषु पर्वतेषु ये सैः पशुभिः) नदियों और पर्वतोंमें रहनेवाले पशुओंके साथ भी मैं (सविदे) मिलता हूँ ॥ ५ ॥

भाषार्थ— जो लोगोंको घुरी अवस्थामें फेंक देते हैं, जनोंका नाश करने हैं और शत्रुता करते हैं, उनको सत्य बलवाला विश्वचालक तेजस्वी देव भस्म करे ॥ १ ॥

जो दुष्ट हम सब निरपराधियोंपर हमला करता है अथवा हमारा थोड़ासा अन्याय होनेपर भी जो अपने हाथमें अधिकार लेता हुआ हमारा नाश करता है, उसको विश्वचालक तेजस्वी देवकी दाढ़ीमें मैं धर देता हूँ ॥ २ ॥

जो घरमें, कलहके समयमें अथवा अमावास्याकी अघेरा रात्रिमें दूढ़ दूढ़ कर लोगोंको सताते हैं उन सबको बलसे मैं दूर करता हूँ ॥ ३ ॥

रक्त पीनेवाले दुष्टोंसे मेरे दूर करता हूँ, और इनका धन छीनता हूँ । क्रेश देनेवाले इन दुष्टोंका मैं समूल नाश करता हूँ । यह मेरी इच्छा सकल हो जावे ॥ ४ ॥

सत्यका बल ।

सत्यका बल कितना बड़ा होता है इसका मनोर्जक वर्णन इस सूक्तमें किया है । सप्तम और अष्टम मंत्रमें कहा है कि— 'जिस ग्राममें सत्यके बलसे बलवान् हुआ मनुष्य पहुँचता है, उस ग्रामसे चोर, डाकू, लुटेरे, दुष्ट और दुष्टरेखा खून चूसनेवाले दूर हो जाते हैं । सत्यनिष्ठ मनुष्य जिस ग्राममें होता है उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य नहीं रहता । सत्यका बल जिस ग्रामके मनुष्योंमें होता है वहाँसे दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा वहाँ रहे भी तो वे अपने पापी विचारको त्याग देते हैं ।'

(मं. ७-८)

ग्राममें एक मनुष्य भी इस प्रकारका सत्यनिष्ठ हुआ तो ग्रामका सुधार हो जाता है । एक मनुष्य सत्यनिष्ठ होनेसे अर्थात् उसके कार्यावाचामनसा असत्यके कुविचार न उत्पन्न होनेसे वह मनुष्य अपने सत्यके बलसे सब ग्रामके मनुष्योंका उक्त प्रकार सुधार कर सकता है ।

पाठक यहाँ अनुभव करें कि सत्यका बल कितना बड़ा है और मनुष्यकी उन्नति इसी सत्यनिष्ठाने है । अपने ग्राममें चोर, डाकू, लुटेरे या दुष्ट यदि हैं तो समझना चाहिये कि अपने अन्दर उतनी सत्यनिष्ठा बड़ी नहीं कि जितनी बड़नी चाहिये । अपने ग्रामकी परीक्षासे इस प्रकार अपनी परीक्षा हो सकती है और अपनी उन्नतिसे इस प्रकार ग्रामकी उन्नति हो सकती है । व्यक्तिका समाजपर और समाजका व्यक्तिपर दर्श, प्रकार प्रभाव होता रहता है ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दानार्च्य और अपरिग्रह तथा शौच, संतोष, सप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये यमनियम यदि एक भी मनुष्यमें बढ गये और स्थिर होगये तो उसकी अन्तः पवित्रताके कारण वह ग्राम सुधार जाता है । इसलिये इस सत्यके बलको अपने अन्दर बढानेका प्रयत्न जहाँतक हो सके वहाँतक हरएकको करना चाहिये ।

दुष्ट मनुष्य ।

दुष्ट मनुष्योंके कुछ लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं उनका अब यहाँ विचार करते हैं—

(१) दुष्टस्यात्— दुष्टोंको मुझे अवस्थामें जो फँसता है ।

(म. १) .

(१) दिप्सत्— दुष्टोंका घातशत अथवा नाश जो करता है ।

(मं. १, २)

(२) अरातोयात्— जो सन्तुष्ट करता है, निंदा अथवा द्वेष करता है, शत्रुके समान आचरण करता है ।

(मं. १)

(४) अदिप्सतः दिप्सात्— दुष्टोंको कभी कष्ट देनेवाले सज्जनोंको भी जो द्वेष पहुँचाता है । (मं. १)

(५) दिप्सतः दिप्सति— योद्धाका कष्ट देनेपर भी अपने हाथमें न्याय लेकर उसका अपरिमित नुक़ करता है । (मं. १)

(६) आगरे दिप्सति— जो घरमें सुषकर विनाश पातपात करता है । (मं. १)

(७) प्रतिक्रोशे दिप्सति— योद्धाको बातचीत हों और विनाशकण कुद होकर मारपीट करता है । (मं. १)

(८) अमावास्याये मृगयन्ते— अमावास्याकी रात्रीमें हँद हँदकर बाका डालते हैं । (मं. १)

(९) पिशाचाः— कच्चा रक्त पीनेवाले और कच्चा म खानेवाले क्रूर मनुष्य । (मं. ४, ६, ७, ८)

(१०) स्तेन— चोर, लुटेरे, डाकू । (मं. ७)

(११) घनर्तुं— जंगलमें रहते हुए ग्रामके लोगोंको ब देनेवाले लोग । (मं. ७)

(१२) जने दुर्हितान्— लोगोंका अहित करनेवाले । (मं. ९)

(१३) अल्प शयून्— रात्रीमें घोड़ी निद्रा लेनेवाले अर्थात् शेष रात्रीमें बाका डालनेवाले डाकू । (मं. ९)

(१४) मत्स्यः— मलिन आचारवाले, दुष्ट । (मं. १०)

दुष्ट मनुष्योंके ये चौदह लक्षण इस सूक्तमें दिये हैं । इन विचार करके अपने ग्राममें कौन मनुष्य किस प्रकारका दुष्ट । यह जान सकते हैं और अपने ग्रामका सुधार भी इनको सुधार कर या दूर करके कर सकते हैं । अष्टम मंत्रमें कहा ही है कि 'सत्यनिष्ठ मनुष्य ग्राममें हुआ तो उसके सत्यके बलसे या तो दुष्ट मनुष्य दूर हो जाते हैं अथवा अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं और सज्जन बनकर रहते हैं ।' यहाँ ग्राम सुधारकी रीति है । पाठक इस रीतिका विचार करके इस रीतिके अनुसार अपने स्थानका सुधार कर सकते हैं ।

वैश्वानरकी दंष्ट्रा ।

दुष्ट मनुष्य अथवा अपराधी मनुष्योंको स्वयं दण्ड नहीं देना चाहिये, परन्तु 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' में उसको रख देना चाहिये, यह उपदेश इस सूक्तके द्वितीय मंत्रमें दिया है । यह 'वैश्वानरकी दंष्ट्रा' क्या पदार्थ है इसका विचार अवश्य करना चाहिये । 'विश्व' शब्दका अर्थ 'सब' है, 'नर' शब्द

मुष्णवाचक है अर्थात् 'विश्वानर' शब्द 'सर्व मनुष्योंके समूह' का वाचक है । संपूर्ण मानवोंके एकत्र संचयी कल्पना 'विश्वानर' शब्दसे लेनी प्रतीत होती है । इसकी 'दष्ट्रा' न्यायालय अथवा पंचके नामसे प्रसिद्ध है । इस न्यायालयक सन्मुख उस अपराधीको रख देना चाहिये । [इस 'दष्ट्रा' का दाढ़ अथवा जबड़ेके विषयमें अथर्ववेद काण्ड ३, सूक्त २६, २७ की व्याख्याके प्रसंगमें विस्तारपूर्वक लिखा है, वह देख पाठक यहां अवश्य देखें ।]

कोई भी मनुष्य अपने हाथमें स्वयं ही शासनाधिकार न ले, प्रत्युत अपने पक्षोंके शासनाधिकारमें ही सन्तुष्ट रहे, यह अत्यंत बड़ी सभ्यताका आदेश है जो ऐसे सुक्तोंमें वेदने दिया है । ग्राम नगर और राष्ट्रमें शान्ति रखनेके लिये इस नियमके पालनकी अत्यंत आवश्यकता है और जो लोग इस प्रकारकी व्यवस्थामें नहीं रहते और अपने हाथमें दण्ड लेते हैं वे सभ्य नहीं कहलाते ।

पूर्वोक्त प्रकारके दुष्ट मनुष्योंको दूर करना चाहिये क्योंकि वे (पिशाचाः) अपने स्वार्थके लिये दूसरोंका धन चूसनेवाले हिंसक होते हैं । वैदिक धर्मको अन्तिम अहिंसा ही स्थापित करनी है, इसलिये हिंसकोंका हिंसा भाव दूर करनेके उपाय वैदिक धर्ममें अनेक रीतसे कहे हैं । इसी हेतुसे इस सूक्तके पद्यम मन्त्रमें नदियों और पर्वतोंमें निवास करनेवाले जीवजन्तुओंके साथ (सं विदे) संवेदना करनेका सूचना दी है । संवेदनाका अर्थ ' अपने सुखदुःखके समान वनकी भी सुखदुःख होना है ' इस भावकी मनमें आप्रति करना है ।

सुधारके दो उपाय ।

ये नदीषु पर्वतेषु (पश्याः सन्ति) तैः पशुभिः सं विदे । (सू ३६, म ५)

' जो नदियों और पर्वतोंमें जीवजन्तु रहते हैं उनसे मैं सद्बचता अपने मनमें धारण करता हूँ । ' यह अहिंसाकी प्रतिज्ञा मनुष्यको करनी चाहिये । ' भरेसे किसी भी जीव-जन्तुके लिये कोई भय नहीं होगा ' यह संकल्प करना चाहिये । इस प्रकार अहिंसा और निर्भयताका केन्द्र अपने अन्तःकरणमें जाग्रत होना चाहिये, पश्चात् सब उन्नतियां होनी संभव हैं । यह अपने हृदयकी तैयारी होनेके पश्चात्—

ये देवा तेन हासन्ते, सूर्येण जव मिमते ।

(सू ३६, म ५)

' जो देव उस आत्मानन्दसे सदा हँसते रहते हैं और अपनी सज्जतिबग्न सूर्यका गतिसे मापते हैं । ' उनसे संपत्ति करनी है । जब पहिले अपने मनके अन्दर अहिंसा स्थिर हो जायगी, तब ही ऐसा श्रेष्ठ सज्जन की संपत्तिसे अधिक लाभ होगा । अर्थात् सुधारके उपाय दो हैं, एक अपने अन्तःकरणको पवित्र बनाना और दूसरा यह है कि दिव्य जनोंसे मित्रता करना । इस प्रकार मनुष्य अचूक सज्जतिके मार्गसे ऊपर चढ़ सकता है ।

ऐसा श्रेष्ठ सत्यनिष्ठ महात्मा जिस ग्राममें पहुँचता है, उस ग्राममें दुष्ट मनुष्य रहते नहीं और रहे तो वे अपनी दुष्टता दूर करके ही रहते हैं । यह सतम और अष्टम मन्त्रका कथन विचार-शील पाठकोंको मनन करने योग्य है । इस कथोक्तोंसे अपनी पवित्रताकी परीक्षा करते हुए मनुष्यको सज्जतिके मार्ग आकांत करना चाहिये ।

रोगकृमिका नाश ।

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — वासरायणि । देवता — अजशृंगी । अगस्त्यः ।)

त्वया पूर्वमथर्वाणो जुध्न् रक्षीस्योपधे । त्वया जघान कृश्यपस्त्वया कर्षो अगस्त्यः ॥ १ ॥

अर्थ— हे (ओपधे) ओषधे ! (त्वया अथर्वाणः रक्षीसि जघ्नुः) तेरे द्वारा आथर्वणी विद्या जाननेवाले वैद्य रोगकिमिषोका नाश करते हैं । (कश्यपः त्वया जघान) कश्यपने भी तेरे द्वारा नाश किया । (कर्षः अगस्त्य त्वया) कर्ष और अगस्त्यने भी तेरे द्वारा रोगोंका नाश किया ॥ १ ॥

मावाच्य— अजशृंगी औषधिकी सहायतासे आथर्वण, कश्यप, कर्ष, अगस्त्यने रोगकिमिषोका नाश किया ॥ १ ॥

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे । अजशृङ्गयज् रक्षः सर्वाङ्गन्धेन नाशय ॥ २ ॥
नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्रसम् । गुग्गुलुः पीला नलद्यौर्द्वेक्षगन्धिः प्रमन्दुनी ।

तत्परं ताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

यत्राश्चत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्परं ताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र वः प्रेक्षा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति ।

तत्परं ताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

एयमग्नोर्षधीनां घोरुषां घोर्यावती । अजशृङ्गयराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृपतु ॥ ६ ॥

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः । भिनन्ति मुष्कावर्षि यामि शेयः ॥ ७ ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्युसर्षाः । तामिहविरदान्गन्धर्वानवकादान्वृपतु ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (अजशृङ्गि) अजशृङ्गी औषधि ! (त्वया चर्यं अप्सरः गंधर्वाश्चातयामहे) तेरे द्वारा हम जलमें फैलनेवाले गायक क्रिमियोंको दूर दहाते हैं । (गंधेन सर्वान् रक्षः अज, नाशय) अपने गन्धसे सब रोगक्रिमियोंको दूर कर और नाश कर ॥ २ ॥

(अप्सरसः अपां तारं अवश्रसं नदीं यन्तु) जलके कृमि जलसे परिपूर्ण भरी हुई वेगवाली नदीके प्रति आये । (गुग्गुलुः) गुग्गुल, (पीला) पीछ, (नलदी) मांघी, (औक्षगन्धि) औसगन्धी, (प्रमन्दिनी) प्रमोदिनी ये पांच औषधिया हैं । यह (प्रतिबुद्धा अभूतन) जान जाओ और (तत्) इसलिये हे (अप्सरसः) जलमें फैलनेवाले कृमियो ! (परा इत) यहाँसे दूर जाओ ॥ ३ ॥

(यत्र अवश्रत्थाः न्यग्रोधाः) जहाँ पीपल वट (शिखण्डिनः महावृक्षाः) शिखण्ड आदि महावृक्ष होते हैं, (अप्सरसः) हे जलोत्पन्न क्रिमियो ! (तत् परा इत्) वहाँसे दूर भागो, (प्रतिबुद्धाः अभूतन) यह स्मरण रखो ॥ ४ ॥

(यत्र वः प्रेक्षा हरिताः) जहाँ तुम्हारे हिलनेवाले हरे भरे (अर्जुनाः) अर्जुन वृक्ष हैं (उत यत्र आघाटाः कर्कर्यः) और जहाँ आघाट और कर्करी वृक्ष अपश कर कर शब्द करनेवाले वृक्ष रहते हैं, वहाँ हे (अप्सरसः) जल सेवारी कृमियो ! (प्रतिबुद्धाः अभूतन) संचेत होओ और (तत् परा इत) वहाँसे दूर जाओ ॥ ५ ॥

(घोरुषां ओषधीनां घोर्यावती) विशेष प्रकार उगनेवाली औषधियोंमें अधिक बौर्यावाली (इयं अजशृङ्गी आ अगन्) यह अजशृङ्गी प्राप्त हुई है । यह (अराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृपत) रोगनाशक तीक्ष्णशृङ्गी औषधी रोगनाश करे ॥ ६ ॥

(आनृत्यतः शिखण्डिनः गंधर्वस्य) नाचनेवाले चोटीवाले गायक (अप्सरापतेः) जलसेवारी कृमियोंके मुखियाका (मुष्कौ भिनन्ति) अण्डकोश तोड़ देता है और (शेयः अभियामि) उसके प्रजननांगका नाश करता है ॥ ७ ॥

(इन्द्रस्य शतं व्यसमयीः हेतयः शृष्टीः भीमाः) सूर्यकी, सैकड़ों लोहमय हथियारोंके समान किरणें भँवर हैं । (तामिः हविरदान् अवकादान्) उनसे अन्न छानेवाले हिरक (गंधर्वाण व्यृपतु) कृमियोंका विनाश करे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— अजशृङ्गी द्वारा हम रोगक्रिमियोंको दूर करते हैं, इस वनस्पतिके गन्धसे ही रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ २ ॥

ये क्रिमि नदीके जलमें होते हैं और गुग्गुल, पीछ, मांघी, औसगन्धी, प्रमोदिनी इन वनस्पतियोंसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

जहाँ पीपल, वट आदि महावृक्ष होते हैं वहाँसे ये रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ४ ॥

जहाँ वेगवाले अर्जुन वृक्ष, कर्कर करनेवाले और आघाट वृक्ष होते हैं वहाँसे भी ये क्रिमि दूर होते हैं ॥ ५ ॥

सब वनस्पतियोंमें अजशृङ्गी वडी बौर्यावाली औषधी है इससे नि संदेह रोगक्रिमि दूर होते हैं ॥ ६ ॥

इससे इन क्रिमियोंके बौर्यस्थान भी नाश किये जा सकते हैं ॥ ७ ॥

सूर्यकी किरणें ऐसी प्रबल हैं कि जिनसे ये क्रिमि दूर हो जाते हैं ॥ ८ ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः । तर्भिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्वृषितु ॥ ९ ॥

अवकादानभिशोचान्पु ज्योतय मामकान् । पिशाचान्सर्वानोपधे प्र मृणीहि सहस्र च ॥ १० ॥

श्वैकैः कपिरिवैकैः कुमारः सर्वकेशकः ।

प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः संचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्याविता ॥ ११ ॥

जाया इद्वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो युयम् । अप धावतामर्त्यो मर्त्यान्मा संचध्वम् ॥ १२ ॥

वर्थ— (इन्द्रस्य हिरण्ययीः ऋष्टीः) सूर्यका सुवर्णके समान तीक्ष्ण किरणें (शतं हेतयः भीमाः) वैकडों शकोंके समान मयकर हैं (ताभिः हविरदान् अवकादान् गधर्मान् व्यपतु) उनसे अन्न खानेवाले हिंसक रोगकर्मियोंका विनाश करे ॥ ९ ॥

हे (औपधे) औषधी (अवकादान् अभिशोचान्) हिंसक और दाह करनेवाले (मामकान् अप्तु ज्योतय) मेरे शरीरके अंदरके जलाशयोंमें रहनेवालोंको जला दे । (सर्वान् पिशाचान् प्रमृणीहि) सब रक्तशोषण करनेवालोंका नाश कर और (सहस्र च) दया दे ॥ १० ॥

(एकः श्व इव) एक कुत्तेके समान है, (एकः कवि इव) एक बन्दरके समान है, (सर्वकेशकः कुमारः) जिसके सब शरीरपर बाल होते हैं ऐसे कुमारके समान एक है । (प्रियो दृशः इव भूत्वा) प्रियदर्शके समान होकर (गंधर्वः स्त्रियः संचते) गंधर्व सज्ञाक रोगकृमि जियोका पकड़ता है । (वीर्याविता ब्रह्मणा तं हतः नाशयामसि) वीर्यवाली ब्राह्मी नामक औषधिते उसका यशोस हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

हे (गन्धर्वाः) गन्धर्वों ! (यूयं पतयः) तुम पति हो, (अप्सरसः यः जाया इत्) अप्सराए तुम्हारी जिया हैं । (अमर्त्याः) हे अमरों ! (अप धावत) यशोसे दूर हट आओ, (मर्त्यान् मा संचध्वं) मनुष्योंको मत पकड़ो ॥ १२ ॥

भाषार्थ— सूर्यकी सुवर्णक रंगवाली किरणें बड़ी प्रभावशाली हैं, जिनके योगसे रोगकृमि दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इस औषधीसे मेरे शरीरके अंदर जलाशयों जो इनका स्थान है और जिनके कारण मेरा शरीरका रक्त सूखता है उनका नाश किया जावे ॥ १० ॥

कुत्ते और बंदरके समान प्रभाव करनेवाले ये रोगोत्पादक कृमि जियोंको पीडा देते हैं, इनको ब्राह्मी वनस्पतिसे दूर किया जाता है ॥ ११ ॥

इस उपायसे इन रोगमूलोंको दूर किया जाता है ॥ १२ ॥

रोग—कृमि ।

इस सूक्तमें ' रक्षः, रक्षस्, गन्धर्व, अप्सरस्, पिशाच ' ये शब्द रोगोत्पादक जन्तुविशेषोंके वाचक हैं । वैचक प्रयोगें इन रोगोंके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

(१) गंधर्वप्रहः— माधव निदानमें इसका वर्णन ऐसा मिलता है—

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रिय गीतगन्धमाह्वयः । नृत्यन्वे प्रहसति चार चालपशब्दं गधर्वप्रहपीडितो मनुष्यः ॥ (मा नि) गंधर्वप्रहसे पीडित मनुष्यका अन्त करण आनंदित होता है वह वनोपवनमें विहार करना चाहता है, गानाबजाना प्रिय

लगता है, नाचता है और हंसता है, इत्यादि लक्षण गंधर्वप्रहके लक्षण हैं ।

(२) पिशाचप्रहः— इसका लक्षण माधव निदानमें इस प्रकार कहा है—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरमलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलामः । यद्वाशी विजनव नान्तरोपसेवी व्यावेष्टन् क्षमति रुद्धं पिशाच-जुष्टः ॥ (मा नि)

' दुर्गन्धयुक्त, अपवित्र रहनेवाला, बहुत खानेवाला, बड़-बड़नेवाले, रौने-पीटनेवाला आदि प्रकार करनेवाला रोगी पिशाचप्रहसे पीडित होता है । '

‘ रक्ष’, रक्षस् और राक्षस् ’ ये शब्द भी इसी प्रकारके रोगोंके वाचक हैं । इस विषयमें रक्षोघ्न औषधि प्रयोग भी वैद्यक ग्रन्थमें दिये हैं । देखिये—

(१) भूतघ्नी— भूतरोगका नाश करनेवाली औषधि । प्रयौघरीक मुण्ढरीक, तुलसी, शङ्खुष्णी ये औषधियाँ भूतरोगनाशक हैं ।

(२) भूतघ्नः— भूजं वृक्ष, सर्षप वृक्ष ।

(३) भूतनाशन— मिलावा, हिंदु वृक्ष, वृक्षाक्ष ।

(४) भूतहन्त्री— दुर्वा, वन्याककेंटीकी बन्नी ।

(५) पिशाचघ्नः— श्वेतसर्षप वृक्ष ।

(६) रक्षाघ्नः— कायिक, हिंदु, मिलावा, नागरण, वचा ।

(७) रक्षोहा— महेषाम गुग्गुली, गुग्गुल ।

इस सूक्तमें भी तृतीय मंत्रमें गुग्गुल वृक्षको राक्षस, गधर्व अप्सरा, पिशाच आदिका नाशक कहा है, इससे ये शब्द किशो प्रकाशके रोगविशेषोंके वाचक हैं यह बात सिद्ध होती है । ऊपर लिखे वृक्ष और वनस्पतियों राक्षस भूत, प्रेत, पिशाचोंको दूर करती हैं, इससे सिद्ध होता है कि ये रोगविशेष हैं ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि ‘ अत्रशृंगीके गधरे सब राक्षस (नाशय) नष्ट होते हैं और (अज) भाग जाते हैं । (म २) ’ अर्थात् ये राक्षस सूक्ष्म कृमि अथवा सूक्ष्म रोग जंतु होंगे । इस अत्रशृंगी औषधिसे गधर्व, अप्सरा और राक्षस रोग दूर होते हैं, यह द्वितीय मंत्रका ध्येय है । इस अत्रशृंगीका वर्णन वैद्यक ग्रन्थोंमें देखिये—

अजगृंगी— ‘ कटु, तिक्ता, कफघ्नी, शूल-शोधघ्नी चक्षुष्या श्वासहृद्रोगविपकासकुष्ठघ्नी च । एतत्फल तिक्त कटुघ्न कफघातघ्न जठरा नलदीप्तिकृत् हृद्य रुच्य, लघ्णरस अम्लरस च ॥ (रा नि व ९)

‘ अत्रशृंगी औषधी कफ, ववाघीर, शूल, सूजनका नाश करनेवाली, आँखके रोग दूर करनेवाली, श्वास, हृदय रोग, विष, कास कुष्ठ दूर करनेवाला है । इसका फल कफ और वात दूर करनेवाला, पाचक आदि गुणवला है । ’ इसमें मंत्रोक्त रोगोंका नाम नहीं है । तथापि आधुनिक वैद्य ग्रन्थोंका अपेक्षा वेदने यह विशेष ज्ञान कहा है । वैद्योंको इसकी अधिक खोज करनी चाहिये ।

लक्षण ।

इन भूत रोगोंके लक्षण गारहवें मंत्रमें बड़े हैं ये अब देखिये—

(१) श्वाह्व— कुत्तेके समान काटता है,

(२) कपिः ह्व— बदरके समान कुत्तेका करता है ।

ये लक्षण पिशाच वाधित मनुष्योंमें दिखाई देते हैं । ये रोगा कुत्तेके समान और बदरके समान व्यवहार करते हैं । जिन रोगोंमें मनुष्य ऐसे व्यवहार करता है उनको उमाद रोग कहा जाता है । इस उमादके ही पिशाच, भूत, रक्ष, राक्षस, गधर्व और अप्सरा ये नाम अथवा भेद हैं । और इनका नाश इस सूक्तमें कहे औषधियोंसे होता है । औषधियोंसे इनका नाश होता है, इस कारण ये घनोच सूक्ष्म देवी किमी होना सम्यक् है, इसके अतिरिक्त ‘ पिशाच ’ शब्द इनका दधिर भक्षक होना सिद्ध करता है, अर्थात् ये किमी शरीरमें जाकर शरीरका ही दधिर खाते हैं और शरीरको कुश करते हैं । इनका नाश निम्नलिखित औषधियोंसे होता है । इन औषधियोंके गुण धर्म देखिये—

(१) गुग्गुल— इसके संस्कृत नाम ये हैं— ‘ देवघूप भूतघ्न, वातघ्न, रक्षोहा ’ ये इसके नाम इस सूक्तके कथनके साथ संगत होते हैं, अर्थात् इस गुग्गुलके धूपसे भूत, राक्षस, यक्षपान नाश होते हैं, यह बात इन शब्दोंसे ही सिद्ध होती है । अब इसके गुण देखिये—

जराव्याधि हरत्वाद्ररायणः ।

कटुतिक्तोष्णः कफघातकासघ्नः ।

हृमिवातोदरहृद्वाशोफाशघ्नः ॥ (रा नि व १२)

‘ इससे बुद्धापा और रोग दूर होते हैं, यह कफ, वात, श्वास, कृमि, उदर, अँधा, सूजन, बवाघीर रोगोंको दूर करता है । ’ इस वर्णनसे इसका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है ।

(म ३)

(२) पीला, पीलु— मंत्रमें ‘ पाता ’ शब्द है, इसका अर्थ कृरी है । ‘ पीलु ’ शब्द वनस्पति वाचक है त्रिषोकी हिंदी भाषामें ‘ मल ’ कहा जाता है । यह कफ, वात, पित्तदोषोंको दूर करता है । (म ३) (भा प्र)

(३) नलदा, नलदी— अजामोतीका यह नाम है । इसके गुण— ‘ जटामोली कफहृत्, भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी । (रा नि व १२) इस औषधीसे कफरोग, भूत रोग, पित्तरोग ये दूर होते हैं । इसमें भूतरोग शमन इस सूक्तके साथ संगत होता है । (म ३)

(४) औक्षगधि— श्वभमक औषधीका यह नाम है । इसके गुण— ‘ बल वदानेवाला, शूल वदानेवाला, पित्तरक्ष दोष दूर करनेवाला, दाह, क्षय, ज्वरका नाशक है । ’ (रा नि व ५) वाजीकरणमें इसका बहुत उपयोग होता है ।

(५) प्रमेदनी— पातकी वृक्ष । हिंदी भाषामें ‘ चार्द ’ कहते हैं । इसके गुण ‘ कटु, उष्ण, मद्धकृद्विषघ्नी, प्रवाहिकातिसारघ्नी, विसर्पघ्नघ्नी च । (रा नि व ६), मृष्णातिसारपित्तास्त्रविषकिमिविसर्पजिह्व ।

(भा प्र.) ' यह औषधि विघनाशक, अतिसार, विसर्पघ्न और कृमि दोष दूर करनेवाली है । (म. ३)

इन औषधियोंसे भूतरोग आदि ऊपर लिखे रोग दूर होते हैं । इसी कार्योंके लिये अश्वत्थ, पिप्पल आदि महावृक्ष उपयोग हैं । ऐसा चतुर्थ और पचम मन्त्रमें कहा है । इस विषयमें वैद्यशास्त्रका कथन देखिये—

(१) अश्वत्थः— हिंदी भाषामें इसको ' पिपर ' कहते हैं । इसको संस्कृतमें ' शुचिद्रुम ' कहते हैं क्योंकि यह शुद्धता करता है । इसके गुण— ' पित्तश्लेष्मण्णास्रजित् योनिशोधनः चर्यम् । (भा पू. १ म वटादिवर्ग) अर्थात् यह पित्त, कफ, मूत्र आदिके दोष दूर करता है और योनिशोधको दूर करता है । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि स्त्रियोंको जो भूत प्रताडित रोग होते हैं वे विशेषकर योनिस्थानके दोषसे ही होते हैं, इस कारण इस वृक्षका पाठ इस सूक्तमें किया है । इसके फलके गुण देखिये—

अश्वत्थवृक्षस्य फलानि पकान्यतीवहृद्यानि च शीतलानि । कुर्वन्ति पित्तास्रविपार्तिदाहं विच्छर्दिशोषारुचिदोषनाशनम् ॥ (रा नि. व ११)

(१) पीपरका फल पकनपर शीतल और हृदयके लिये हितकारी होता है । पित्त, रक्तसाव, विष, पांडा, दाह, वमन, शोष, अरुचि आदि दोषोंको दूर करता है ।

(२) चर्यप्रोचः— वट, बड़, बर, बर्षट । इस वटके गुण ये हैं— ' कफपित्तघ्नापहः । चर्यो विसर्पदाहघ्नः योनिदोषहन् । (भा प्र.), उररदाहनुष्णा मोहघ्नः शोफघ्नश्च । (रा नि व ११) यह वट कफ, पित्त, मूत्र, योनिदोष, ज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा, मूजन आदि रोगोंका नाश करता है ।

(३) शिखण्डी— गुग्गा नामक लता, और अथवा मोरका पल्ल, और स्वर्णयूषिधा वाचक यह शब्द है ।

(४) अर्जुन— हिंदी भाषामें इसको ' कड़ू, कौड़ ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

कफघ्नः, घ्नणशोधनः, पित्तघ्नमनुष्णाहरः, वातकोपनश्च । (रा नि व ९)

शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविपरकहरो मेदोमेहघ्नघ्नः स्तुवरः, कफपित्तघ्नश्च । (भा पू. १ म वटादि)

यह अर्जुन वृक्ष कफ, मूत्र, पित्त, धम, तृष्णाको दूर करता है । हृदयके लिये हितकारी है । मूत्र, क्षय, विष, रक्तदोष दूर करता है । मेदादि रोग दूर करता है ।

(५) आघाटः— अपामार्ग औषधि । हिंदीमें लज्जिका, चिरचिरा कहते हैं । इसपर कई सूक्त हैं । (अथर्व वा ४, सू. १७-१९ विवरणसहित पढ़िये । इसमें अपामार्गके गुणचर्म लिखे हैं ।)

(६) कर्करी— कर्कटी, कौड़की । [इसके विषयमें अर्घकी खोज करना चाहिये]

ये सब वृक्ष और लतायें पूर्वोक्त रोग दूर करती हैं । इनका वैद्यक प्रयोग वर्णन और वैदमन्त्रोक्त वर्णन पाठक तुलना करके देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि वेदने इन रोगोंके विषयमें कुछ विशेष ही कहा है ।

अष्टम और नवम मन्त्रमें सूर्यकिरणोंका उपयोग पूर्वोक्त रोग दूर करनेके कार्यमें हो सकता है ऐसा सूचित किया है ।

ग्यारहवें मन्त्रमें (वीर्याधता ब्रह्मणा) वीर्यवती ब्राह्मी औषधिये ये रोग दूर होते हैं ऐसा कहा है ।

(७) ब्राह्मी— हिंदी भाषामें इसको ' बरभी, ब्रह्मी ' कहत हैं । इसके गुण ये हैं—

ब्राह्मी हिमा सरा तित्ता मधुमेघ्या च शीतला । कपाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी ॥

स्वर्वा स्मृतिपदा कुष्ठापाण्डुमेहास्रकासजित् । विपशोपहरी ॥ (भा प्र व)

' ब्राह्मी वारस्पती सुद्विवर्धक, स्मृतिवर्धक, आयुष्यवर्धक, कुष्ठ, पाण्डु, मेह, रक्तसाव, कौंभी, विष, प्यास आदिको दूर करनेवाली है ।

इस ब्राह्मी औषधीके गुण सोमबलीके गुणोंसे कुछ अशमें मिलते जुलते हैं, इसलिये इसने नाम— ' सोमबल्ली, महौषधि, सुरप्रेष्ठा, परमश्रिनी, शारदा, भारती ' ये भाये हैं । सुद्विवर्धक और आयुष्यवर्धक गुण इसके मुख्य हैं । यह अपूर्व बली है और निश्चयसे गुणकारी है ।

यह वैद्योंकी विया है इसलिये इस सूक्तका मनन वैद्योंको करना चाहिये । यदि वैद्य इसका विचार करेंगे और लोकोपकारक औषधि प्रयोग निश्चित करेंगे तो जनताके ऊपर विशेष उपकार हो सकते हैं ।

' अपसरस् ' शब्दका मूल अर्थ (अप+सरस्) जलके साथ संचार करनेवाला, जलाशयमें संचार करनेवाला । ' मले रिया ' के अर्थात् मल जलके कृमि जलसंचारा हैं । मच्छों द्वारा इनका फैलाव होता है और मच्छर गाते रहते हैं इसलिये ये संभवतः ' गर्भव ' हो जायें, और इनके आश्रयस्थे चारों ओर जानेवाले जलरोपादक किमि अपसरस् होंगे । गर्भव और अपसरसोंका इस प्रकरणमें यह संबंध दिखता है । पीपर, वट, अपामार्ग, अर्जुन आदि वृक्षोंके कारण इन रोगकृमियोंका दूर होना लिखा है । इसलिये ' मलेरिया ' ज्वरके प्रदोषमें इन वृक्षोंकी उपज करके अनुभव देखना चाहिये । इसी प्रकार अन्नघृणी, गुग्गुलु आदि वनस्पतियोंका भी रोगनिवारण प्रयोग करके देखना योग्य है । वैद्य-लोग इस विषयमें खोज करेंगे तो इसका निश्चय शीघ्र हो सकता है ।

उत्तम गृहिणी स्त्री ।

[सूक्त ३८]

(ऋषि. — यादरायणिः । देवता — अप्सराः । कथनः ।)

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् । ग्लहे कृतानि कृष्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् । ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे ॥ २ ॥

यायैः परितृप्त्याददाना कृतं ग्लहात् । सा नः कृतानि सीपती प्रहामामोतु मायया ।
सा नः पर्यस्वत्येतु मा नो जैषुरिदं धनम् ॥ ३ ॥

या अक्षेपु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च विभ्रती । आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (उद्भिन्दतीं साधुदेविनीं) शत्रुको उखाटनेवाली, उत्तम व्यवहार करनेवाली और (संजयन्तीं अप्सरां) उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली रमणीय स्त्रीका तथा (ग्लहे कृतानि कृष्णानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस स्त्रीको (इह हुए) यहाँ बुलाता हूँ ॥ १ ॥

(विचिन्वन्तीं आकिरन्तीं) पचय करनेवाली और बाँटनेवाली (साधुदेविनीं अप्सरां) उत्तम व्यवहार करनेवाली स्त्रीको तथा (ग्लहे कृतानि गृह्णानां तां अप्सरां) स्पर्धाके समय उत्तम कृत्य करनेवाली उस रमणीय स्त्रीको मैं यहाँ बुलाता हूँ ॥ २ ॥

(या अयैः ग्लहात् कृतं आदाना) जो शुभ धर्मविधियोंसे स्पर्धामें उत्तम कृत्यको स्वीकार करती है । (सा नः कृतानि सीपती) वह हमारे उत्तम कर्मोंको नियमबद्ध करती हुई (मायया प्रहामामोतु) अपनी कुशल बुद्धिसे प्रगतिको प्राप्त करे । (सा पर्यस्वत्येता नः आ एतु) वह अन्नवाली उत्तम स्त्री हमारे पास आवे जिससे (नः इदं धनं मा जैषुः) हमारा यह धन कोई दूसरे न ले जाय ॥ ३ ॥

(शुचं क्रोधं च विभ्रती) शोक और क्रोधको धारण करती हुई भी (याः अक्षेपु प्रमोदन्ते) जो अपने आँखोंमें आनन्दित शक्ति रखती है (तां आनन्दिनीं प्रमोदिनीं अप्सरां) उस आनन्द और उल्लास देनेवाली सुन्दर स्त्रीको (इह हुए) यहाँ मैं बुलाता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ— शत्रुको एक ओर करके ऊपर उठनेवाली, उत्तम व्यवहारदक्ष विजयी और स्पर्धाके समय योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार सिद्ध करनेवाली स्त्रीको हम यहाँ बुलाते हैं ॥ १ ॥

समयपर संचय करनेवाली और समयपर सत्याग्रहें दान करके योग्य व्यय करनेवाली उत्तम व्यवहारदक्ष तथा स्पर्धाके उत्तम योग्य कर्तव्य उत्तम प्रकार करनेवाली स्त्रीको हम यहाँ बुलाते हैं ॥ २ ॥

जो स्पर्धाके समय शुभधर्मविधिसे अनुसार उत्तम कृत्य करती है तथा जो हमारे सब शुभकृत्योंको उत्तम व्यवस्थासे बरती है वह अपनी कुशल बुद्धिसे इस स्थानपर प्रगति करे। वह अन्नवाली स्त्री यहाँ रह और उसकी व्यवस्थासे यहाँका धन सुरक्षित हो जाव ॥ ३ ॥

जो शोक और क्रोध मनमें रहनेपर भी जो सदा अपने आँखोंमें आनन्दको प्रभा दिखाती है वह आनन्द और सतीत बढानेवाली स्त्री यहाँ आवे ॥ ४ ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति ।

यासामपमो दूरतो वाजिनीवान्तसद्यः सर्वांस्त्र्योक्तान्पर्यैति रक्षन् ।

स न एतु होममिमं जुषाणोऽन्तरिक्षेण सह वाजिनावीन्

॥ ५ ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कूर्को वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।

इमे ते स्तोका बहुला एह्यर्वादिप्यं ते कर्काह ते मनोऽस्तु

॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन्कूर्को वत्सामिह रक्ष वाजिन् ।

अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि वंशीमः । यधानाम व इमहे स्वाहा

॥ ७ ॥

अर्थ—(या सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ति) जो सूर्यके प्रकाशमें अनुकूल संचार करती हैं, (वा या मरीचीः अनु संचरन्ति) अथवा जो सूर्य प्रकाशमें संचार करती हैं । (वाजिनीवान् ऋषयः) बलवान् श्रेष्ठ पुरुष (दूरतः सद्यः यासां सर्वांस्त्र्योक्तान् रक्षन् पर्यैति) दूरसे ही तत्काल जिनके सब लोगोंका रक्षा करता हुआ चारों ओर घरकर आता है । (सः वाजिनीवान्) वह बलवाला पुरुष (इम होम जुषाणः) इस यज्ञका स्वीकार करता हुआ, (अन्तरिक्षेण सह नः आ एतु) आन्तरिक विचारके साथ हमारे पास आवे ॥ ५ ॥

हे (वाजिनीवान् वाजिन्) बलवाले ! (अन्तरिक्षेण सह कर्को वत्सा) अन्तःकरणके साथ अग्ने कर्तृत्वशक्ति वाले वंशीको (इह रक्ष) यहाँ रक्षा कर । (इम त बहुला स्तोकाः) ये तो बहुत आनन्द हैं, (अर्वादि परि) यहाँ आ, (इह ते कर्को) यह तेरी कर्तृत्वशक्ति है । (इह ते मन अस्तु) यहाँ तूरा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

ह (वाजिनीवन् वाजिन्) बलवान् ! (अन्तरिक्षेण सह कर्को वत्सा) अग्ने आन्तरिक विचारके साथ कर्तृत्वशक्तिवाले वंशीकी (इह रक्ष) यहाँ रक्षा कर । उसक लिये (अय घासः) यह घास है, (अय व्रजः) यह गौओंका स्थान है, (इह वत्सा नि वंशीमः) यहाँ बछड़ोंको बाँधते हैं । (यधानाम वः इमहे) नामोंके अनुसार तुम्हारा आभयत्व हम करते हैं, (स्व-आहा) हमारा स्वामि तुम्हारा लिय हो ॥ ७ ॥

भावार्थ— जो सूर्यकी किरणोंमें व्यवहार करती हैं अथवा सूर्यप्रकाशको अनुकूल बनाती हैं, इस प्रकारका स्त्रियोंकी रक्षा दूरसे अर्थात् योग्य मर्यादास ह्य सब पुरुष किया करें । ये बलवन् पुरुष अपने जीवनका यज्ञ करते हुए अपने हार्दिक विचारसे स्त्रियोंका आदर करते यहाँ रहें ॥ ५ ॥

हे बलवाले मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ वंशियोंकी रक्षा करो, सन्तानकी रक्षा करना आनन्ददायक कर्म है, आगे हाकर यह कार्य करो, इस कार्यमें तुम्हारा मन स्थिर रहे ॥ ६ ॥

हे बलवाल मनुष्यो ! अपने आन्तरिक प्रेमके साथ गौकी वंशियोंका रक्षा करो, गौओं और बछड़ोंके लिये यह घास है, उनके लिये यह स्थान है, बछड़ोंको यहाँ बाँधते हैं, और उनके नामोंके क्रमसे उनकी उत्तम व्यवस्था करते हैं, उनके लिये हम आत्मसर्वस्वका समर्पण करते हैं ॥ ७ ॥

दक्ष स्त्रीका समादर ।

इस सूक्तमें दक्ष धाका बहुत आदर । दिया है । स्त्री गृहिणी होती है, इसलिये घरकी व्यवस्था उत्तम रखना और उस कार्यमें उत्तम दक्षता धारण करना स्त्रियोंका परम कर्तव्य है । इस विषयके आदिश इस सूक्तमें अनेक हैं जिनका मनन अथ करते हैं—

स्त्री कैसी हो ?

(१) सजयन्ती— उत्तम विजय प्राप्त करनेवाली, अर्थात् अपने कुटुम्बका विजय करनेके उपायोंकी आवरणमें लानेवाली हो । (म १)

(२) साधुदेविनी— ' दिव ' घातुष ' देविनी ' शब्द बनता है । ' दिव् ' घातुक अर्थ— ' कीडा, निजयेच्छा,

व्यवहार, प्रकाश, आनन्द, गति' इतने हैं । अर्थात् 'साधु देविनी' शब्दका अर्थ— 'कोठा या खेल खेलनेमें कुशल, अपने कुटुम्बका विजय पाइनेवाली, घरमें प्रकाशके समान तेज-स्त्रिणी होकर रहनेवाली, स्वयं आनन्द स्वभाव रहकर सब लोगोंका आनन्द बढ़ानेवाली, सबकी प्रगति करनेवाली' इस प्रकार हो सकता है । इस अर्थका संभव 'संजयन्ती' शब्दके अर्थके साथ है, इसका पाठक अनुभव करें । (म. १, २, ४)

(३) उद्भिन्वन्ती— अपने शत्रुओंको उताड़ देनेवाली । (म. १) इसका भी तात्पर्य 'संजयन्ती' पदके समान ही है, विजयेच्छुक और व्यवहारदक्ष होनेसे शत्रुका उताड़ना और विजय प्राप्त करना ये बातें सुसंगत हैं । (म. १)

(४) ग्लहे कृतानि कृपयाना— 'ग्लह' शब्दका अर्थ है 'स्पर्धा' । अपना जीवन एक प्रकारका स्पर्धा है, इस स्पर्धामें 'कृत' अर्थात् उत्तम कृत्य अथवा उत्तम प्रयत्न करनेवाली । 'कृत' शब्दका अर्थ यह है—

कलिः शयानो भवति संजिह्वानस्तु द्वापरः ।

उत्तिष्ठत्येता भवति कृतं सं पथते चरन् ॥

चरैव चरैव ।

(ऐ. ब्रा. ५।१५)

'शुभ अवस्थाका नाम कलि है, निद्रा या आलस्यको त्यागनेका नाम द्वापर है, प्रयत्न करनेकी बुद्धिसे उठनेका नाम प्रेता है और कृत उसको कहते हैं कि जिस अवस्थामें मनुष्य पुरुषार्थ करता है ।' इस वचनमें 'कृत' का अर्थ दिया है । उन्नतिके लिये प्रबल पुरुषार्थ करनेका नाम कृत है । मानो 'मनुष्यका जीवन एक जुवेका खेल' है । इसमें सोते रहनेवाले लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, प्रत्युत सबसे उत्तम जुवेका दान लेनेवाले ही लाभ प्राप्त कर सकते हैं । इस जुवेके 'कलि, द्वापर, प्रेता और कृत' ये चार दान होते हैं । जो शयनस्थ और आलसी होते हैं उनको इस जीवनरूपी लड़कमें 'कलि' सशक्त दान मिलता है जिससे हानि ही हानि होती है, जो साधारण पुरुषार्थ प्रयत्न करते हैं उनको बीचके दो दान मिलते हैं, परंतु जो प्रबल पुरुषार्थी होता है वही 'कृत' सशक्त दान प्राप्त करके अपिच्छे अधिक दान प्राप्त करता है ।

सतरंज या चौपट खेलनेवाले अपने पाँचोंके जो चार प्रकारके दान प्राप्त करते हैं, उन चार दानोंके वाचक ये चार शब्द हैं । 'कृत, प्रेत, द्वापर और कलि' ये चार शब्द क्रमशः उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ और हानिकारक दानोंके सूचक शब्द हैं । वस्तुतः वेदमें 'अस्मेमां दीप्याः ।' (ऋ. १०।३४।१३) जूआ मत्त खेल इस प्रकारके वाक्योंसे जुवेका नियंत्रण किया है ।

इसलिये वैदिक धर्ममें जुवेकी सम्भारना ही नहीं है । तथापि यहाँ सभी मनुष्य अपने आयुष्यके सतरंजका खेल खेल रहे हैं, अपने आयुष्यका जूआ खेल रहे हैं अथवा चौपट खेल रहे हैं । इसमें कईयोंको यह खेल लाभकारी होता है और कईयोंको हानिकारक होता है । इसलिये इस जीवनरूपी बाज़ीमें उत्तम रीतिसे यह खेल खेलकर मनुष्य यशके भागी हो, यह उपदेश देनेके लिये रूपकालंकारसे इस सूक्तमें 'ग्लह, कृत, देविनी' ये शब्द दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं । हे शब्द जुवेवाजीका अर्थ भी बताते हैं और छेपेसे उत्तम विजयी व्यवहारका भी अर्थ बताते हैं । इस रूपकका अर्थ ऊपर बताया है वही है, पाठक इसका विचार करके बोध प्राप्त कर सकते हैं । यही स्तौत्यका निर्देश होते हुए भी पुरुष भी इससे अपने विजयी जीवन बनानेका बोध प्राप्त कर सकते हैं । अस्तु । 'ग्लहे कृतानि कृपाणा' का यहाँ यह अर्थ है— 'इस जीवनरूपी स्पर्धामें खेलमें जो जो उत्तम पुरुषार्थ रूपी दान प्राप्त करती है ।' अर्थात् उत्तम जो वह है कि जो इस जीवनमें परम पुरुषार्थ प्रयत्न करती है । (म. १, २) मंत्र ३ में 'कृतं ग्लहात् आददाना' पाठ है । इसका भी उक्त प्रकार ही अर्थ है ।

(५) विचिन्वन्ती, आकिरन्ती— संग्रह करनेवाली, दान देनेवाली । संग्रह करनेके समय योग्य रीतिसे और दक्षतासे संग्रह करनेवाली और दान करनेके समय उदारतापूर्वक दान देनेवाली । जो ऐसी होनी चाहिये कि वह घरमें दक्षतासे और व्यवस्थासे योग्य वस्तुओंका संग्रह करे । तथा दान करनेके समय अपने घरका यश बढ़ने योग्य उदारताके साथ दान करे । 'विचिन्वन्ती' का मूल अर्थ पुनः पुनः पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली और 'आकिरन्ती' का अर्थ 'विचुरनेवाली' है । यह संग्रह करनेका गुण और दानका गुण दोनों इतना हो कि जिससे उसके कुलका यश बढ़ जाय और कभी यश न घटे । (म. २)

(६) या अयैः पारिवृत्यति— जो शुभ विधिओंसे आनन्दसे नाचती है अर्थात् त्रिष्टका प्रयत्न सदा सर्वदा पारिवृत्य शुभ विधि करनेके लिये ही होता है । 'अया' का अर्थ 'शुभ वाचि' है (अयः शुभाचरो विधिः । अमरकोश १।३।२७) त्रिष्टका पूर्व कर्म भी उत्तम है और इस समयका भी कर्म उत्तम है । (म. ३)

(७) कृतानि सीपती— जो उत्तम कर्मोंकी व्यवस्था नियमसे करती है, जो घरमें उत्तम व्यवस्थासे सब कार्य करती है । (म. ३)

(८) पयस्यती— दूधवाती, जिसके पास बच्चोंको देनेके लिये बहुत दूध होता है । (मं ३)

(९) या शुच क्रोधं च विघ्नती अक्षेपु प्रमोदन्ते— जो शोक और क्रोध आनेपर भी आँखोंमें प्रसन्नताका तेज धारण करती है । 'अक्ष' शब्दका अर्थ 'आँख और इन्द्रिय' है । यहाँ इन्द्रिय अर्थ अव्येक्षित है । जो स्त्री अन्तःकरणमें शोक उत्पन्न होनेपर अथवा क्रोध उत्पन्न होनेपर भी रोती, पीटती या चिल्लाती नहीं है, प्रत्युत अपने व्यवहारमें इन्द्रियोंके व्यापारमें प्रसन्नताकी झलक दिखाती है और हृदयका शोक और क्रोध व्यक्त नहीं करती, वह उत्तम स्त्री है । (मं, ४)

(१०) आनन्दिनी, प्रमोदिनी— आनन्द और हर्षसे युक्त । अर्थात् जो सदा आनन्दित रहती है और दूसरोंको प्रसन्न करनेका यत्न करती है । (मं ४)

(११) सूर्यस्य रश्मीन् अनु संचरन्ती— जो सूर्य किरणोंमें भ्रमण करती है । मरीची. अनु संचरन्ती— जो सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करता है । अथवा जो सूर्यप्रकाशको अपने अनुकूल बनाती है । इससे आरोग्य उत्पन्न होता है । ज्ञियोंको सूर्यप्रकाशमें व्यवहार करना चाहिये । [यहाँ स्पष्ट होता है कि गोषाकी पद्धति पूर्णतया अवैदिक है ।] (मं ५)

ये रमारह लक्षण उत्तम और दक्ष गृहिणीके हैं । स्त्री, धर्म पत्नी, गृहिणी घरमें किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषयपर ये रमारह लक्षण बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं । स्त्री और पुरुष इन लक्षणोंका विचार करें और इस उपदेशको अपनानेका यत्न करें । इन लक्षणोंमें शत्रुको उखाड़ देना और विजय प्राप्त करना ये मा लक्षण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि ज्ञियोंमें इतनी शक्ति तो अवश्य ही होना चाहिये कि जिससे वे अपनी रक्षा उत्तम प्रकार कर सकें । आत्मरक्षाके लिये ज्ञियाँ दुश्पर निर्भर न रहें । गृहव्यवहारमें दक्ष, सज्ज, निर्भय और अपने कुलका यश बढानेवाली, ज्ञियाँ, स्त्री, चाहिये । इन लक्षणोंका विचार करनेसे वांछित। किस प्रकार होनी चाहिये इसका भी निश्चय हो सकता है । जिस शिक्षासे स्त्रीके अन्दर इतने गुण विकसित होंगे, वह शिक्षा ज्ञियोंको देनी चाहिये । अथवा यों कहिये कि स्त्रीयोंमें शिक्षासे इन गुणोंका विकास करनेका प्रयत्न करना चाहिये । जो शिक्षाका विचार करनेवाला स्त्रीपुरुष इन आदेशोंका मनन करें ।

अप्सरा ।

इन लक्षणोंसे युक्त स्त्रीको इस सूक्तमें 'अप्सरा' कहा है । सुंदर स्त्रीको अप्सरा कहते हैं । अप्सरा शब्दके बहुत अर्थ हैं

उनमें यह भी एक अर्थ है । स्त्रीकी सुंदरता इस शब्दसे व्यक्त होती है । शरीरकी सुंदरता वस्तुतः उत्तमा सुख नहीं देती जितनी गुणोंका सुंदरता देती है । इसलिये इन गुणोंसे युक्त सुंदर स्त्रीको अपने घरमें गृहिणा बनानेकी सूचना यहाँ दी है । अपनी सहधर्मचारिणीं निश्चित करनेवाले लोग इस उपदेशका मनन करेंगे, तो उनको अपनी सहधर्मचारिणी पसंद करनेके समय बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है ।

पूर्व सूक्तमें ही 'अप्सरा' शब्दका अर्थ रोगोत्पादक किम्वदंति है और इस सूक्तमें 'सुंदरी गुणवती सुशील स्त्री' है यह देखकर पाठक चकित न हों । एक ही शब्दके इत्ता प्रकार अनेक अर्थ होते हैं । इसी प्रकार 'असुर' शब्द परमेश्वरवाचक और राक्षसवाचक होता है अर्थात् इन शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार विलक्षण होते हैं और यह एक वेदकी रीति ही है ।

इस सूक्तके प्रथमके पाँच मंत्रोंमें दक्ष धर्मपत्नीके गुणगुणोंका वर्णन है । यह वर्णन जैसा ज्ञियोंको बोधप्रद है उसी प्रकार पुरुषोंके लिये भी बोधप्रद है । आशा है इससे पाठक लाभ उठावेंगे ।

रश्मिस्नान ।

प्रथम मन्त्रमें 'सूर्यरश्मीन् अनु सञ्चरन्ति । (मं ५)' सूर्यरश्मियोंके अन्दर अनुकूल रीतिसे सञ्चार करनेकी सूचना दो बार की है । एक हा विषय दो बार कहनेसे वह दृढ़ करनेका उद्देश होता है । अर्थात् ज्ञियोंका सूर्यकिरणोंमें भ्रमण करना वेदको बहुत ही अमोघ है । ज्ञियाँ प्रायः घोल व्यवहारमें दक्ष रहती हैं और पुरुष घरके बाहरके व्यवहारको करते हैं । इसलिये पुरुषोंका वनके व्यवहारके ही कारण सूर्यरश्मिस्नान होता है । ज्ञियाँ घरके अन्दरके व्यवहार करती हैं इसलिये सूर्य रश्मियोंके अभ्युत्तरसे वञ्चित रहती हैं, अतः उनके स्वास्थ्यके लिये इस मन्त्रमें रश्मिस्नानका दो बार उपदेश किया है ।

यह उपदेश आजकल इसलिये बहुत आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है कि आजकलका स्त्रीयों तो गोषाओंमें रहती हैं और इस अवैदिक गोषाकी पद्धतिके कारण सूर्यप्रकाशसे वञ्चित रहती हैं । इस दोषका दूर करनेके लिये वेदने यह उत्तम उपदेश किया है, जिसका हर एक स्त्रीपुरुषको अवश्य विचार करना चाहिये ।

स्त्री रक्षा ।

ज्ञियोंकी रक्षा होनी चाहिये । वह दो प्रकारसे हो सकती है एक तो पुराणोंका उत्तम विकास ज्ञियोंमें करनेसे ज्ञियाँ

स्वयं अपनी रक्षा करनेमें समर्थ हो जायगी और अपनी रक्षा करनेके लिये दूसरोंके सुखकी और देखनेकी आवश्यकता उनको नहीं रहेगा । तथापि कई प्रसंग ऐसे हैं कि जिनमें पुरुषोंके स्त्रियोंकी रक्षा करना चाहिये । ऐसे समयोंमें—

यासां सर्वान् लोकान् दूरतः रक्षन् वाजिनी
वान् पर्येति । (सू. ३८, म. १)

‘जिन स्त्रियोंके सब लोकोंको दूरसे रक्षा करता हुआ बलवान् प्रपञ्च भ्रमण करता है ।’ इसका आशय यह है कि पुरुष स्त्रियोंकी रक्षा करनेके समय सिद्धाचारपूर्वक उचित रीतसे दूर रहकर रक्षाका कार्य करें । स्त्रियोंमें घुसकर अथवा स्त्रियोंका अन्य प्रकार निरादर करके उनका रक्षाका प्रयत्न करना योग्य नहीं है । जिस प्रकार बड़े प्रतिष्ठित पुरुषोंकी रक्षा करनेवाले रक्षक उचित अन्तरपर रहते हुए उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार स्त्रियोंकी रक्षा भी उनकी सुयोग्य प्रतिष्ठा करते हुए करना चाहिये ।

इन मन्त्रों और अगले छठे मन्त्रमें ‘अन्तरिक्ष’ शब्द ‘अन्दरका भाव’ इस अर्थमें आया है । अन्तरिक्ष लोकका ही अंश अपने शरीरमें अपना अन्त करण है । मानो, यहाँका यह शब्द अन्तःकरणका ही वाचक है । तात्पर्य यह है कि जो कुछ कार्य करना हो वह अन्तःकरणसे ही करना चाहिये । ऊपर ऊपरसे किया हुआ कार्य निष्फल होता है और अन्तःकरण लगाकर किया हुआ कार्य सुफल होता है । इस सूचनाका विचार पुस्तक्या करनेवाले पाठक अवश्य करें । मनुष्यका अभ्युदय अन्तःकरणके चट्वावपूर्वक किये हुए कर्मसे ही होगा, अन्य मार्ग नहीं है ।

यस्तां इह रक्ष । (सू. ३८, मं. ६)

‘पुत्रीकी यहाँ रक्षा कर ।’ पुत्रीकी रक्षाका उत्तम प्रबंध करना चाहिये । पुत्रीकी रक्षा होनेसे ही आगे वह पुत्री सुयोग्य और सुशील धर्मपत्नी अथवा स्त्री या माता हो सकती है । आजकल पुत्रीका जन्म होते ही घरका सब परिवारदुःखी होता है और प्रायः पुत्राका उत्पत्तिकाल विचार लोग नहीं करते, ऐसे लोगोंको चेदका यह उपदेश अवश्य ध्यानमें धारण करना चाहिये । जगत्की स्थिति और सन्तानपरंपरा स्त्रियोंके कारण

होती है, इसलिये स्त्रियोंकी उत्पत्तिसे सब जगत्का कल्याण होना समभव है । माता स्वर्गसे भी अधिक भेद्य है, फिर माताके बाल पनमें उसकी रक्षाका प्रथम उत्तमसे उत्तम होना चाहिये इसमें संदेह ही क्या हो सकता है ?

वत्स शब्द जिस प्रकार पशुक बच्चोंका वाचक है उसी प्रकार मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक है । प्रेमसे पुत्रकी वत्स और पुत्रीको वत्सा कहते हैं । इसलिये इस षष्ठ मन्त्रका वत्सा शब्द मनुष्योंको कन्याओंका वाचक और सप्तम मन्त्रका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बच्चियोंका वाचक मानना उचित है । सप्तम मन्त्रमें बछेके लिये घास और उसकी उत्तम गाशालामें बांधनेका वर्णन होनेसे वहाँका वत्सा शब्द गौ आदिकोंकी बछरी है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु षष्ठ मन्त्रका वत्सा शब्द मनुष्योंके बच्चोंका भी वाचक मानना योग्य है । इसका तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्योंके बालबच्चोंकी सुरक्षितताका प्रयत्न मनसे करना चाहिये उसी प्रकार गाय, घोड़े आदि पाले हुए जानवरोंके बछे बच्चोंकी पालनका प्रबंध उत्तम करना चाहिये । जिस प्रेमसे घरके लोग अपने बच्चोंका पालन करते हैं उसी प्रेमसे पशुओंकी सत्तानोंका भी पालन किया जाय, यह इस उपदेशका तात्पर्य है । उनके घासका प्रबंध उत्तम हो, उनके अलपानका प्रबंध उत्तम हो, उनके रहनेका स्थान प्रशस्त हो, तथा उनके स्वास्थ्यका भी उचित प्रबंध किया जावे । तात्पर्य पाठे हुए पशुओंकी भी अपनी सत्तानके समान मानकर उनपर वैसा ही प्रेम करना चाहिये ।

यह सूक्त अपना प्रेम पशुओंतक पहुंचानेका इस ढंगसे उपदेश दे रहा है । प्रेम जितना बढ़ेगा और चारों ओर फैलेगा उतना अहिंसाका भाव विस्तृत हो जायगा । वैदिक धर्मका अन्तिम साधक पूर्ण अहिंसाका भाव मनमें स्थिर करना है, वह इस रातिसे निःसंदेह सिद्ध होगा ।

स्त्रीका आदर, स्त्रीके अन्दर शुभ गुणोंका विकास करनेकी रीति, स्त्रीकी रक्षा, पुत्रीकी रक्षा और बछेकी रक्षा आदि अनेक उपयोगी विषय इस सूक्तमें आगये हैं । पाठक इन सब मन्त्रोंका अधिक मनन करके योग्य बोध प्राप्त करें और उस बोधकी अपने जीवनमें ठाढ़कर अपनी उत्पत्ति करें ।

समृद्धिकी प्राप्ति ।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — नानादेवताः । संततिः ।)

पृथिव्यामग्नये समनमन्तस् आर्घ्नोंत् ।

यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा महां संनमः सं नमन्तु

॥ १ ॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अभिर्वत्सः । सा मेऽग्निना वत्सेनेवमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा

॥ २ ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्तस् आर्घ्नोंत् ।

यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा महां संनमः सं नमन्तु

॥ ३ ॥

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः । सा मे वायुना वत्सेनेवमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा

॥ ४ ॥

अर्थ— (पृथिव्यां अग्नये समनमन्) पृथिवीपर अग्निके सम्मुख नम्र होते हैं, (सः आर्घ्नोंत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा पृथिव्यां अग्नये समनमन्) जिस प्रकार पृथिवीमें अग्निके सम्मुख नम्र होते हैं, (एव महां संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे आग सम्मान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ १ ॥

(पृथिवी धेनुः) भूमि धेनु है (तस्याः अग्निः वत्सः) उसका अग्नि बछड़ा है । (सा अग्निना वत्सेन) वह भूमि अग्निकी बछड़ेसे (इयं ऊर्जं कामं दुहाम्) अन्न और बल इच्छाके अनुसार देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम आयु तथा (प्रजां पोष रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान कर । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हू ॥ २ ॥

(अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) अन्तरिक्षमें वायुके सम्मुख सब नम्र होते हैं । (स आर्घ्नोंत्) वह समृद्ध हुआ है । (यथा अन्तरिक्षे वायवे समनमन्) जिस प्रकार अन्तरिक्षमें वायुके सम्मुख सब नम्र होते हैं, (एव महां संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार मेरे सम्मुख सम्मान देनेके लिये उपस्थित हुए मनुष्य नम्र हों ॥ ३ ॥

(अन्तरिक्ष धेनुः) अन्तरिक्ष धेनु है (तस्याः वायुः वत्सः) उसका बछड़ा वायु है । (सा वायुना वत्सेन) वह अन्तरिक्षरूपी धेनु वायुरूपी बछड़से (इयं ऊर्जं कामं दुहाम्) अन्न और बल पर्याप्त देवे और (प्रथमं आयुः) उत्तम, दीर्घ आयु (प्रजां पोष रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन प्रदान करे (स्वाहा) मैं अत्मसमर्पण करता हू ॥ ४ ॥

भावार्थ— पृथ्वीपर अग्निकी सम्मान मिलता है क्योंकि वह तेजस्वी है, जिस प्रकार पृथ्वीपर अग्नि समानित होता है उसी प्रकार मैं तेजस्वी बनकर यहाँ समानित होऊँ ॥ १ ॥

पृथ्वीरूपी गौका अग्नि बछड़ा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, सन्तति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ २ ॥ अन्तरिक्षमें वायुका समान होता है क्योंकि उसमें बल बड़ा हुआ है । बलके बढनेसे जैसा वायुका समान होता है, उसी प्रकार बलके कारण मेरा भा समान बढे ॥ ३ ॥

अन्तरिक्षरूपी धेनुका वायु बछड़ा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, सन्तति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ४ ॥

दिव्यादित्याय समनमन्त आध्नोत् ।

यथा दिव्यादित्याय समनमन्नेवा महीं संनमः सं नमन्तु

॥ ५ ॥

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः । सा मे आदित्येन वत्सेनेपमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा

॥ ६ ॥

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त आध्नोत् ।

यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा महीं संनमः सं नमन्तु

॥ ७ ॥

दिशो घेनस्तासां चन्द्रो वत्सः । ता मे चन्द्रेण वत्सेनेपमूर्जं कामं दुहाम् ।

आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा

॥ ८ ॥

अमावृमिथरति प्रविष्ट कृषीणां पुत्रो अमिशस्तिता उ ।

नमस्कारेण नमस्ता ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम्

॥ ९ ॥

अर्थ— (दिवि आदित्याय समनमन्) ध्रुवकर्म आदित्यके सम्मुख सप्त नम्र होते हैं । (स आध्नोत्) वह समुद्र दुहा है । (यथा दिवि आदित्याय समनमन्) जिस प्रकार ध्रुवकर्म आदित्यके सम्मुख नम्र होते हैं (एव महीं संनमः सं नमन्तु) इस प्रकार भरे भाग समान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ५ ॥

(द्यौः घेनुः) ध्रुवक धेनु है (तस्याः आदित्यो वत्सः) उसका सूर्य बछड़ा है । (सा मे आदित्येन वत्सेन) वह मुझे सूर्यरूपी बछड़ेसे (इप ऊर्जं कामं दुहाम्) अन्न और बल प्रयत्न देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तति, पुष्टि और धन अर्पण करे । (स्वाहा) में समर्पण करता हू ॥ ६ ॥

(दिक्षु चन्द्राय समनमन्) दिशाओंमें चन्द्रेके सम्मुख नम्र होते हैं । (स आध्नोत्) वह समुद्र दुहा है । (यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्) जैव दिश ओमें चन्द्रक सम्मुख नम्र होते हैं (एव महीं संनमः सं नमन्तु) इसी प्रकार भरे सम्मुख समान देनेके लिये उपस्थित हुए लोग नम्र हों ॥ ७ ॥

(दिशः घेनवः) दिशाएँ गौएँ हैं (तासां चन्द्रो वत्सः) उनका बछड़ा चन्द्र है । (ता मे चन्द्रेण वत्सेन) वही मुझे चन्द्ररूपी बछड़ेसे (इप ऊर्जं कामं दुहाम्) अन्न और बल जितना चाहिये उतना देवें और (प्रथमं आयुः) उत्तम दीर्घ आयु तथा (प्रजां पोषं रयिं) सन्तान, पुष्टि और धन अर्पण करे । (स्वाहा) में समर्पण करता हू ॥ ८ ॥

(अमावृमिथरति प्रविष्टः चरति) विशाल परम तमामिमें जीवारमावृणी अति प्रविष्ट होकर चलन है । वह (कृषीणां पुत्रः) इन्द्रियोंके पवित्र कलकला है और (अमिशस्ति-पा उ) विशालछत्र कानेकाला मी है । (ते नमस्ता नमस्कारेण जुहोमि) तुमसे मैं नम्र नमस्कारोंसे आत्मार्पण करता हू । (देवानां भागं मिथुया मा कर्म) देवोंके सेवनीय भागको मिथ्या-चरने कोई न बचावे ॥ ९ ॥

भाषा— ध्रुवकर्म सूर्यका समान होता है क्योंकि वह बड़ा प्रकाशमान है । प्रकाशित होनेसे जैसा सूर्यका सम्मान होता है उन्हीं प्रकार से जितनाके करण मेरा सम्मान बड़े ॥ ५ ॥

ध्रुवकर्म धेनुका सूर्य बछड़ा है उसका शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घ आयु, सन्तान, पुष्टि, और धन प्राप्त हो ॥ ६ ॥

दिशाओंमें चन्द्रमाका समान होता है क्योंकि उसमें शान्ति बड़े गई है । जिस शान्तिके कारण चन्द्रमाकी प्रशंसा सब दिशाओंमें होती है उस शान्तिके कारण मेरा भी समान होने ॥ ७ ॥

दिशाएँ गौओंका चन्द्रमा बछड़ा है, उसकी शक्तिसे मुझे अन्न, बल, दीर्घायु, सन्तति, पुष्टि और धन प्राप्त हो ॥ ८ ॥

हृदा पूर्वं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।

सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम्

॥ १० ॥

वर्ष— हे (जातवेदः देव) जन्मे हुए पदार्थोंकी जाननेवाला देव । तू (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) सब कर्मोंकी जाननेवाला है । हे (जातवेदः) जाननेवाले ! (मनसा हृदा पूर्वं) हृदयसे और मनसे पवित्र किये हुए हव्यको (तव सप्त आस्यानि) तेरे सात मुख है (तेभ्यः जुहोमि) उनके लिये समर्पण करता हूँ (सः हव्यं जुषस्व) उस हविका तू स्वीकार कर ॥ १० ॥

भाषार्थ— परमात्मरूपी विशाल अग्निमें जीवात्मारूप छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर बलती है । यह जीवात्माकी आत्म इन्द्रियोंकी पवित्रता करनेवाली और गिरावटसे बचानेवाली है । इन्द्रिरूपी देवोंका जो कार्यभाग है, वह मिथ्या ब्यवहारसे दूषण न हो इसलिये मैं उन आत्मवोकी नमस्कार द्वारा उपायना करता हूँ ॥ १० ॥

हे सर्वज्ञ ईश्वर ! तू हमारे सब कर्मोंका जानता है । इस आत्माके सात मुखोंमें मन और हृदयसे पवित्र किये हुए पदार्थोंका हवन करता हूँ, यह हमारा हवन तू स्वीकार कर और हमारा उद्धार कर ॥ १० ॥

उन्नतिकी मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नति उसमें सद्गुणोंकी वृद्धि होनेसे हा हो सकती है । यह सद्गुणोंकी वृद्धि मनुष्योंमें करनेके हेतुसे वेदने अनेक प्रकारके उपाय कहे हैं, इस सूक्तमें इस उद्देश्यसे चार देवताओंके द्वारा सद्गुण बढ़ानेका उपदेश किया है । देवताओंमें त्रिन गुणोंकी प्रधानता होती है वे गुण मनुष्योंमें बढ़ने व दिये । इन देवताओंके गुण देखिये—

लोक	देवता	गुण	मनुष्यमें रूप
पृथिवी	अग्नि	तेज, उष्णता	शब्द
अग्निरेक्ष	वायु	बल, जीवन	प्राण
सु	सूर्य	प्रकाश	दृष्टि
दिशा	चन्द्र	शान्ति	मन

लोक, देवता और गुण ये हैं । देवताओंके गुण अथवा बल मनुष्यके अंदर किस रूपमें दिखाई देते हैं इसका भा पता इससे प्राप्त हो सकता है । मनुष्यका प्रभाव बढ़ना हो तो इन गुणोंक धारणकी वृद्धि होनेसे ही बढ सकता है, दूसरा कोई उपाय नहीं है । पृथ्वी लोकमें अग्नि प्रतिष्ठाकी इसलिये प्राप्त हुआ है कि उसमें उष्णता और तेजप्रतिष्ठा बड़ी हुई है । वह अपनी दाहक शक्तसे सबको जला सकता है, इसलिये उसका प्रभाव सब पर जमा हुआ है । यदि मनुष्यको अपना प्रभाव बढ़ाना है तो उसकी भी अपने अन्दर तेजप्रतिष्ठा बढ़ाना चाहिये । तेजप्रतिष्ठा बढ़नेसे उसका सम्मान अवश्य बढ़ेगा ।

इसी प्रकार अग्निरेक्षमें वायुका महत्व विशेष है क्योंकि वह सबको जीवन, बल और गति देता है । मनुष्यको उन्नति

है कि वह अपने अंदर बल बढ़ावे और अपना जीवन उत्तम करे । दूसरोंमें चेतना उत्पन्न करे और सब इच्छाओंका प्राण बनकर रहे । जो मनुष्य अपनी शक्ति इस प्रकार बढ़ावेगा वह सम्मानित हो जायगा ।

सुलोकमें सूर्यका सम्मान बहुत बड़ा है क्योंकि उसका प्रकाश सबसे अधिक होता है । इसके सम्मुख सब अन्य तेजस्वी पदार्थ निस्तेज होते हैं । यह ऐसा प्रकाशमान होनेसे उसका सम्मान सब करते हैं । जो मनुष्य अपना महत्व बढ़ाना चाहता है उसको उचित है कि वह अपने अन्दर दिव्य प्रकाश बढ़ावे, और सूर्यके समान महीषमर्दोंमें मुख्य बने ।

इसी प्रकार चन्द्रमाकी प्रतिष्ठा उसकी शान्तिके कारण है । जिस मनुष्यमें शान्ति स्थिर होती है उसकी भी सर्वत्र प्रतिष्ठा बढ़ती है । इस प्रकार इन देवताओंक मनुष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है और अपनी उन्नति कर सकता है । उन्नतिकी मार्ग अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करना ही है । इस सद्गुणोंकी वृद्धिसे ही अन्न, बल, दीर्घायुष्य, शान्ति, पुष्टि और धन अतिना व दिये जनना प्राप्त हो सकता है, परन्तु सबसे पहिले उन्नति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंदर इन गुणोंकी वृद्धि करे, तत्पश्चात् धनआदिही प्राप्ति तो स्वयं होती रहेगी ।

इस सूक्तके आठ मंत्रोंमें यह उपदेश दिया है । आगेके नवम और दशम मंत्रोंमें आत्मशुद्धि करनेका उपदेश है, उसका अब विचार किया जाना है—

परमात्माकी उपासना ।

आत्मशुद्धिके लिये परमात्माकी उपासना अत्यन्त सहायक है, इसलिये नवम मंत्रमें वह उपासना बतायी है—

अग्नी अग्निश्चरति प्रविष्टः । (सू. ३९, मं. ९)

‘वहे विध्यव्यापक अग्निमें एक दूसरा छोटा अग्नि प्रविष्ट होकर चलता है अर्थात् अपने व्यवहार करता है ।’ यह बात उपासकको अपने मनमें सबसे प्रथम धारण करनी चाहिये । परमात्माकी विशाल अग्नि सपूर्ण जगत्में जल रही है और उसके अंदर अपनी एक चिनगारी है, वह भी उसके साथ ही चमक रही है । अपने अन्दर और बाह्य और बाहर भी उस परमात्माकिता तेज भरा पड़ा है । जिस प्रकार अग्निमें तपता हुआ गुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार परमात्मामें तपनेवाला जीवात्मा शुद्ध हो रहा है । परमात्माके पूर्ण आधारमें मैं विराजता हूँ, इसलिये मैं निर्भय हूँ, मुझे डरानेवाला कोई नहीं है, यह विश्वास इस मन्त्रने उपासकके मनमें स्थिर करनेका यत्न किया है । यह आत्मा कैसा है और उसके गुणधर्म क्या हैं इसका बर्णन भी यहाँ देखने योग्य है—

ऋषीणां पुत्रा, अभिदास्तिपा । (सू. ३९, मं. ९)

‘यह आत्मा ऋषियोंका पुत्र है और विनाशसे बचानेवाला है ।’ अनेक ऋषियोंका मिलकर यह एक ही पुत्र है अर्थात् अनेक ऋषियोंने मिलकर इसकी खोज की, और इसका आविष्कार किया, इसलिये ऋषियोंका पुत्र है, ऐसा माना जाता है । यह इसका एक अर्थ है । इसका दूसरा भी एक अर्थ है और वह विशेष विचारणीय है । ऋषि शब्दका दूसरा अर्थ ‘इंद्रिय’ है । सप्त ऋषिका अर्थ ‘सात इंद्रियाँ’ है । इन इंद्रियरूपी सप्त ऋषियोंको (पु-त्रा =) नरकसे बचानेवाला यही आत्मा है, क्योंकि आत्मा ही सबको उच्च भूमिकामें ले जाता है और हीन अवस्थासे गिरनेसे बचाता है । इसलिये इसकी उपासना हरएकको करनी चाहिये ।

नमस्कारसे उपासना ।

इस आत्माकी उपासना नमस्कारसे ही की जाती है । नम्र होकर, अपने मनको नम्र करके, नमस्कार द्वारा अपना घिर छुटाकर अर्थात् अपने आपको उसके लिये पूर्णतासे समर्पण करके ही अपने अन्तर्गामी आत्माकी उपासना करनी चाहिये—

नमसा नमस्कारेण जुहोमि । (सू. ३९, मं. ९)

‘नम्र नमस्कारसे आत्मसमर्पण करता हूँ ।’ यहाँ ‘जुहोमि’ शब्द समर्पण अर्थमें है । यत्नमें हवनका भी यही अर्थ है ।

अपने पदार्थोंका दूसरोंकी मलाईके लिये समर्पण करनेका नाम हवन है । यहाँ नमस्कारसे हवन करना है, नमन द्वारा अपना घिर छुटाकर आत्मसमर्पण करनेका भाव यहाँ है । इस प्रकारके श्रेष्ठ कर्ममें मिथ्या व्यवहार होना नहीं चाहिये । क्योंकि मिथ्या व्यवहारसे ही सब प्रकारकी हानि होती है, इसलिये कहा है—

देवानां भागं मिथुया मा कर्म । (सू. ३९, मं. ९)

‘देवोंके प्रीलार्थ करनेके कार्यभागको मिथ्याचारसे मत दूषित करना ।’ यह आदेश हरएक देवयज्ञके विषयमें मनमें धारण करने योग्य है । कई लोग दमते संघा करने बैठते हैं, तथा अन्य प्रकारके मिथ्या व्यवहार ढोंगसे रचते हैं । परंतु ये बिसको ठगानेका विचार करते हैं ? परमात्माको ठगाना तो असंभव है, क्योंकि वह सब जानता ही है, वह सर्वज्ञ है । इसलिये ऐसे धर्म कर्मोंमें जो दूसरोंको ठगानेका यत्न करते हैं वे अन्तमें अपने आपको ही ठगाते हैं और अपनी ही हानि करते हैं । इसलिये किसीको भी मिथ्या व्यवहार करना उचित नहीं है । ईश्वर सर्वज्ञ है, वह हरएकके मनोगतको तरास ही जानता है, उससे छिपकर कोई कुछ कर नहीं सकता, इसलिये कहा है—

विश्वानि यदुनानि विद्वान् । (सू. ३९, मं. १०)

‘सब कर्मोंको यथावत् जाननेवाला ईश्वर है ।’ मनुष्य जो भी कर्म करता है वह उसी समय परमेश्वर जानता है । मनुष्यका कर्म बुद्धिमें, मनमें या जगत्में कहाँ भी होवे, ईश्वर उसी क्षणमें उसको जानता है । इसलिये ऐसी अवस्थामें मनुष्यको मिथ्या व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है । मनुष्यको उन्नति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो हृदय और मनसे जितने पवित्र कर्म हो सकते हैं उतने करने चाहिये—

हृदा मनसा पूर्ण जुहोमि । (सू. ३९, मं. १०)

‘हृदयसे और मनसे जितनी पवित्रता की जा सकती है, उतनी पवित्रतासे पवित्र पदार्थोंका ही सत्कर्ममें समर्पण करना चाहिये ।’ पवित्रतासे उन्नति और मस्तिष्कसे अवनति होती है, यह उन्नति अवनतिको नियम हरएक मनुष्यको स्मरणमें अवश्य रखना चाहिये ।

सप्त मुरी अग्नि ।

पूर्वोंके स्थानमें परमात्मा और जीवात्मा ये दो अग्नि हैं ऐसा कहा है । अग्नि ‘सत्तास्य’ अर्थात् सात मुखवाला होता है । यहाँ भी उसके साथ मुखोंका वर्णन किया ही है । यह आत्मा सप्तमुखी है, यह सात मुखोंसे खाता है, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ३ ॥
य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ४ ॥
येऽक्षस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवायां दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ५ ॥
येऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वायां दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ६ ॥
य उपरिष्ठाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वायां दिशोभिदासन्त्यस्मान् ।	
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ७ ॥
ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योभिदासन्त्यस्मान् ।	
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगैनान्प्रतिसुरेणं हन्मि	॥ ८ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः । इति नवमः प्रपाठकः ॥

॥ इति चतुर्थे काण्डे समाप्तम् ॥

अर्थ— हे सर्वज्ञ ! (ये पश्चात् जुह्वति) जो पश्चिमी ओरसे आहुति देते हैं और (प्रतीच्या दिशः अस्मान् अभिदासन्ति) पश्चिम दिशासे हमारा घात करना चाहते हैं (ते वरुणं ऋत्वा०) वरुणको प्राप्त करके पराभूत होकर दुःख भोगें, मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूँ ॥ ३ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उत्तरतः जुह्वति) जो उत्तर दिशासे हवन करते हैं और (उदीच्याः दिशः०) उत्तर दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (सोमं ऋत्वा०) सोमको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए दुःख भोगें । मैं इनपर हमला करके इनका नाश करता हूँ ॥ ४ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अक्षस्तात् जुह्वति) जो अक्षिणी ओरसे आहुति देते हैं और (ध्रुवायां दिशः०) इस ध्रुव दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (भूमिं ऋत्वा०) भूमिको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ५ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये अन्तरिक्षात् जुह्वति) जो अन्तरिक्षसे आहुति देते हैं और (व्यध्वायां दिशः०) विशेष मार्गवाला दिशासे हमारा नाश करना चाहते हैं वे (वायुं ऋत्वा०) वायुको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये उपरिष्ठात् जुह्वति) जो ऊपरकी ओरसे आहुति देते हैं और इस (ऊर्ध्वायां दिशः०) ऊर्ध्व दिशासे हमारा नाश करते हैं वे (सूर्यं ऋत्वा०) सूर्यको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! (ये दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः जुह्वति) जो दिशा उपदिशाओंसे आहुति देते हैं और (सर्वाभ्यः दिग्भ्यः०) सब दिशाओंसे हमारा नाश करनेका यत्न करते हैं (ते ब्रह्म ऋत्वा०) वे ब्रह्मको प्राप्त होकर पराभूत होते हुए कष्ट भोगें । मैं उनपर हमला करके उनका नाश करता हूँ ॥ ८ ॥

शत्रुका नाश ।

जो लोग हमारा नाश करते हैं, हमें दास बनाते हैं अथवा अन्य प्रकारसे हमें सताते हैं, वे सब शत्रु हैं, उनका प्रतिहार करना चाहिये । जो शत्रु होते हैं वे पाछेसे, आगेसे, दायीं ओरसे और बायीं ओरसे, नीचेसे अथवा ऊपरसे हमला करते हैं और हमारा नाश करते हैं, किसी किसी समय शत्रु इस प्रकार छिप छिपकर गुप्त प्रयत्नसे हमारा नाश करना चाहते हैं कि साधारण मनुष्य उनके प्रयत्नोंका पता भी नहीं लगा सकते । ऐसे गुप्त शत्रुका नाश करना तो बड़ा कठिन कार्य है । इस सूक्तमें जिन शत्रुओंका वर्णन है, वे शत्रु तो बड़े धर्मभावका ढोंग दिखाकर विश्वास उत्पन्न करके गुप्त रीतिसे घात करनेवाले हैं । ये शत्रु (जुद्धति) हवन करनेका यत्न करते हैं यज्ञयाग और सत्रका ढोंग रचकर जनताका भला करनेका ही अपना प्रयत्न है, ऐसा विश्वास जनतामें उत्पन्न करके अंदर अंदरसे नाश करनेकी तयारी करते हैं । हवनमें ऐसे अविधियुक्त पदार्थ— अर्थात् मांस आदि— प्रयुक्त करते हैं कि जिनसे देशमें रोगोंका उत्पत्ति हो जावे और उससे मनुष्योंका क्षय हो जावे । यज्ञका और हवनका ढोंग रचकर ऐसे अनर्थकारक कर्म करनेवालोंका जो प्रयत्न होता है उससे जनताका बड़ा नाश होता है । विधिपूर्वक क्रिये हुए वैदिक यज्ञयाग तो आरोग्य बढ़ानेवाले होते हैं, परन्तु ऐसे विधिहीन आहुति देनेके प्रकार जनताका घात करनेवाले होते हैं । ढोंग बढ़ाकर नाश करनेके प्रकार इससे भी और अनेक हैं, पाठक उसका विचार यहाँ करें । कई शत्रु ऐसे होते हैं कि जो उपकार करनेका भाव दिखाकर अहित ही करते हैं उन सबका यहाँ विचार करना चाहिये । ऐसे शत्रुओंका नाश करना बड़ा कठिन होता है, परन्तु इनका नाश तो अवश्य ही करना चाहिये । क्योंकि खुला हमला करनेवाले शत्रुसे ये छिपकर नाश करनेवाले शत्रु बड़े घातक होते हैं । इनका नाश करनेके लिये कुछ उपाय इस सूक्तमें कहा है । इसका भाव समझनेके लिये निम्नलिखित कोष्ट देखिये—

विशा	देवता	गुण	कर्म
प्राची	अग्नि	ज्ञान, तेज	अज्ञान नाश
दक्षिणा	यम	नियमन	दुष्टोंको दण्ड देना
प्रतीची	वरुण	निवारण	शत्रुका निवारण
उदीची	सोम	शान्ति	शान्तिका उपाय

भुवा	पृथ्वी	आधार	सज्जनोंके आधार देना
अन्तरिक्ष ऊर्ध्वा	वायु सूर्य	बल, जीवन प्रकाश	बलका उपयोग प्रेरणा करना

दिशाओंके अनेक देवताओंके ये गुणकर्म देखनेसे मनुष्योंको पता लग सकता है कि, अपने शत्रुओंको दूर करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये । सबसे प्रथम अपने लोगोंके अज्ञानका नाश करना चाहिये और उनको ज्ञान उत्तम प्रकारसे देना चाहिये । जो इस ज्ञानसंवर्धनके कर्ममें विरोध करेंगे उनको दण्ड देना चाहिये और फिर कभी विरोध न करें ऐसा योग्य शासन प्रबंध करना चाहिये । इतना करनेपर भी जो शत्रुता करेंगे उनका उपबंधद्वारा निवारण करना चाहिये । सबसे प्रथम शान्तिके उपायोंसे यह पूर्वोक्त प्रबंध करना चाहिये और शान्तिसे उक्त कर्ममें असफलता हुई तो शक्तिका भी उपयोग करके दुष्टोंको हटाना चाहिये । सज्जनोंका रक्षा और दुश्मनोंका नाश करके जनताको अपने अभ्युदय निश्चयसका मार्ग सुलभ करना चाहिये । इस प्रकार व्यवस्था करनेसे जनताके अन्दर इतनी शक्ति बढेगी कि स्वयं उनके शत्रु दूर होंगे और फिर दृढ़ावृत्ति उत्पन्न करने वाले शत्रु उनको सतानेमें असमर्थ हो जायेंगे । शत्रु बैसा भी प्रयत्न करे, उस दिशासे अपनी रक्षा करनेका साधन अपने पास पाहिलेसे ही तैयार रहना चाहिये । अर्थात् शत्रु यदि ज्ञानसे चढाई करे तो ज्ञान द्वारा उसका प्रतिबंध करना चाहिये, शत्रु बलसे हमला करे तो बलसे उसका निवारण करना चाहिये । इसी प्रकार जिन शक्तियोंके लेकर शत्रु हमपर हमला करेगा, उनका निवारण करनेका पूर्ण प्रबंध अपने पास रहना चाहिये । ऐसा शत्रु दूर करनेका प्रबंध होता रहा, तो हा जनतामें शान्ति प्रगति और उत्थिति हो सकती है । देश शत्रुहित होनेसे ही मनुष्योंका अभ्युदय होना और उनको निश्चय प्राप्त होना संभव है । शत्रुके हमके हमले बारबार होते रहे तो उत्थिति साधना अशंभव है ।

इसलिये दयावाचामनसे तथा अपने पाछेके अन्यान्य साधनोंसे शत्रुओंको दूर करनेका प्रयत्न होना चाहिये । और अपना आरिम्क, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक तथा अन्य सब प्रकारका बल इतना बढ़ाना चाहिये कि जिससे अपने सामने शत्रु हट्टर ही न सके ।

॥ यहाँ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
२०	दिव्य दृष्टि । मातृनाम्नी औषधि ।	६७ ६९	३२	उत्साह । उत्साहका धारण ।	१०२ १०४
२१	गौ । गौका सुंदर काश्य, गौ घरकी सोमा है । पुष्टि देनेवाली गौ, गौ ही धन, बल और अन्न है । यज्ञके लिये गौ । अवश्य गौ, उत्तम घास और पवित्र जलपान । गौकी पालना ।	७१ ७३ ७३ ७३ ७४ ७४	३३	पाप-नाशन । पापको दूर करना ।	१०५ १०६
२२	क्षान्नघल संवर्धन । स्पर्धा ।	७५ ७६	३४	अन्नका यज्ञ । अन्नका बिट्टारी यज्ञ, ब्राह्मणोंको दान । ब्राह्मणोंको दान क्यों दिया जाय ? मृत्युलोक । स्वर्गलोक, वासना देह, नरकके दुःख । कल्पवृक्ष और कामधेनु, संकल्पसिद्धि । कुराणमें बहिर्गत ।	१०६ १०८ १०९ १०९ ११० ११०
२३	पाप मोचन । पापसे मुक्ति ।	७७ ७९		मनोरथ, यमोंका पालन, ब्राह्मणका घर । गुरु-कुल, दानकी रीति, शुभभावनाकी स्थिरता ।	१११ ११२
२४	पाप मोचन । पापसे बचाव ।	८० ८१	३५	मृत्युको तरना । ब्रह्मोदन । अमृतकी प्राप्ति, आत्मशुद्धि, तप ।	११२ ११४ ११५
२५	पाप मोचन । श्रुति और वायु, सूर्य देवता, वाणी, बल और नेत्र । सूर्यचक्र, प्राण ।	८२ ८४	३६	सत्यका बल । सत्यका बल, दुष्ट मनुष्य, वैश्वानरकी दंष्ट्रा । सुधारके दो उपाय ।	११६ ११८ ११९
२६	पाप मोचन । यावा पृथिवी ।	८५ ८६	३७	रोगकुमिका नाश । रोगकिमि । लक्षण ।	११९ १२१ १२२
२७	पाप मोचन । मरुत देवता ।	८७ ८८	३८	उत्तम गृहिणी स्त्री । दस स्त्रीका समादर, स्त्री कैसी हो ? अपघात, रक्षितान, स्त्रीरक्षा ।	१२३ १२५ १२७
२८	पाप मोचन । मव और शर्व ।	८९ ९०	३९	समृद्धिकी प्राप्ति । उन्नतिक्रम मार्ग । परमात्माकी उपासना, नमस्कारसे उपासना । सप्तधुवी अग्नि । खाहा ।	१२४ १२५ १२६ १२७ १२८
२९	पाप मोचन । मित्र और वरुण ।	९० ९२	४०	शत्रुका नाश । शत्रुका नाश धिपयानुकमणिका ।	१२९ १३१ १३२ १३५
३०	राष्ट्रीय देवी । राष्ट्रीय देवी, आध्यात्मिक मातृार्थ । अध्यात्मवर्णनका मनन । आधिमौलिक मातृार्थ, राष्ट्रीय अर्थका मनन ।	९४ ९६ ९६ ९७			
३१	उत्साह । यज्ञका मूल मंत्र । उत्साहका महत्त्व ।	१०० १०१ १०२			



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

पञ्चमं काण्डम् ।

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-वाचस्पति, गीतालङ्कार

स्वाध्याय - मण्डल, पारडी

*

संवत् २०१५, शक १८८२, चतु १९९०

प्रकाशक :

वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,
स्वाध्याय-मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय-मंडल (पारधी) '
पारधी [जि. धुलत]

★

शक १८८२, संवत् २०१७, ई. स. १९६०

★

चतुर्थ वार

★

मुद्रक :

वसन्त श्रीपाद सातवळेकर, बी. ए.,
महाराष्ट्र मुद्रणालय, स्वाध्याय-मंडल,
पोस्ट- ' स्वाध्याय-मंडल (पारधी) '
पारधी [जि. धुलत]



अथर्ववेद का स्वाध्याय ।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।]

पञ्चम काण्ड ।

इस पञ्चम काण्डमें भी प्रारंभका सूक्त मंगलवाचक ही है, क्योंकि इसमें जगदाधार सर्वमंगलमय परमात्मप्राप्तिके मार्गका वर्णन हुआ है । इससे अधिक मंगलमय उपदेश और क्या हो सकता है ? इस मंगल सूक्तका मनन पाठक यहां करेंगे, तो उनके विचार मंगल बनेंगे और उनके लिये सभी विश्व मंगलमय बनेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

इस काण्डमें ६ अनुवाक, ३१ सूक्त और ३६७ मन्त्र हैं । यहाँ क्रमपूर्वक पाँचों काँठोंकी प्रपाठक-अनुवाक-सूत्र-मन्त्र संख्या देखिये—

काण्ड	प्रपाठक	अनुवाक	कुल सूक्त	सूक्तमें मंत्रसंख्या	कुल मन्त्रसंख्या
प्रथम	२	६	३५	४	१५३
द्वितीय	२	६	३६	५	२०७
तृतीय	२	६	३१	६	२३०
चतुर्थ	३	८	४०	७	३२४
पञ्चम	३	६	३१	८	३७६

इस तालिकाको देखनेसे पता लगता है कि अनुवाक और सूक्तोंकी संख्या करीब समान रहनेपर भी काण्डोंमें मंत्रोंकी संख्या क्रमसे बढ रही है । इस कारण प्रत्येक सूक्तकी मन्त्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है । अर्थात् जहाँ प्रथम काण्डमें चार मन्त्रवाले सूक्त हैं वहाँ इस पञ्चम काण्डमें आठ या नौ मन्त्रवाले सूक्त हैं । इस कारण काण्डकी मन्त्रसंख्या बढती है । यद्यपि इस पञ्चम काँठकी प्रकृति ८ मन्त्रवाले सूक्तोंकी कही जाती है तथापि इसमें निम्न लिखित प्रकार सूक्तोंकी मन्त्रसंख्या है—

इस पञ्चम काण्डमें	८ मन्त्रवाले	२ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	१६ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	९ मन्त्रवाले	४ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	३६ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१० मन्त्रवाले	२ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	२० है ।
इस पञ्चम काण्डमें	११ मन्त्रवाले	६ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	६६ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१२ मन्त्रवाले	५ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	६० है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१३ मन्त्रवाले	३ सूक्त हैं	जिनकी मन्त्रसंख्या	३९ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१४ मन्त्रवाले	१ सूक्त है,	जिनकी मन्त्रसंख्या	४२ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१५ मन्त्रवाले	३ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	४५ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१७ मन्त्रवाले	२ सूक्त हैं,	जिनकी मन्त्रसंख्या	३४ है ।
इस पञ्चम काण्डमें	१८ मन्त्रवाले	१ सूक्त है,	जिसकी मन्त्रसंख्या	१८ है ।

कुल सूक्त ३१

कुल मन्त्र ३७६

अर्थात् इस पञ्चम काण्डमें आठ मन्त्रोंके प्रकृतिवाले सूक्त केवल दो हैं और अन्य सूक्तोंमें अधिक मन्त्र होनेके कारण ऐसे विकृति सूक्त २९ हैं । अब इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

सूक्तोक्ते ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१ प्रथमोऽनुवाकः । (दशमः प्रपाठकः)				
१	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; ५ पराष्टुहती त्रिष्टुप्, ७ विराट्; ९ अथर्व० षट्प० अत्यष्टिः ।
२	९	बृहद्दिवोऽथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्, ९ मूर्खिपरातिजगती ।
३	११	बृहद्दिवोऽथर्वा	१, २ अग्निः; ३, ४ देवा ; ५ द्रविणोदाः; ६, ९, १० विश्वेदेवाः; ७ सोमः; ८, ११ इन्द्रः ।	त्रिष्टुप्, २ भुरिक्, १० विराट्जगती ।
४	१०	भृग्वंगिरा	कुष्ठः	अनुष्टुप्; ५ भुरिक्, १ गायत्री, १० उष्णिगगर्मानिष्टुप् ।
५	९	अथर्वा	लाक्षा	अनुष्टुप्
२ द्वितीयोऽनुवाकः ।				
६	१४	अथर्वा	सोमारुद्रौ	त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्; ३ जगती, ४ अनुष्टु- बुत्किक्त्रिष्टुगगर्मा पंचपदा जगती, ५ ७ त्रिपदा विराणनाम गायत्री, ८ एकावसाना द्विपदा आपर्वनुष्टुप्; १० प्रक्षारपक्तिः; ११-१४ पक्तिः; १४ स्वराट् ।
७	१०	अथर्वा	बहुदैवत्यं	अनुष्टुप्; १ विराट्गर्मा प्रक्षारपक्तिः; ४ पचवाष्टुहती, १ प्रक्षार पक्तिः ।
(एकादशः प्रपाठकः)				
८	९	अथर्वा	नानादैवत्यं	अनुष्टुप्, २ अथवसाना षट्पदा जगती, ३, ४ भुरिक्पद्यापक्तिः; ५ प्रक्षारपक्तिः, ७ द्व्युष्णिगगर्मापद्यापक्तिः, ९ अथर्व० षट्० द्व्युष्णिगगर्मा जगती ।
९	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१, ५ दैवी बृहती, २, ३ दैवी त्रिष्टुप्; ३, ४ दैवी जगती, ७ विराट्दुष्णिगबृहतीगर्मा पंचपदा जगती, ८ पुरस्कृति त्रिष्टुबृहती- गर्मा अनुष्टुप्दा अथवसाना जगती ।
१०	८	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः	१-३ अथमस्या त्रिपदा गायत्री, ७ अथमस्या ककुब्, ८ पुरोपृति द्व्यनुष्टुगगर्मा पराष्टिअथवसाना अनुष्टुप्दाति जगती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
३ तृतीयोऽनुवाकः ।				
११	११	अथर्वा	वरुणः	त्रिष्टुप्; १ भुरिक्; ३ पंक्ति, ६ पञ्चपदाति- शक्ती; ११ षष्ठ्यञ्चत्पदातिः ।
१२	११	अंगिराः	जातवेदाः	त्रिष्टुप्; ३ पंक्तिः ।
१३	११	गरुत्मान्	तक्षकः । विषं	जगती; २ आस्तारपंक्तिः, ४, ७-८ अनु- ष्टुप्; ५ त्रिष्टुप्; ६ पञ्चापंक्तिः; ९ भुरिक्; १०-११ निचृत्तायत्री ।
१४	१३	शुक्रः	घनरूपतिः (कृत्याप्रतिहरणं)	अनुष्टुप्; ३, ५, १२ भुरिक्; ८ त्रिपदा विराट्; १० निचृद्बृहती; ११ त्रिपदासाक्षी त्रिष्टुप्; १३ स्वराट् ।
१५	११	विश्वामित्रः	घनरूपतिः	अनुष्टुप्; पुरस्ताद्बृहती, ५, ७ ९ भुरिक् ।
४ चतुर्थोऽनुवाकः । (द्वादशः प्रपाठकः)				
१६	११	विश्वामित्रः	एकवृषः	[एकावसान द्वैपदं.] १, ४-५, ७-१० साक्षी उष्णिग्; २, ३, ६ आसुरी अनुष्टुप्; ११ आसुरी गायत्री ।
१७	१८	मयोभूः	ब्रह्मजाया	अनुष्टुप्; १-६ त्रिष्टुप् ।
१८	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; ४, ५, ८, ९, १३ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक् ।
१९	१५	मयोभूः	ब्रह्मगवी	अनुष्टुप्; २ विराट् पुरस्ताद्बृहती; ७ उपरिष्टाद्बृहती ।
२०	१९	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	त्रिष्टुप्; १ जगती ।
२१	१९	ब्रह्मा	दुन्दुभिः	अनुष्टुप्; १, ४, ५ पञ्चापंक्तिः, ६ जगती; ११ बृहतीगर्भा त्रिष्टुप्; १२ त्रिपदा षष्ठ्यञ्चत्ता गायत्री ।
५ पञ्चमोऽनुवाकः ।				
२२	१४	भृग्वगिरा	तफमनाशनं	अनुष्टुप्; १, २ त्रिष्टुप् (१ भुरिक्); ५ विराट् षष्ठ्याद्बृहती ।
२३	१३	कण्वः	इन्द्रः	अनुष्टुप्; १३ विराट् ।
२४	१७	अथर्वा	आत्मा ज्ञानादेवताः	शक्ती, १-१७ चतुष्पदातिशक्ती; ११ शक्ती; १५-१७ त्रिपदा (१५, १६ भुरिगतिजगती, १७ विराट् शक्ती)
२५	१३	ब्रह्मा	योनिगर्भः	अनुष्टुप्; १३ विराट् पुरस्ताद्बृहती ।
२६	१९	ब्रह्मा	वास्तोष्पतिः मंभोक्तदेवताः	१, ५ द्विपदावर्चुष्णिग्; २, ४, ६-८ १०, ११ द्विपदा प्राजापत्या बृहती; ३ त्रिपदा विराट् गायत्री; ९ त्रिपदाविरोलिकमथ्या पुर उष्णिक्; १-११ एकावसाना; १२ पराविशक्ती अनुष्टुप् जगती ।

* *

*

सात मर्यादायें !

सप्त मर्यादाः कवयस्तत्तद्विस्तारमिदं कथं विदुः ।

आयोर्हि स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विस्तरं धरुणेषु तस्थौ ॥

अथर्ववेद १।१।६

“तत्त्वदर्शी ज्ञानियोने सात मर्यादाएं, अर्थात् पापसे बचने की व्यवस्थाएं, बनाई हैं। उनमेंसे एकका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है। परन्तु जो अपने जीवन का आधारस्तम्भ बनता है, अर्थात् ब्रह्मचर्यादि सुनियमों के पालन से जो संयमी हुआ है, वह, समीप स्थित परमात्मा के उस धारक स्थान में, जहाँ सब मार्ग समाप्त होते हैं, स्वयं स्थिर होता है।”

*

* *



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चमं काण्डम् ।

आत्मोन्नतिकी विद्या ।

(१) अमृतासुः ।

(ऋषि — बृहद्विचोऽथर्वा । देवता — वरुण ।)

अध्वमन्त्रो योनिं य आ बभूवामृतासुर्वर्धमानः सुजन्मा ।

अदब्धामुर्ध्नाजमानोऽहं व त्रितो घर्ता दाधार त्रीणि

॥ १ ॥

आ यो धर्माणि प्रथमः सुसादु ततो वर्षपि कृणुषे पुरुणि ।

धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत

॥ २ ॥

वर्थ— (य. अमृत+असुः सुजन्मा) जो वस्तुतः अमर प्राण शक्तिसे युक्त है, तथापि उत्तम जन्म लेकर (वर्धमान) बढ़ता है और (अध्वक् + मन्त्र) सत्यका मनन करता हुआ (योनिं आ बभूव) मूल उत्पत्ति स्थानको प्राप्त होता है, वह (अदब्ध+असु) न दबनेवाली प्राणशक्ति युक्त होकर (अहं इव भ्राजमान) दिनके समान प्रकाशता हुआ (त्रितः घर्ता त्रीणि दाधार) रक्षक और धारक होकर तीनोंको धारण करता है ॥ १ ॥

(य. प्रथमः धर्माणि आससाव) जो पहिला होकर धर्मोंको प्राप्त करता है (ततः पुरुणि वर्षपि कृणुषे) उससे बढ़ बहुत शारीरिक शक्तियोंको धारण करता है और (य अनुदिता वाच आ चिकेत) जो अप्रकट वाणीको जानता है । (धास्युः प्रथमः योनिं आ विवेश) धारण करनेवाला पहिला होकर मूल उत्पत्ति स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

भावाद्य— जो वास्तविक रीतिसे देखा जाय तो अमर जीवन शक्तिसे युक्त है, तथापि जन्म लेकर अपनी शक्तिहीन वृद्धि करता है और सत्यका पालन करता हुआ अपने मूलस्थानको प्राप्त करता है, इससे अदम्य आत्मिक शक्तिसे युक्त होकर दिनके समान प्रकाशता हुआ रक्षण-शक्ति और धारण-शक्तिसे युक्त होकर अपनी तीनों अवस्थाओंको स्वाधीन करता है ॥ १ ॥

जो अन्य मनुष्योंसे श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्मनियमोंका पालन करता है, इस अनुष्ठानसे वह आश्चर्यकारक शक्तियोंका प्रकाश करता है । पश्चात् वह गूढ़ वाणीको जानता है जिससे वह धारणशक्तिसे युक्त और प्रथम स्थानके लिये योग्य बन कर अपने मूल स्थानमें प्रविष्ट होता है ॥ २ ॥

आत्मोन्नतिका मार्ग ।

आत्माकी शक्ति जिस मार्गसे चलनेसे बढ सकती है उसको आत्मोन्नतिका मार्ग कहते हैं । इस मार्गका उपदेश इस सूक्तमें किया है, इसलिये साधक लोगोंने दृष्टिसे इस सूक्तका महत्व बहुत है । भाषाका दृष्टिसे देखा जाय तो यह सूक्त बड़ा ही क्लिष्टसा है, अर्थात् इसका भाषासे शीघ्र बोध नहीं होता, तथापि विचार करनेपर और पूर्वोक्त संगति देखनेसे जो बोध मिलता है, वह यहाँ देते हैं—

आत्माकी उन्नति ।

(१) अमृतासुः— (अ-मृत-असु) यह जीवात्मा अमर जीवन शक्तिसे युक्त है अर्थात् यह अमर है, कभी मरनेवाला नहीं है । ' अज ' और ' अमर ' ये दो इसके नाम ही हैं । इन नामोंसे यह ' अन्नमा और न मरनेवाला ' है, यह बात सिद्ध होती है । तथापि यह वस्तु न मरनेवाला और न जन्मनेवाला है, तथापि यह शरीरके जन्मके साथ जन्म लेता है और शरीरके मरनेसे मरता है, ऐसा माना जाता है । इसका वर्णन ' अजायमानो बहुधा विजायते । (य ११। १५) ' न जन्म लेनेवाला बहुत प्रकार जन्म लेता है अर्थात् यह अन्नमा आत्मा स्वयं अमर प्राणशक्तिसे युक्त है तथापि जन्ममरणकी अवस्थाका अनुभव लेता है । इस मन्त्रमें भी ' अमृतासुः सुजन्मा ' अमर जीवन शक्तिसे युक्त होता हुआ भी उत्तम जन्म लेनेवाला, ऐसा इसका वर्णन किया है, इसका हेतु यहाँ है । (म १)

(२) सु-जन्मा— उत्तम जन्म लेनेवाला । जन्म लेकर उत्तम कार्य करनेवाला । जिसने अपने जन्मको सार्थक किया है । यह आत्मा वस्तुतः अमर और अन्नमा है तथापि यह शरीरके साथ जन्म लेता है, यहाँ आकर परम पुरुषार्थ करता है और अपने अमरत्वको प्राप्त करता है । (म १)

(३) वर्धमानः— बढनेवाला । पूर्वोक्त प्रकार परम पुरुषार्थ करता हुआ यह अपना शक्ति विकसित करता है, अर्थात् नरजन्म प्राप्त करक आत्मोन्नतिके मार्गसे चलकर अपनी अमर और अजर शक्तिका वृद्धि करता है । (म १)

(४) सत्यक्ष + मन्त्रः— सत्यका मन्त्र अपनेवाला । अर्थात् सत्यका पालन करनेवाला, सत्यका मनन अथवा विचार करनेवाला, जब यह होता है, तभी इसकी उन्नति होने लगती है । (म १)

(५) अदम्य + असु— न दबनेवाली प्राणशक्तिसे युक्त, यह अदम्य बलसे युक्त है । पूर्वोक्त प्रकार सत्यका

निष्ठासे पालन करनेसे उसका आत्मिक बल बढ जाता है और आत्मिक बलसे ही उसको अपनी अजर अमर और अदम्य आत्मशक्तिका अनुभव होता है । (म १)

(६) भ्राजमानः— प्रकाशनेवाला । इस समय यह अपने तेजसे चमकता है । सत्यनिष्ठा और आत्मिक बलके कारण मनुष्यका तेज बढ जाता है । (म १)

(७) योनिं आ बभूव— अपने मूल उत्पत्तिस्थानको प्राप्त होता है । परिषदे पास न जाते हुए मध्य केन्द्रमें पहुँचता है । चक्रके परिषदमें गति अधिक और केन्द्रमें गति नहीं होती है । इसलिये परिषदमें अशान्ति होती है और केन्द्रमें शान्ति रहती है । अतः योगाजिन केन्द्रस्थानमें स्थित परमात्मामें प्राप्त हाँकर शान्ति कमाते हैं और अन्य जन परिषदमें आकर महागतिके वेगसे चकर खाते रहते हैं । पूर्वोक्त प्रकारका सुमुख जीव मध्य केन्द्रस्थानमें जाता है और शान्तिका अनुभव करता है ।

इस प्रकार यह (जित) रक्षक और (घर्ता) धारक होता है अर्थात् दुष्टोंका रक्षण और धारण करता है और (जीणि दाधार) अपनी रम्य, सुख और कारण अवस्थाओंका धारण करता है, अर्थात् इन अवस्थाओंको अपने वशमें करता है । इस प्रथम मन्त्रका इस प्रकार मनन करनेसे निम्नलिखित बोध प्राप्त होता है—

प्रथम मन्त्रसे बोध ।

अदम्य आत्मशक्तिका तेज ।

' मनुष्य अपनी आत्माको अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे, नरजन्म प्राप्त होनेके पश्चात् अपने जन्मकी सार्थकता करनेके लिये उत्तम प्रशस्त कर्म करे और अपनी शक्ति योंकी वृद्धि करे । सत्यका पालन करके अपनी आत्मशक्तिकी अदम्यताका अनुभव करके उत्तम प्रकारसे दिनके प्रकाशके समान प्रकाशित होता रहे । अन्तमें स्वयं परमात्माके केन्द्रमें अपना स्थान स्थिर करके जनताका रक्षक और धारक बन कर अपने लोनों अवस्थाओंको अपने आधीन करे । ' (म १)

इस मन्त्रका तारवर्ष देखनेसे स्वयं पता लगता है कि ' जनताका रक्षण और धारण करनेके बिना अर्थात् जनताके उद्धार के प्रयत्नमें आत्मसमर्पण करनेके बिना अपनी अदम्य आत्मशक्तिका विकास नहीं होगा और आत्मविकासकी अन्तिम भूमिका भी प्राप्त नहीं होगी । ' अस्तु । अब द्वितीय मन्त्रका आशय देखिये—

(८) याः प्रथमः धर्माणि माससाद— जो पहिले दोहर धर्मनियमोंका पालन करता है । अर्थात् जो सबसे श्रेष्ठ

बन कर धर्मनियमोंका पालन योग्य रीतिसे करता है और कभी धर्मनियमोंके पालनमें किसी प्रकारकी शिथिलता होने नहीं देता । (मं. २)

(९) ततः पुरुषि वपुषि कृणुषे— उससे विविध शारीरिक शक्तियोंकी वृद्धि धारण करता है । ' वपु ' का अर्थ शरीर अथवा शरीरकी शक्ति है । मनुष्यके शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन हैं और उनकी तीन शक्तियाँ हैं । पूर्वोक्त प्रकार धर्मनियमोंका पालन करनेसे मनुष्यको इन शरीरोंकी शक्ति बढ़ जाती है, मानो, मनुष्य धर्मनियमोंके पालन द्वारा इन शरीरोंकी विविध शक्तियोंको ही बनाता या बढ़ाता है । (मं. २)

(१०) यः अनुदितं वाचं चिकेत— जो अप्रकट वाणीको जानता है, अर्थात् जो गुप्त वाणीके द्वारा प्रकट होने-वाला संदेश जानता है । जो वाणी मनुष्य बोलते हैं वह व्यक्त अथवा प्रकट किंवा ' उदित वाणी ' है । यह व्यक्त वाणी अतिस्थूल है । इसकी ' वैखरी ' कहते हैं । इसके पूर्व ' परा, पश्यन्ती, मध्वमा ' ये तीन गुप्त, गुह्य, अग्न्यक्त अथवा अनुदित वाणियाँ हैं । प्रकट वाणीकी अपेक्षा इन गुप्त वाणियोंमें आत्माका प्रभाव अधिक मात्रा होता है, जो प्रकट वाणीसे उतना व्यक्त नहीं होता । ज्ञानी जन इस अनुदित वाणीके संदेशोंको जानते हैं और उसको अवनिते हैं, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र इस प्रकार कहा है—

धृष्टारि वाक्परोक्षता पदानि तानि विदुः
महिषा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता
नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या धदन्ति ॥

अ. १।१६।२५, अथर्व १।१० (१५) २७

' वाणीके चार पद हैं, उनको विवेकी प्रप्रज्ञानी जानते हैं । उनमेंसे तीन हृदयमें गुप्त हैं और चतुर्थ वाणीको मनुष्य बोलते हैं । ' इस मंत्रके कथनेके साथ इस मंत्रका विचार करना चाहिये । इसमें जो ' अनुदित वाचं ' [अप्रकट गुप्त वाणी] को देखनेकी बात कही है, वह वाणी (गुहा निहिता) हृदयकी गुहामें गुप्त है । महिषानी ही उसको जानते हैं । अर्थात् जो इस गुप्तवाणीको जानता है, उसकी विशेष योग्यता होती है ।

(११) प्रथमः धारयुः योनिं आ विवेश— पहिला धारणशक्तिसे युक्त होकर मूल उत्पत्तिस्थानमें प्रवेश होता है । अर्थात् जो पूर्वोक्त प्रकार अपनी उन्नति करता है वह मूल केन्द्रस्थानमें प्रविष्ट होकर अग्रतम शान्तिका अनुभव

लेता है । [इस विषयमें प्रथम मंत्रके प्रसंगमें विशेष कहा है, उसको यहाँ दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है ।]

इस द्वितीय मंत्रमें जो उपदेश दिया है, उसका शारांश यह है—

द्वितीय मंत्रसे बोध ।

गुह्यवाणीका गुप्त संदेश ।

' मनुष्य पहिला बने, धार्मिक श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करे, अपने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी शक्ति विकसित करे, गुप्त वाणीके गुप्त संदेशको जाने और मूल केन्द्रस्थानमें अपना स्थान स्थिर करके वहाँका आनंद प्राप्त करे । ' (मं. २)

पाठक प्रथम मंत्रके बोधके साथ इस बोधको मिलाकर आत्मोन्नतिके उपदेशको प्राप्त करें । अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं—

शरीर धारणका उद्देश्य ।

(१२) ते शोकाय तन्व रिरेच, स्वाः शुचयः
हिरण्य क्षरत्— तेर प्रकाशके विस्तारके लिये तेरे साथ शरीरका योग किया गया है, इससे तेरे अपने निम्न प्रकाश किरण सूर्यके समान तेजस्वी होकर फैलेंगे । जीवार्त्ताके साथ जो शरीर मिले हैं उनका कारण जीवार्त्ताके निम्न प्रकाशके किरण चारों ओर फैल जावें और जीवार्त्ता अधिक तेजस्वी बने । अर्थात् ये शरीर बंधनेके लिये नहीं हैं, परन्तु मुक्तिके लिये हैं । जो मनुष्य अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, उनके लिये ये शरीर सहायक होते हैं और जो लोग पृथिवी कर्मोंमें मग्न रहते हैं, उनके लिये येही शरीर बाधनकारक होते हैं । अब मनुष्योंकी चाहिये कि वे अपने शरीरोंका यह उद्देश्य समझें और अपने शरीरोंमें ऐसे उत्तम अनुष्ठान करें कि जिससे उनके प्रकाश किरण उनके चारों ओर फैल कर सबको प्रकाशित करें, और स्वयं अपने आत्माको कृतार्थ बनावें । शरीरका मुख्य उद्देश्य शारीरिक भोग विलास भोगना नहीं है, परन्तु आध्यात्मिक बल बढ़ाना है । यह बात इस मंत्रमागने सिद्ध भी है । (मं. १)

(१३) अत्र अमृतानि नाम दध्नेते— यहाँ इस देशमें बहुतसे अमृत नाम धारण किये गये हैं । अर्थात् यहाँ बहुतही अमृत रखे हैं । मनुष्योंकी उन्नति है कि वे इस शरीर-रूपी क्षेत्रमें इन अमृतोंको प्राप्त करनेका अनुष्ठान करें । इसी शरीरमें अमृत आत्मशक्तियोंका अनुभव करके बहुत भोग सन्त-महन्त बनकर मुक्ति प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार यह शरीर अमृतप्राप्तिका सहायक है । अपने शरीरकी ऐसा मान-कर मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और अमृत बने । यदि

इस शरीरमें अनेक अमृत हैं, और इस शरीरका स्वामी जीवात्मा इन अमृतोंका सच्चा स्वामी है । परंतु इसकी अवस्था अपने ही अज्ञानके कारण ऐसी हुई है कि यह अमृतोंका स्वामी होता हुआ भी मृत्युसे डर रहा है । जैसे कोई अज्ञानी पुरुष अपने ही भूमिगत धनको न जाननेके कारण अपने आपको निर्धन मानकर दुःख करता है, इसी प्रकार इस शरीररूपी कर्मक्षेत्रमें जो अनेक अमृत हैं, उनको प्राप्त करनेका अनुष्ठान न करनेके कारण यह (अमृतत्वस्य ईशानः । (श्र. १-१५-१०)) अमरणका स्वामी होनेपर भी मरणसे डरता है । इसलिये मनुष्योंका चाहिये कि वह अपने अमरत्वका अनुभव करनेके लिये धर्माचरण करे और अपनी उन्नतिका साधन करे । (मं. ३)

(१४) विशः घर्षाणि परयन्तां— प्रजाएं वृक्षोंकी गति हैं । अथवा मनुष्य अपने वृक्षोंको प्रेरित करें । मनुष्य अपने आच्छादनोको दूर फेंक दें और अपने शुद्ध रूपमें खड़े हो जायें । मनुष्य अपनेको कपड़ोंसे ढांप देते हैं और अपनी असलियतको छिपा देते हैं । इसलिये उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपने आपको आच्छादनके अंदर न छिपावें, परंतु सत्यनिष्ठासे अपनी वास्तविक स्थितिको बतावें और उसको प्रकाशित करें । जिससे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है । ढोंगसे मनुष्य उन्नति नहीं कर सकता, वह दूसरेको केवल भ्रममें ही डाल सकेगा, परंतु अपने आपको भ्रममें नहीं डाल सकता । इसलिये आच्छादन रहित अपने शुद्ध स्वरूपका निरीक्षण करके अपनी उन्नतिका मार्ग आक्रमण करना चाहिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तरवं पूषणपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

(य. ४-१५)

'सुवर्णके ढकनेसे सत्यका मुख छिपा हुआ है, सत्य देखनेके लिये उस आच्छादनको दूर कर ।' यह उपदेश और इस मंत्रका 'अपने आच्छादनके वृक्षोंको दूर फेंको' ये दोनों उपदेश एक ही भाव बता रहे हैं ।

तृतीय मंत्रका भाव ।

अपने अंदरके अमृत ।

'अपने निम्न क्षेत्रके क्षिण चारों ओर फैल जाय, इसलिये जिसने उत्तम शरीर दिया है, और इसमें अनेक अमृतमय यज्ञ जिसकी कृपासे धारण किये जाते हैं, उसके सम्मुख अपने आच्छादन दूर फेंक कर शुद्ध रूपमें खड़े हो जाओ ॥ ३ ॥

इस तृतीय मंत्रके उत्तम बोधका मनन करते हुए हम अथ चतुर्थ मंत्रका विचार करते हैं—

(१५) सद्ः सद्ः आतिष्ठन्तः अजुर्व्यं पूर्व्यं प्रतरं

प्रभुः— हर एक धर्मविचारकी यज्ञशालामें बैठनेवाले लोग अजर पुरातन और सर्वोत्कृष्ट आत्मको प्राप्त करते हैं । जिसकी प्राप्त करना है वह (अजुर्व्यं) अजररहित, (पूर्व्यं) सबसे प्राचीन, पुरातन तथा पूर्ण और (प्रतरं) सबसे अत्यंत उत्कृष्ट है । इसीलिये उसको प्राप्त करना चाहिये । उसके प्राप्त होनेसे हम अजररहित, पूर्ण और उत्कृष्ट हो सकते हैं । यही अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम होने चाहिये । यह अवस्था प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम ऐसी समाधौमें जाना कि जहां धर्मका विचार होता है और यज्ञ किया जाता है । ऐसे सज्जनोंकी संगतिमें रहनेसे ज्ञानेः ज्ञानेः मनपर शुभ संस्कार होते हैं और मनुष्य शुद्ध और पवित्र होता हुआ उन्नत होता है । 'उप+नि+पद्' नाम मन्त्रविद्याका है, इस शब्दमें 'उप+नि' ये उपसर्ग इट्ये जाय, तो शेष 'सद्' शब्द रहता है, वही यहाँका 'सद्' शब्द है । मन्त्रप्राप्तिका उपाय चित्तन करनेवाले लोग जहाँ शांतिसे बैठते हैं उस समाका नाम 'सद्' अथवा उपनिषद् है । (अजुर्व्यं) अजर, (पूर्व्यं) प्राचीन और (प्रतरं) उत्कृष्ट आत्मके (उप) पास (नि) निकट (सद्) बैठना, यह इस शब्दका भाव है । इससे आत्मप्राप्तिके अनुष्ठानका मार्ग प्रदानमें आ सकता है ।

(१६) कविः शुपस्य मातरा, जाम्ये धुर्वे पतिं रिहाणे, परयेथां— अतीन्द्रियावेदशी और बलशाली मायता करनेवाले होकर बहिनके हितके लिये उसके पुरीण पतिकी प्रशंसा करनेके समान, उसके साथ व्यवहार करते हैं । बहिनके पतिका विशेष आदर करते हैं, बहिनके पर उसका पति आधा तो सब उसका सम्मान करते हैं । क्योंकि उसका अपमान किया जाय, तो बहिनको ही बुरा होगा, यह विचार उनके मनमें रहता है । इतना आदरका विचार दूसरोंके साथ व्यवहार करनेके समय मनमें धारण करना चाहिये । घामे आयि दामादका प्रेमा आदरपूर्वक सम्मान करते हैं, उसी प्रकार आदरमात्रसे सबके साथ व्यवहार करना चाहिये । कईयोंकी दूसरोंके अपमान करनेकी आदत होती है, इससे व्यर्थ द्वेषभाव पैदा जाता है । इसलिये प्रेमका संवर्धन करनेवाला व्यवहार करना उचित है । मनुष्योंकी दूर दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये और बलका भी आदर करना चाहिये, परंतु उस बलका उपयोग दूसरोंके साथ प्रेम करनेमें करना चाहिये न कि दूसरोंको दमनके कार्य करनेमें ।

चतुर्थ मंत्रका भाव ।

दूसरोंके साथ आदरका व्यवहार ।

'धर्मसमाधौमें धर्मनिष्ठसे बैठनेवाले क्रमशः सर्वोत्तम, अजररहित, पुराण पुरुषको प्राप्त होते हैं । वे दिव्य दृष्टिसे युक्त

होकर और बलका महत्त्व जानते हुए दूसरोंके साथ ऐसा आदरका यत्न करते हैं जिसा बहिनके धुरीण प्रतिष्ठित पतिके साथ करते हैं ॥ ४ ॥'

इस प्रकार चतुर्थ मंत्रका मनन करनेके पश्चात् पंचम मंत्रका विचार करते हैं—

(१७) कविः काव्येन ते सु महत् नमः कृणोमि—
मं कवि अपने काव्यसे तरे लिये बहुत नमस्कार करता है । पहिले कवि बनना चाहिये, कवि बननेका अर्थ यह है कि स्थूल जगत्के परे जो सूक्ष्म शक्तियाँ कार्य कर रही हैं उनको प्रत्यक्ष करना । इस प्रकार जो मनुष्य कवि किंवा ज्ञानार्थी होता है, वह अपने अनुभव प्रकट करता है उसका नाम काव्य है । यह काव्य उस सूक्ष्म शक्तिका शब्दविग्रह होनेके कारण यह परमात्माका वर्णन करता है और यह एक प्रकारकी परमात्माकी पूजा ही है । इसमें परमात्माका गुणवर्णन, परमात्माकी माफि और पूजा होती है और परमात्माके विषयमें ध्वा भी प्रकट होती है, यहाँ (महत् नमः) वहाँ नमन है । वह बड़ा मनन करता है जो कवि होकर काव्यकी दृष्टिसे इस विश्वका निरीक्षण करता है, और स्थूलके अंदरकी सूक्ष्म शक्तिकी देखता है । आत्मोन्नतिके लिये इस दृष्टिकी अत्यंत आवश्यकता है । (मं ५)

(१८) अत्र सम्यञ्चो अभियन्तो मही रोधचक्रो
ह्यं अभि वाधुघते— यही साथ रहनेवाले और गतिमान् दोनों बड़े विरोधक चक्र भूमिके ऊपर खूबको बढ़ाते हैं । इस मंत्रभागमें 'मिले हुए विरोधी दो चक्रोंका वर्णन' है । ये एक दूसरेके साथ मिले हुए विरोध चक्र कीनसे हैं, इसका विचार करना चाहिये । स्थूल सूक्ष्म, जड़ चेतन, दृश्य अदृश्य, प्रकृति पुरुष ये नाम इन 'विरोध-चक्रों' के हैं । परस्पर भिन्न गुणधर्म धारण करनेवाले ये हैं, अर्थात् जड़के गुणधर्म भिन्न हैं और चेतनके गुणधर्म भिन्न हैं । जड़ चेतन, प्रकृति पुरुष इनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है । ये जब परस्परके सहायक होते हैं, तब उन्नति होती है और परस्परके घात हुए तो नाश होता है । इस मंत्रमें यह बात कही है कि ये दोनों चक्र (सम्यञ्चो) मिलजुल कर परस्पर सहायक होकर रहें, तो (अभि वाधुघते) सब प्रकार बाँवार बढ़ाते हैं, शक्तिका विकास करते हैं । इससे सिद्ध होता है कि यदि ये परस्पर विघातक होने लगे, तो शक्तिकी क्षीणता होती है । यहाँ अपने शरीरमें ही देखिये कि यहाँ स्थूल शरीर है और अन्दर सूक्ष्म शक्ति है । शरीरको संयम आदि सुविधामें लताम बबरपासे रखा जाय तो वह स्थूल शरीर सूक्ष्म शक्तियोंका सहायक,

पोषक और संवर्धक होता है । इससे विपरीत शरीरको असंयम द्वारा व्यवसनादिमें लगानेसे दोनों शक्तियोंका ह्रास होता है । यहाँ अपने शरीरमें ही पाठक देखें कि यहाँ ये स्थूल सूक्ष्म दो रोधक चक्र कैसे हैं और ये परस्पर विरोधक होनेपर भी मिलजुल कर रहनेसे परस्पर सहायकारी कैसे हो सकते हैं और परस्पर घातक भी किस अनियमके कारण होत हैं । यह देखनेसे मंत्रका उपदेश पाठकोंको प्रत्यक्ष हो जायगा । इन परस्पर विरोधक चक्रोंकी एक कार्यमें लगाने और परस्परका सहायक बनाकर अपनी शक्तिका विकास करनेके कार्यमें प्रयुक्त करने का उपदेश इस मंत्रमें किया है । इस प्रकार विरोधक शक्तियोंकी एक कार्यमें परस्पर सहायक बनाकर अपनी शक्ति बढ़ाना और कव्य दृष्टिसे स्थूलमें सूक्ष्मको अनुभव करके उसके समुच्च भक्तिते नष्ट होना, यह आत्मोन्नतिके लिये आवश्यक है ।

(मं. ५)

पञ्चम मंत्रका भाव ।

विरोधक शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि ।

'मैं अपनी स्थूल शारीरिक शक्ति और सूक्ष्म आत्मशक्तिको एक स्वरूपमें लगीकर, उनके परस्पर विरोधको दूर करके उनकी परस्पर सहायक बना कर, दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंका पोषण करता हूँ, इस प्रकार अतीन्द्रियार्थ दृष्टिसे स्थूलके अंदर सूक्ष्म शक्तिकी देखकर अपने काव्यसे उस बालक अन्तःशक्तिके समुच्च भक्तियुक्त अन्तःकरणसे मंत्र होना है ॥ ५ ॥

इस पञ्चम मंत्रके मनन करनेके पश्चात् अब षष्ठ मंत्रका विचार करते हैं—

(१९) कथयः सप्त मर्यादाः ततश्च, तासां एकं
इत् अभि अयात्, अहुरः— जानी लोगोंने सात मर्यादाएँ निश्चित की हैं, उनमेंसे एक मर्यादाका भी जो उल्लंघन करता है, वह पापी बनता है ।' (१) खोरी न करना, (२) व्यभिचार न करना, (३) मद्राहला न करना, (४) गर्भपात न करना, (५) दुराचान न करना, (६) बार-बार दुराचार न करना, (७) पाप होनेपर असह्य बोलकर उसको न छिपाना 'ये सात मर्यादाएँ कवि लोगोंने निश्चित की हैं । इनमेंसे एक एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी बनता है, फिर अधिक मर्यादाओंका उल्लंघन हुआ तो उसके पापी होनेमें संका ही क्या है । इन सात मर्यादाओं । विचार करनेसे पाठक जान सकते हैं कि सात पुण्य कर्म कीनसे और सात पाप कर्म कीनसे हैं । इन सात मर्यादाओंमें छठी और सातवीं मर्यादा बहुत महत्त्वपूर्ण है । मनुष्यके हाथसे किसी न

किसी कारण पाप हुआ, तो वह यदि आगे बचनेका यत्न करेगा, तो बहुत हानिकी संभावना नहीं है। परंतु यदि वह बारंबार दण्ड मिलने या मना कानेपर भी वही कुकर्म फिर करने लगा, तो उसकी अव्यक्तिकी सीमा नहीं रह सकती। इसलिये उन्नति चाहनेवाले लोगोंको उचित है कि वे अज्ञानसे एक बार दोष-मय आचरण हुआ भी, तो उसको बारंबार न करें और जो कुछ दुराचार अपनी असावधानीसे होगा, तो उसको अखल बोलकर छिपानेका भी यत्न न करें। क्योंकि ऐसा करनेसे वह कलंक घटा गहरा हो जाता है और इससे अधिक पाप होता जाता है। इसलिये दोष होनेपर सत्य बोलकर उसको मर्यादा रूपमें प्रकट करना ही उचित है। मनुष्यकी उन्नतिके लिये ये सात मर्यादाएं अत्यंत सहायका हैं, इसलिये कोई मनुष्य किसी भी कारण इनका उल्लंघन न करें। (मं. ६)

(१०) आयोः स्कंधः— आयुका आधार स्तंभ मन अर्थात् आयुका विधात करनेवाला न मन। उक्त सात मर्यादाओंका उल्लंघन करनेसे जीवनका घात होता है और मर्यादाओंका पालन करनेसे आयुका आधार दृढ होता है। मर्यादाओंका पालन करनेका तात्पर्य संयमसे रहना है। संयमसे जीवन व्यतीत करनेसे जीवनका आधार शक्तिशाली होता है और उत्तम दार्ढ्य जीवन प्राप्त होता है। (मं. ६)

(११) उपमस्य नीडे, पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ— जो उपमा देने योग्य है और सबके अत्यंत समीप है उस परमात्माके स्थानमें, तथा अनेक मार्गोंकी जहाँ समाप्ति होती है, ऐसे धारक केन्द्रोंमें रहता है। यहा तीन उपदेश हैं, (उपमस्य नीडे) उपमा देने योग्य वह परमात्मा है, (रूपं रूपं प्रतिरूपो धृष्य) क. ६।४।५।८ अगतुके प्रत्येक रूपके लिये वही आधार नमूना बना है, इस प्रकारके वर्णन वेदमें आते हैं, इससे सिद्ध है कि वह परम आत्मा सबके लिये आदर्श है, उसके (नीडे) घोंसलेमें अपने लिये स्थान प्राप्त करना चाहिये। सदाचार आदि करनेसे ही उसके घोंसलेमें आरामसे रहनेके लिये स्थान मिल सकता है। वह स्थान और ऐसा है, उसका वर्णन 'पथा विसर्गे' इन शब्दोंसे हुआ है। 'विसर्ग' का अर्थ है विरामका स्थान अथवा समाप्तिका स्थान, (पथां) संपूर्ण मार्गोंका (विसर्गः) वह विरामका अथवा समाप्तिका स्थान है। किंवा 'सर्ग' का अर्थ है 'उत्पत्ति', 'वि-सर्ग' का अर्थ होता है विगत सर्ग अर्थात् 'उत्पत्ति जहाँ नहीं है ऐसा स्थान'। जहाँ विविध मार्गोंका संग्रह नहीं है, अथवा जहाँ विविध मार्ग एकरूप हो जाते हैं वह स्थान। ऐसे स्थानमें रहना चाहिये कि जिस स्थानमें रहनेसे विविध मार्गोंके

ऊपरसे आक्रमण करनेका कष्ट उठाना न पड़े। सभी मार्गोंसे गये हुए लोग जहाँ पहुँचते हैं, उस स्थानमें पहुँचना और वहाँ जाकर रहिय रहना चाहिये।

पष्ठ मंत्रका माध।

सात मर्यादाएं।

'ज्ञानी मनुष्योंमें मनुष्य व्यवहारके लिये सात मर्यादाएं निश्चित की हैं। उनमेंसे एक मर्यादाका उल्लंघन करनेसे भी मनुष्य पापी होता है। परंतु जो सातों मर्यादाओंका उल्लंघन न करता हुआ धर्मानुकूल व्यवहार करके अपने जीवनका आधार स्तंभ बनता है, वह सबके लिये उपमा देने योग्य परमात्माके स्थानमें, जहाँ अनेक मार्ग पहुँचते हैं, वहाँ आधारा-स्थानमें स्थिर रहता है ॥ ६ ॥

छठे मंत्रका मनन करनेके पश्चात् अब सप्तम मंत्र देखते हैं—

(१२) व्रतः कृषवन् अमृतासुः एमि— व्रतरूप

होकर विविध संस्कार करता हुआ अमर प्राणशक्तिके गुण होकर आगे बढ़ता है। उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंके योग्य है कि वह (व्रतः) व्रतरूप बने। व्रतरूप बननेका तात्पर्य यह है कि व्रत पालन करना जिसका स्वभाव ही बना है। एक मनुष्य ऐसा होता है कि वह नियम करता है और उनके अनुकूल चलता है। और दूसरा ऐसा मनुष्य होता है कि जो स्वभावसे ही नियमके विरुद्ध नहीं जाता है। पहिला मनुष्य प्रयत्नसे नियम पालन करता है और दूसरा स्वभावसे ही पालन करता है। इस प्रकार नियम रूप जो बना है वह मनुष्य 'व्रतः' शब्दसे यहाँ बताया है। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्य स्वभावसे ही श्रेष्ठ संस्कारोंको करता है और (अमृतासुः) अमर जीवन शक्तिके संपन्न बनता है। स्वभावसे व्रत पालन करना और स्वभावसे ही संस्कार करना यहाँ अमोघ है। पहिले जब प्रयत्नसे यह व्रत पालन और संस्कार करेगा, तब जाकर बहुत समयके पश्चात् इसका यह स्वभाव बनेगा और स्वभाव बननेसे अमृत रूप बनेगा। यहाँ अमर बननेकी मुख्य बात कही है, यह पाठक न भूलें। इस समय मनुष्य स्वभावसे अखल बोलता है, कुर्ब करवा है और नियम तोड़ता है, इस कारण इसका अयःपात होता है। परंतु जिस समय वह स्वभावसे सत्य बोलेगा और अयःपात कल्पना तक इसके मनमें न उठेगी, इसी प्रकार अन्यान्य नियम पालन स्वभावसे ही होगा, तब इसकी सब दशावस्थाएं दूर होंगी और यह अमर बनेगा। (मं. ७)

(१३) तत् आत्मा असुः तस्यः सुमस्युः— उक्त अनुष्ठानसे आत्मा, प्राण और शरीर ये सब उत्तम गुणवान् बनते

हैं । अर्थात् आरमा, प्राण और शरीर शुभगुणोंसे और बलसे
संपन्न होते हैं और वह मनुष्य विलक्षण कार्य सफल करनेमें
समर्थ होता है । पूर्वोक्त अनुष्ठानसे यह लाभ होता है । (मं. ७)

(१४) शक्तिः रक्षं दद्याति— समर्थ होकर धनको
प्राण करता है । यह भी पूर्वोक्त अनुष्ठानका ही फल है ।

(मं. ७)

(१५) हविर्दाः ऊर्जया सचते— अपनी हवि सम-
र्पित करनेवाला बलसे सयुक्त होता है । तन, मन, धन यज्ञके
लिये समर्पित करनेवाले मनुष्यकी शक्ति वृद्धिगत होती है,
परोपकारसे उसका बल बढ़ता है । (मं. ७)

सप्तम मंत्रका भाव ।

' उत्तम त्रितोका अनुष्ठान करना और परम पुण्यार्थ करना
यह जिसका स्वभाव है, वह अदम्य अमर जीवन शक्तिके
युक्त होकर और आत्मिक, प्राणसंबंधी और शारीरिक शक्ति-
योंसे बलवान और पूर्ण समर्थ होता हुआ, आत्मशक्तियोंका
परोपकारार्थ यज्ञ करके कृतकृत्य होता जाता है ॥ ७ ॥

सप्तम मंत्रका इस प्रकार मनन करनेके पश्चात् अब अष्टम
मंत्रका विचार करते हैं—

(१६) पुत्रः क्षत्रं पितरं ईहे— पुत्र अपने दुःख
निवारण करनेवाले पिताकी स्तुति करता है, सहायता चाहता
है, अथवा उसकी कृपा चाहता है । (श्रुत्+त्र) क्षत्र शब्दका
अर्थ है दुःखसे बचानेवाला । पिता दुःखसे बचानेवाला है, इस
कारण पुत्र पिताकी शरणमें जाता है । इसी प्रकार मनुष्य इसो-
लिये परमात्माकी उपासना करते हैं कि वह सबके दुःखोंको दूर
करता है । परमेश्वर इसी हेतुसे सबका परमपिता कहलाता है ।

(मं. ८)

(१७) मर्यादं ज्येष्ठं स्वस्तये अह्यन्त— मर्यादके
पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुत्रकी प्रार्थना अपने कल्याणके लिये ही
सब करते हैं । अर्थात् अपने कल्याणकी इच्छा हर एक मनुष्यमें
है इस लिये वह श्रेष्ठ शुद्धब्रह्मोंकी उपासना और ईश्वरकी पूजा
करता है । (मं. ८) अर्थात् दुःखोंसे बचने और कल्याण प्राप्त
करनेकी इच्छा हो, तो मनुष्यको परमेश्वरकी भक्ति करनी
चाहिये ।

(१८) धिरूयाः दर्शयन्— वह ईश्वर अपने (धि)
विशेष (रूपाः) स्थान दिखाता है । जो मनुष्य उस परमा-
त्माकी उपासना करते हैं उनको वह ईश्वर अपने विशेष आनंद
प्राप्तिके स्थान देता है कि वही ये जीवमात्रा जीव और वहांका
आनंद प्राप्त करें । (मं. ८)

३ (अथर्व, भाष्य, काण्ड ५)

(१९) आघर्षतः चर्पुषि कृणवाः— बारंबार जन्म-
मरणके मार्गमें भ्रमण करनेवालोंके शरीरोंको बनाता है । अर्थात्
जो मनुष्य पूर्वोक्त उपासना द्वारा मुक्तिको प्राप्त नहीं करते,
मुक्ति देनेकी इच्छासे वही ईश्वर उत्तम उत्तम शरीर
उनको देता है । इसका हेतु यह है कि ये जीव इन शरीरोंकी
सहायतासे प्रसस्ततम कर्म करें और अपने लिये मुक्तिपथ प्राप्त
करें, तथा वहांके परम आनंदके भागी बनें । (मं. ८)

अष्टम मंत्रका भाव ।

परमपिताकी उपासना ।

' पुत्र अपनी रक्षाके लिये पिताकी शरण जाता है, इसी
प्रकार मनुष्य अपने कल्याणके लिये श्रेष्ठोंको संगति करता है ।
इसी प्रकार मनुष्य अपने परमपिता और परमगुरु जो परमात्मा
है उसकी उपासना करते हैं । ऐसे उपासकोंको वह ईश्वर अपने
विशेष आनंदके स्थान बताता है, इसलिये कि वे वहां जायें
और आनंदसे पूर्ण बनें । परंतु जो मनुष्य उसकी उपासना नहीं
करते, उनके लिये बारंबार जन्ममरणके अनुभव देनेके लिये
शरीर देता है, ताकि वे इन शरीरोंसे आवश्यक अनुभव प्राप्त
करें और अपनी शक्ति विकसित करके मुक्तिपथमें योग्य
बनें ॥ ८ ॥

यहां अष्टम मंत्रका भाव समाप्त हुआ है । इसको स्मरण
करके अब नवम मंत्रका विचार करते हैं—

(३०) अर्धेन पयसा अर्धं पृणक्षि— आधे पोष्टिक
रससे आधा भाग पूर्ण करता है । यही शरीर, इंद्रियां आदि
स्थूल शरीरकी पुष्टि विवक्षित है । आधा भाग स्थूलका है और
आधा भाग सूक्ष्मका है । हमारे स्थूल भागकी अर्धार्ध शरीर,
इंद्रियां आदिकी पुष्टि विविध पोष्टिक रसोंसे परमेश्वर ही करता
है । इन पदार्थोंके निर्माण करनेके द्वारा उसने संपूर्ण प्राणिमात्रोंपर
अनंत उपकार किये हैं । यह देखकर उनके उपकारोंका स्मरण
करना चाहिये । (मं. ९)

(३१) अर्धेन शुभ्रं वर्धसे— आधेसे बल बढ़ाता है ।
जैसा वह आधेसे पोषण करता है उसी प्रकार आधेसे बल
बढ़ाता है । इस प्रकार पुष्टि और बल देकर वह परमात्मा
सबको पुष्ट और बलवान करता है । (मं. ९)

(३२) वद ईश्वर (अर्धे = अयति)— रक्षक,
(शमिमय) घुल बढ़ानेवाला, (सखाय) सबका मित्र,
(हृषिर्) अस्त्रादिसे युक्त और (धरुणं-घर) घेरिष्ठ सबसे
श्रेष्ठ है । इसके ये गुण जगत्में अनुभव करने चाहिये और इन

गुणोंका स्मरण और अनुभव करते हुए उसकी उपासना करना चाहिये । (म ९)

(३३) कथिश्स्तानि वपूषि अस्मै भवोचाम— कविकी दृष्टिसे प्रशस्त विविध रूपोंको देखकर इसकी हम प्रशंसा करते हैं । इस जगत्में जो विविध शरीर हैं उनके विलक्षण गुणधर्म देखकर मनुष्य इस ईश्वरके महान् ऐश्वर्यका अनुमान करता है, और ईश्वरके सामर्थ्यकी कल्पना करता है ।

(३४) रोदसी सत्यवाचा— यावा पृथिवीमें उसीकी सत्यवाणी भरपूर हुई है, वही गुण वाणी है जो सदा सत्य है । इसी गुण वाणीका गुण संदेश मनुष्योंको अपनाना चाहिये । इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें अष्टक वाणीका जो संदेश सुननेको कहा है, वही वाणी (सत्या वाक्) सत्यवाणी है और वह इस यावा पृथिवीके अंदर अर्थात् इस संपूर्ण विश्वके अंदर भरी है । हमारी बोलनेकी वैखरी वाणी क्षणभंगुर है, परंतु यह विश्व-व्यापक सत्यवाणी अमृतकष है, इसलिये शुद्धात्माओंको उसका अखंड संदेश हृदयके अंदरसे सुनाई देता है । जगत्के स्थूल शब्द सुननेके कान मित्र हैं और यह सत्यवाणीका अखंड संदेश अन्य भुतियों द्वारा सुना जाता है । (म ९)

नवम मंत्रका भाव ।

ईश गुणवर्णन ।

‘ परमेश्वर अपने एक मागसे सबका पोषण करता है, और दूसरे मागसे सबको बल देता है । वह सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सुखदाता है, वही सबको अनादि देकर पोषण करता है, संपूर्ण जगत्के पदार्थोंको देखकर और उसमें कविकी दृष्टिसे प्रशंसायोग्य गुणधर्मोंका अनुभव करके उसके द्वारा हम सब परमात्माकी ही प्रशंसा करते हैं, हम देखते हैं कि उसकी सत्यवाणीने संपूर्ण यावापृथिवीको व्यापा है । ’ ॥ ९ ॥

यहां नवम मंत्रका मनन समाप्त होता है । पाठक इन नौ मन्त्रोंमें आत्म के साक्षात्कारका मार्ग देख सकते हैं और वैदिक गूढ़ अध्यात्मविद्या इस सूक्तमें बैसी है इसका अनुभव मनन पूर्वक ले सकते हैं । इस सूक्तमें जो गूढ़ रीतिये उच्चातके मार्गका संश्लेष किया है उसका सारांश यह है—

इस सूक्तका सार ।

(१) मनुष्य अपने आपकी अमर जीवन शक्तिसे परिपूर्ण अनुभव करे । अपने जन्मकी सार्थकताके लिये प्रशस्त कर्म करे । अपनी शक्तियोंकी वृद्धि करे । सत्यपालनमें अपनी आत्मिक शक्तिको अदम्य बनावे । जनताका रक्षक और आधार बनकर

अपनी सब अवस्थाओंको अपने आधीन रखे । इस प्रकार स्वाधीनता प्राप्त करके अपने स्वरूपरिपतिके केन्द्रमें आनंदसे रहे ।

(२) मनुष्य अष्ट घननेकी इच्छा मनन धारण करे । उसकी सिद्धिके लिये सदा अष्ट सत्कर्म करता रहे । अपने शरीर, इंद्रियों, मन, बुद्धि, आदिकी शक्तियों विकसित करके उनको स्वाधीन रखे । गुण वाणीके गुण संदेशको सुन कर, उसके अनुसार आचरण करे और अपनी स्वरूपरिपतिको प्राप्त करके वही आनंदसे रहे ।

(३) मनुष्यको ये शरीर इसलिये प्राप्त हुए हैं कि, इसके आत्माका प्रकाश चारों ओर फैल जावे । इसमें अनेक अनुरूप भी भरे हैं । जिसकी कृपासे यह सब प्राप्त हुआ है उसके सम्मुख शुद्ध होकर और दोषोंकी दूर करके ही जाना उचित है । अपात अपने मलिन वस्त्र दूर करके उसके सम्मुख अपने शुद्ध रूपमें खड़ा होना चाहिये ।

(४) सज्जनोंकी सगतिमें रह, परमात्माकी प्राप्तिका विचार उनके साथ रहकर कर । दिव्य दृष्टिसे देख और हरएक प्रकारके बलका आदर कर । हरएकके साथ अत्यंत आदरके साथ बर्ताव कर, कभी किसीका निरादर न कर ।

(५) अपनी सब शक्तियोंको सकार्यमें प्रयुक्त कर । परस्पर विरुद्ध शक्तियोंका विरोध भाव दूर करके उनको परस्पर सहान्वयक बना, ऐसा करनेसे परस्परकी शक्तिये परस्परका पोषण होगा । स्थूलमें सूक्ष्म शक्तिका कार्य देखकर उस महान् सूक्ष्म शक्तिके सम्मुख नम्रतासे रह ।

(६) चोरी, व्यभिचार, दुराचार, मद्यपान, गर्भपात आदि कुकर्म न कर, शान्तिके मार्गमें विप्रन खड़े कर, एक ही बार कुकर्म में मना करनेपर भी वापार न करता रह और दुराचार होनेपर भी उसको छिपातेका यत्न न कर । सदाचारकी ये मर्यादाएं हैं । उनका उल्लंघन करनेसे मनुष्य पापी होता है और इन मर्यादाओंसे रहतेसे मनुष्य पुण्यमार्गी होता हुआ उच्चतत्त्वको प्राप्त होता है । यह पुण्यमार्गी मनुष्य धर्मानुकूल व्यवहार करता हुआ धर्ममये अपने जीवनका आधार बनकर ऐसे स्थानमें जाता है कि जहां संपूर्ण विविध मार्ग एकत्र बनते हैं और जहां उपमा देने योग्य परमात्माका स्थान है ।

(७) उत्तम मंत्रों और नियमोंका पालन कर और परम-पुरुषार्थी बन । अपनी आत्माकी अदम्य शक्तिका अनुभव कर और अपनी शक्तियोंका विस्तार करके उनका उपयोग जनताकी भलाईके प्रशस्त सत्कर्मोंमें कर ।

(८) जिस प्रकार बालक निर्मयताके लिये अपने पिताकी

धारण और कल्याणके लिये सद्गुरुकी शरण जाता है, इसी प्रकार निर्भयता और कल्याण प्राप्त करनेके लिये परमाविता और परमगुरु परमात्माकी शरणमें जा । वह सब उपायोंकी आनन्दके स्थानमें पहुँचाता है और जो उसकी भक्ति नहीं करते, उनको विविध शरीर धारण कराता है वे वहाके विविध अनुभव लेते हुए अन्तमें उर्ध्वके पास पहुँचते हैं ।

(१) परमेश्वर अपनी आधी शक्तिसे सबकी पुष्टि करता है और आधी शक्तिसे सबको बलवान् बानता है । वहा सबका जीवनदाता, रक्षक, मित्र और सहायक है । उसके गुणोंका ध्यान करके उसके गुणोंका कार्य जगत्में देखकर उसकी बड़ा शक्तिका अनुभव सब करें । उसीकी सत्यवाणी सर्वत्र व्यापक है, उस गुणवाणीका सदेश प्राप्त कर और उन्नत हो ।

इस प्रकार इस सूक्तका सार है । यह सार बड़ा ही बोधप्रद है और सबकी आत्मोन्नतिकी मार्ग बता रहा है । पाठक इसका

अधिक मनन करें और उचित बोध प्राप्त करें । इस सूक्तका उपदेश अपने आचरणमें लानेवाले पाठक नि उद्देश अपनी विशेष योग्यता बना सकते हैं और उच्च श्रेणीमें जाकर सम्मानित हो सकते हैं ।

यह सूक्त गूढ़ अध्यात्मविद्याका उपदेश दे रहा है । यह विद्या अत्यन्त गूढ़ है, सम्भवत इसीलिये इस सूक्तकी भाषा भी अत्यन्त गूढ़ और गुप्त भावसे परिपूर्ण रखी गई है । इस सूक्तके शब्द और वाक्य सरल नहीं हैं जो सहजहीमें समझे जा सकें । इस कारण इस सूक्तका मनन पाठकोंको बहुत करना चाहिये । यहाँ हमने विविध प्रकारसे सूक्तका भाव सरलताके साथ बतानेका प्रयत्न किया है, तथापि कई मन्त्रभाग दुर्बोध और अस्पष्ट हो रहे हैं । यदि कोई पाठक अधिक मनन करके इन मन्त्रोंपर अधिक प्रकाश डाले तो उनके जनतापर बहुत उपकार हो सकते हैं ।

भुवनोंमें ज्येष्ठ देव ।

(२) भुवनेषु ज्येष्ठः ।

(ऋषिः— बृहद्देवो अथर्वी । देवता — वरुणः ।)

तदिदांसु भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषमृन्मणः ।

सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रून्नु यदेतं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ १ ॥

वावृधानः शर्वसा भूर्योज्ञाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।

अव्यनच्च व्यनच्च सस्मि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

अर्थ— (तत् इत् भुवनेषु ज्येष्ठ आस) वह निश्चयसे भुवनोंमें श्रेष्ठ मन्त्र था (यतः उग्र त्वेष-मृन्मण जज्ञे) जहासे उग्र तेजोबलसे युक्त सूर्य उत्पन्न हुआ । यह (सद्यः जज्ञान शत्रून् नि रिणाति) तत्काल प्रकट होते हा शत्रुओंका नाश करता है । (यत् एन विश्वे ऊमा अनु मदन्ति) इस कारण इसका प्राप्त करके सब सरक्षक हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

(शर्वसा वावृधान भूरि-भोज्ञाः शत्रुः) बलसे बदनवाला महाबलवान् शत्रु (दासाय भियसं दधाति) दासकी ही मय दता है । यहाँ (अव्यनच्च व्यनच्च सस्मि) प्राणरहित और प्राणयुक्त साथ साथ रह रहे हैं । और (ते प्रभृता मदेषु सं नवन्त) वे पोषित होकर आनन्दमें स्तुति करते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— सपूर्ण भुवनोंमें वही श्रेष्ठ तत्व है कि, जहासे सूर्य जैसे तेजस्वा गोल निर्मित होता है । उसके प्रकट होत हा अपेक्षा दूर हाता है, इसलिये इसको देख कर सैरक्षक लोग निर्भय होनेके कारण हर्षित होते हैं ॥ १ ॥

बहुत बलवान् शत्रु दास वृत्तिवाले लोगोंके अन्त करणमें हा मय उत्पन्न करते हैं [वीर वृत्तिके लोग शत्रुसे कभी नहीं करते ।] इस जगत्में प्राणरहित और प्राणरहित ये दानों एक दूसरेके आग्रथसे रहते हैं और वे परस्परकी सहायतापर परिपुष्ट होकर आनन्दित होते हैं [अर्थात् विभक्त होनेपर वे क्षीण हो जाते हैं ।] ॥ २ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्मवन्त्युमाः ।

स्वादोः स्वादीयः स्वादुनां सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥

यदि चिन्तु त्वा घना जयन्तुं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः ।

ओजीयः शुष्मिन्तिस्थरमा तनुष्व मा त्वा दम्बन्दुरवासः कुशोकाः ॥ ४ ॥

त्वया वयं शाश्वद्दे रणेपु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि ।

चोदयामि तु आर्युधा वर्चोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वर्यासि ॥ ५ ॥

नि तदधिपेऽवरि परे च यस्मिन्नाविधावसा दुरोणे ।

आ स्थापयत मातरं जिगद्गुमतं इन्वतु कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृज्वाणमिनर्वममाप्तमाप्त्यानाम् ।

आ दर्शति शर्वसा भूर्योजाः प्र संक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

अर्थ— (यत् एते ऊमाः) जब ये रक्षक (स्वे अपि क्रतुं भूरि पृञ्चन्ति) युद्धमें ही अपनी बुद्धिको बहुत प्रकार जोड़ते हैं । तब (द्विः त्रिः भवन्ति) दुपुने तिपुने हो जाते हैं । (स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सं सृज) स्वादुषे भी अधिक मधुर रसकी मोठेके साथ संयुक्त कर । और (अदः सुमधु मधुना समभि योधीः) उस मधुर रसके प्रति मधुरताके साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

हे (शुष्मिन्) बलवान् । (चित् नु) निश्चयसे (रणे रणे घना जयन्तं त्वा) प्रत्येक युद्धमें घनको भीतनेवाले युद्धको प्राप्त होकर (यदि विप्राः अनुमदन्ति) यदि शत्रुओं लोग आनंदित हों, तो उनके लिये (स्थिर ओजीयः आ-तनुष्व) स्थिर बल पैला । (दुरेवासः कुशोकाः त्वा मा दम्बन्) दुराचारी और शोक करनेवाले तुझे न दबावें ॥ ४ ॥

(भूरि युधेन्यानि प्रपश्यन्तो) बहुत युद्धमें प्राप्त धनोको देखने हुए (वयं रणेपु त्वया शाश्वद्दे) हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे । (तेषां आर्युधा वर्चोभिः चोदयामि) तेरे शत्रुओंकी वचनोंके द्वारा चलाता हूँ । और (ते वर्यासि ब्रह्मणा सं शिशामि) तेरी गतिबोको ज्ञानसे मैं सीखण करता हूँ ॥ ५ ॥

(अवरे परे च) छेपे और बडे दोनोंको (यस्मिन् दुरोणे) जिस धर्म (नि दधिपे) धारण करता है और वहां (तत् अवसा अविधि) उस अपनी रक्षणशक्तिसे रक्षा करता है । (जिगद्गु मातरं आस्थापयत) प्रगतिशील माताको स्थापित करके (अतः भूरि कर्वराणि इन्वतु) इससे बहुत कर्मोंको पार करो ॥ ६ ॥

हे (वर्ष्मन्) बलवान् । (पुरुवर्त्मानं क्रमृज्वाणं) बहुत मार्गवाले, बहुत तेजस्वा, (इततमं आप्त्यानां वासं) श्रेष्ठ और आश्रममें आप्त वहां ही (संस्तुष्व) रहति कर । (भूरि-ओजाः शर्वसा आदर्शति) महाबलवान् बलसे आदर्श होता है और (पृथिव्याः प्रतिमानं प्र संक्षति) भूमिची समानताको प्राप्त करता है ॥ ७ ॥

भाषार्थ— सब रक्षक जब परमात्मासे अपनी बुद्धिका योग करते हैं, तब दुपुना और तिपुना बल प्राप्त करते हैं । ये स्वयं मधुर रससे भी अधिक मोठे बन कर उसमें भी अधिक माधुर्य उत्पन्न करते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्येक युद्धमें विजय प्राप्त करके घन कमानेवाले वीरोंका अनुमोदन शत्रुओं और ये दोनों मिलकर स्थिर बल पैलावें । दुष्ट दुराचारी लोग सज्जनोंकी कमो न दबा सकें ॥ ४ ॥

युद्धमें प्राप्त होनेवाले धनोको देखते हुए हम सब तेरे जैसे उत्तम बोरके साथ रहकर शत्रुका नाश करेंगे । तेरे शत्रुओंकी हम अपने वामनरूपसे उत्तेजित करके बल दें हैं और तेरी हलचलोंकी ज्ञानसे तेज करते हैं ॥ ५ ॥

छेपे हों या बडे हों, सब एक धर्म रहनेके समान रहेंगे, तब बल बढ़कर उनकी रक्षा होगी । सब लोग अपने मनमें अपनी विजयी मातृभूमिको स्थापित करें जिससे वे बहुत कर्मोंकी कर सकेंगे ॥ ६ ॥

बहुत मार्गोंसे उन्नति करनेवाले तेजस्वी श्रेष्ठ और आप्त पुरुषोंकी स्तुति करो । ये महाबलवान् अपने बलसे आदर्शरूप बनते हैं और जिस प्रकार भूमि सबको आधार देती है उसी प्रकार सबको आधार देते हैं ॥ ७ ॥

इमा मल्लं बृहद्विषः कृणवदिन्द्राय श्रुपमप्रियः स्वर्पाः ।

महो गोत्रस्य क्षयति स्वराज्ञा तुराश्विद्विधर्मणवत्तपस्वान्

॥ ८ ॥

एवा महान्बृहद्विषो अथर्वावोचस्त्वा तन्वभूमिन्द्रमेव ।

स्वसारौ मातरिभ्यो अरिभ्ये हिन्वन्ति चैने श्वसा वर्धयन्ति च

॥ ९ ॥ (१८)

अर्थ— (अप्रिय स्वर्पाः बृहद्विषः) पहिले आत्मिक प्रकाशसे युक्त बृहद्विष अर्थात् महान् तेजस्वी ऋषिने (श्रुपं इमा मल्लं) बलयुक्त यह स्तोत्र (इन्द्राय कृणवत्) प्रभुके लिये किया । वह (मह गोत्रस्य स्वराज्ञा क्षयति) बड़े गौरवशाली राष्ट्रीन राजा होकर रहता है । वह (तुराः तपस्वान् चित् विभ्यं अर्णयन्त) वेगवान् तपस्वी नि सन्देह विषयमें प्रमग करता है ॥ ८ ॥

(महान् बृहद्विषः अथर्वा) बड़े महातेजस्वी योगी ऋषिने (स्वां तन्वं इन्द्रं एव एव अर्णयन्त) अपने शरीरमें रहनेवाले इन्द्रको ही यह स्तोत्र कहा । (मातरिभ्यो अरिभ्यो) मातृभूमिमें मरणपोषण करनेवाली दोनों बहिमें (अ अरिभ्यो अरिभ्यो) जो निन्दोष हैं उन दोनोंके (श्वसा हिन्वन्ति च वर्धयन्ति) बलसे प्रेरित करते हैं और बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥

भाषार्थ— आत्मिक प्रकाशसे युक्त तेजस्वी ज्ञानी लोग प्रभुकी बहुत स्तुति करते हैं अर्थात् उसके गुण वर्णन करते हैं । वे राष्ट्रके स्वाधीन राजा होकर वेगशाली और तपस्वी होते हुए संपूर्ण विश्वमें अपने प्रभावको बढ़ाते हैं ॥ ८ ॥

बड़े तेजस्वी योगी ज्ञानी जन अपने शरीरमें रहनेवाले आत्माका स्तोत्र करते हैं । मातृभूमिमें रहनेवाली दोनों बहिमें [अर्थात् मातृभाषा और मातृसभ्यता] मातृभूमिका मरणपोषण करती हुई निर्दोष बनकर अपने बलसे सबको प्रेरित करके सबको बढ़ाती हैं ॥ ९ ॥

सूक्तकी विशेषता ।

यह सूक्त तथापि मुख्यतया सर्वश्रेष्ठ परमात्माका वर्णन करता है और उसकी प्राप्तिका उपाय बताता है, तथापि श्लेवाकालासे राज्यशासन विषयक और अन्वयान्य अभ्युदय विषयक महत्वपूर्ण बातोंका भी साथ साथ उद्देश दे रहा है । इस कारण यह सूक्त जिस प्रकार सधारा जनोको लाभकारी है, उन्ही प्रकार परमार्थके लिये प्रयत्न करनेवालोंके लिये भी बोधकर है । इसमें प्रायः प्रत्येक मंत्रमें श्लेषार्थ होनेसे यह सूक्त भी पूर्व सूक्तकी तरह अत्यंत क्लिष्ट और दुर्बोध्य हुआ है । तथापि इसके मनन करनेसे जो विचार मनमें आ गये हैं, उनको यहाँ देते हैं—

ज्येष्ठके लक्षण ।

प्रथम मन्त्रमें ज्येष्ठके तीन लक्षण कहे हैं । ये लक्षण प्रथम यहाँ देखिये—

(१) यतः उग्रः त्वेव-नृभ्यः जज्ञे— जहाँसे उग्र तेज उत्पन्न होता है । जिससे तेजस्विता बढ़ती है । (मं १)

(२) सद्यः जज्ञानः शत्रून् नि रिणाति— उत्पन्न होते ही शत्रुओंको दूर करता है । कार्यको प्रारम्भ करते ही वैरियोंको पराजित करता है । (मं १)

(३) विश्वे जमाः एन अनुमदन्ति— सब सरक्षक जिसके अनुमूल रहकर आनंदित होते हैं । जिसके साथ आनंदसे रहते हुए सब सरक्षक अपना रक्षाका कार्य उत्तम प्रकार करते हैं । (मं १)

(४) तत् भुवनेषु ज्येष्ठ आस— वह नि संदेह भुवनोर्मि श्रेष्ठ है । जिसमें पूर्वोक्त तीन लक्षण समत होते हैं, वह सबमें श्रेष्ठ है ऐसा कहना चाहिये । (मं १)

सबसे प्रथम परमेश्वरको 'ज्येष्ठ और श्रेष्ठ' कहते हैं क्योंकि (१) उससे सर्वके समान तेजोमूल उत्पन्न होते हैं और प्रकाशत हैं, (२) वह जहाँ प्रकट होता है वहाँ शत्रुता नष्ट होती है और (३) सब उसकी मान्यता करते हैं । अर्थात् ज्येष्ठत्वके तीनों लक्षण उसमें सार्वक होते हैं, इसी कारण कहते हैं कि परमेश्वर सब भुवनोर्मि ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, दूसरा कोई उसके बराबरीका श्रेष्ठ नहीं है । इसका तात्पर्य यह है कि तेजस्विता, शत्रुदूरीकरणकी शक्ति और रक्षक धीरोधी अनुमूलता, जिसके पास होता है उसको ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहना योग्य है । राष्ट्रमें भी जो श्रेष्ठ पुरुष कहलाते हैं 'वे तेजस्वी होते हैं, उनकी योजनाओंसे दूसरे मनुष्य भी तेजस्वी कार्य करनेमें

समर्थ होते हैं वे धार्मिक, सामाजिक, औद्योगिक, अथवा राजकीय शत्रुओंको दृष्टा करते हैं और इनके साथ राष्ट्रके वीरोंकी अनुकूल समिति होती है । ' जिन पुरुषोंमें ये तीन लक्षण होते हैं, वे ही सबसे श्रेष्ठ और सबके धुरीण माने जाते हैं ।

प्रथम लक्षणमें ' त्वेष+नृ+णः ' शब्द है । वस्तुतः यह शब्द ' त्वेष+नृ+मनः ' है अर्थात् इसका अर्थ ' तेजस्वा मनुष्यका मन, अथवा मनुष्यका तेजस्वी मन है । जिसमें ऐसा तेजस्वी मन होता है वही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है । वह मन भी ' उग्र ' अर्थात् वीरता युक्त चाहिये । शौर्य, वीर्य, धैर्य आदि गुणोंसे युक्त मन होना चाहिये । मनुष्यका मन तेजस्वी और वीर भावनासे युक्त होनेसे ही वह अपने शत्रुओंको दूर दृष्टा सकता है और लोकमतकी अनुकूलता भी उसकी मिल सकती है । व्यक्तिके अदर भा श्रेष्ठत्वके लिये यही तीन गुण आवश्यक हैं । जिस आत्मासे ऐसा मनका बल प्रकट होता है वह श्रेष्ठ आत्मा है । इस प्रकार प्रथम मन्त्रका व्यापक भाव है ।

दासकी घबराहट ।

दासके लक्षण ।

द्वितीय मन्त्रमें ' दास ' के लक्षण कहे हैं । पहिले मन्त्रमें श्रेष्ठ वीर पुरुषके तीन लक्षण कहे हैं, इस द्वितीय मन्त्रमें दासका एक ही लक्षण कहा है, वह लक्षण ' भौशता ' है—

(५) शत्रु दासाय भियस दधाति— शत्रु दासके लिये भय धारण करता है । शत्रुको देखकर दासकी घबराहट होती है । शत्रु केवल दास वृत्तिके मनुष्यको ही डरा सकता है । वीर वृत्तिका मनुष्य शत्रुसे डरता नहीं । शत्रु कितना भी प्रबल हो वीर वृत्तियाला मनुष्य कभी उसे डरता नहीं । डरनेका सबंध दासभावके साथ है । यहाँ ' शत्रुसे घबराना ' यह एक दासका लक्षण कहा है । लोग दास इसी लिये बनेते हैं कि वे शत्रुसे घबरा जाते हैं । इन लक्षणोंके साथ प्रथम मन्त्रका नारोंके लक्षणोंसे अनुमान होनेवाले विरोधी दासभावके तीन लक्षण जनि जा सकते हैं— (१) तत्रोहीन जीवन, (२) अपनी नादानासे शत्रुका बल बढ़ाना और (३) आत्मरक्षा न करने वालोंकी अनुकूलता ' ये तीन लक्षण और मिलायेंगे तो दासके चार लक्षण होंगे । तेजहीन मन्द जीवन, अपनी नादानासे शत्रुका बल बढ़ाना, आत्मरक्षा न करना, और शत्रुसे डरना ये चार लक्षण दासके हैं । ये लक्षण जहाँ हों वहाँ दास निवास करते हैं ऐसा समझना चाहिये अथवा ये लक्षण जिस राष्ट्रमें होंगे उस राष्ट्रमें दास होंगे । इन लक्षणोंसे पाठकोंको पता लग

सकता है कि दास कौन है और आर्य कौन है । श्रेष्ठ कौन है और कनिष्ठ कौन है । प्रथम मन्त्रने आर्य अथवा श्रेष्ठके तीन लक्षण बताये और इस द्वितीय मन्त्रने दासके लक्षण बताये हैं । पाठक इनका विचार करके आत्मपरीक्षा करें और अपनेमें यदि कोई दासके लक्षण दें दिये, तो उनको दूर करके अपनेमें ज्येष्ठ, श्रेष्ठ आर्यत्वके लक्षण बढावें ।

विरोधियोंका सहकार्य ।

इस जगत्में विरोधियोंके झगड़ोंका वृत्तान्त बहुत स्थानोंमें सुनाई देता है । विरोधियोंके झगड़ोंमें समिलित होनेवाले दोनों पक्षप्रतिपक्षियोंकी शक्ति क्षीण होती है । इस प्रकारके भाषण बचनेका उपाय इस द्वितीय मन्त्रके वचनार्थमें कहा है, वह उपाय है विरुद्ध धर्मियोंकी सहकारिता करना । देखिये—

(६) अ-व्यनत् च व्यनत् च सन्ति, ते प्रभृता मदेयु सं नयन्त ।— जब और चेतन ये विरुद्ध धर्मवाले दोनों परस्पर मिलजुलकर रहते हैं, इसलिये वे पुष्ट होकर आनन्द में रहते हैं । (मं. २)

अपने शरीरमें ही देखिये शरीर जब है और आत्मा चेतन है । इन दोनोंके गुणधर्म परस्पर भिन्न हैं । इन दोनोंके धर्म परस्पर भिन्न होते हुए भी ये एक स्थान पर ऐसे मिले जुले रहते हैं कि इनको कोई भिन्न नहीं कर सकता । इस प्रकारकी इन विभिन्न धर्मियोंकी एकता होनेसे ये दोनों परस्परकी शक्तिसे परिपुष्ट होते हैं और दोनोंकी वृद्धि होती है । स्थूलसे सूक्ष्मकी वृद्धि और सूक्ष्मसे स्थूलकी पुष्टि होती है । जबकी सहायता चेतनके लिये और चेतनकी जड़के लिये होती है । परस्पर विरुद्ध धर्मवाले ये दोनों एक दूसरेके साथ रहनेसे विरुद्ध कार्य करनेमें समर्थ हुए हैं । यदि ये दोनों साथ न रहेंगे, तो यह जगत्का चमत्कार नहीं दिखाई देगा । यह चमत्कार केवल इन विरुद्ध शक्तियोंके एक स्थानपर कार्य करनेसे ही हो सकता है । पूर्वके सूक्तमें ' दो विरोधी चक्रे एक स्थानपर कार्य करनेपर उन दोनोंकी शक्ति बढ़ जाती है । (मं. १५) ' ऐसा कहा है । इस कथनके साथ इस उपदेशकी तुलना पाठक करें ।

जब चेतनके साथ साथ कार्य करनेका यह उपदेश यहाँ इस हेतुसे कहा है कि जनतामें कई लोग जड़वृद्धिके होते हैं और कई तीव्र युद्धिके होते हैं । ये दोनों आपसमें न लड़ें । इसके अतिरिक्त भी बली निर्बल, शक्ती अशक्ती, धनी निर्धन, पूज्यपति मजदूर, इस प्रकारके विरुद्ध धर्मवाले लोग रहते हैं । प्रायः इनका झगडा होता रहता है और झगड़ेसे आपसकी

शक्ति मष्ट होती है । अतः इनको उचित है कि जटवेत्तन या प्रकृति पुरुषके समान परस्पर मिलजुलकर रहें और परस्परकी सहायतासे दोनोंकी शक्ति बढावें । यह उपदेश बड़ा बहुमोल है और जो इसका मनन करेंगे उनको उन्नतिका मार्ग अवश्य दिखाई देगा । ज्ञानी और अज्ञानी आपसमें मिलें, अज्ञानियोंको ज्ञानी ज्ञानदान दें और अज्ञानी ज्ञानियोंकी सहायता अपने बलसे करें । इसी प्रकार स्त्रीपुरुष विषमधर्मी होनेपर भी गृहस्थधर्मसे मिलें, इससे स्त्रीकी पुरुषकी और पुरुषकी स्त्रीकी सहायता होगी, और दोनोंकी शक्तियोंसे दोनोंकी उन्नति होगी । इसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मियोंका मेल होनेसे दोनोंकी बर्धा उन्नति होती है । उन्नतिका यह महाविद्वान्त इस द्वितीय मंत्रमें कहा है, इसलिये इस द्वितीय मन्त्रका महत्त्व बहुत ही अधिक है ।

राजनैतिक क्षेत्रमें जहां विविध जातियोंका आपसमें संघर्ष होता है वहां यह मेलका तत्त्व काममें लाया जाय, तो बड़ा लाभ होना सम्भव है । इस तत्त्वपर जब आतिथी आपसमें मिलेंगी, तब सबका मिलकर एक बड़ा राष्ट्र होगा और उसकी शक्ति विलक्षण कार्य करनेमें समर्थ होगी । ब्राह्मण ज्ञानसे, क्षत्रिय बलसे, वैश्य धनसे और शूद्र अपनी कारीगरोंसे अपने राष्ट्रकी पूजा करें, ये परस्पर विभिन्न धर्मवाले लोग परस्पर मिलकर रहें और अपनी शक्ति बढावें । इस प्रकारकी एकता हमेशा लाभदायक हो सकती है । मनुष्यके व्यवहारमें विरोधके प्रसंग अनेक आते हैं, उस समय यदि इस नियमका स्मरण होगा तो अनतका बड़ा कल्याण हो सकता है ।

शक्तिकी वृद्धि ।

(७) ऊमाः त्वे फलं पृच्छन्ति, त्रिः त्रिः भवन्ति-
 संरक्षक वीर तेरे अन्दर अपनी बुद्धिका योग करते हैं, जिनसे वे दुग्गे और तिगने बलवान् हो जाते हैं । जो लोग अपने अन्तःकरणकी ईश्वरमें लगाते हैं, चित्तकी एकाग्रता करके परमेश्वरका ध्यान करते हैं, उनका बल बढ जाता है । यही 'कतु' शब्दका अर्थ 'प्रज्ञाशक्ति और कर्मशक्ति' है । अर्थात् जो मनुष्य अपनी बुद्धिकी और कर्तव्यशक्तिको ईश्वरार्पण बुद्धिसे एक ही सर्वकर्ममें लगाते हैं, उनकी शक्ति बढती है । यही बुद्धि और कर्मशक्तिको एक केन्द्रमें लगानेका महत्त्व बताया है । किसी भी व्यवहारके एक केन्द्रमें मन, बुद्धि, चित्त आदि अपनी सब शक्तियोंको एकाग्र करनेसे शक्तिकी वृद्धि होती है अथवा अपनी शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य होनेकी संभावना हो जाती है । अपने अन्तःकरणकी अनेक बाँटोंमें व्यय रखनेसे

अपनी शक्ति क्षीण होती है, परंतु अनेक व्यवसायोंका संग्रह हटाकर किसी एक कार्यमें मनको लगाया जाय, तो एकाग्रतासे अपना बल बढानेके कारण सिद्धि सहजहीमें हो जाती है । 'ऊम' का अर्थ है स्वसंरक्षण करनेवाले लोग । जो अपनी और जनताकी रक्षाके कार्य करते हैं, उनकी इस प्रकार अपने मनकी एकाग्रता अत्यंत आवश्यक है, यदि उनका मन अनत चिन्ताओंमें व्यय रहेगा, तो उनसे रक्षाका कार्य मीनही हासकता । अर्थात् चित्तको एकाग्र करनेसे शक्ति द्विगुणित अथवा त्रिगुणित हो सकती है और चित्तकी व्यग्रता बढानेसे शक्ति क्षीण होती है । इसी नियमसे योगमार्गकी उत्पत्ति हुई है । चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका नाम योग है । चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका ही अर्थ चित्तको अनेक स्थानोंमें हटाकर किसी एक स्थानमें स्थिर करना । अपने मनकी शक्ति बढानेके लिये ही यह योग-साधन है । उदाहरणके लिये पाठक देखें कि किसी मनुष्यके पस एक रुपयेकी शक्ति है । यदि वह एक कार्यमें एक पाईकी शक्ति देगा तो १९९ बाँटोंकी एक एक पाईकी शक्ति ही मिल पायेगी और कोई कार्य नहीं होगा, परंतु यदि वह एक रुपयेकी शक्ति किसी एक ही कार्यमें लगायेगा, तो उसको अधिक सिद्धि मिल सकती है । एकाग्रतासे शक्ति इस प्रकार बढती है । अपनी घोड़ी शक्ति अनेक कार्योंमें खर्च करनेकी अपेक्षा अपनी सब शक्ति ही एक कार्यमें खर्च करना उक्त कारणसे बहुत लाभकारी है । इस वर्णनसे पाठकोंके मनमें यह बात आ गई ही होगी कि यही शक्ति बढानेका अर्थ शक्ति द्विगुणित होना नहीं है, अपितु उतनी ही शक्तिसे अधिकसे अधिक कार्य कर सकना है । एकाग्रतासे कार्यसमता बढ जाती है यही नियम यही कहा है ।

माधुर्य ।

(८) स्वादोः स्वादीयः स्वादुना संसृज । सुमधु
 मधुना सममियोधो — मीठेमें मीठा बनकर उसमें और मीठा रखो । उत्तम मधु मधुरतासे संयुक्त कर । यह रूपक है । प्रकृतिके स्वादुरसके साथ जीवात्माका स्वादुरस मिलावे, इस मिलावसे यह मानवदेहवृत्त्यो स्वादु मीठा रस बना, इसमें और अधिक मधुर परमात्माका अन्तः रस मिलाया जाय, तो सबसे उत्तम मधुरता हो जायगी । यह मीठापन सेतों और महन्तोंमें दिखाई देता है । उत्तम मधु परमात्मा है उसको अपने जीवात्माके माधुर्यमें मिलावा चाहिये । यह अर्थात्माशक्तिका अनुष्ठान इस मंत्रमें कहा है । जो अपनी उन्नति इस साधनसे करना चाहते हैं वे यह मधुर साधन करें । मनुष्यका सबसे प्रथम प्रकृति पुरुषके संबन्धमें माधुर्य अनुभव करना चाहिये और उसमें

परमात्माही मधुरता मिलाता चाहिये । यह माधुर्यका मार्ग व्यवहारमें भी बड़ा उपयोगी है । व्यवहारमें, बातचातमें और विचारोंमें माधुर्य रखनेसे मित्र बढते हैं और शत्रु कम हो जाते हैं । कई मनुष्य ऐसे कटुबन्धी होते हैं कि कारणके बिना ही कतु वाक्प्रहारसे मित्रोंको भी शत्रु बनाते हैं और हानि उठाते हैं । यह बहुत ही अनिष्ट है इसलिये मनुष्यको सचित है कि वह अपने अन्दर मोटास घडावे और अपने सब व्यवहार माधुर्य युक्त करे जिससे इसके मित्र बढेंगे और अनेक प्रकारसे लाभ हास्य । (म ३)

ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकता ।

(९) रणे रणे घना जयन्त त्वा विप्रा अनुम-
दन्ति, स्थिर ओजीयः आ तनुष्व- प्रत्येक युद्धमें घनोंको
जीतनेवाले तेरे जैसे वीरोंका जब हानी अनुमोदन करते हैं तब
तु स्थिर बल फैला । इसमें सुस्पष्ट कथन यह है कि परमेश्वर
हरएक युद्धमें विजय प्राप्त करता है, इसलिये ज्ञानी लोग उसकी
उपासना करते हैं और परमेश्वर भी उनके लिये स्थिर बल
उत्पन्न करता है । यह तो परमेश्वर विषयक भावार्थ हुआ ।
परन्तु यहाँ इससे भी अधिक आशय है वह यह है— 'प्रत्येक
युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले क्षत्रिय वीरोंका अनुमोदन ज्ञानी
ब्राह्मण करेंगे, तो जिस देशमें ऐसे मिलजुलकर कार्य करनेवाले
ब्राह्मण और क्षत्रिय रहते हैं, उस राष्ट्रमें हमेशा रहनेवाला
स्थिर बल उत्पन्न होता है, अर्थात् वह राष्ट्र अत्यन्त बलवान्
होता जाता है । ' यजुर्वेदमें कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह ।

त लोकं पुण्यं प्रक्षेप यत्र देवाः सहाग्निना ॥

यजु २०।२५

'जिस राष्ट्रमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर साथ साथ
चलते हैं, उस राष्ट्रको पुण्य देश कहते हैं । ' इस कथनके साथ
इस सुष्ठके पूर्वोक्त कथनकी तुलना पाठक करें ।

१ रणे रणे जयन्त विप्राः अनुमदन्ति— युद्धमें
विजय पानेवाले वीरका शानी अनुमोदन करते हैं ।

२ यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ सह चरतः—
जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय मिलजुलकर रहते हैं ।

ये दोनों वर्णन जहाँ सज्जत होते हैं, उस राष्ट्रमें स्थिर बल
रहता है । इसलिये हरएक राष्ट्रका शानी और शूर मिलजुलकर
रहें, और अपना बल बढावें । इसका प्रतिफूल स्थिति जहाँ
होगी वहाँ अर्थात् जिस देशमें ब्राह्मण और क्षत्रिय आपसमें

झगडते रहेंगे, वह राष्ट्र अधोगतिके कर्चकर्ममें फस जायगा,
इसमें कोई शङ्का नहीं है । ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकतासे बलकी
वृद्धि और आपसके युद्धसे बलका नाश होता है ।

(१०) दुरेवासः कशोकाः त्वा मा दभन्— दुष्ट
और शोक उत्पन्न करनेवाले तुझ न दबावें । अर्थात्पक्षमें—
'दुष्ट विचार और शोकके विचार मनुष्यके मनको न दबावें ।
राष्ट्रके पक्षमें दुष्ट घात करनेवाले लोग और दुश्मनोंको हलाने
वाले लोग राष्ट्रको न दबावें । ' ब्राह्मण और क्षत्रियोंको आपसमें
एकता करके अपने राष्ट्रका बल ऐसा बढाना चाहिये कि जिससे
राष्ट्रमें दुष्ट लोगोंका उपद्रव बढने न पावे । सर्वत्र रक्षाका
प्रबन्ध ऐसा उत्तम हो कि जिससे दुष्ट सदा दबे रहें और कभी
सिर ऊपर न उठा सकें । व्यक्तिमें, कुटुम्बमें, जातिमें और
राष्ट्रमें यह उपदेश बड़ा बोधप्रद है । ब्राह्मण क्षत्रियोंका आपसमें
युद्ध हुआ, अर्थात् दोनोंमें एकमत न रहा, तो इन दुष्टोंको
सिर ऊपर उठानेके लिये अवसर मिल जाता है, अतः राष्ट्रके
अन्दर अभेद्य एकता रखना चाहिये और दुष्टोंका बढनेके लिये
समय ही नहीं देना चाहिये ।

(११) युधेभ्यानि प्र पश्यन्तः वय रणेपु त्वया
शाश्वते— युद्धोंमें विजय प्राप्त करके जो घन मिलते हैं
उनको देखकर हम सब युद्धोंमें तेरे साथ रहकर शत्रुका नि पात
करेंगे । यहाँ भी पुनः पूर्ववत् ज्ञानी और शूरोंकी सहकारिताका
उपदेश किया है । शानी और शूर मिलकर एक मतेसे युद्ध
चलावें और विजय प्राप्त करके धन और यश कमावें । (म ५)

(१२) ते अयुधा वचोभि चोदयामि— तुझ
क्षत्रियके आयुध मैं ब्राह्मण अपनी वाणीसे प्रेरित करता हूँ ।
ब्राह्मण अपने उपदेशसे क्षत्रियके अनुकूल वायुमण्डल बनावे और
क्षत्रिय भा ब्राह्मणकी विद्या बढानेके लिये योग्य सहायता देवे ।
क्षत्रियके शस्त्रोंको ब्राह्मण अपने भाषणसे प्रेरणा देवे । (म ५)

(१३) ते मयास्मि अक्षय्या इमे क्षिप्राम्— तेरों
यतियोंको मैं अपने ज्ञानसे तेज करता हूँ । अर्थात् क्षत्रियोंकी
हलचलोंको ब्राह्मण अपने ज्ञानसे योग्य दिशामें चलावे । (म ५)

इस पद्यम मन्त्रमें भी वही ब्राह्मण-क्षत्रियोंकी एकताका विषय
बड़ी उत्तम रातिस कहा है । चतुर्थ और पद्यम मन्त्रका यह एक
ही भाव है । जिस देशमें शूर और शानी ऐसे एक विचारसे
व्यवहार करेंगे उस देशका तेज नि सद्दह चारों ओर फैलगा ।
आगेके छठे मन्त्रमें भा यही एकताका विषय भिन्न रीतिसे कहा
है, वह अब देखिये—

(१४) यस्मिन् दुरोणे अवरे परे च नि दधिपे,
तत् अयसा अविथ— जिस घरमें छोटे और बड़े मिलकर
रहते हैं वह घर बल्ले सुरक्षित होता है । सच नीच, छोटे बड़े,
बली निर्बल, सचन निर्धन, मालिक नौकर इत्यादि प्रकारके लोग
होते हैं । प्रायः इनमें विरोध रहता है और विरोधके कारण एक
दूसरेसे झगड़ते रहते हैं । परंतु जिस घरमें अथवा जिस राष्ट्रमें
छोटे और बड़े लोगोंमें एकता रहती है और ये सब एक घरमें
रहनेके समान मिलजुलकर रहते हैं, वही ही सनका अपनी
एकताके बलसे रक्षण होता है । अर्थात् जिस देशके छोटे और
बड़े आपसमें झगड़ते रहते हैं, वह देश असुरक्षित होनेके कारण
मिर जाता है । कितना ही बड़ा राष्ट्र क्यों न हो, वह एक
छोटेसे घरके समान सब लोगोंको मालूम होना चाहिये । राष्ट्रमें
किसीको भी ऐसा नहीं मालूम होना चाहिये, कि मैं छोटा हू
या दूसरा बड़ा है, इस विषयमें एक मंत्र देखिये—

(१) अज्येष्ठासो अकनिष्ठास पते सं भ्रातरो
वावृष्टुः सौमगाय । (ऋ. ५।१०।५)

(२) ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उज्जिहोऽमध्य-
मासो महसा विवानृष्टुः । सु जातारो जनुषा
पृथग्भ्रातरो दिवो मर्या आ नो अच्छा जिगा-
तन । (ऋ. ५।५९।६)

(१) जिनमें कोई बड़ा नहीं और जिनमें छोटा भी
कोई नहीं है, ये सब परस्पर भाई हैं और ये सब अपने वर्याण
के लिये मिलकर प्रयत्न करते हैं ॥ (२) उनमें कोई बड़ा नहीं,
कोई छोटा नहीं और कोई मध्यम भी नहीं । वे सब एक जैसे
हैं और वे अपने उदयके लिये उत्साहसे प्रयत्न करते हैं । वे
उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, भूमिको माता माननेवाले, दिव्य
मनुष्य, हमारे पास अच्छी प्रकार आये । '

इन मंत्रोंमें ऐसे वारोक्ता वर्णन है कि जिनमें सच नीच कोई
नहीं है, सब एक ही धेगाके हैं और सब मातृभूमिकी उपासना
करनेवाले और अपने सामुदायिक यशके लिये यत्न करनेवाले
हैं । यही छोटे और बड़े एक घरमें रहनेके समान रहते हैं और
अपने मेलसे अपनी शक्ति बढ़ाते हुए उन्नति करते हैं । अन्धा-
त्मपक्षमें परमात्मके घरमें छोटे और बड़े सब एक जैसे ही होते
हैं, यही का छोटेपन वही छोटा नहीं होता और यही का बड़ापन
वही बड़ा नहीं होता । वही तो अन्तःशुद्धतासे सबकी उच्चनीच
श्रेणी मानी जाती है । (मं. ६)

(१५) जिगर्तु मातरं आस्थापयत— प्रगतिशील
अपनी मातृभूमिको अपने अन्तःकरणमें स्थापन करते हैं । पूर्व
४ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ५)

स्थानमें दिये हुए ऋग्वेद मंत्रमें ये मातृभूमिके उपासक होते हैं,
ऐसा स्पष्ट कहा ही है, वही बात यहाँ कही है । इसी विषयमें
दूसरा एक मंत्र यहाँ देखने योग्य है वह अब देखिये—

इळा सरस्वती मही तिष्ठो देवीर्मयो भुवः ।

यर्हिः सीदन्त्यसिधः ॥ (ऋ. १।१३।९)

तिष्ठो देवीर्वाहिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही
मारती गृणाना ॥ (अथर्व. ५।१७।९; यजु. २७।१९)

('इळा मारती') मातृभाषा (सरस्वती) मातृसभ्यता
वा मातृसंस्कृति और (मही) मातृभूमि ये तीन देवियों अन्तः-
करणमें स्थिर रहें । ' अर्थात् मनुष्यको अपने अन्तःकरणसे इन
तीन देवियोंकी उपासना करनी चाहिये । वही स्वदेश इस
सूक्तके इस मन्त्रभाषामें है, (मातरं आस्थापयत) मातृ-
भूमिको अपने मनमें उत्तम प्रकार स्थापित करो अर्थात् मातृ-
भूमिके तद्देशसे ब्राह्मण क्षत्रिय, छोटे बड़े, सच नीच सब एक
हों और मिलजुलकर अपनी उन्नति करनेके लिये यत्न करें तथा
आपसमें झगड़े खड़े करके अपनी शक्तिका ही नाश कदापि न
करें । (मं. ६)

(१६) अतः भूरि कर्पराणि इन्वत— इससे बहुत
उत्तम कर्म तुम सिद्ध कर सकोगे । यदि पूर्वोक्त प्रकार एकतासे
लोग रहेंगे, तो ही वे प्रबल पुरुषार्थ कर सकेंगे । अर्थात् आपस
के झगड़ोंमें अपना समय बिता देंगे, तो सबसे कोई पुरुषार्थ
नहीं होगा, और वे गिरते जायेंगे । आपसके झगड़ोंसे मनुष्योंकी
पुरुषार्थ शक्ति ही नष्ट होती है । (मं. ६)

आप्त पुरुषकी स्तुति ।

(१७) पुरुषरर्मानं अश्वानं इततमं आप्यानां
आप्तं सं स्तुभ्य— बहुत मार्गवाले, तेजस्वी, श्रेष्ठ और
आप्तोंमें आप्त पुरुषकी ही प्रशंसा कर । अन्यकी स्तुति न कर ।
परमेश्वरके पास जानेके अनेक मार्ग हैं और वह अनेक मार्गोंसे
लोगोंका कल्याण कर सकता है, वह तेजस्वी और सबमें श्रेष्ठ
है, और सब आत्में परम आप्त वही है, इच्छित्ये वही स्तुति
करने योग्य है । उसके स्थानपर किसी अन्यकी स्तुति
करना योग्य नहीं है । जो सदा सत्यवचनी होता है और
कभी किसीके अहितकी बात नहीं करता, जिसके शब्द
प्रमाण माने जा सकते हैं उसका नाम आप्त है । ऐसे आत्में
जो सबसे श्रेष्ठ आप्त पुरुष होता है, वह ' आप्यानां आप्तः '
है अर्थात् प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक वही है ।
इसीलिये परमेश्वरको सब गुरुओंका भी महापुरुष अथवा आदि-
गुरु कहते हैं । यह वर्णन तो परमात्मविषयक हुआ, अब इस

सूक्तका अन्य मनुष्य विषयक भाषार्थ देखते हैं । जो मनुष्य (पुरुष-वर्तमान) बहुत मार्गोवाला है अर्थात् अपनी उत्पत्तिके लिये तथा अपने राष्ट्रके अभ्युदयके लिये अनेक मार्गोंसे बहुत प्रयत्न करता है, एक मार्गसे अशिक्षि हो जाने पर दूसरे मार्गसे अपना कदम आगे बढ़ाता है और शिक्षा अवश्य प्राप्त करता है, (ऋभ्याणं, ऋभु) कुशल, कारीगर, कला जानने-वाला, हुनर जाननेवाला, कुशलतासे कार्य करनेवाला, जो कार्य हाथमें ले उसे कुशलतासे करनेवाला, (इन+तमं) अत्यंत शक्तिमान्, सामर्थ्यवान्, बलवान् आज्ञस्वी, (आप्यानां मासं) प्रामाणिक पुरुषोंमें सबसे अधिक प्रामाणिक, ऐसा जो पुरुष होगा उसकी स्तुति कर । जो अनेक उपायोंसे कार्य सिद्ध करनेवाला, कर्म करनेमें कुशल और प्रामाणिक पुरुष हो, वहाँ प्रशंसाके लिये योग्य है । किसी अन्वकी स्तुति करना योग्य नहीं है । केवल ज्ञानी, केवल अधिकारी, केवल धनी पुरुष जो होंगे, वे यदि ऊपर लिखा हुआ अनहितका कार्य तत्परतासे नहीं करेंगे, तो वे स्तुतिके लिये योग्य नहीं होंगे । (मं. ७)

आदर्श पुरुष ।

(१८) भूति-भोजाः शयसा आदर्शति— बहुत बलवाला मनुष्य अपने सामर्थ्यसे आदर्शरूप होता है । मनुष्य जो जनतामें आदर्श हो जाता है वह बलके कारण होता है । जिसमें किसी भी प्रकारका बल नहीं है, वह कदापि आदर्श पुरुष नहीं हो सकता । आत्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक आदि अनेक बल हैं । पुरुषमें किसी भी बलकी अधिकता होगी, तो ही वह लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है । मनुष्यमें बल हो और उस बलका उपयोग जनताका उत्थार करनेके कार्यमें वह करे, तो वह सबके लिये आदर्श होता है । पूर्वापर संगति-से पाठक इस भावार्थको खय जान सकते हैं । श्रेष्ठ पुरुष किन गुणोंसे बनते हैं, इसका बोध इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें प्रकाशित हो सकता है । उस आशयके साथ इस मंत्र-भागको देखनेसे स्पष्ट होता है कि आदर्श पुरुष बननेके लिये स्वयं बल कमाना और उस बलका उपयोग परोपकारार्थ करना आवश्यक है । इस विषयमें अगला मंत्रभाग देखने योग्य है—

(१९) पृथिव्याः प्रतिमानं प्र सक्षति— वह पृथिवीके साथ समानता प्राप्त करता है, वह भूमिका समूना बनता है । जिस प्रकार गंभीरता, गुरुत्व और सहनशीलताका आदर्श पृथ्वी है, उसी प्रकार वह गंभीर, बड़ा और सहनशील बनता है । पृथ्वी सब स्थिरचरको आधार देती है, स्थिरचरके आघात सहन करती हुई भी सबको उत्तम पोषणके पदार्थ देती

है । यह शांति और परोपकारका आदर्श है । पृथ्वी सबको वह उपदेश दे रही है । यह आदर्श जो पुरुष अपने सम्मुख रख सकता है और अपने जीवनमें डाल सकता है, वही आदर्श पुरुष बन सकता है । पृथ्वी जिस प्रकार अपनी शक्ति परोपकारमें लगाती है, उस प्रकार जो पुरुष अपनी सब शक्तिको जनताकी भलाईके लिये खर्च करता है, वही अन्य लोगोंके लिये आदर्श पुरुष हो सकता है । (मं. ७)

काव्य कैसा हो !

(२०) अत्रियः स्वरस्ताः वृद्धिद्वयः शृपं मद्वा कृण्वन्— प्रथम धेनीमें स्थित, अपने प्रकाशसे युक्त, बड़े गुलोकके समान तेजस्वी ऋषि, बल उत्पन्न करनेवाला काव्य करता है । इस मंत्रमें प्रथम ऋषिके गुण कहे हैं । वह कवि सबसे प्रथम स्थानमें विराजनेवाला आत्मिक प्रकाशसे प्रकाशने-वाला, गुलोकके भी अधिक विस्तृत और प्रभावशाली हो, तभी वह कवि ऋषि कहलायेगा । यह ऋषि (शृपं मद्वा) बल बढ़ानेवाला श्रेष्ठ या काव्य बनावे । कवि लोग काव्य इस प्रकारका बनायें कि जिसके पठनेसे पठनेवालेके मनमें बलका पोषण होवे, निरर्थक अन्त करण भी बलशाली बनें, उदासीन लोग उत्साही बनें और पुरुषार्थी हीन लोग प्रबल पुरुषार्थी बनें । काव्य इस प्रकारका बनना चाहिये । ऋषिका काव्य काव्यका वही लक्षण है । ऋषिका काव्य निजीव मनुष्योंको भी विलक्षण पुरुषार्थी बना सकता है । इस प्रकारके ऋषिके काव्यको पठने-वालेकी योग्यता किस प्रकार बढ़ सकती है, यह अगले मंत्र-भागमें देखिये—

(२१) महः गोमत्रस्य स्वराजा क्षयति— बड़े गौरवशाली राष्ट्रका स्वतंत्र राजा होकर रहता है । 'गोमत्र' का अर्थ गौकी रक्षा करनेवाला । पुष्टि और बलके लिये गौकी रक्षा करना अत्यंत आवश्यक है । ऐसे गौरवशाली राष्ट्रमें वह राजा बनकर रहता है । जो पूर्वोक्त प्रकार बल बढ़ानेवाला काव्य करता है, वह मानो राष्ट्रका स्वतंत्र राजा ही होता है, जो राजाको सम्मान मिलता है वही उक्त ज्ञानीको मिलता है, किंवा उससे भी अधिक उसकी मान्यता हो जाती है इसका कारण अगले मंत्रभागमें देखिये—

(२२) तुरः चित् तपस्वान् विश्वं अर्णवन्— शीघ्रतासे कार्य सफल करनेवाला वह तपस्वी विश्वको ही हिता देता है । इतनी उसमें शक्ति उत्पन्न होती है । तपस्वी मनुष्य संपूर्ण विश्वको अपने काव्यसे हिता देता है, संपूर्ण जगत्में चेतना उत्पन्न करता है । (मं. ८)

(२३) महान् वृद्धिद्वयः अथर्व्या स्वां तन्वं इन्द्रं पय स्रवोचन्— बड़ा तेजस्वी स्थिर चित्तवाला योगी अपने

शरीरमें रहनेवाले इन्द्रसे ही इस प्रकार बोला । उक्त योगी ऋषिने अपने शरीरके इन्द्र-आत्मा-को ही इस प्रकार स्तोत्र रूपी वचन कहा, किंवा उसका वर्णन किया । अर्थात् इस सूक्तमें जो है वह अपने शरीरके अंदरके आत्माका ही वर्णन है, ऐसी भावनासे ऋषिने वर्णन किया है । दूसरोंको जो उपदेश दिया जाता है, या जो काव्य कवि करते हैं, वह दूसरोंके लिये नहीं करते, प्रायतः वह अपने अंदर चरितार्थ हुआ देखते हैं, किंवा उनमें प्रयुक्तके कल्याणका भाव उत्पन्न हो तीव्र होता है, जितना कि अपने कल्याणका भाव साधारण मनुष्यमें हुआ करता है । इसलिये कवि और ऋषि जो भी बोलते हैं वह विशेष करके अपने अन्तरात्माके लिये होता है, उससे जगत्के लोग जितना चाहें उतना लाभ उठावें । परंतु कविमें उपदेश देनेका धर्म नहीं होता, वे जो बोलते हैं केवल अपने आत्माकी शान्तिके लिये होता है । (सं. १)

(१४) मातरि-भरि स्वसारौ अरिरे हिन्वन्ति, श्रद्धया धर्षयन्ति— मातृभूमिका पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृसभ्यता] निर्दोष होनेके कारण सबको हिलाती हैं और बलसे बढ़ाती भी हैं । मातृभूमि, मातृ-भाषा और मातृसभ्यता ये तीन देवियां हैं, इस विषयमें इसी सूक्तके विवरणके प्रसङ्गमें अन्यत्र विशेष रीतिसे कहा ही है । ये तीनों देवियां दोषरहित हैं, सबकी चेतना देनेवाली हैं और सबको बलके साथ बढ़ानेवाली हैं । कवि अथवा ऋषि अपने काव्यसे ऐसी चेतना मनुष्यके अन्तःकरणमें उत्पन्न करते हैं, इसीलिये उनकी योग्यता असाधारण समझी जाती है ।

परमेश्वर महाकवि और महाऋषि होनेके कारण यह वर्णन उसके काव्यके लिये पूर्ण रूपसे लगता है । मनुष्योंमें जो कवि हों उनके लिये यही आदेश देकर सूचित किया जाता है कि वे अपने काव्यमें उक्त प्रकारकी चेतनाशक्ति रखें । इस प्रकार इन दोनों संज्ञाओंका वर्णन परमगुरु परमात्मपरक और मानवी कवियोंपरक भी लगता है इतना कहनेके पश्चात् इस सूक्तकी एक विशेष बातकी ओर पाठकोंका मन आकर्षित करना चाहते हैं, वह बात यह है कि इस सूक्तका ऋषि 'बृहद्देवः अथर्वा' है और वह ही ऋषिनाम सं ८ और ९ में आया है । इसलिये इसी ऋषिका यह सूक्त है ऐसा कहते हैं । यह नाम इस ऋषिका है इसमें संदेह ही नहीं है, तथापि इसका श्रेयालंकारसे अर्थ हमने ऊपर बताया है । इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ भी ऊपरके अर्थमें विशद हुआ है । (बृहत्सु-दिव्यः अथर्वा) गुलाकसे बड़ा निखल आत्मा यह इन शब्दोंका परमात्मपरक अर्थ है । इस प्रकार ये शब्द तर्जनी रथानोंमें योग्य प्रकार लग

सकते हैं । पाठक इस बातका अधिक विचार करें । अब यहां इस सूक्तका राष्ट्र उत्पत्तिपरक भावार्थ सरल शब्दोंमें देते हैं—

राष्ट्रोन्नतिका सन्देश ।

(१) जिससे सम तेजस्विता निर्माण होती है वही सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ है । वह निर्माण होते ही अनुश्रुतोंका पालन करता है, इसलिये सब धर्मरक्षणगण उसको अपना अपमणी करके हार्थित होते हैं ।

(२) शक्तितेज युक्त होकर बढ़नेवाले प्रबल शत्रुको देखकर दासश्रीतिथि मनुष्य ही करते हैं (वीर कृतिवाले वंशतिथि नहीं करते) । वस्तुतः देखा जाय तो जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्मवाले जट और चेतन इकट्ठे रहनेसे परस्परके बलसे बलवान् होकर आनंदित होते हैं [उसी प्रकार विरुद्ध धर्मवाले मनुष्य-गण यदि इकट्ठे होकर रहने लगे, तो ही वे परस्परके बलसे बलवान् होकर परमानन्दको प्राप्त कर सकते हैं ।]

(३) जो अपनी बुद्धि और कर्मशक्तिको बहुत देरतक एक ही कार्यमें स्थिर करते हैं, वे हिगुणित और त्रिगुणित बलकी प्राप्त करते हैं । मोठेसे मोठे पदार्थमें और भी मिठास रखकर उत्तम मधुरता उत्पन्न कर, और मोठेसे मोठेकी बड़ा [अर्थात् अपने आचारणमें मिठास रखो और जिनके साथ संबंध आ जाय उनको भी मोठा बनाओ ।]

(४) युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले वीरोंका अनुगोदन जानी करें । इस प्रकार वीर और शान्तियोंके ऐक्यसे राष्ट्रमें स्थिर बल उत्पन्न होगा और पुष्ट मनुष्य प्रबल नहीं होंगे ।

(५) युद्धसे प्राप्त होनेवाले विजयादिको देखकर हम सब जानी वीरोंके साथ होकर शत्रुका नाश करते हैं, और अपने ज्ञानसे वीरोंके शक्तियोंके चेतनावनी देते हैं तथा वीरोंकी हलचलोंको अधिक तेज बनाते हैं ।

(६) बड़े और छोटे जिस देशमें एक घरमें रहनेके स्थान रहते हैं, उसी देशकी अपने बलसे रक्षा होती है । प्रगतिशील मातृभूमिका अपने अन्तःकरणमें स्थापन करो और विशेष पुरुषार्थ करो ।

(७) जो बहुत मार्गसे उत्पत्ति विद्ध करता है, जो कुशल कर्म करनेवाला होता है, जो श्रेष्ठ होता है, और जो अधिक प्रामाणिक है उसी उत्तम पुरुषकी प्रशंसा किया करो [किसी अन्य हीन पुरुषकी स्तुति न करो] । बहुत बलवाला मनुष्य अपने बलके कार्योंसे आदर्श पुरुष बन जाता है, जो युधियोंके समान लोगोंके लिये आधार देनेवाला बनता है ।

(८) बड़े तेजस्वी आरिभक्त बलवाले श्रेष्ठ ऋषिका बल उत्पन्न करनेवाला यह इन्द्र सूक्त है । यह तपस्वी ऋषि सब

विष्णुको ही दिला देता है, और स्वतंत्र राजा जैसा बनकर रहता है ।

(१) वडे तेजस्वी योगी ऋषिये इन्द्रका— मानो अपने अन्दरकी देवताका— ही स्वीय बनाया । इसमें मातृभूमिका भरण-पोषण करनेवाली दो बहिनें [मातृभाषा और मातृ-सम्पत्त ये दोनों] निर्दोष रहकर सन्नतिके लिये प्रेरणा करती हैं और सबको मलवान् बनाकर बढाती हैं ।

यह भावार्थ राष्ट्रीय उन्नति विषयक है । यह अर्थ इस सूक्तमें प्रधान स्थान रखता है, इसलिये विस्तारपूर्वक दिया है । परमात्मके वर्णनपरक अर्थ भी यहाँ विशेष करके हैं वह आशय पाठक समझ ही गये होंगे ।

देवता ।

इस सूक्तका देवता 'घरुण' सर्वात्मिककारने लिखा है । परंतु इसी सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें यह सूक्त 'इन्द्र' देवताका है ऐसा स्वयं स्पष्ट कहा है, इस लिये इसका देवता 'इन्द्र' मानना उचित है । तथापि यह बात खोज करने योग्य है ।

ईश्वरविषयक भावार्थ ।

अब इस सूक्तका ईश्वर विषयक भावार्थ संक्षेपसे लिखते हैं—
'(१) जिससे सूर्यादि तेजस्वी गोल निर्माण हुए हैं, वह ईश्वर सबसे श्रेष्ठ है । इससे अंधेरा दूर होता है अतः सब रसुक इससे आनंदित होते हैं । (२) यह बलसे बढता और दुष्टको मय देता है । इसीकी योजनासे अज वेतन इच्छे रहकर सबको

आनन्द देने हैं । (३) जो इस ईश्वरमें मन लगाते हैं वे द्विगुणित फल प्राप्त करते हैं और मधुरसे भी अधिक मधुर होते हैं । (४) यह ईश्वर हरएक सुखमें विजयी होता है इसलिये सानी इसको प्राप्त करके आनंद भोगते, स्थिर फल प्राप्त करते और दुष्टोंको दूर करते हैं । (५) हे ईश्वर ! तेरा विजय सर्वत्र देखकर हम तेरे साथ रहते हुए शत्रुको हरायेंगे । तेरे आयुष्योंको हम शब्दोंसे प्रेरित करेंगे और ज्ञानसे तेरी गतिको जानेंगे । (६) तेरे घरमें छे डे और बडे समान अधिकारसे रहते हैं, और तू बलसे सबकी उत्तम रक्षा करता है । हमको तुम प्रकृति-माताकी गोदमें रखते हो जिससे हम उत्तम कर्म कर सकते हैं । (७) जो विविध मार्गोंसे प्राप्त होनेवाला, श्रेष्ठ कारीगर और परमआप्त पुरुष है, उसकी ही स्तुति कर । वह बलवान् होनेसे सबके लिये आदर्श है, और पृथ्वीके समान सबका आधार है । (८) महातेजस्वी आत्मप्रभावी आदि ऋषिये यह सूक्त इन्द्रकी प्रशंसामें किया । वह महातपस्वी इस संपूर्ण अगतको ब्रह्माता है, और स्वतंत्र राजा होकर इस अगतमें रहता है । (९) महा-तेजस्वी योगी ऋषिये यह स्वयं अपने ही प्रभुशक्तिपर स्तोत्र किया । जिसके पास (प्रकृति) माता और दो बहिनें (वाकियाँ) रहकर सबकी प्रेरित करती हैं और बलसे सबकी बुद्धि करती हैं ।'

इस प्रकार इस सूक्तका परमात्म विषयक भावार्थ है । पाठक इन दोनों भावार्थोंकी तुलनासे इस सूक्तका गंभीर आशय जान सकते हैं । और अनुष्ठानसे बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं । यह सूक्त समझनेमें बहुत कठिन है अतः इतना विवरण करनेपर भी इसके अर्थकी अधिक खोज करनी आवश्यक है ।

विजयकी प्राप्ति ।

(३) विजयाय प्रार्थना ।

(प्रायः — बृहद्विद्योऽध्याय । देवता — अग्निः । विश्वे देवाः ।)

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वपे त्वेन्धानास्तुर्वं पुमे ।

मह्यं नमन्तां प्रदिशध्वत्तस्त्वयाचक्षेण पृतना जयेम

॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (विहवेषु मम वर्चोः सस्तु) सब सुखोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । (वपे त्वया इन्धानाः तत्त्वं पुमे) हम तुझे प्रदीत करते हुए अपने शरीरको पृष्ट बनायें । (चतस्रः प्रदिशाः मह्यं नमन्तां) चारों दिशाएं मेरे सम्मुख नमें । (त्वया अचक्षेण पृतनाः जयेम) तुझ अचक्षुके साथ रहकर समानोंमें विजय प्राप्त करें ॥ १ ॥

अग्नें म॒न्युं प्र॑तिनुद॒नप॑रेषां त्वं नो गो॒पाः परि॑ पाहि वि॒श्वतः ।

अपा॑ञ्चो यन्तु नि॒वता॑ दु॒रस्य॑वोऽमैषां चि॒त्तं प्र॒बुधां वि नै॑शत् ॥ २ ॥

मम॑ दे॒वा वि॒द्वे से॑न्तु स॒र्व इन्द्र॑व॒न्तो म॒रुतो॑ विष्णु॒रग्निः ।

ममा॑न्तरि॒क्षमु॒रुलो॑कमस्तु म॒लं वा॑तः प॒वतां॑ कामा॒यास॑मै ॥ ३ ॥

मह्यं॑ यज॒न्तां मम॑ या॒नीष्टा॑कृ॒तिः स॒त्या म॑न॒सो मे॑ अस्तु ।

ए॒नो मा॒ नि गो॑ क॒तम॑चु॒नाहं॑ वि॒श्वे दे॒वा अ॒मि र॑क्षन्तु मे॒ह ॥ ४ ॥

मयि॑ दे॒वा द्र॒विण॑मा य॒जन्तां॑ मय्या॒शीर॑स्तु मयि॑ दे॒वहृ॑तिः ।

दै॒वा हो॒तारः॑ स॒निप॑न्न ए॒तद॑रि॒ष्टाः स्या॑म त॒न्वा सु॒वीराः॑ ॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (परेषां मन्युं प्रतिनुबन्) शत्रुओंके शोकको दूर करता हुआ (त्वं गोपाः सन्) तू रक्षक होकर (नःविश्वतः परि पाहि) हमारा सब ओरसे पालन कर । (दुरस्यवः अपाञ्चः निवता यन्तु) दुःखदायी दूर दृष्टाले योग्य नीच लोग दूर चले जायें । (एषां प्रबुधां चित्तं अमा वि नैशत्) ये दुष्ट प्रबुद्ध हों तो भी उनका चित्त साध साध ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

(सर्वे दे॒वाः इन्द्र॑व॒न्तः म॒रुतः॑ विष्णुः॒ अग्निः) सब देव अर्थात् इन्द्रके साथ मरुत, विष्णु और अग्नि (विद्वे मम सन्तु) युद्धमें मेरे पक्षमें हों । (मम अन्तरिक्ष ऊरुलो॒कं अस्तु) मेरा अन्तरिक्ष विशेष स्थानवाला होवे । (वातः म॒लं अ॒स्मै कामा॑य प॒वतां) वायु मेरे इस कार्यके लिये बहुत रहें ॥ ३ ॥

(मम या॒नि इष्टा॑ म॒ह्यं यज॑न्तां) मेरे जो अभीष्ट हैं वे मुझे प्राप्त हों । (मे मन॑सः आकृ॒तिः स॒त्या अस्तु) मेरे मनका सङ्कल्प सत्य होवे । (अहं क॒तम॑च॒न ए॒नः मा॒ नि गो॑) मैं किसी भी प्रकारके पापको न करूँ । (वि॒श्वे दे॒वाः इह॑ मा॒ अमि॑ र॒क्षन्तु) सब देव यहाँ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

(दे॒वाः मयि॑ द्र॒विणं॑ आ य॒जन्तां) देव मेरे लिये धन देवें । (मयि॑ आ॒शीः, मयि॑ दे॒वहृ॑तिः अस्तु) मुझमें आशीर्वाद और मुझमें दे॒वताओंकी पु॒कारनेकी शक्ति॑ रहे । (दै॒वा हो॒तारः॑ नः॒ एत॑त् स॒निप॑न्) दिव्य होतागण हमें यह देंगे । हम (त॒न्वा अ॒रि॒ष्टाः सु॒वीराः॑ स्या॑म) अपने शरीरसे नीरोग और उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे ईश्वर ! सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे । तुझे अपने अंदर प्रकाशित करके हम अपने शरीरको पुष्ट और बलवान् करें । मेरे सम्मुख सब दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाले लोग नष्ट हों । तेरी अभ्यक्षतामें हम सब प्रकारकी स्पर्धाओंमें विजयी हों ॥ १ ॥

हे देव ! शत्रुओंका शोक दूर करके तू हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर । दुःख देनेवाले नीच लोग हमसे दूर हो जाय । यदि वे शत्रु सुदिमान् हों तो उनकी दुष्ट बुद्धि भी साध साध ही नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

सब देवोंको सहायता हमें स्पर्धाके समय प्राप्त हो । इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत तथा अन्यान्व देव हमें सहायक हों । मेरा अन्तःकरण बहुत विशाल हो, तथा वायु आदि देव हमारी आवश्यकताके अनुकूल चलें ॥ ३ ॥

मेरीसब कामनाएँ पूर्णतया सिद्ध हों । मेरे मनके सङ्कल्प सत्य हों । मेरेसे कोई पापकर्म न हो । और मेरी रक्षा सब देव करें ॥ ४ ॥

सब देव मुझे धन्य बनावें, उनका आशीर्वाद मेरे ऊपर हो, देवोंकी सहायता करनेकी निष्ठा मेरे मनमें स्थिर हो । यह निष्ठा देवोंकी कृपासे हमें प्राप्त हो । हम अपने शरीरोंसे नीरोग और स्वस्थ होते हुए उत्तम वीर बनें ॥ ५ ॥

देवीः पटुर्वीरु नः कृणोत विश्वं देवास इह मादयध्वम् ।

मा नो विददभिमा मो अश्रस्तिर्मा नो विददृजिना द्वेप्या या ॥ ६ ॥

तिस्रो देवीर्महि नः शर्मं यच्छत प्रजायै नस्तन्त्रेई यच्च पुष्टम् ।

मा हांसहि प्रजया मा तनुभिर्मा रंधाम द्विपते सोम राजन् ॥ ७ ॥

उरुव्यचा नो महिषः शर्मं यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु ।

स नः प्रजायै हर्यश्च मूडेन्द्र मा नो रीरिपो मा परा दाः ॥ ८ ॥

घाता विघाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिपाहः ।

आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्तिवन्द्राग्निष्पामवं बाधामह एनान् ।

आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेतारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

अर्थ— (देवीः पटुर्वीरुः) ये दिव्य छः बड़ी दिशाओं । (नः कृणोत) हमारे लिये विशाल स्थान करो । (विश्वे देवासः) सब देवों । (इह मादयध्वं) यहाँ हमें आनंदित करो । (अभिमाः नः मा विदत्) निस्तेजता हमें न प्राप्त हो । (अश्रस्तिः मा उ) अकीर्ति न आवे, (या द्वेप्या घृजिना नः मा विदत्) जो द्वेष करने योग्य पाप हैं वे हमारे पाप न आ जायें ॥ ६ ॥

हे (तिस्रः देवीः) तीन देवियों । (नः महि शर्मं यच्छत) हमें बड़ा सुख प्रदान करो । (यत् च पुष्टं नः सन्त्रे प्रजायै) जो कुछ पोषक पदार्थ हैं वे हमारे शरीरके लिये और प्रजाके लिये दो । (प्रजया मा हांसहि) हम संततिसे हीन न हों और (मा तनुभिः) शरीर भी कुश न हो । हे (राजन् सोम) राजा सोम । (द्विपते मा रंधाम) शत्रुके कारण हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

(उरुव्यचाः पुरुहूतः महिषः अस्मिन् हवे नः पुरुक्षुः शर्मं यच्छतु) विशाल शक्तिवाला प्रशंसित देव इस यज्ञमें हमें बहुत अथयुक्त सुख देवे । हे (हर्यश्च इन्द्र) रसहरणशील किरणवाले देव । हे प्रभो । (नः प्रजायै मृद) हमारी प्रजाके लिये सुख दो । (नः मा रीरिपः) हमारा नाश न कर । (मा परादाः) हमें मत त्याग ॥ ८ ॥

(घाता विघाता) घातक और निर्माण करनेवाला, (यः भुवनस्य पतिः अभिमातिपाहः सविता देवः) जो भुवनका पालक सञ्चालक परमेशी शत्रुको जीतनेवाला देव है, (आदित्याः रुद्राः) आदित्य और रुद्र, तथा (उमा अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार ये सब देव (निर्ऋथात् यजमानं पान्तु) बिनाशसे यजमानको बचावें ॥ ९ ॥

(ये नः सपत्नाः ते अप भवन्तु) जो हमारे वैरी हैं वे दूर हो जावें, (इन्द्राग्निष्पाम एनान् भव बाधामहे) इन्द्र और अग्निहीन सहायतासे इनका हम प्रतिक्रिया करते हैं । (आदित्याः रुद्राः उपरिस्पृशः) आदित्य, रुद्र और ऊपरके स्थानको स्पर्श करनेवाले सब देव (नः उग्रं चेतारं अधिराज अक्रत) हमारे लिये उग्र चेतना देनेवाले मुख्य अधिराजको बनाते हैं ॥ १० ॥

भाषार्य— दिव्य दिशायें हमारे लिये विस्तृत स्थान दें । सब देव हमें आनन्दित करें । निस्तेजता, अकीर्ति तथा घृणित पातक हमसे दूर हों ॥ ६ ॥

तीन देवियाँ हमें बड़ा सुख दें । हमारा शरीर और हमारी प्रजा पुष्टिकी प्राप्त हो । हमारी प्रजा और शरीर नष्ट न हों और शत्रुतासे हम पीड़ित न हों ॥ ७ ॥

विशाल शक्तिवाला ईश्वर हमें वत्तम सुख देवे । हमारी प्रजा सुखी हो, कभी हमारा नाश न हो और हम कभी विमर्क न हों ॥ ८ ॥

ईश्वर तथा सविता आदि सब अन्य देव हमें पापसे बचावें ॥ ९ ॥

अर्वाञ्चमिन्द्रमुत्तुर्वो हवामहे यो गोजिद्धन्जिद्धश्चजिघ्रः ।

इमं नो यज्ञं विह्वे शृणोत्वस्वाकंमभूर्यश्च मेदी

॥ ११ ॥ (१९)

अर्थ— (यः गोजिघ्र घनजिघ्र य अश्वजिघ्र) जो गो, घन और घोड़ोंकी जीतनेवाला है उस (अर्वाञ्च इन्द्रं अमुतः हवामहे) हमारे पाषवाले इन्द्रकी वहासे स्तुति करते हैं । (नः विह्वे इमं यज्ञं शृणोतु) विशेष स्पर्धामें किये हमारा इस यज्ञको सुनें । हे (हूर्यश्च) रसहरणशील किरणवाले देव ! (अस्वाक मेदी अभूः) वृ हमारा स्नेही हो ॥ ११ ॥

भाषार्थ— जो हमारे वैरी हैं वे हमसे दूर हों, इसलिये शत्रुओंको हम रोकते हैं । तथा आदित्य आदि सब देव हमारे लिये उत्तम तेजस्वी और बुद्धिमान् ऐसा राजा दें ॥ १० ॥

जो गो, घोड़े, आदि विविध धनको देनेवाला है, उस प्रभुका हम अपने अन्तःकरणसे स्तुति करते हैं । हे प्रभो ! यह हमारा प्रार्थना सुनकर हरएक स्पर्धामें हमारी सहायता कर और हमारा स्नेही बन ॥ ११ ॥

अपने विजयकी प्रार्थना ।

इस सूक्तमें अपने विजयके लिये ईश्वरकी शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकट की है । मनुष्य प्रायः हरएक समय किसी न किसी स्पर्धामें लगा रहता है । यह जीवन ही एक प्रकारकी स्पर्धा है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करनेकी इच्छा हरएक मनुष्यमें रहती है, परन्तु उस विजयकी प्राप्त करनेके लिये किस प्रकार मनमें विचार धारण करने चाहिये, बुद्धिमें कौनसे सकल्प स्थिर करने चाहिये, और शरीरसे कौनसे कर्म करने चाहिये, इसका विचार मनुष्य नहीं करता । मन, बुद्धि, विचार आदि अन्तःशक्तियोंके तथा शरीरादि बाह्य शक्तियोंके उत्तम सहकार्य और उत्तम प्रभावसे ही मनुष्यकी विजय हो सकता है । इससे स्पष्ट होता है कि, विजयप्राप्त होना अथवा न होना अपनी शक्ति-पर ही निर्भर है । बुद्धि, मन और चित्तमें जो विचार जाग्रत होंगे, उनका ही परिणाम जय अथवा पराजय होता है । अर्थात् मनमें विजयी विचार रहें तो विजय और हीन विचार रहें तो पराजय होगा । इसका सबब ऐसा है कि, मनके शुभाशुभ विचारोंके अनुसार शरीरसे शुभाशुभ कार्य होते हैं और उनका अन्तिम परिणाम परमेश्वरीय नियमानुसार विजय अथवा पराजयमें होता है । इसलिये विजयी विचार मनमें सदा धारण करने चाहियें, जिससे विजय प्राप्तिका समावना हो । इस सूक्तमें विजयी विचार दिये हैं, जिनकी मनमें धारण करनेसे मनुष्यकी निःसन्देह विजय होगी । ये विचार अब देखिये—

विजयी विचार ।

विजयी विचार मनमें धारण करने चाहिये, हीन और क्षुद्र विचार कदापि मनमें आने नहीं देने चाहिये । इस सूक्तमें

प्रारम्भसे अन्ततक कहे हैं । इसलिये इस सूक्तके मननसे पाठकोंके मनमें विजयी विचार स्थिर रह सकते हैं, और उनका विजय निःसन्देह हो सकता है । ये विजयी विचार अब देखिये—

१ विह्वेषु मम चर्चः अस्तु । (म १)

२ घृतनाः जयेम । (म. १)

‘घुड़ोंमें मेरा तेज प्रकाशित होवे, और हम घुड़ोंमें शत्रुओंकी सेनाओंको पराजित करेंगे ।’ यह मनका निश्चय रहना चाहिये । मनमें ऐसे विचार रखने चाहिये कि मैं शत्रुका पराभव अवश्य ही करूँगा और विजय संपादन करूँगा ।

३ एनान् अब याधामहे । (म १)

‘इन शत्रुओंका हम पूर्ण प्रतिबन्ध करेंगे ।’ अर्थात् किसी भी मार्गसे शत्रु आने लगे तो उनको हम रोक देंगे और आगे बढ़ने नहीं देंगे । इस मन्त्रभागसे अपनी युद्धविषयक तैयारी कैसी रहनी चाहिये, इस विषयकी सूचना मिल सकती है । हरएक मार्गसे आनेवाले शत्रुओंको रोक रखनेके लिये अपनी विशेष ही तैयारी चाहिये । मनुष्यको अपने शत्रुओंको इस प्रकार रोक रखनेके लिये जितनी तैयारी रखनी चाहिये उतनी तैयारी हरएक मनुष्य रखे और शत्रुसे अपना बचाव करे । जिसकी उतनी तैयारी रहेगी वही घुड़ोंमें विजय प्राप्त कर सकेगा । इस विजयके विषयमें व्यक्ति लिये क्या और राष्ट्रके लिये क्या दोनोंके कार्यक्षेत्रोंके छोटे और बड़े होते हुए भी, शत्रुको रोक रखनेकी तैयारी विशेष ही रीतिसे करना आवश्यक है । इस प्रकारकी पूर्ण तैयारीसे विजय प्राप्त होनेपर ही वह कह सकता है कि—

४ चतस्रः प्रदिशः मह्यं नमन्ताम् । (म. १)

‘चारो दिशाओंमें रहनेवाले लोग मेरे सामने नम्र होकर रहें’ अर्थात् हमारे ऊपर हमला करनेकी शक्ति और इच्छा उनमें अवशिष्ट न रहे। इस प्रकार—

५ मम अन्तरिक्षं उरुलोकं अस्तु । (मं. १)

‘मेरा अन्तरिक्ष विस्तृत स्थानवाला होवे।’ हर एक मनुष्य का अपना अपना अन्तरिक्ष छोटा या बड़ा उसकी कर्तृत्व शक्तिके अनुसार रहता है। जो प्रबल पुरुषायाँ होते हैं उनका संपूर्ण जगत्के समान विशाल अन्तरिक्ष होता है और आलसी तथा आत्मपातकी लोगोंके लिये बहुत ही छोटा अन्तरिक्ष होता है। अपने अधिकारके अन्दर कितना अन्तरिक्ष आ गया है और अपना शासन कितने अन्तरिक्षपर है, इसकी देखकर मनुष्य अपनी योग्यताका निश्चय कर सकता है। मानों, यह एक अपनी परीक्षाकी उत्तम कसौटी ही है। पाठक इन पाँचों वाक्योंकी परस्पर संगति देखेंगे, तो उनकी विजय प्राप्त करनेके विषयमें बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। इस विषयके लिये अपने शत्रुको दूर करनेकी अत्यंत आवश्यकता है, इस विषयके लिये निम्नलिखित आदेश देखिये—

शत्रुको दूर करना।

शत्रुको दूर करना, उसकी छायामें स्वयं न जाना, शत्रुको दबाकर रखना और उसकी उठने न देना, यह करना विजयके लिये मनुष्यको अत्यंत आवश्यक है, इस विषयमें ये मंत्रमाग देखिये—

६ सप्तना अप भवन्तु । (मं. १०)

७ दुरस्यव निघताः अपाञ्चः यन्तु । (मं. २)

‘वैरी दूर हों, तथा दुष्ट लोग नीच गतिसे नीचेकी ओर चले जावें।’ अर्थात् वे अपना सिर उपर न करें। तथा और देखिये—

८ अभिभाः अशस्तिः द्वेष्या वृजिना मा नो विद्वन् ।

(मं. ६)

‘निस्तेजता, अकीर्ति और द्वेष करने योग्य कुटिलता हमारे पास न आवे।’ अर्थात् ये आन्तरिक शत्रु दूर रहें। इनमेंसे कोई भी शत्रु अपना सिर ऊपर न कर सके। इन मंत्रमागोंमें व्यक्तिके अन्तर्गत और बाह्य, तथा समाजके अन्तर्गत और बाह्यक सब शत्रु दूर करनेकी सूचना मिलती है। सच्चा विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह इन सब शत्रुओंको अपने प्रयत्नसे दूर करे और अपने अभ्युदयका मार्ग खुला करे।

कामनाकी तृप्ति।

अपना विजय करना और शत्रुको दूर करना यह सब अपनी कामनाकी तृप्तिके लिये ही है। मनुष्यके अन्तःकरणमें कुछ विशेष कामना होती है, उसकी पूर्णता हुई तो उसकी अपने जीवनकी सार्थकता हो गई ऐसा प्रतीत होता है; अन्यथा वह अपने जीवनको निरर्थक समझता है। इस विषयमें मनुष्यकी इच्छाएं किस प्रकार होती हैं यह देखिये—

९ मह्यं अस्मै कामाय वातः पवताम् । (मं. ३)

१० यानि मम इष्टानि मह्यं यजन्ताम् । (मं. ४)

११ मे मनसः आकृतिः सत्या अस्तु । (मं. ४)

१२ देवा मयि द्रविणं, आशीः, देवद्वितिः च
या यजन्ताम् । (मं. ५)

१३ तिस्रो देवाः नः महि शर्मं यच्छत । (मं. ७)

१४ नः प्रजायै मृद । (मं. ८)

‘मेरी इस कामनाके अनुकूल वायु अवधा प्राण चले। जो मेरे इष्ट मनोरथ हैं, वे परिपूर्ण हों। मेरे मनके सब संकल्प सत्य हों। सब देव मुझे धन, आशीर्वाद, और देवमर्षि दें। तीन देवियाँ अर्थात् मातृभूमि, मातृभाषा और मातृसभ्यता मुझे बड़ा सुख देवें। ईश्वर हमारी सब प्रजाको सुखी करे।’ इस प्रकारकी कामनाएं प्रायः हर एक मनुष्यके अंदर न्यूनाधिक प्रमाणसे रहती हैं। मनुष्यका सुख और दुःख इन कामनाओंकी न्यूनाधिक पूर्तिपर अवलम्बित है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनी कामनाएं शुभ ही होने दें, और उनमें कोई अशुभ वाचना न रहे, ऐसी मनकी उत्तम अवस्था बना दें। उचितके लिये इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। इस प्रकार भावनाकी शुद्धताके लिये ईश उपासना करना आवश्यक है, इस हेतुसे कहा है—

ईश्वर उपासना।

१५ इन्द्रं हवामहे । (मं. ११)

‘प्रभुकी प्रार्थना और उपासना हम करते हैं।’ ईश्वर सब श्रेष्ठ गुणोंसे मण्डित है, इसलिये उसके गुणोंका मनन करनेसे मनुष्यके मनकी भावना शुद्ध होती है, कामना निर्दोष होती है और संकल्प शुद्ध होते हैं। यही बात निम्नलिखित मंत्र-मागोंमें कहा है—

निष्पाप बनना।

१६ अहं कृतमच्चन पतः मा नि गाम् । (मं. ४)

‘मैं किसी प्रकारका छोटा या बड़ा पाप न करूँ अथवा पापके पाप भी नहीं जाऊँ।’ मंत्रमें कहा है कि ‘पापके

पाप नहीं जाऊगा' यह बड़ा भारी उत्तम निश्चय है। जो मनुष्य ऐसा निश्चय करेगा वही उन्नतिके पथपर चल सकता है। पाप स्वयं करना और बात है और पापके पास जाना भिन्न बात है। पातक स्वयं करनेकी अपेक्षा पापके पास जाना सही है। मनुष्य प्रथम पापकर्मका वर्णन सुनता है, पश्चात् क्षमिका किया पापकर्म देखता है, तदनन्तर स्वयं प्रवृत्त होता है। यह पापकी परंपरा है, अतः मनमें उपदेश दिया है कि पाप-कर्मकी ओर ही मनुष्य न आवे। पाठक इस अमूर्त उपदेशका महत्त्व जानें और तदनुसार अपना आचरण सुधारकर उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें। इस प्रकार निष्पाप होकर ईश्वरकी प्रार्थना करे कि—

ईश प्रार्थना ।

१७ इमं यद्ध विह्वे शृणोतु । (म ११)

'इस उपासना रूप स्तुति प्रार्थनामय यज्ञको ईश्वर सुने ।' अर्थात् जो प्रार्थना मैं कर रहा हूँ उसको परमेश्वर सुनें। यही पाठक स्मरण रखें कि परमेश्वर उसकी ही प्रार्थना सुनता है जो पूर्वोक्त प्रकार निष्पाप होकर शुद्धाचारी रहते हुए उन्नतिके मार्गसे जाना चाहते हैं। इस प्रकारके मनुष्यको देवताओंकी सहायता अवश्य मिलती है, इन्हींका अधिकार है कि वे देवताओंकी सहायता चाहें, इस समय इन उपासकोंका विश्वास कैसे होता है यह बात निम्नलिखित मंत्रभागोंमें देखिये। हर एक मनुष्य यद्यपि यज्ञका भागी बननेके लिये देवताओंकी सहायता चाहता और प्रार्थना करता है, तथापि पूर्वोक्त प्रकार शुद्ध और पवित्र बने हुए मनुष्यको ही वह सहायता मिलती है।

देवोंकी सहायता ।

प्रायः मनुष्य सङ्कटके समयमें देवताओंकी सहायता चाहता ही है। यदि पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करके देवताओंकी सहायता मनुष्य चाहेगा, तो निःसन्देह उसको वह सहायता मिल सकती है। इस विषयमें इस सूक्तके कथन देखने योग्य है—

१८ विह्वे सर्वे देवा मम सन्तु । (म ३)

१९ इह विश्वेदेवा मा अभिरक्षन्तु । (म ४)

२० विश्वेदेवास्त इह माद्वयध्वम् । (म ६)

२१ धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिः अन्ये च देवाः निर्क्षयास्तु पान्तु । (म ७)

२२ अस्मिन् दधे पुरुहूतः महिष पुरुक्षु शर्म यच्छतु । (म ८)

५ (अथर्व. भाष्य, काण्ड ५)

२३ अस्माक मेदी अम्भू । (म ११)

२४ देवी. यट उर्वीः नः उठ कृणोत । (म ६)

२५ परेषां मन्यु प्रतिनुवन् नः विश्वतः परिपाहि । (म २)

'युद्धके प्रसंगमें सब देव मेरे हों। संपूर्ण देव मेरी रक्षा करें। सब देव यहाँ मेरा आनन्द बढावें। धाता विधाता भुवन-पति और अन्य देव तु खसे हमारी रक्षा करें। इस वक्तके समय बहुत प्रशंसित समर्थ १२ भूत भोगयुक्त सुख हमें देवें। भूत हमारा सहायक हों। दिव्य छ दिशाएँ हमारे लिये बड़ा विस्तृत कार्यक्षेत्र बनावें। शत्रुओंको क्रोध दूर करके हमारी सब प्रकारसे रक्षा करें।'

शत्रुओंको दूर करनेके विषयमें यहाँ इच्छायें मनुष्यके मनमें सदा रहती हैं। विजय प्राप्त करनेवाले मनुष्यको भी अपने मनमें येही इच्छाएं धारण करनी चाहियें। पूर्वोक्त वाक्योंमेंसे अन्तिम वाक्यमें 'शत्रुओंका क्रोध दूर करनेकी प्रार्थना' है। यह प्रार्थना विशेष महत्त्वकी है। 'शत्रुका क्रोध दूर करके उनकी शुद्धता कर' यह आशय इस प्रार्थनामें है। शत्रुका नाश करनेकी अपेक्षा यदि शत्रुके क्रोधादि दुष्टभाव दूर होकर वह मला आदमी हुआ तो अच्छा ही है। इस दृष्टिसे यह उपदेश मनन करने योग्य है। वैदिक धर्मियोंको उचित है कि वे प्रथम शत्रुके दोष दूर करके उसको शुद्ध करनेका यत्न करें, यह न हुआ तो उसको दूर करे अथवा नाश करें। यह नीतिका उत्तम नियम इस वेदमंत्र द्वारा बताया है।

राजप्रबंध ।

अपने राजप्रबंधकी उत्तमतासे विजय हो सकता है और राज्यशासनकी अम्ववस्थाएँ हाथि होती हैं, इसलिये अपने शासक राजाके गुणधर्म कैसे होने चाहियें इस विषयमें दशम मन्त्रका एक वाक्य मननपूर्वक देखने योग्य है—

२६ देवाः चेत्सारं उग्रं अधिराजं अक्रत । (म १०)

'सब देव चेतना देनेवाले शूर वीर राजाको हमारे लिये बनावें' अर्थात् हमारा राजा ऐसा हो, कि वह प्रजामें चेतना और नवजीवन सञ्चारित करे और स्वयं शूर वीर प्रतापी और तेजस्वी हो। राष्ट्रमें तेजस्विताका स्फुरण उत्पन्न करनेवाला राजा हो, प्रजाका तेज कम करनेवाला राजा कदापि राज्यगद्गद न आवे, यह उपदेश इस स्थानपर मिलता है। विजय प्राप्त करनेके मार्गका आक्रमण करनेवालोंको इस उपदेशका महत्त्व सहजहासे ध्यानमें आ सकता है।

शारीरिक बल ।

विजय प्राप्ति के लिये शारीरिक बल बढ़ाना और मानसिक तथा बौद्धिक शक्तिका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है । इस विषयमें निम्नलिखित मन्त्रभाग देखिये—

२७ तन्वं पुंयम् । (मं. १)

२८ तथा अरिष्टाः सुवीराः स्याम (मं. ५)

२९ नः तन्वे प्रजायै पुष्टम् । (मं. ७)

३० तनूभिः प्रजया मा ह्यसिपम् । (मं. ७)

३१ नः मा रीरिपः । (मं. ८)

‘अपने शरीरका बल बढ़ाये और उनके पुष्ट करें । शरीरसे दुर्बल न होते हुए हम उत्तम वीर बने । हमारे शरीर और सन्तान पुष्ट हों । हमारे शरीर और सन्तान हीन और दीन न हों । हम दुर्बल न हों ।’ इस प्रकार शारीरिक बल और पुष्टि बढ़ानेकी सूचना देनेवाले मन्त्रभाग इस सूक्तमें इतने हैं । पाठक इन सब मन्त्रभागोंका क्रमपूर्वक मनन करेंगे, तो उनके ध्यानमें यह आ सकता है कि इस सूक्तमें विजय प्राप्ति के साधन किस प्रकार कहे हैं । क्याकि, समाज और राष्ट्रके विजयके साधनका इस सूक्तमें किया हुआ उपदेश यदि पाठक मनमें धारण करेंगे और इन उपदेशोंके अनुकूल आचरण करेंगे तो विजयका मार्ग उनके लिये खुला और मर्यादित हो जायगा ।

कुष्ठ औषधि ।

(४) कुष्ठतक्मनाशनम् ।

(ऋषिः— भृगुः । देवता — कुष्ठो, यक्मनाशनम् ।)

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः । कुष्ठेहि तक्मनाशनं तक्मानं नाशयन्निवः ॥ १ ॥

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि । घनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तन्नामृतस्य चक्षुषं देवाः कुष्ठमयन्वत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (तक्मनाशनं कुष्ठ) रोगनाशक कुष्ठ नामक औषधि ! (यः गिरिषु अजाययाः) जो तू पूर्वजोंमें उत्पन्न होता है और जो (वीरुधां बलवत्तमः) सब औषधियोंमें अत्यंत बल देनेवाला है, वह तू (तक्मानं नाशयन्निवः इतः आ इति) रोगोंका नाश करता हुआ वहाँसे यहाँ आ ॥ १ ॥

(सुपर्ण—सुवने गिरौ हिमवतः परि जातं) गरुड जहाँ होते हैं ऐसे हिमालयके शिखरपर जो होता है उसका वर्णन (श्रुत्वा घनैः अभि यन्ति) सुनकर घनोंके ण्य लोग वहाँ जाते हैं और (तक्म-नाशनं विदुः हि) रोगनाशक औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

(इतः तृतीयस्यां दिवि देवसदनः अश्वत्थः) यहाँसे तीसरे ध्रुवके देवोंके बैठने योग्य अश्वत्थ है । (तत्र अमृतस्य चक्षुषं कुष्ठं देवाः अयन्वत) वहाँ अमृतका दर्शन होनेके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

भाषाये— कुष्ठ औषधि पर्वतोंपर उगती है । बलवर्धक औषधियोंमें सबसे अधिक बलवर्धक है । इससे अश्वत्थ रोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

हिमालयकी ऊँची ऊँची चोटियोंपर यह औषधि उगती है, वहाँ मिलती है यह जानकर वज्र घन खर्च करके लोग वहाँ जाते हैं और रोगनाशक इस औषधिको प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

यहाँसे तीसरे उच्च ध्रुवके जहाँ देवताएँ बैठती हैं वहाँ अमृतके समान कुष्ठ औषधिको देव प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यवन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।

नाथो हिरण्ययीरासन्न्याभिः कुष्ठं निरावहन्

॥ ५ ॥

इमं मे कुष्ठं पूरुषं तमा बहू तं निष्कुरु । तर्मु मे अगदं कृधि

॥ ६ ॥

देवेभ्यो अघि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।

स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मे मृड

॥ ७ ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्या नीयसे जनम् ।

तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे

॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्टास्युत्तमो नाम ते पिता । यक्ष्मं च सर्वं नाशय त्वमानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्योदु रपः । कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्वैवं समह वृण्यम् ॥ १० ॥ (३२)

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यवन्धना नौ दिवि अचरत्) सोनेकी बनी और सुवर्णके बन्धनोंसे बन्धी नौका युलोकमें चलती है । (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं देवाः अवन्वत) वहाँ अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ देव प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(हिरण्ययाः पन्थान आसन्) सोनेके मार्ग थे और (अरित्राणि हिरण्यया) बलियाँ भी सोनेकी थीं तथा (नाथः हिरण्ययीः आसन्) नौकायें भी सोनेकी थीं (याभिः कुष्ठं निरावहन्) जिनसे कुष्ठको लाया गया था ॥ ५ ॥

हे कुष्ठ नामक औषधि । (मे इमं पूरुषं आ बहू) मेरे इस पुरुषको उठा, (तं निष्कुरु) उसको निःशेष रीतिसे बर्ग कर और (मे तं उ अगदं कृधि) मेरे उस पुरुषको नीरीग कर ॥ ६ ॥

(देवेभ्यः अघि जातः असि) देवोंसे तू उत्पन्न हुआ है और (सोमस्य सखा हितः) सोम औषधिकी तू मित्र और हितकारी है । इसलिये (सः प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मे मृड) वह तू प्राण, व्यान और चक्षु आदिके लिये इस मेरे पुरुषको छुस दे ॥ ७ ॥

(सः हिमवतः जातः) वह तू हिमालयसे उत्पन्न होकर (जनं प्राच्या उदङ् नीयसे) मनुष्यको प्रगतिकी उच्च दिशामें ले जाता है । (तत्र कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि) वहाँ कुष्ठ औषधिके उत्तम नाम (वि भेजिरे) अलग अलग विभक्त हुए हैं ॥ ८ ॥

हे कुष्ठ । (उत्तमः नाम असि) तेरा नाम उत्तम है, (ते पिता उत्तमः नाम) तेरा उत्पादक अथवा रक्षक भी उत्तम है । (सर्वं यक्ष्मं नाशय) सब क्षयरोग दूर कर (च त्वमानं चारसं कृधि) और ज्वरको निःसर्व कर ॥ ९ ॥

(शीर्षामय) शिरके रोग, (अक्ष्योः उपहत्या) आँखोंकी कमजोरी, और (तन्यः रपः) शरीरके दोष (तत् सर्वं) इन सबको (द्वैवं वृण्यं सं अह) दिव्य बल बढ़ाकर (कुष्ठः निष्करत्) कुष्ठ औषधि दूर करती है ॥ १० ॥

भाषार्थ— सुवर्णके समान तेजस्वी आकाशनौका जहाँ चलती है वहाँ अमृतका ही पुष्परूप वह कुष्ठ देवोंने प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

उस आकाशनौकाके मार्ग भी सुवर्णके थे और बलियाँ भी सोनेकी थीं जिनसे कुष्ठ औषधी वहाँ लाई गई ॥ ५ ॥

यह कुष्ठ औषधि मनुष्यको रोगमुक्त करती है ॥ ६ ॥

देवोंसे उत्पन्न और सोमके समान हितकारी यह कुष्ठ औषधि प्राण, व्यान, चक्षु आदिके लिये सुखकारी है ॥ ७ ॥

हिमालयसे उत्पन्न होकर मनुष्योंकी सहायिता करती है, इस लिये इसके यश बहुत गये जाते हैं ॥ ८ ॥

कुष्ठ स्वयं उत्तम है, जो उसको अपने पास रखता है, वह भी उत्तम है । इससे क्षयादि सब रोग दूर होते हैं ॥ ९ ॥

इससे शिरके रोग, आँखोंके व्याधि, तथा शरीरके दोष दूर होते हैं । इस कुष्ठसे शरीरका बल बढ़ता है और दोष दूर होकर आरोग्य प्राप्त होता है ॥ १० ॥

कुष्ठ औषधि ।

कुष्ठ औषधिका वर्णन इस सूक्तमें है । इस औषधिसे विरेक रोग, नेत्रके रोग, शरीरके अन्यत्र होनेवाले रोग, ज्वर तथा क्षय और कुष्ठ रोग भी इस औषधिसे दूर होते हैं । इसलिये क्षोभके समान ही इस औषधिका महत्त्व है । इस औषधिका सेवन बहुत प्रकारसे होता है । रस आदि घेठमें लिये जाते हैं और घृतादि बनाकर शरीरपर लेप दिये जाते हैं । इस औषधिके गुणधर्म वैद्यक ग्रन्थमें देखने योग्य हैं । वैद्यक ग्रन्थोंमें आये हुए इसके नाम विचार करने योग्य हैं—

१ नीरुजं = नीरोगना उत्पन्न करनेवाली औषधि ।

२ पारिभद्रकं = सब प्रकारसे कल्याण करनेवाला ।

३ रामं = आनन्द देनेवाला ।

४ पावनं = शुद्धि करनेवाला ।

कुष्ठ औषधिके ये नाम वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध हैं । इन नामोंसे इस औषधिसे होनेवाले लाभ ज्ञात हो सकते हैं । अब इसके गुण देखिये—

कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्लं तिक्तकं लघु ।
हन्ति घातास्त्रवीसर्पकासकुष्ठमरुतफान् ॥

भा. प्र. पृ. १

विषकण्डूखर्जूरद्वन्द्वश्च कान्तिकरं च ॥ रा. नि. व. १०

‘यद् कुष्ठ औषधि उष्ण कटु स्वादु है, शुक्ल उत्पन्न करती है, तिक्त और लघु है । घात, रक्त, बीसर्प, खाँसी, कुष्ठ और कफ इन रोगोंको दूर करता है । इछी प्रकार विष, खुरबली, दाद आदि रोगोंको दूर करता है और कान्तिको बढ़ाती है ।’

वैद्यक ग्रंथोंमें लिखे हुए ये वर्णन बिलकुल स्पष्ट हैं और पाठक इन गुणोंकी तुलना वेदके मंत्रोंके साथ करेंगे तो उनकी वेद मंत्रोंका अर्थ अधिक स्पष्ट हो जायगा ।

इस औषधिका हिंदी नाम ‘कुठ’ है । यह अतिप्रसिद्ध औषधि है । इसका उपयोग अन्दर पीने और बाहरसे लेपन करनेमें होता है । इसका शीतोष्ण कषाय पीनेसे अन्तःशुद्धि होती है और इसके तैल, घृत आदिका लेप करनेसे कुष्ठ आदि दुःसाध्य रोग भी दूर होते हैं । वैद्योंका इस औषधिके प्रयोग करनेकी रीतिश्च अधिक विचार करना चाहिये ।

लाक्षा ।

(५) लाक्षा ।

(ज्ञपिः— अथर्वा । देवता — लाक्षा ।)

रात्री माता नमः पितर्यमा तै पितामहः । सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥

यस्तवा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम् । मर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्जनी ॥ २ ॥

अर्थ— (ते माता रात्री, पिता नमः, पितामहः अयमा) तेरी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह अयमा है । (नाम सिलाची वै असि) तेरा नाम सिलची है । (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी वहिन है ॥ १ ॥

(यः त्वा पिबति, जीवति) जो तेरा पान करता है वह जीता है (त्वं पुरुषं त्रायसे) तू मनुष्योंकी रक्षा करती है । (शश्वतां जनानां हि मर्त्री न्यञ्जनी च असि) सब जनोंका मरण-प्रापण करनेवाली और आरोग्य देनेवाली तू है ॥ २ ॥

भाषार्थ— सिलाची वनस्पतिकी माता रात्री, पिता आकाश और पितामह सूर्य है । यह इन्द्रियोंकी वहिनके समान सुखदायक है ॥ १ ॥

जो इस औषधिसे रक्षा पान करता है वह जीवित रहता है । इस औषधिसे सब मनुष्योंकी रक्षा पुष्टि और नीरोगिता होती है ॥ २ ॥

वृक्षं वृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीवि कन्यला । जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्पर्णी नाम वा अंसि ॥ ३ ॥
यद्वृष्टेन यद्विष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम् । तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृष्टि पूरुषम् ॥ ४ ॥
भद्रात्पुष्पाभिलिप्सुस्वस्थात्सदिराद्धवात् । भद्राद्व्यप्रोधात्पुर्णात्सा न एवमरुन्धति ॥ ५ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे । रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा अंसि ॥ ६ ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे शुभे लोमशवक्षणे । अपामंसि स्वमां लाक्षे वार्तो ह्यात्मा बभूव ते ॥ ७ ॥
सिलाची नाम कानीनोऽजवभ्रु पिता तव । अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

अर्थ — (वृषण्यन्ती कन्यला इव) पुरुषको बादनेवाला कन्याके समान (वृक्षं वृक्षं वा रोहसि) प्रत्येक वृक्षपर चढ़ती है । तू (जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती) विजय करनेवाली और प्रतिष्ठित होनेवाली है । (स्पर्णी नाम वै अंसि) तेरा नाम स्पर्णी भी है ॥ ३ ॥

(यत् वृष्टेन, य इष्वा) जो वृष्टे और जो बाणस, (यत् वा हरसा अरु, कृतं) अथवा जो रगड़से घाव हो गया है, (तस्य निष्कृतिः त्व असि) उसके बचाव करनेवाली तू है, (सा इमं पुरुष निष्कृष्टि) वह तू इस पुरुषको चगा कर ॥ ४ ॥

(भद्रात् पुष्पात् अश्वस्थात् खदिरात् धवात्) भद्र, पाकड़, पीपल, खैर, धव, (भद्रात् न्यप्रोधात् पूर्णात्) भद्र, पलाश इन वृक्षों (निः तिष्ठति) निकलती है । हे (अरु-धति) धावोंको मरनेवाली बनस्पति ! (सा नः यदि) वह तू हमारे पास आ ॥ ५ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके समान रगवाली भाग्यशालिनी ! (सूर्यवर्णे वपुष्टमे) सूर्यके समान वर्णवाली और शरीरके लिये हितकारी है (निष्कृते) रोग दूर करनेवाली । तेरा (नाम निष्कृतिः वै असि) नाम निष्कृति है अतः तू (रुतं गच्छासि) जग या रोगके पास पहुँचती है ॥ ६ ॥

हे (हिरण्यवर्णे सुभगे) सुवर्णके रगवाली भाग्यशालिनी ! हे (शुभे लोमश-वक्षणे) बलशालिनी और बालोंवाली । हे (लाक्षे) लाक्षा नामक औषध । (त्वं अपां स्वसा असि) तू जलोंकी बहिन है । (ते आत्मा वातः ह वभूव) तेरा आत्मा वायु हो हुआ है ॥ ७ ॥

(सिलाची नाम कानीनः) सिलाची नामक औषधि कन्याके समान है । (तस्य पिता अजवभ्रु) तेरा पालक अजवभ्रु अर्थात् बकरियोंको पुष्ट करनेवाला वृक्ष है । (यमस्य यः श्यावः अश्वः) यमका जो गतिशील अश्व है (तस्य ह अस्ना उक्षिता असि) उसके मुखसे तू सीधी गई है ॥ ८ ॥

भाषार्थ — बहुत वृक्षोंपर यह होती है, इससे रोगोंपर विजय प्राप्त किया जाता है और आयुष्य स्थिर होता है, इसलिये इसको स्पर्णी भी कहते हैं ॥ ३ ॥

वृष्टा, बाण अथवा किसीकी रगड़ लगनेसे जो जग होता है वह जग इस औषधिसे अच्छा हो जाता है ॥ ४ ॥

पीपल, खैर, पलाश आदि अनेक वृक्षोंसे इसकी उत्पत्ति होती है, यह धवको मरनेवाली है ॥ ५ ॥

यह पीले रंगवाली तेजस्वी और शरीरके लिये हितकारी है । यह रोग दूर करती है इसलिये इसका निष्कृति नाम हुआ है ॥ ६ ॥

यह सुवर्णके रगवाली, बलवाली और अदरसे तन्दु निकालनेवाली है । इसका नाम लाक्षा औषधि है । यह रसवाली है, परतु वातस्वभाववाली है ॥ ७ ॥

इसका नाम सिलाची तथा कानाना भी है । जिन वृक्षोंके पत्ते बकरियाँ खाती हैं, उनपर यह मिलती है । सूर्यके गतिशील किर्णोंके द्वारा यह बनती है ॥ ८ ॥

अर्धस्यास्तः संपतिता सा वृक्षो अग्नि सिन्धवे ।

सरा पतत्रिणीं भूत्वा सा न एर्धरुन्धति

॥ ९ ॥ (४८)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— (अर्धस्य अन्तः संपतिता) बोधके मुखसे समिलित हुई (सा वृक्षान् अग्नि सिन्धवे) मृद वृक्षोंको सींचती है । हे (अर्ध—घटि) घावको भरनेवाली । (पतत्रिणीं सरा भूत्वा) सूनेवाली और प्रवाहित होनेवाली होकर (सा नः एर्धि) वह तू हमारे पास आ ॥ ९ ॥

भावार्थ—सूर्योदयरणवे तब होकर वृक्षोंस बहर आती है । यह वृक्षसे नती है और बाहर आती है । यह जगणको ठीक करनेवाली है ॥ ९ ॥

लाक्षा ।

लाक्षाका वर्णन वैद्यक ग्रंथोंमें बहुत आता है । इसको भाषामें लाही कहत हैं । लाक्ष भी इसीका नाम है । इसके चरकृत नाम बहुत हैं, परंतु उनमेंसे निम्नलिखित नाम इस सूक्तके साथ विचार करने योग्य हैं—

१ जन्तुका, जन्तु, जन्तुका— कृमियोंसे बननेवाली ।

२ क्रिमिजा, कीटजा— कृमियोंसे बननेवाली ।

३ क्रिमिहा— कृमियोंका नाश करनेवाली ।

४ रक्षा, राक्षा, लाक्षा— रक्षा करनेवाली ।

५ रक्ष माता— रक्ष जिससे बनता है ।

६ क्षतग्रा, क्षतग्री— जगणका नाश करनेवाली ।

७ खदरिका— खरके वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली ।

८ पलाशी— पलाश वृक्षसे उत्पन्न होनेवाली ।

९ हुमव्याधि, हुमामयः— यह वृक्षका रोग है ।

१० द्रोणिः— यह तेज स्वरूप है ।

११ द्रघरसा— द्रव स्वरूप है ।

ये इस लाक्षाके नाम इस सूक्तमें कहा आशय दी बता रहे हैं । देखिये—

यह लाक्षा खर और पलाश तथा अन्यान्य वृक्षोंसे प्राप्त होती है यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है । जिसके सूचक नाम वैद्यक ग्रंथोंमें 'खदरिका और पलाशी' ये हैं । इसका नाम वैद्यक ग्रंथोंमें 'द्रोणि' कहा है, इस गुणका वर्णन षष्ठ और सप्तम मंत्रमें 'हिरण्यवर्णः' आदि शब्दोंसे हुआ है । 'द्रव रसा' इसका नाम वैद्यक ग्रंथमें है । यही भाव नवम मंत्रके 'सरा' पदसे जाना जाता है । सरा और रसा ये शब्द अक्षरके उल्ट उल्ट होनेसे भी बनते हैं ।

लाक्षाका नाम 'क्षत-ग्री' है । इसका अर्थ जगणको ठीक करनेवाली है । यही बात इस सूक्तके अठार्व मंत्रमें कही है ।

'दण्डेधे, बाणसे अथवा रणक्षे होनेवाला जगण लाक्षाके प्रयोगसे दूर होता है' इस प्रकार मंत्रमें कहे हुए गुण और इन शब्दोंमें कहे हुए गुण परस्पर मिलते जुलते हैं । अब इस लाक्षाके गुण देखिये—

तिक्ता कषाया श्लेष्मपित्ताग्नी विषग्नी रक्तग्री
विषमज्वरग्री च । रा. नि. व. ९

'लाक्षा, तिक्त और कषाय है । तथा कफ, पित्त, विष, रक्त-दोष और विषमज्वरको दूर करनेवाली है ।' इसके ये गुण हैं, इसीलिये यह मनुष्यकी रक्षा करती है ऐसा इस सूक्तमें बार बार कहा है ।

इस सूक्तमें लाक्षा औषधिके माता, पिता, पितामह, बहिन, कन्या आदि संबंधियोंका वर्णन म. १, ७, ८ में आ गया है । इस वर्णनके आशयकी अधिक खोज करनी चाहिये । वैद्योंको उचित है कि, वे इसका अधिक विचार करें और इस खोजकी पूर्णता करें ।

प्रथम मंत्रमें सिलाचों लाक्षाका वर्णन करते हुए 'देवानां स्वसा' ऐसा उसका वर्णन किया है । यह लाक्षा देवोंकी बहिन है, अर्थात् इन्द्रियोंकी सहायक है । 'देव' शब्द यहाँ इन्द्रिय-वाचक है, आगे जाकर हरएक अंग और अवयवके जगणको दूर करनेवाली यह लाक्षा है, ऐसा कहा है, इसलिये यह इन्द्रियोंकी सहायक है यह बात सिद्ध होती है ।

द्वितीय मंत्रमें इसका पान करनेवाला दीर्घजीवी होता है, ऐसा कहा है । यह लाक्षा रक्ष करके किस प्रकार पीयी आती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है । इसका सेवन पेटमें करनेसे यह मनुष्यकी रक्षा करती है । रक्षा करनेके कारण ही इसको 'रक्षा, राक्षा अथवा लाक्षा' कहते हैं । यह जगणको ठीक करती है, सन्देह नहीं देती और मनुष्योंका मरण-विवरण करती हुई मनुष्यको आरोग्यसंपन्न करती है । द्वितीय मंत्रका यह कथन पूर्वाक्त वैद्यक ग्रंथोंके गुणोंके साथ भी मिलता है ।

तृतीय मंत्रमें कहा है कि यह बहुत वृक्षोंपर होती है, यह रोगोंपर विजय करती है, रोगोंका सामना करती है । इस कारण बहुत लोग इसका आदरते हैं । सब लोगों द्वारा इसका स्तुति करनेके कारण इसका नाम ही 'स्पर्णी' हुआ है ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि विविध प्रकारके उत्पन्न हुए वृक्ष आदिको यह लाक्षा दूर करती है । रोगोंको निष्कृति करनेके कारण इसका नाम 'निष्कृति' हुआ है ।

पंचम मंत्रमें कहा है कि विलम्बन पीपल, खैर, बबूल, पलाश आदि वृक्षोंपर यह होती है, और यह 'अर्ध-घटी' है अर्थात् वृक्षोंको बँधा करनेवाली है । इसके प्रयोगसे नाना प्रकारके शक भर जाते हैं ।

षष्ठ और सप्तम मंत्रके पूर्वार्धमें इसके तेजस्वी होनेका वर्णन है । सूर्यके समान, तप्त सुवर्णके सदृश अथवा सूर्यके रंगके

समान तेज इसमें है । यह 'वपुष्पमा' अर्थात् शरीरके लिये हित करनेवाली है । शरीरको पुष्ट और तेजस्वी करनेवाली है । 'रुत' अर्थात् वृषण आदिको दूर करती है और सब दोषोंको हटा देती है । रोगों और वृणादिकोंका निराकरण करनेके कारण इसको 'निष्कृति' नाम प्राप्त हुआ है । यह बात प्रकृतिवाली है, मानों इसका आरमा ही बात है ।

अष्टम मंत्रमें 'अजयधु' यह लाक्षाका पिता है, ऐसा कहा है । अज नाम बकरीका है, बकरियोंका जो पोषण करते हैं, उन वृक्षोंका यह नाम है । जिन वृक्षोंक पत्ते बकरियाँ खाती हैं उन पीपल, बेरी आदि वृक्षोंका यह नाम है । इनपर लाक्षा उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार इस सूक्तमें लाक्षाका वर्णन किया है । वैद्य इसके उपयोगका अधिक विचार करे और जनताके लाभके लिये उसका प्रकाश करे ।

यहां प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

ब्रह्मविद्या ।

(६) ब्रह्मविद्या ।

(प्रावि. — अथर्वा । देवता — सोमाग्रही ।)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचौ वेन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च वि र्वः

॥ १ ॥

अनात्ता ये र्वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।

धीराभो अत्र मा दभन्तर्द्ध एतत्पुरो दधे

॥ २ ॥

अर्थ— (पुरस्तात् प्रथमं) पूर्वकालमें भी प्रथम (जज्ञानं ब्रह्म) प्रकट हुए ब्रह्मको (सुरुचः सीमतः) समान प्रकाशित मर्यादाओंसे (वेनः वि आवः) शान्ति देला है । (सः) वहाँ शान्ति (अस्य बुध्न्या वि-स्थाः) इसके आकाश संचारी विशेष रीतिसे स्थित और (उप-मा) उपमा देने योग्य सूर्यारिकोंके देखकर (सतः च असतः योनि) सत् और असत्के उत्पत्ति स्थानको भी (वि यः) विवाद करता है ॥ १ ॥

(ये प्रथमाः अनात्ताः) जो पहिले केहे शान्ति पुरुष ये उन्होंने (यः यानि कर्माणि चक्रिरे) ब्रह्मको लिये जो कर्म किये, वे (न धीराभो अत्र मा दभन्तर्द्ध) हमारे वीरोंको यहाँ कष्ट न दें । (तत् एतत् च पुरः दधे) यह यह सब ब्रह्मको समझ कर देता है ॥ २ ॥

भावार्थ— सबसे प्रथम प्रकट हुए ब्रह्मको उसके प्रकाशकी मर्यादाओंके द्वारा शान्ति जानता है और वहाँ शान्ति उपमा देने योग्य आकाशसंचारी सूर्यादि ग्रहों और नक्षत्रोंको देख कर सत् और असत्के मूल उत्पत्ति स्थानके विषयमें सत्य उपदेश करता है ॥ १ ॥

पहिले शान्ति पुरुषोंने जो जो प्रशस्त कर्म किये थे, उनका स्मरण करके वेसे कर्म पुन करो, और बालबच्चों और वीरोंको बचाओ, यही ब्रह्मको लिये कहना है ॥ २ ॥

ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग ।

इस सूक्तका पहिला मंत्र (कां. ४।१।१) चतुर्थ काण्डके प्रथम सूक्तका पहिला मंत्र है, तथा इस सूक्तका द्वितीय मंत्र चतुर्थ (कां. ४।१।७) काण्डमें सप्तम सूक्तका सप्तम मंत्र है । इन मंत्रोंके अर्थ, भार्वाय और स्पष्टीकरण पाठक वहाँ देखें ।

यद्यपि द्वितीय मंत्र का ४।१।७ में है, तथापि यह मंत्र वहाँ विषय दूर करनेके औषधि प्रकरणमें है । इसलिये प्रकरणा-नुसार वहाँ औषधि प्रकरणका सामान्य अर्थ बता रहा है । परन्तु यहाँ ब्रह्मविद्या और आत्मोन्नतिका प्रकरण है, इस प्रकरणमें इसका अर्थ इसी प्रकरणके अनुकूल होगा और ऐसा करनेके लिये शब्दोंके वे ही अर्थ लेकर अर्थ देखा जायगा । क्योंकि यह सामान्य अर्थवाला मंत्र है और ऐसे मंत्र भिन्न भिन्न प्रकरणोंमें भी आकर वहाँके योग्य अर्थ बता सकते हैं । जैसा किछीने अपने अनुयायियोंके कहा कि 'तुम तैदार हो जाओ' तो यह सामान्य निर्देश होनेसे हर एक शास्त्रके कार्यकर्ता अपने अपने वर्तमान-कर्ममें तैयार होनेका आशय ले सकते हैं, और इस आदेशानुसार ब्राह्मण अपने ज्ञानकर्ममें, क्षत्रिय अपने युद्धकर्ममें, वैश्य अपने व्यापारव्यवहारके कार्यमें तथा शूद्र अपनी कारीगरोंके कार्यमें अपनी छिदता कर सकते हैं । एक ही सामान्य आज्ञा भिन्न भिन्न धोताओंमें भिन्न भिन्न कार्यके लिये प्रेरणा कर सकती है । इसी प्रकार इस मंत्रकी सामान्य आज्ञा पूर्वोक्त स्थान (कां. ४।१।७) पर औषधिप्रयोगके कर्मकी प्रेरणा देती है और यहाँ उपसमायोगकी प्रेरणा देती है । पाठक इसका विचार करके इस सामान्य मंत्रका महत्त्व जान सकते हैं ।

प्रथम मंत्रका विस्तृत स्पष्टीकरण चतुर्थ काण्डके सू. १, मं. १ की व्याख्यामें पाठक देख सकते हैं । इस प्रथम मंत्रका यह आशय है— 'ब्रह्म सबसे पहिले प्रष्ट हुआ है, उसके प्रकाशकी जहाँ मर्यादा होती है, वहाँ देखकर ज्ञानी इस ब्रह्मको जानता है । यही ज्ञानी सूर्यादि तेजस्वी पदार्थोंका अद्भुत तेज देखकर और उनकी उपमा देने योग्य अनुभव करके, इस दृश्यके अनुसंधानसे मूल वस्तुस्थानके विषयमें निश्चित ज्ञान प्राप्त करके उसका उपदेश कर सकता है । (म. १) '

जिस प्रकार सूर्यका तेज किसी पदार्थपर गिरनेसे, अर्थात् उस तेजकी मर्यादा होनेसे, दिखाई देता है, मर्यादा न हुई तो सूर्यका तेज नहीं दिखाई देता; इसी प्रकार परमात्मके परम तेजका अनुभव भी सूर्यादि विविध केन्द्रोंमें उसकी मर्यादा होनेसे ही होता है अर्थात् यदि जगत् न बने तो परमात्मके अद्भुत सामर्थ्यका अनुभव कैसे हो सकता है । परमात्मा परम

तेजस्वी है, सबसे पूर्वकालसे प्रकाशित हो रहा है, यह सब सत्य है तथापि सूर्यचन्द्रादि केन्द्रोंमें जब उसके तेजकी अभिमत सीमा बनती है, तब ही उसके सामर्थ्यका पता लग सकता है । जिस प्रकार घरेके कमरेमें चमकनेवाले दीपका प्रकाश कमरेकी दिवारोंपर गिरनेसे नजर आता है । यदि दिवारोंकी रूखावट न हो, तो नजर नहीं आवेगा । इसी प्रकार इस विश्वके कमरेमें परमात्माका दीप चमक रहा है, अग्नि आदि देवता-रूपी दिवारोंपर उसके किरण पड़कर जो मर्यादा उत्पन्न होती है, उस मर्यादासे उसकी शक्तिका ज्ञान होता है । ब्रह्मप्राप्तिके मार्गकी यह एक सीढ़ी है ।

अतमें परमात्माकी शक्तिका कार्य देख कर सदसत्के मूल आदि कारणकी जानना चाहिये । ज्ञानी, कवि, सन्त ही इस प्रकार परमात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसके संबंधका सत्य उपदेश कर सकते हैं ।

यह प्रथम मंत्रका आशय है । इसके पश्चात् द्वितीय मंत्रमें कहा है कि— 'पूर्व कालके ज्ञानी ब्रह्मपुरुषोंने जिस प्रकार प्रशस्ततम कर्म किये थे, उसी प्रकार तुम भी प्रशस्ततम कर्म करो, अपने बालबच्चों और वीरोंको बचाओ और उनकी रक्षा करो, यही तुम्हें कहना है । (मं. २)' तुम्हारे सम्मुख वही आदर्श रहे, जो कि प्राचीनकालके श्रेष्ठ पुरुषोंने अपने सामने रखा था । इसी प्रकार प्राचीन कालके श्रेष्ठ पुरुषोंके जीवन चरित्र भी तू अपने सम्मुख रख और उनके समान बननेका यत्न कर । उन्होंने परमार्थसाधन करते हुए भी संसारयात्रा किस प्रकार चलाई, परमात्माकी भक्ति करते हुए अपने बालबच्चोंकी रक्षति किस प्रकार की, अपने संतानोंको विनाशसे कैसे बचाया, इत्यादि बातोंको उनके चरित्रोंमें देख कर उन बातोंको अपनी जीवनमें ढाल और उनके समान आचरण करके अपनी आरिषिक रक्षितिका साधन कर । यह उपदेश इस द्वितीय मंत्रद्वारा मिलता है । यह सामान्य व्यवहारका मंत्र वैद्यक प्रकरणमें वैद्यका व्यवहार उत्तम करनेकी प्रेरणा दे रहा है और यहाँ आत्मोन्नतिके प्रकरणमें संसारके साय परमार्थका साधन करनेकी प्रेरणा दे रहा है । पाठक इन सामान्य मंत्रोंका महत्त्व यहाँ देखें और वेदकी इस शैलीका अनुभव करें ।

इन दो मंत्रोंका इस प्रकार आशय देखनेके पश्चात् अब तृतीय मंत्रका मनन करते हैं ।

स्वर्गके महन्तोंकी धोपणा ।

जिनको स्वर्गसुखका अनुभव प्राप्त हुआ है, वे महन्त जन-

ताको जो कल्याणका उपदेश करते हैं, वह उपदेश इस तृतीय मंत्रमें कहा है—

ते असक्षतः मधुजिह्वाः सद्व्यधारे
दिवो नाके समस्वरन् ॥ (मं. ३)

‘वे स्थितग्रह, मधुर भाषण करनेवाले, सहज धाराओंसे जहाँ अभूत प्राप्त होता है उस गुणोंके स्थानका अनुभव लेनेवाले सन्त महन्त एक खरसे यह उपदेश देते हैं ।’ अर्थात् वे लोग जनताकी मलाईके लिये एक खरसे निम्नलिखित उपदेश करते हैं ।

तस्य भूर्णयः स्पशः न निमिषन्ति ।
सेतये पदे पदे पाशिनः सन्ति ॥ (मं. ३)

‘उस परमात्माके दुष्टोंको पाशोंसे बांधनेवाले दूत आँख कभी मूँदते नहीं, अर्थात् लोगोंके पुण्यपापोंको अपने खुली आँखोंसे सदा देखते रहते हैं । पापियोंको पाशोंसे बांधनेके लिये अपने पाश लेकर सब जगत्में इएक स्थानमें सदा तैयार रहते हैं ।’ अर्थात् इनकी दृष्टिसे कोई पापी कभी बच नहीं सकता, इएक पापीको उसके पापके अनुसार दण्ड देनेके लिये वे दूत सदा तैयार रहते हैं और अवश्य ही उस पापीको बांध देते हैं । अतः कोई पापी यह न समझे कि मैं पाप करके परमात्माके दण्डसे बच जाऊँ । पद पद पर उसके दूत आँख खोलकर खड़े हैं, वे तत्काल पापीको पकड़ते हैं । यहाँ तक इन दूतोंका प्रबंध पूर्ण है कि, पकड़ा गया हुआ पापी कभी कभी अपने आपको खतरे में समझता है, परन्तु वह उस समय पूर्ण रीतिसे बंधा हुआ होता है । परमात्माका इतना अद्भुत प्रबंध है, इस लिये सब मनुष्योंको उचित है कि वे उचित धर्मा-नुकूल व्यवहार दक्षताके साथ करनेका यत्न करें । पापसे बचें और इस प्रकारके सावधान आचरणसे परमात्माके इन गुण-चरोंसे बच जाय । यह विलकुल संभव नहीं है कि कोई छिपनेसे बच जाय । इस कारण विशेष सावधानताकी आवश्यकता है । यदि मनुष्य पुण्यमार्गपरसे जानेवाला होगा तो उसकी उत्तम रक्षा मेहीं ईश्वरके दूत उत्तनी ही सावधानीसे करते हैं, इसलिये पुण्यात्माको किसीसे डर नहीं होता ।

जो पाठक इस मंत्रका उत्तम विचार करेंगे उनका आचरण अवश्य ही सुधर जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है । यदि आत्मिकशक्तिके विकास करनेकी इच्छा पाठकोंमें होगी, तो उनके लिये परिशुद्ध आचरणकी अत्यंत आवश्यकता है, यह उपदेश इस मंत्र द्वारा उत्तम रीतिसे मिलता है ।

शत्रुको भगाना ।

चतुर्थ मंत्रमें शत्रुका लक्षण कहकर ऐसे शत्रुको दूर करनेका उपदेश किया है । ‘शत्रु’ शब्द यहाँ शत्रु वाचक है, जो घेरता है, चारों ओरसे प्रतिबंध उत्पन्न करता है, विशेषतः (पात्र-सातोये) अन्नदान आदि परोपकारके कृत्योंमें जो रुकावटें खड़ी करता है, वह शत्रु है । पाठक विचार करेंगे तो उनकी रुकावट करनेवाले उनके शत्रु कौन हैं इसका उनकी पता लग जायगा । धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, वैयक्तिक अथवा छात्रिक रुकावटें उत्पन्न करनेवाले अनेक शत्रु विद्यमान हैं । इनको दूर करके अपना उत्थितिक मार्ग खुला करना आवश्यक है । ऐसे शत्रुओंको (परि सु प्र घ्न्य) सब ओरसे उत्तम प्रकार-विशेष रीतिसे भगा दो ; अपने पास ठहराने न दो । शत्रुपर चढ़ाई भूमिकी ओरसे तथा समुद्रकी ओरसे भी होती है । तथा ऊपरसे भी हो सकती है । कोई अन्य रीतिभी भी होती होगी । यहाँ तात्पर्य रीतियोंके कहनेसे नहीं है । जो भी रीति हो उसका अवलंबन करके शत्रुको दूर भगाया जावे, और अपना उत्थ-तिका मार्ग प्रतिबंधरहित बनाया जावे । प्रतिबंधरहित होना ही मुक्ति है । उसका मार्ग इस मंत्रमें बताया है । यदि तो आध्यात्मिक मुक्ति के लिये और सामाजिक तथा राष्ट्रीय मुक्तिके लिये भी अत्यंत उपयोगी है ।

सिद्धिका मार्ग ।

शत्रुओंका प्रतिबंध दूर करने, अपना मार्ग प्रतिबंधरहित करने और स्वतंत्रता प्राप्त करनेका उपदेश इन चार मंत्रोंमें पूर्ण प्रकार किया है । अब विचार यह है कि इसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकती है । इस शंकाके उत्तरमें कहा है—

एतेन नु अरात्सीः । (मं. ५)

एतेन अथ अरात्सीः । (मं. ६)

एतेन अप अरात्सीः । (मं. ७)

‘इसी मार्गसे तू सिद्धिकी प्राप्त करेगा’ अर्थात् पूर्णतः चार मंत्रोंमें जो धर्ममार्ग कहा है उसका आचरण करनेसे ही मनुष्यको सिद्धि मिल सकती है । चार मंत्रोंमें जो धर्म कहा है उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है— (१) परमेश्वरकी भक्ति करना, (२) श्रेष्ठोंका आदर्श अपने समुच्च रखना, (३) पापका भय धारण करना, (४) और प्रतिबंधक विघ्न अथवा शत्रु दूर करना । ‘ये उत्थितिके चार सूत्र हैं । इनका आचरण करनेसे मनुष्यकी उत्थिति हो सकती है । इस उत्थितिमें एक बातही आवश्यकता है और वह है ‘सादा’ करना । सादा करनेका अर्थ अब देखिये—

स्वा-हा करो ।

इस सूक्तमें मं. ५ से ७ तकके तीन मंत्रोंमें तथा दसवें मंत्रमें मिलकर बार बार 'स्वाहा' शब्द आया है। इसलिये इस सूक्तमें बार बार स्वाहा अपनेसे इसका महत्त्व इस सूक्तोक्त सिद्धिमें अधिक है। इसलिये 'स्वाहा' शब्दका अर्थ देवता चाहिये।

(स्व) अपने सर्वस्वको (हा) त्याग देनेका नाम स्वाहा है। अपने अधिकारमें जो तन, मन, धन आदि है उसका सब जनताही भलाईके लिये समर्पण करनेका नाम स्वाहा करना है। अपनी शक्ति केवल अपने भोग बढ़ानेमें ही खर्च न करते हुए सपूर्ण जनताकी भलाई करनेके प्रशस्ततम कार्य करनेमें उसका व्यव करना स्वाहा शब्दसे बताया जाता है। इसलिये यज्ञके हवनमें स्वाहा शब्दका उच्चार होता है। इसका अर्थ यह है कि यज्ञमें दी हुई आहुति दूसरोंकी उन्नतिके लिये दी है, उससे मैं अपने भोग बढ़ाता नहीं चाहता। यही यज्ञकी शिक्षा है। द्रव्ययज्ञ, वियायज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि अनंत यज्ञ हैं, इनका अर्थ ही यह है कि द्रव्यज्ञान आदिका परोपकारार्थ समर्पण करना और उनको केवल अपने भोग बढ़ानेके लिये न लगाना। परोपकारके लिये आत्मधर्मस्वका समर्पण करनेका नाम स्वाहाकार है। यह स्वाहाकार करनेसे ही इस सूक्तमें कही परम उच्च सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह स्वाहाकार जितना होगा उतनी सिद्धि होगी। सिद्धिके लिये इस स्वाहाकारकी अत्यन्त आवश्यकता है। मं. ५-७ तकके तीन मंत्रोंमें तीन बार लगातार कहनेसे इस आत्मसमर्पणका अत्यंत महत्त्व सिद्ध होता है। पाठक भी यही देख सकते हैं कि जगत्में भी स्वार्थत्याग करनेवालेकी ऐसी विशेष प्रतिष्ठा होती है, वैसी स्वार्था मनुष्यकी नहीं होती। अर्थात् स्वार्थत्याग जैसा जगत्के व्यवहारमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये आवश्यक है, उसी प्रकार परमार्थसाधनके लिये भी आवश्यक है।

सोम और रुद्र ।

जगत्में शान्ति करनेवाली और उग्रता बढ़ानेवाली दो शक्तियाँ हैं, इनके 'सोम-रुद्र, अग्नि-सोम, इन्द्र-सोम' ये नाम वेदमें आये हैं। सोमशक्ति जगत्में शान्ति करनेवाली है और रुद्रशक्ति उग्रता बढ़ानेवाली है। प्रत्येक स्थानमें ये दोनों शक्तियाँ कार्य करती हैं, कहीं कदाचित् एक न्यून होती है और दूसरी प्रबल होती है। जो प्रबल होती है उसका प्रभाव होता है, अर्थात् यदि किसीमें सोमशक्तिका प्रभाव अधिक हुआ तो वह पुरुष शान्त, गम्भीर, विवेकी विचारी होगा, तथा किसीमें रुद्रशक्तिकी प्रधानता हुई तो वह पुरुष दारु वीर, युद्धप्रिय,

क्रूर अथवा कठोर होगा। इस प्रकार मनुष्यकी स्वाभाविक प्रकृति देखनेसे पता लग जाता है कि इसमें कौनसी शक्ति विशेष प्रबल है और कौनसी न्यून है।

जिस प्रकार न्यक्तिमें सोम अथवा रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है, उसी प्रकार समाजमें अथवा जातिमें सोम या रुद्रशक्तिकी न्यूनाधिकता होती है। इसी कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय ये वर्ण क्रमशः शांत स्वभाव तथा उग्र स्वभाव हुए हैं। ब्राह्मणकी शान्ति और क्षत्रियकी उग्रता उस कारण ही सुप्रसिद्ध है। अतः सोमाष्टौ इस देवता वाचक शब्दसे आदर्श ब्राह्मण-क्षत्रियोंका बोध होता है।

मं. ५-७ तकके तीनों मंत्रोंमें सोमाष्टौ देवता हैं। 'ये दोनों देवता हमें सुखी करें' ऐसी प्रार्थना इन तीनों मंत्रोंमें है। व्यक्तिके अन्दर जो शान्ति और उग्रता होती है वह उसके हितके लिये सहायक होवे, अर्थात् मनुष्यकी शान्ति उसको शिथिल बनानेवाली न हो और मनुष्यकी उग्रता उसको हिंसक न बनावे, यह आशय यहाँ लेना उचित है। समाजमें भी शान्तिप्रिय ब्राह्मण और युद्धप्रिय क्षत्रिय परस्पर सहायकारी होकर परस्परकी उन्नति करते हुए राष्ट्रका उद्धार करनेवाले हों। इस प्रकार मनुष्यकी उन्नति होती रहे और सबका सुख बढ़ता रहे और कोई हीन और दीन न हो। पूर्वाक्त कही रीतिके अनुसार मनुष्य त्यागभावसे स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण करता हुआ और शान्ति तथा उग्रतासे योग्य सहायता लेता हुआ सिद्धिकी प्राप्त करे। यह आशय इन तीन मंत्रोंका है। पाठक इन मंत्रोंका विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आ सकती है कि जिस प्रकार स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण पूर्वक आत्मोन्नतिके मार्गका अवलम्बन करके मनुष्य उन्नतिकी प्राप्त हो सकता है। इन तीनों मंत्रोंका आशय ही भिन्न शब्दोंसे अष्टम मंत्रमें कहा है। इस अष्टम मंत्रके तीन भाग हैं—

तीन उपदेश ।

१ अवघात् दुरितात् अस्मान् सुमुक्तम् । (मं. ८)

२ यद्यं जुपेधाम् । (मं. ८)

३ अस्मात् अमृतं घृत्तम् । (मं. ८)

'(१) निरा पापाचरणसे हमें मुक्त कर, (२) यज्ञका सेवन कर, (३) हममें अमृतकी धारण करा।' ये तीन उपदेश अष्टम मंत्रमें हैं। पापाचरणसे दूर रहना, आत्मसमर्पणरूप यज्ञ करना और अन्तमें अमृतकी प्राप्त करना, ये तीन उपदेश हैं, जो पूर्वके मंत्रोंका सार है। इस समयतक जो उपदेश इस सूक्तमें कहे हैं उनका सार इन तीन मंत्रभागोंमें ला गया है।

‘पापसे बचना, सत्कर्म करना, और मृत्युको दूर करके अमृत को प्राप्त करना’ सब धर्मके नियम इन तीन मंत्रभागोंमें संमिलित हुए हैं। अमृत प्राप्त करना यह मनुष्योंका विधि है, उसका साधन यज्ञ अर्थात् सत्कर्म करना है और पापाचरण न करना यह निषिद्ध कर्मका निषेध है। इस प्रकार यह त्रिवृत यज्ञ किया श्रिकर्म करना है। यदि और कुछ सिद्ध न हुआ तो ये तीन उपदेश मनुष्यके मनमें स्थिर रहें तो उसका बड़ा पार हो सकता है। कितने व्यापक महत्त्वके उपदेश कितने छोटे शब्दोंमें वेदने यहाँ दिये हैं; इसका विचार पठक करेंगे, तो उनकी इन उपदेशोंका महत्त्व समझ सकना है।

शस्त्रोंके शस्त्र ।

शत्रुको दूर करनेका उपदेश इससे पूर्व कई बार किया है। उसका पालन करनेके लिये शत्रुके शस्त्रास्त्रोंकी अपेक्षा अपने शस्त्रास्त्र बढ़ानेकी आवश्यकता होती है। हमारे शस्त्रास्त्र देखकर शत्रु भी अपने शस्त्रास्त्र बढ़ाता है। इस प्रकार दोनों ओरके शस्त्रास्त्र बढ़ने लगे, तो वे इतने बड़ जाते हैं कि उसकी कोई परिमिति नहीं रहती। इसके पश्चात् जो अत्यधिक शस्त्रास्त्रोंसे सजित राष्ट्र होता है, उसका नियमन किस रीतिसे किया जाय, यह प्रश्न विचारी मनुष्योंके समुमुख उपस्थित होता है, इस प्रश्नका उत्तर नवम मंत्रने दिया है—

चक्षुषः मनसः प्रक्ष्णः तपसः हेतिः मेन्याः मेनिः ।
(मं. ९)

‘आंख, मन, ज्ञान और तपके जो शस्त्र हैं, वे शस्त्रोंके भी शस्त्र हैं।’ अर्थात् शस्त्रोंसे कई गुनी अधिक शक्ति इनमें है। इनमें जो आत्मिकबल होता है वह शस्त्रास्त्रोंके बलसे कई गुना अधिक समर्थ होता है। इसलिये शस्त्रास्त्रोंके पाशवी बलका प्रतिकार नेत्र-मन-ज्ञान-तपस्वी आत्मिक बलवाले आध्यात्मिक शक्तियोंसे किया जा सकता है। केवल दृष्टिपरसे, केवल मनकी इच्छासे, केवल ज्ञानके योगसे अथवा तपके प्रभावसे पाशवी शस्त्रोंका प्रतीकार किया जा सकता है। लोहेके शस्त्रास्त्र शत्रियके हैं और ये आत्मिक बल ब्राह्मणके होते हैं। विधामित्रके पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठकी इच्छाशक्तिके सामने भयंकर विद्ध हुए, यह ऐतिहासिक कथा यहाँ देखने योग्य है।

पाशवी बलका आत्मिक बलसे प्रतिकार ।

पाशवी बल जिसके पास बढ़ता है, वह अपने सुखको बढ़ानेके लिये दूसरोंपर अत्याचार करता है, इस कारण वह (अय-आयुः) त्रिषधी आयु वापस हो चुकी है, ऐसा पापी बनता है। जिस प्रकार एक पापी भक्ति दूसरोंपर अत्याचार करता है उसी प्रकार पाशवी शस्त्रास्त्रोंसे युक्त एक

पापी राष्ट्र भी दूसरोंपर भी अत्याचार करता है, इसलिये उसको भी ‘अय-आयु’ अर्थात् पापी जीवनवाला राष्ट्र कहते हैं, उसका वर्णन यह है—

ये अस्मान् अभ्यघायन्ति । (मं. ९)

यो अघायुः अस्मान् अभिदासात् । (मं. १०)

‘जो हमें सब ओरसे पापाचरणसे कष्ट देते हैं। जो पापी हमें दास करना चाहता है अथवा हमारा सर्वस्व नाश करना चाहता है।’ इन मंत्रभागोंमें पाशवी अत्याचारका स्वरूप बताया है, (१) एक तो यह है कि दुष्टोंका घातपात पाप-गुणका विचार न करते हुए करना, (२) और दूसरा यह है कि दुष्टोंका सर्वस्व नाश करना। यह पाशवी अत्याचारका स्वरूप है। जगत्के अन्दरकी सब गुलामी और लोगोंके सब दुःख इसीके कारण हैं। पठक जगत्के इतिहासमें देखेंगे, तो उनकी मालूम होगा कि ‘एक बलवाला दूसरे निर्बलकी अपने पैठकी पूँटिके लिये खारहा है।’ यही पाशवी अत्याचार है। इस बलवालेके शस्त्रोंके निर्बल करनेका उपाय केवल आत्मिक बल ही है—

चक्षुषा मनसा चिरया आकृत्या मेन्या तान्
अमेनीन् कृणु । (मं. १०)

प्रक्ष्णः तपसः च मेन्या ते अमेनयः सन्तु ।

(मं. ९)

‘आंख, मन, चित्त और संकल्परूपी शस्त्रसे उन अत्याचारी शत्रुओंको शस्त्र रहित कर। ज्ञान और तपके शस्त्रसे उनकी शस्त्रहीन कर।’ अर्थात् पाशवी शस्त्रोंका सामना इन आत्मिक बलसे कर। अपने आंख, मन, चित्त, संकल्प, ज्ञान और तप ये ही आत्माके शस्त्र हैं। इनकी तेजस्वी बना और इनसे लू लोहेके शस्त्रोंका प्रतिकार कर। तेरे अंदर ये आत्मिकबल जितने प्रमाणसे बढ़ेंगे, उतने ही प्रमाणसे शत्रुके पाशवी बल सन्तुहीन हो जायेंगे। पाशवी शक्तिवालोंका सामना करनेका यही सनातन मार्ग है। इसी मार्गके आचरणसे वसिष्ठने विश्वामित्रका और प्रल्हादने हिरण्यकशिपुका सामना किया था। इस आत्मिकबलके मार्गसे अन्तमें निःसंदेह विजय होगी। सबसे अधिक प्रभावशाली यह आत्मिकबल है। जो पाशवी बलवाले होते हैं वे अपने लोहशस्त्रोंके घर्मेष्टसे अपना आत्मिकबल बढ़ा देना शक्य नहीं करते किंवा वे अत्याचारकी प्रशक्तिके कारण अपना आत्मिकबल बढ़ा नहीं सकते। इसलिये अनत्याचारी शान्तिपूर्ण अहिंशमय आत्मिकबलके मार्गपरसे जानेवाले लोग जितना अपना मार्ग आक्रमण करेंगे; उतना उनकी विजय ही होता रहता है, क्योंकि उनके शत्रु इस मार्गमें आते नहीं, और यदि इस आत्मिकबलके मार्गपर वे आ गये, तो भी उसमें इन ही

आत्मिक उन्नतिवालोंकी ही जीत होगी । इसका कारण यह है कि यदि इस मार्गपर चलनेके लिये वे शत्रु अहिंसामय अनत्याचारी बने, तो दुःखका मूल ही नष्ट हो गया और फिर शत्रुके कारण ही नहीं रहा । जैसा वसिष्ठका आत्मिकबल देखकर विश्वामित्रने अत्याचारी क्षत्रबलका त्याग करके शांतिमय अनत्याचारी ब्राह्मणत्व स्वीकार किया । तत्पश्चात् दोनोंमें शत्रुता होनेका कुछ भी कारण न रहा । इस प्रकार आत्मिकबलवालोंकी सदा जीत ही होती रहती है ।

इस आत्मिकबल द्वारा पाशवी अत्याचारोंको रोकनेके मार्गमें 'स्वा-हा' अर्थात् आत्मसर्वस्वका समर्पण करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है, इसीलिये दशम मंत्रमें पुन 'स्वाहा' शब्द द्वारा आत्मत्यागका उपदेश दिया है । पाठक यहाँ स्मरण रखें, कि अत्यंत स्वार्थत्यागके बिना यह आत्मशुद्धि और आत्मबलके मार्गपरसे चलना अशभव है । इस आत्मसर्वस्वके समर्पणका स्वरूप देखिये—

आत्मसमर्पण ।

'अपना कहने योग्य जो भी कुछ हो उसका सत्कार्यमें समर्पण करना आत्मसमर्पण कहलाता है ।' इसका वर्णन इस प्रकार है—
यत् मे अदित तेन सह, सर्वतनूः, सर्वरुः,
सर्वात्मा, सर्वपूरुषः स्वा प्र पद्ये, त्वा प्र विशामि ॥ ११-१४ ॥

'जो कुछ मेरा है उसको लेकर तथा सब शरीर, सब इंद्रिय, सब आत्मशक्तियाँ, सब पुरुषार्थशक्तियाँ लेकर तुझे प्राप्त होता हूँ और तुझमें प्रविष्ट होता हूँ ।'

इस मंत्रमें स्वार्थसमर्पणकी परम सीमाका वर्णन है । जो कुछ मेरा इस जगत्में है उसकी भी परमार्थकी सिद्धता करनेके लिये समर्पण करता हूँ और उसके साथ अपना शरीर, अपनी इंद्रिय, अपना मन आदि शक्तियाँ, और सब पुरुषार्थकी शक्तियाँ भी सभी परम कार्यके लिये समर्पित करता हूँ । अर्थात् जो कुछ अपना कहने योग्य है, वह सब भूयस्की सिद्धिके लिये समर्पित करता हूँ । यह 'स्वाहा' शब्दका स्पष्ट अर्थ इन मंत्रों द्वारा बताया गया है । इन मंत्रोंको देखनेसे आत्मसमर्पणका अर्थ किनना स्पष्ट है, इस बातका पता लग सकता है । इस प्रकारका आत्मसमर्पण जो कर सकते हैं वे ही त्यागी अन्तमें बचसुख होकर अमृत प्राप्त कर सकते हैं, जिनको किसी भी प्रकारकी पाशवी शक्तिये बाधा नहीं आ सकता ।

इस रीतिसे इस सूक्तमें आत्मोन्नतिके मार्गका उपदेश दिया है, इस मार्गसे आत्मशुद्धि होकर वैयक्तिक, सामाजिक, राजकीय और पारमार्थिक उन्नतिका साधन समुप्य कर सकता है । यह सूक्त कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है । जो पाठक इस दर्शनी रीतिसे इस सूक्तका अधिक मनन करेंगे, वे अपने उद्धारका उत्तम बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

ऐश्वर्यमयी विपत्ति ।

(७) अरातिनाशनम् ।

(ऋषि — अथर्व । देवता — बहुदैवतयम्, अरातयः, सरस्वती ।)

आ नो मर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम् ।

नमो वीत्साया असृष्टये नमो अस्त्वरातये

॥ १ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी । (नः आ मर) हमें घन मर दे, हमसे (मा परि स्थाः) मत अलग हो, (नः नीयमानां दक्षिणां मा रक्षीः) हमारी लाई गई दक्षिणाको मत अपने पास रख । ऐसी (वीत्सायै असृष्टये नमः) ईश्यां युक्त असृष्टिके लिये नमस्कार है और (अरातये नमः अस्तु) अदालके लिये दूरसे नमस्कार है ॥ १ ॥

भाषार्थ— दान न देनेका गुण संपत्तिको संभ्रमित करता है, इसलिये यह गुण कुछ मर्यादा तक अलग न हो । परंतु देने योग्य दक्षिणाका दान कम न हो । इस मर्यादा तककी कंजुशी और असृष्टिका हम आदर करते हैं ॥ १ ॥

यमराते पुरोघत्से पुरुषं परिरापिणम् । नमस्ते तस्मै कृष्णो मा वृनि व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

प्र णो वृनिद्वैवर्कता दिवा नक्तं च कल्पताम् । अरातिमनुप्रेमो वृपं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे । वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहृतिषु ॥ ४ ॥

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा । श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन वृष्णा ॥ ५ ॥

मा वृनि मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वद्वनि ।

सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हयंत ॥ ६ ॥

पुरोऽप्येहसमृद्धे वि ते हेति नयामसि । वेदं त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (अराते) अदानी ! (यं परिरापिणं पुरुषं पुरोघत्से) जिस बड़बड़नेवाले पुरुषको तू आगे घरती है (ते तस्मै नमः कृष्णः) तेरे उस पुरुषको हम नमस्कार करते हैं । परंतु (मम वृनि मा व्यथयीर्मम) मेरे मनकी इच्छाको तू पीडा न दे ॥ २ ॥

(नः देवकृता वृनिः) हमारी देवों द्वारा निर्मित इच्छा (दिवा नक्तं च कल्पतां) दिन और रात समर्थ होवे । (वृपं अरातिं अनुप्रेमः) हम अदानशीलताको प्राप्त हों (अरातये नमः अस्तु) अदानशीलको नमस्कार होवे ॥ ३ ॥

(यन्तः सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे) हलचल करनेवाले हम विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको पाश मुलते हैं । (देवहृतिषु देवानां जुष्टां वाचं अवादिषं) देवोंके आह्वानके प्रसंगमें देवोंके लिये प्रिय वाणी हो मैं बोलता हूँ ॥ ४ ॥

(यं अहं मनोयुजा सरस्वत्या वाचा याचामि) जिससे मैं उत्तम मनसे युक्त ज्ञानमय वाणीको मांगता हूँ (तं अद्य वृष्णा सोमेन दत्ता) उसको आज मरणकर्ता सोमने दी हुई (अद्या विन्दतु) धन्ना प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

(नः वृनि मा) हमारी शक्तिको न कम कर और (वाचं मा वि हृत्सीः) वाणीको भी न रोक । (समी इन्द्राग्नी नः वद्वनि आ भरतां) दोनों इन्द्र और अग्नि हमें धन प्राप्त करावें । (नः दित्सन्तः सर्वे) हमें दान करनेवाले सब तुम (अरातिं प्रति हयंत) अदानशीलताको विरोधके साथ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

हे (असमृद्धे) असमृद्धि ! (परः अप इहि) परे चली जा (ते हेति वि नयामसि) तेरे शास्त्रको हम अलग करते हैं । हे (अराते) अदानशीलता ! (अहं त्वा निमीवन्तीं नितुदन्तीं वेदं) मैं तुझको निर्बल करनेवाली और अंदरसे चुननेवाली जानता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस पुरुषपर उक्त प्रकारकी अदानशीलताका प्रभाव हुआ है उसको भी हम नमस्कार करते हैं, तथापि मेरी मनकी इच्छाको उससे ब्यथा न पहुँचे ॥ २ ॥

देवों द्वारा प्रेरित हमारी सदिच्छा दिन और रात बड़ती रहे । हम उक्त प्रकारकी अदानशीलताको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

हम हलचल करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यकी इच्छा करते हैं । हम सदा प्रियवाणी ही बोलें ॥ ४ ॥

मैं उत्तम सुसंस्कृत मन और ज्ञानमयी वाणीको चाहता हूँ । उत्तम धन्ना भी हम सबको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हमारी सदिच्छा कम न हो और वाणी न रुके । देव हमें धन दें । दान देनेवाले सब दानी उक्त प्रकारकी अदानशीलताको दूरसे नमस्कार करें ॥ ६ ॥

असमृद्धि दूर चली जावे । तेरे आधारको हम हटाते हैं । मैं जानता हूँ कि असमृद्धिसे निर्बलता होती है और अंदरसे ही कष्ट होते हैं ॥ ७ ॥

उत नम्रा वोभुवती स्वमया संचसे जन्म । अरति चित्तं वीर्त्सन्त्याकृतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥
 या महती महोन्माना विश्वा आशां व्यानुशे । तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः ॥ ९ ॥
 हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही । तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः ॥ १० ॥ (७९)

अर्थ— हे (अराति) अदानशीलते ! (उत नम्रा वोभुवती) और नगी होकर (जन्म स्वमया संचसे) मनुष्यको आलस्यसे युक्त करती है । इस प्रकार (पुरुषस्य चित्तं आकृतिं च वि ईर्त्सन्ती) मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

(या महती महोन्माना) जो बड़ी और विशाल होनेके कारण (विश्वा आशा व्यानुशे) सब दिशाओंमें फैली है । (तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्ये) उस सुवर्णके समान बालवाली विपत्तिके (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ ९ ॥

(हिरण्यवर्णा सुभगा) सुवर्णके समान वर्णवाली, ऐश्वर्यवाली (मही हिरण्यकशिपुः) यही सुवर्ण बलवाली है (तस्यै हिरण्यद्रापये अरात्ये) उस सुवर्णके बर्षसे आच्छादित अदानशीलताके लिये (नमः अकरं) नमस्कार करता है ॥ १० ॥

भावार्थ— ईज्जी मनुष्यको नंगा बनाती और आलसी बनाती है । और मनुष्यके चित्त और संकल्पको मलीन करती है ॥ ८ ॥

यह बड़ी विशाल है और सर्वत्र फैली है । उस सुवर्णके समान रंगवाली विपत्तिके लिये दूरसे ही नमस्कार है ॥ ९ ॥

सुवर्णके समान सुंदर, ऐश्वर्यवाली, सुवर्णके आभूषणवाली इस अदानशीलताको हम दूरसे नमन करते हैं ॥ १० ॥

विपत्तिपूर्ण सम्पत्ति ।

आपत्तिपूर्ण विपत्ति और संपत्तिमय विपत्ति, ऐसी दो प्रकारकी विपत्तियाँ हैं । इनमेंसे बहुतो दोनों निंदनीय ही हैं, परंतु पहिलीका सर्वप्रथम निषेध और दूसरीका कुछ नियमोंसे निषेध वेदमें किया है । आपत्तिपूर्ण विपत्ति वह है कि जो परिपूर्ण निर्धनताके साथ अनंत आपत्तियाँ लगी रहती हैं । यह अवस्था तो पुरुषार्थके साथ दूर करनी चाहिये । परंतु दूसरी जो संपत्तिमय विपत्ति है, जिसको भाष्यमें 'कंजूसी' कहते हैं, इस अवस्थामें मनुष्यके पास संपत्ति तो विपुल रहती है; परंतु दान न करनेके कारण घरमें विपुल धन होते हुए भी इसकी रियायत कगाल जैसी होती है । यह भी अवस्था दूरसे ही नमस्कार करने योग्य है । और इसीका वर्णन इस सूक्तमें किया है ।

पाठक ऐसे मनुष्यकी कल्पना अपने मनमें करें कि जो बड़ा धनी है, परंतु अत्यंत कंजूस है, अत्यंत आवश्यक धर्मकृत्यके लिये भी दान नहीं देता है । ऐसा मनुष्य संपत्तिमय विपत्तिसे घेरा हुआ होता है, इसका वर्णन इस सूक्तके नवम और दशम मंत्रमें किया है । जो पाठक इन दोनों मंत्रोंका आशय ठीक प्रकार समझेंगे, उनको इस सूक्तका तात्पर्य समझनेमें कोई कठिनाता न होगी ।

नवम मंत्रमें (हिरण्यकेशी निर्ऋती) सोनेके बालोंवाली विपत्तिका वर्णन है । जहां बालबालमें सुवर्ण भरा है, ऐसी यह धनमय निर्धनता है । इसीकी धन पास होते हुए निर्धन कहा जाता है । इसीका और वर्णन दशम मंत्रमें देखिये—

हिरण्यवर्णा, सुभगा, हिरण्यकशिपुः मही,
 हिरण्यद्रापी, अरातिः । (मं. १०)

' सोनेके वर्णसे युक्त, उत्तम मान्यवती, सोनेके शरीरसे युक्त, बड़ी और सोनेके कपड़े ओढ़ी अदानशीलता यह है । ' जिस धनीके पास सोना, चांदी विपुल है, अन्यान्य ऐश्वर्य जितना चाहिये उससे भी अधिक है, हरेक स्थानपर सोनेके ढेर लगे हुए हैं, घरमें कशदे, बरत और अन्यान्य काष्ठन भी सुवर्णके ही बने हैं, ऐसे महाधनी पुरुषके अंदर जो दान न देनेका भाव रहता है उसका नाम ' धनयुक्त निर्धनता ' है । निर्धन मनुष्य दान न देवे तो वह उसका न देना समर्थनीय है, क्योंकि उसके पास देनेके लिये कुछ भी नहीं है, परंतु जो मनुष्य संपत्तिसे लदा हुआ होनेपर भी चतुर्भुजे के लिये उचित दान नहीं देता, उसको तो दूरसे ही (नमः अकरं) मं. १०) नमस्कार करना चाहिये । उसके पास भी जाना योग्य नहीं है । इस प्रकारकी धनमयी विपत्ति बहुत स्थानोंमें दिखाई देती है, इसी विषयमें नवम मंत्रमें कहा है—

या मदती महोम्माना विभ्वा आशा व्यानशे ।

(म १)

‘यह सपत्तिमयी विपत्ति बड़ी विशाल है और सब दिशाओंमें व्याप्त है’ अर्थात् कोई दिशा इससे खाली नहीं है । हर एक दिशामें इस सपत्तिमयी विपत्तिमें डूबे हुए लोग होते ही हैं । कोई गांव इससे खाली नहीं है । अपनी शक्तिसे अत्यधिक दान देनेवाले अथवा जनताकी मलाईके लिये आत्मसर्वस्वका पूर्णत्याग समर्पण करनेवाले उदारवादी दाना महान्मा योके ही होते हैं । परन्तु बहुत अल्पदान करनेवाले अथवा विलुप्त दान न देनेवाले लोग हा बहुत होते हैं । इसलिये नवम मन्त्रमें कहा कि ‘यह दानहीनता बड़ी विशाल और सर्वत्र उपस्थित है ।’ कोई नगर इससे खाली नहीं है । प्रशस्त कर्म करनेके लिये धनकी याचना करनेवाले धर्मसेवक किसी भी नगरमें जावें, वहाँ इस प्रकारके धनवात् होते हुए भा निर्धनके समान व्यवहार करनेवाले लोग ही उनकी चारों ओर दिखाई देंगे । इस कजूषीसे क्या होता है देखिये—

कंजूसीसे गिरावट ।

नम्रा योभुवती स्वमया जनं सचते ॥

अरातिः पुरुषस्य चित्तं आकृतिं च योर्त्सयन्ती ॥

(म ८)

‘यह कजूषी स्वयं मंगी रहनेके समान लोगोंको भी नंगा बना देती है । और उनको आलसी भी बना देती है । यह कजूषी मनुष्यके चित्त और सकलपकी मलिन कर देता है ।’ उदारचित्त दाना पुरुष जैसा सदा प्रसन्नचित्त रहता है, और उसको चारों ओर मित्र मिलते हैं, उस प्रकार अदानी कजूषका नहीं है, वह सदा आलसी होता है और उसका चित्त और सकलप मलिन होता है । उसमें कभी प्रसन्नता नहीं होती । यह कितनी हानि है, इसका विचार पाठक करें और इस कजूषीसे बचनेका प्रयत्न करें । क्योंकि यह मनुष्यको मनुष्यत्वसे भी गिरा देती है । इसलिये सप्तम मन्त्रमें कहा है—

असमुद्धे । पर अपेहि । ते हेति विनयामसि ।

अराते । अह त्वा निमीवन्ती नितुदन्ती वेद ।

(म ७)

‘हे असमृद्धि ! दर हट जा । तेरे लक्ष हम दूर हटा देते हैं । मैं खुब जानता हू कि तू लोगोंको निर्बल बनानेवाली और अन्दरसे दुःख देनेवाला है ।’ वस्तुतः यह दानहीनता ऐसी कष्ट देनेवाली है इसलिये इसको हटा देना चाहिये । किसीको भी इसके आधीन नहीं होना चाहिये । क्योंकि यह निर्बलता

७ (अथर्व भाष्य, काण्ड ५)

बढ़ानेवाली और आंतरिक कष्ट देनेवाली है । इसीसे मनुष्य गिर जाता है । इसलिये कहा है कि—

अरातिं प्रतिद्वयंत (म ६)

‘कजूषाका विरोध करो ।’ विरोध करके अपने अंदर कजूषी न रहे ऐसी व्यवस्था करो । और अपने अंदर—

अथ सर्वे दिस्तन्ता । (म ६)

‘आज सब ही दान देनेमें उत्सुक होंवें ।’ कोई कजूष अपने अंदर न रहे । समाज ऐसे उदारचित्त दाना महान्मायोसे युक्त होवे और कमा कजूषोसे युक्त न होवे ।

हार्षिक इच्छा

हमारी हार्षिक इच्छा क्या होनी चाहिये, इस विषयमें विचार करनेके समय निम्नलिखित मन्त्रभाग हमारे सम्मुख आ जाता है ।

१ यन्त सरस्वतीं अनुमतीं भगं हवामहे ।

(म ४)

२ जुष्टां मधुमतीं याच अवादिषम् । (म ५)

३ सरस्वत्या मनोजुजा वाचा य याचामि

त अथ अद्वा चिन्दतु । (म ५)

‘(१) हम प्रगतिका प्रयत्न करनेवाले लोग विद्या, सुमति और ऐश्वर्यको चाहते हैं । (२) हम सेवन करने योग्य मीठी बात ही कोलते हैं । (३) विद्या और सुविचारसे युक्त सुसंस्कृत वाणासे जिसके पास हम मागत हैं, उसमें देनेकी अद्वा होवे ।’ वास्तवमें हम चाहते हैं कि हम सबको विद्या, सुबुद्धि और सपत्ति प्राप्त हो । हम इसीलिये मधुर वाणासे कोलते हैं । हम श्रेष्ठ सत्कर्म करना चाहते हैं इन कर्मोंके लिये जिसके पास धनादिकी याचना करेंग उसमें देनेकी सुविधा वसे । इस प्रकारके दानसे जनताकी मलाईके प्रसरततम कर्म किये जाते हैं, जिससे सबका उद्धार होता और सबका यश बढ़ता है । तथा—

१ नः देवकृता धनिः दिया नक्त वर्धताम् ।

(म ३)

२ नः यनिं वाच मा योर्त्साः । (म ६)

‘देवों द्वारा बनाया हमारा यह अद्वामयी बुद्धि दिनरात बढ़ और (२) इस अद्वाभक्तियुक्त वाणीमें घटाव न होवे ।’ अर्थात् दानबुद्धि, परोपकारका भाव और आत्मसर्वस्व समर्पणकी अद्वा हममें स्थिर रह और बढ़ । इस धर्मबुद्धि परस्परकी सहायता करते हुए हम उन्नतिको प्राप्त हों ।

यहाँतक इस सूक्तके आठ मंत्रोंका विचार हुआ । इससे पाठ

कौहो पता लग सकता है, कि इस सूक्तका मुख्य उपदेश क्या है । अदानशीलता अथवा केंजूसीका स्तोत्र करनेका विचार इसमें नहीं है; प्रस्तुत मनुष्योंको हानिकारक केंजूसीसे निकालकर उच्चता स्थापन करनेवाले धर्मापूर्ण दानशूरताकी ओर ले जाना ही इस सूक्तको अभीष्ट है ।

प्रथम मन्त्रमें सो अदानशीलताको दूरसे नमन किया है । जो केंजूसी (दक्षिणां मा रक्षीः) दान देनेमें क्षति उत्पन्न नहीं करती, अर्थात् दान देनेके लिये निकाला हुआ धन फिर अपनी सङ्कुमें बंद नहीं करती, अर्थात् अपनी योग्यताके योग्य दान देती है वह गुरी नहीं है, उस संप्रदशुतिसे (आभर) अपने पास धन भर ले और खजाना जिस प्रमाणसे भरे उस प्रमाणसे दान भी दे । परन्तु जो (अराति) केंजूसी धसृष्टि कर्मात्माका प्रदर्शन करती है और (वीत्सां) मलिनता युक्त व्यवहार कराती है, वह हानिकारक है । यह

प्रथम मन्त्रका भाव मननीय है । इसका भाव यह है कि योग्य प्रमाणसे संप्रह किया जाय और उचित दान भी दिया जाय । जो केंजूसी कालके समान दिखती है वह हानिकारक है । धन पास होते हुए भी कंगालके समान व्यवहार करनेकी युक्ति बहुत हानिकारक है । मनुष्यमें चाहे बहुत औदार्य न हो, परन्तु धन होते हुए भी कंगाल जैसी दृष्टि तो रहनी नहीं चाहिये ।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है । यद्यपि इस सूक्तमें अदानशीलताको नमन किया है, तथापि वह उस दृष्टिको दूर करनेके लिये ही है । इस दृष्टिसे विचार करनेसे इस सूक्तमें बड़ा गभीर आशय है यह बात पाठकोंके मनमें आ जायगी । यह सूक्त बड़ा कठिन है, सहज समझमें आने योग्य सुगम नहीं है । तथापि जो पाठक इस स्पष्टीकरणमें दक्षायी रीतिसे इसका मनन करेंगे, वे इस सूक्तका आशय जान सकते हैं ।

शत्रुको दवाना ।

(८) शत्रुनाशनम् ।

(अर्थः— अथर्वा । देवता — नानादैवत्वं, अग्निः, विश्वे देवाः, इन्द्रः ।)

वैकङ्कतेनेष्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।

अग्ने तौ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हव्यम्

॥ १ ॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।

इम ऐन्द्रा अतिसरा आर्कृतिं सं नमन्तु मे ।

तेभिः शक्रेम वीर्यं जातवेदस्तनूवाशिन्

॥ २ ॥

अर्थ— हे अग्ने (वैकङ्कतेन इष्मेन) प्रया शक्ति इन्धनसे (देवेभ्यः आज्यं वह) देवोंके लिये घृत पहुँचा । और (तान् इह मादय) उनको यहाँ प्रसन्न कर, वे (सर्वे) सब (मे हव्यं आ यन्तु) मेरे यज्ञमें आवें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (मे हव्यं आ याहि) मेरे यज्ञमें आ पहुँच । जो (इदं करिष्यामि तत् शृणु) यह प्रार्थना मैं करूँगा, वह तू सुन । (इमे ऐन्द्रा अतिसरा) ये इन्द्रसंबंधी अग्रगामी पुरुष (मे आर्कृतिं सं नमन्तु) मेरे संकल्पके अनुकूल झुकें । हे (तनू-वाशिन् जातवेद) शरीरको बश करनेवाले ज्ञानवान् । (तेभिः वीर्यं शक्रेम) उन प्रयत्नोंसे वीर्यकी प्राप्ति हम कर सकें ॥ २ ॥

भावार्थ— अग्नि इस यज्ञमें देवोंके लिये घृतकी आहुतिशी पहुँचावे और यहाँ देवोंको आनन्दित करे, जिससे सब देव सतोपसे मेरे यज्ञमें आवें रहें ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! तू मेरे यज्ञमें आ और जो मैं प्रार्थना करता हूँ, वह श्रवण कर । ये जो इन्द्रके सव्यमे कार्य करनेवाले हैं, वे मेरे अनुकूल कार्य करें । हे शरीरको बश करनेवाले ज्ञानी ! उनसे हमको वीर्य प्राप्त होवे ॥ २ ॥

यदुसावृष्टो देवा अदेवः संधिकीर्षति ।

मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्वै देवा अस्य मोषं गुर्ममैव इधमेतन् ॥ ३ ॥

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत ।

अवि वृक इव मथीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥ ४ ॥

यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये ।

इन्द्र स ते अवस्पदं ते प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।

तनुपानं परिपाणं कृष्णाना यदुपोचिरे सर्वे तदरसं कृधि ॥ ६ ॥

यानसावतिसराश्चकार कृणवच्च यान् ।

त्वं तानिन्द्र वृत्रहन्प्रतीचः पुनरा कृधि यथासं तूणहां जनम् ॥ ७ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (असौ अ-देवः सन्) वह देवता रहित होकर (अमृतः यत् चिकीर्षति) वहति जो कुछ घात करना चाहता है, (तस्य हव्य अग्निः मा वाक्षीत्) उसका हव्य अग्नि न पहुँचावे । (देवाः अस्य हव्यं मा उपगुः) देव भी इसके यज्ञमें न जावें । प्रत्युत (मम पव हव्यं पतन) मेरे ही यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे (अतिसराः) अग्रगामी पुरुषो ! (अति धावत) वेगसे दौड़ो । (इन्द्रस्य वचसा हत) इन्द्रके वचनसे मारो । (अवि वृक इव मथीत) जैसे भेड़को भेड़िया मारता है, उस प्रकार शत्रुको मथ डालो । (सः जीवन्) वह शत्रु जीता हुआ (सः मा मोचि) तुम्हारेसे न छूट जावे । (अस्य प्राणं अपि नह्यत) इसके प्राणको भी बांध डालो ॥ ४ ॥

(अमी यं ब्रह्माण) ये जिस ज्ञानको (अपभूतये पुरः दधिरे) अवनतिके लिये ही आगे धर देते हैं । हे इन्द्र ! (सः ते अवस्पदः) वह तेरे पांवके नीचे होवे, (तं मृत्यवे प्रत्यस्यामि) उसको मृत्युके लिये फेंकता हूँ ॥ ५ ॥

(यदि देवपुराः प्रेयुः) जो शत्रुओंने देवोंके नगरोंपर चढ़ाई की है और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) ज्ञानको ही अपना कवच बनाया है, और (तनुपानं परिपाण कृष्णानाः) शरीररक्षक साधन भी जो बनाते हुए (यत् उप ऊचिरे) जो कुछ कहते हैं (सर्वे तत् अरसं कृधि) वह सब नीरस करो ॥ ६ ॥

(असौ यान् अतिसरान् चकार) इसने जिनको अग्रगामी बनाया था और (च यान् कृणवत्) जिनको अमी बनाया है । हे (वृत्रहन् इन्द्र) शत्रुनाशक इन्द्र ! (त्वं तान् पुनः प्रतीचः आ कृधि) तू उनको पुनः प्रतिगामी बर (यथा असं जनं तूणहान्) जिससे उस जनसमूहको हम मार डालें ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे देवो ! जो वस्तुतः प्रभुकी भक्ति न करता हुआ जो कुछ अन्य कर्म करना चाहता है, उसकी आहुतियों अग्नि भी देवोंके न पहुँचावे और देव भी इसके यज्ञमें न जावें । परंतु वे मेरे यज्ञमें आवें ॥ ३ ॥

हे अग्रगामी पुरुषो ! वेगसे शत्रुपर हमला करो । इन्द्रकी आज्ञासे शत्रुका वध करो । जैसे भेड़िया भेड़को मारता है, उस प्रकार तूम शत्रुको मार डालो । शत्रुके प्राण लो । कोई शत्रु तुम्हारे हाथसे न बच पावे ॥ ४ ॥

जो शत्रु अपने अन्दरके विद्वान् पुरुषको भी अवनतिके कार्यमें ही लगा देते हैं, उनको अयोग्यता होवे, मैं तो उसको मृत्युके लिये समर्पित करता हूँ ॥ ५ ॥

जो देवोंके नगरोंपर शत्रुओंने चढ़ाई की है, और अपनी शरीररक्षाके लिये कवचादिके द्वारा अच्छी तैयारी की है, तथा अपने सब ज्ञानको भी इस युद्धकर्ममें ही लगा दिया है, ऐसे शत्रुका वह सब प्रयत्न विफल होवे ॥ ६ ॥

जो शत्रु अपने वीरोंको अग्रगामी करके हमला करते हैं, वे शत्रुके प्रयत्न उल्टे हो जावें, जिससे सब शत्रुओंको हम मार डालें ॥ ७ ॥

सूर्यो मे चक्षुर्वीर्यं प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम् ।

अस्तुतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीधाय ॥ ७ ॥

उदायुरुद्धलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम् ।

आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा ।

आत्मसदौ मे स्तं मा मां हिंसिष्टम्

॥ ८ ॥ (८९)

(१०) आत्मरक्षा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वास्तोष्पतिः ।)

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्यां दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ १ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ २ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्यां दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ ३ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्धाच्या दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ ४ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवायां दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ ५ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वायां दिशोऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ ६ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्द्वेष्योऽघायुरभिदासात् । एतत्स क्रच्छात् ॥ ७ ॥

अर्थ— (सूर्यः मे चक्षुः) सूर्य मेरा चक्षु है (घातः प्राणः) वायु प्राण है, (अन्तरिक्षं आत्मा) अन्तरिक्ष आत्मा है और (पृथिवी शरीरे) पृथिवी मेरा शरीर है । (अस्तुतः नाम अयं अहं अस्मि) अमर नामवाला यह मैं हूँ । (द्यावापृथिवीभ्यां गोपीधाय) द्यावापृथिवी द्वारा सुरक्षित होनेके लिये (सः आत्मानं नि दधे) वह मैं अपने आपको निःशेष देता हूँ ॥ ७ ॥

मेरी (आयुः उक्त) आयु उत्तम, (बलं उक्त) बल उत्तम, (कृतं उक्त) किया हुआ कर्म उत्तम, (कृत्यां उक्त) काटनेकी शक्ति उत्तम, (मनीषां उक्त) बुद्धि उत्तम, (इन्द्रियं उक्त) इन्द्रिय उत्तम होवे । (आयुष्कृत् आयुष्पत्नी) आयुकी बुद्धि करनेवाली और जीवनका पालन करनेवाली तथा (स्वधावन्तौ) अपनी धारकशक्ति बढ़ानेवाली तुम दोनों द्यावा-पृथिवी ! (मे गोपा स्तं) मेरे रक्षक होओ । (मा गोपायतं) मेरी रक्षा करो । (मे आत्मसदौ स्तं) मेरी आत्मामें रहनेवाले हो और (मा मा हिंसिष्टं) मेरा कमी बिनाश न करें ॥ ८ ॥

भावार्थ— सूर्य ही मेरी आँख, वायु मेरा प्राण, अन्तरिक्ष मेरा अन्तःकरण, और पृथ्वी मेरा स्थूल शरीर बना है । मैं अमर और अश्वय हूँ । तुलोक और पृथिवी लोक मेरी रक्षा करते हैं, इसलिये मैं अपने आपको उनके आधीन कर देता हूँ ॥ ७ ॥

मेरी आयु, शक्ति, कियाशक्ति, काटनेकी शक्ति, मननशक्ति इन्द्रियशक्ति, आदि शक्तियाँ उत्तम अवस्थामें रहें । आयु देनेवाली तथा जीवनका पालन करनेवाली और धारकशक्तिसे युक्त दोनों द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें, वे दोनों मेरे अंदर रहकर मेरी रक्षा करें और कमी मेरी शक्ति क्षीण न करें ॥ ८ ॥

बृहता मन उप ह्ये मातरिभ्यना प्राणापानौ । सूर्याचक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।

सरस्वत्या वाचमुप ह्यामहे मनोयुजां

॥ ८ ॥ (९७)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ— (मे अश्मघर्म अस्ति) मेरा पत्थरका हड कवच तू है । (यः मद्यायुः) जो पापी (प्राचयाः, दक्षिणायाः, प्रतीच्याः, उदीच्याः, ध्रुवायाः, दिशां अन्तर्देशाभ्यः) पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुव, ऊर्ध्व और इन दिशाओंके मध्यके प्रदेशोंके (मा अभिदासात्) मेरा नाश करे, (सः पतन् श्रच्छात्) वह स्वयं इस विनाशको प्राप्त होवे ॥ १-७ ॥

(बृहता मन उप ह्ये) बड़े ज्ञानके साथ मनको मैं मानता हूँ । (मातरिभ्यना प्राणापानौ) वायुसे प्राण और अपान, (सूर्यात् चक्षुः) सूर्यसे आँख, (अन्तरिक्षात् श्रोत्रं) अन्तरिक्षसे कान, (पृथिव्याः शरीरं) पृथिवीसे शरीर, (मनोयुजा सरस्वत्या वाचं) मननसे युक्त विद्याके साथ वाणीको (उप ह्यामहे) मानते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मेरा कवच है । जो पापी मेरे ऊपर सब दिशा उपदिशाओंसे हमला करके मेरा नाश करना चाहता है, वह स्वयं नष्ट होवे ॥ १-७ ॥

मुझे ज्ञानयुक्त मन, वायुसे प्राण, सूर्यसे चक्षुः, अन्तरिक्षसे श्रोत्र, पृथ्वीसे स्थूल शरीर और मननशक्तिसे संयुक्त विद्याके साथ उत्तम वाणीको चाहता हूँ, इनकी मुझे प्राप्ति होवे ॥ ८ ॥

आत्मिक शक्ति ।

अपने अन्दर आत्मिकशक्तिका विकास करनेके लिये जिन विशेष विचारोंकी धारणा अपने मनके अंदर करना आवश्यक है, वह धारणा इन दो सूक्तोंमें कही है । नवम और दशम इन दोनों सूक्तोंका ऋषि ब्रह्मा है और देवता वासोष्पति है । अर्थात् ये दोनों एक ही विषयके सूक्त हैं, इसलिये इनका मनन भी साथ साथ ही करते हैं ।

नवम सूक्तके पहिले छ मंत्र, वस्तुतः ये तीन ही मंत्र हैं और दुबारा आनेसे छ. बने हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और सुलोक इन तीनों लोकोंके लिये स्वाहा अर्घ्य (सु+आह) उग्रम शब्दों द्वारा प्रशंसा कही है । सुलोकमें सूर्य, नक्षत्र आदि हैं, अन्तरिक्षमें इन्द्र, वायु, चंद्र, विद्युत् आदि हैं और पृथ्वीपर धान्य, जल आदि अनंत पदार्थ हैं, जिनका उपयोग मनुष्य करता है और सुखी होता है । इस कारण ये तीन लोक और इनमें रहनेवाले अनंत पदार्थ मनुष्यके द्वारा प्रशंसा करने योग्य हैं । क्योंकि इनके बिना मनुष्य अस्तित्व ही नहीं रह सकता, अतः ये प्रशंसा करने योग्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

इन तीनों लोकोंके अंदर रहनेवाले सभी पदार्थ इस प्रकार मनुष्यके लिये उपकारक हैं अतः एव मनुष्यके प्रशंसाके लिये योग्य हैं । यह जानकर इनको अपने अंदर देखना चाहिये, अर्थात् ये मेरे अंदर आकर रह रहे हैं और मेरी शक्तिको बढ़ाते हैं तथा प्रकाशित करते हैं । यह भाव मनमें धारण करनेको सप्तम मंत्रने कहा है । इस मंत्रका आशय यह है—

'सूर्य मेरा आँख हुआ है, वायु मेरा प्राण बना है, अन्तरिक्ष लोक मेरा अन्तःकरण बना है, और पृथ्वीसे मेरा स्थूल शरीर बना है । (मं. ७)' यह सप्तम मंत्रका कहना है । देखिये, इस प्रकार सुलोकका सूर्य, अन्तरिक्षलोकका वायु, और पृथ्वीलोकके पदार्थ क्रमशः मेरे आँख, प्राण और स्थूल शरीरमें आकर रह रहे हैं, इस प्रकार मेरा साक्षात् संबंध इन तीनों लोकोंके साथ है, इन तीनों लोकोंके अंश आकर मेरे शरीरमें रह रहे हैं, अथवा इनका अवतार मेरे शरीरमें हुआ है । इस बातका विचार करनेसे अपनी आत्मशक्तिकी कल्पना सहजहीमें हो सकती है, यही बात अथर्ववेदके अन्य मंत्रोंमें भी कही है, देखिये—

सूर्यश्चसुवार्तः प्राणं पुरुषस्य यिमोजिरे ।

अथास्थेतरमात्मानं देयाः प्रायच्छन्नप्रेये ॥

अथर्व. ११।८ (१०) ३१

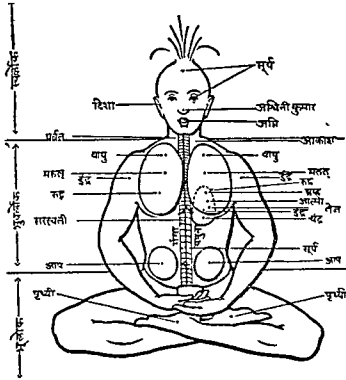
'सूर्य और वायु ये क्रमशः पुरुषके आँख और प्राणमें विभक्त हुए हैं, इसी प्रकार इसके इतर आत्मभागोंके इतर देवोंने दिया है ।' अतः कहते हैं कि—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।

सर्वा ह्यस्मिन्नेयता गावो गोष्ठ इवास्ते ।

अथर्व. ११।८ (१०) ३२

'इसीलिये ज्ञानी इस पुरुषको ब्रह्म मानता है, क्योंकि सब देवताएं इसमें बैसी रहती हैं, जैसी गोशालामें गौं बै रहती हैं ।' इस मंत्रमें तो सभी देवताएं मनुष्यके शरीरमें विभिन्न अवयवोंमें रहती हैं, ऐसा कहा है । पूर्वोक्त मंत्रोंमें कुछ देवताओंके यहाँका



शरीरमें देवोंके निवासस्थान

निवासका वर्णन किया है, और इस मंत्रमें कहा है कि सब देवताएं यहाँ रहती हैं, अर्थात् अन्य देवताओंका पता मननसे लगाना चाहिये। यह मनन करके उपनिषदोंमें कुछ अन्य देवताओंका भी स्थान निर्देश किया है, वह मनोरंजक विषय अब देखिये—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, ओपधियनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्, मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिखं प्राविशत् ॥ ऐ. व. १।१।४

'अग्नि वाणी बनकर मुखमें घुसी, वायु प्राण बनकर नाकमें प्रविष्ट हुआ, सूर्य आँख बनकर नेत्रमें रहने लगा, दिशाएं कान बनकर कानके स्थानपर रहने लगीं, औषधि और वनस्पतियाँ लोम बनकर त्वचामें प्रविष्ट हो गईं, चन्द्रमा मन बनकर हृदयमें घुसा, मृत्यु अपान होकर नाभिमें रहने लगी, जल रेत बनकर शिखमें प्रविष्ट हुआ।' इस प्रकार अन्यान्य देवताएं अन्यान्य स्थानोंमें रहने लगीं। यह है अपने शरीरमें

देवताओंका निवास। यहाँ देवताएं रहती हैं, इसलिये इस शरीरको 'देवोंका मन्दिर' कहते हैं बाह्य सृष्टिमें बड़े बड़े सूर्यादि देव हैं, उनके अंश बीजरूपसे यहाँ अपने शरीरमें आ गये हैं और इन्हीं अंशोंके बड़े विस्तृत देव फिर बनते हैं, इस विषयमें निम्नलिखित उपनिषद्बचन देखिये—

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः, ... नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः,

अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः, ... कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः,

... त्वचो लोमानि लोमभ्य ओपधियनस्पतयः, ... हृदया-

न्मनो मनसश्चन्द्रमाः, ... नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिखाद्वितो रेतसः आपः ॥ ४ ॥ ऐतरेय उप. १।१

'मुखसे वाणी, वाणीसे वाचा; ... नासिकासे प्राण, प्राणसे वायु; ... आँखोंसे चक्षु, चक्षुसे सूर्य; ... कानोंसे श्रोत्र, श्रोत्रसे दिशाएं; ... त्वचासे लोम, लोमोंसे ओषधि-

वनस्पतियाँ; ... हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा, ... नाभियोंसे अपान और अपानसे मृत्यु; ... शिखरसे रेत और रेतसे जल हुआ।'

इन दोनों वचनोंमें पाठक तुलना करके देखेंगे, तो उनका पता लग जायगा कि पहिलेमें बृहत् देवताओंसे अपने अन्दरके सूक्ष्म देव होनेका वर्णन है और दूसरेमें इन सूक्ष्म अंशोंसे फिर बृद्धि होकर बड़े देव बनेनेका वर्णन है। जिस प्रकार मनुष्यके शरीरसे वीर्यबिन्दु उत्पन्न होता है और फिर इस वीर्य-बिन्दुसे मनुष्य शरीर बनता है, उसी प्रकार संकोच-और विस्तार यहाँ भी होता है। अस्तु।

मनुष्यके अंदर सूर्यादि सब देवोंकी शक्तियाँ हैं यह बात यहाँ मनुष्यके स्मरणमें रखनी चाहिये। मैं तुच्छ नहीं हूँ, परंतु मैं उन ही शक्तियोंसे युक्त हूँ कि जिनसे युक्त परमात्मा है। मेरी शक्तियाँ अंशरूप हैं और उसकी पूर्णरूप हैं। अर्थात् शक्तियाँ मेरे शरीरमें हैं, जिनका विकास घर्माघृष्टानसे करना है। यह सप्तम मंत्रका आशय है, यह मंत्र मनुष्यको एक विशेष ही शक्ति दे रहा है। पाठक, इसका अनुभव अपने मनमें करें। इस शक्तिको अपने अन्दर देखनेके बाद ही कहा जाता है कि—

अयं अहं अस्तुत नाम अस्मि । (म ७)

‘यह मैं अमर अथवा अदम्य शक्तिसे युक्त हूँ’ पाठक इसका विचार करें । अपने अन्दर इतनी शक्ति है और मैं अमर हूँ, शरीरनाश होनेसे मैं नष्ट नहीं होता । जिस प्रकार परमात्मा ‘अ-मर’ है, उसी प्रकार आत्मदृष्टिसे मैं भी ‘अ-मर’ हूँ । यह विश्वास इस मन्त्रने दिया है । पाठक ही अनुभव करें कि इस विचारकी मनमें धारण करनेसे कितना आत्मिक बल बढ़ता है । वेदकी शिक्षा आत्मिक बल बढ़ाती है और अपनी शक्तियोंका ज्ञान कराती है, वह बात इस प्रकार है । जब यह मनुष्य इस प्रकार आत्मशक्तिका अनुभव करता है, तब जगत्के लिये अपने आपका समर्पण करता है—

आत्मानं यावापृथिवीरक्ष्या गोपीयाय नि दधे ।

(म ७)

‘मैं अपने आपको यावा पृथिवीके लिये रक्षक अर्घ्य दता हूँ ।’ इस प्रकार सब जगत् इसकी रक्षा करता है, सब विषयों को सुरक्षित होता है, वह निर्भय होकर विचरता है । इसी निर्भयतासे उसकी उन्नति होती है । इसके पश्चात् वह जितना अधिक आत्मसमर्पण करता है, उतना अधिक बल प्राप्त करता है । इस रीतिसे ‘आयु, बल, शक्ति, कर्म, बुद्धि, इन्द्रिय आदिकी शक्तियाँ उत्कृष्टतम हो जाती हैं ।’ (म ८) यह उसकी शक्तिका विकास है । ‘इस प्रकार अब देनेवाले दोनों लोक इसकी पूर्ण रक्षा करते हैं ।’ (म ८) ये लोक वस्तुतः—

यहां द्वितीय अनुषाक समाप्त ॥ ९ ॥

मे आत्मसदौ स्तम् । (म ८)

‘मेरी आत्मामें रहनेवाले हैं ।’ यह बात उपनिषद्बचनोंसे इसके पूर्व बता दी है । अपने शरीरमें आत्माके आधारसे ये सब सृष्टिदि पदार्थ अर्थात् तीनों लोक रहते हैं ।

ये सब उन्नति हा करते हैं और धर्मपथपर चलनेसे कभी अवनति नहीं करते । इस प्रकार नवम सूक्ता विचार हुआ, अब दशम सूक्ता विचार करते हैं—

पत्थरका कवच ।

दशम सूक्ते आदिके सात मंत्रोंमें ‘पत्थरके कवच’ का वर्णन आया है । पूर्वोक्त ज्ञान हा मनुष्यका ‘पत्थर जैसा दृढ़ कवच’ है, जिससे मनुष्य सुरक्षित होकर उन्नतिको प्राप्त कर सकता है । ‘किसा भी दिशासे शत्रु हमला करे, जिसके शरीरपर यह पूर्वोक्त ज्ञानरूपी कवच है वह हमेशा सुरक्षित रहता है ।’ (म १-७) यह इन सात मंत्रोंका तात्पर्य है । जो ज्ञान पत्थर जैसा दृढ़ कवच है, वही पूर्वोक्त मंत्रमें कहा हुआ ज्ञान इस सूक्ते अष्टम मंत्रमें पुन कहा है—

‘सूर्यसे चन्द्र अन्तरिक्ष भोज, पृथिवीसे शरीर, वायुसे प्राणपान और बृहच्छक्तिसे मन, सरस्वतीसे वाणी, प्राप्त करता हूँ ।’ (म. ८) इस मंत्रमें भी पूर्व सूत्रोंके ज्ञान हा कहा है । क्योंकि यही मनुष्यका रक्षक दृढ़ कवच है । पाठक इस ज्ञानको अपनी ओर निर्भय बनें ।

श्रेष्ठ देव ।

(११) संपत्कर्म ।

(अग्नि — अथर्वा । देवता — वरुण (प्रश्नोत्तरम्) ।)

कथं महे असुरायान्वीरिह कथं पित्रे हरये त्वेपन्मृगः ।

पृश्नि वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः

॥ १ ॥

अर्थ—(महे असुराय कथं अथर्वाः) महान् शक्तिवान्के लिये तुमने किस प्रकार और क्या कहा ! और (त्वेपन्मृगः इह हरये पित्रे कथं) खय तेजस्वी होते हुए तुमने यहाँ दुःख द्रव्य देनेवाले पिताके लिये भी किस प्रकार और क्या कहा ! (वरुण) श्रेष्ठ प्रभो ! (पुनर्मघ) पुन पुन धन देनेवाले देव । (पृश्नि दक्षिणां ददावान्) गौ आदि दक्षिणा देते हुए (त्वं मनसा चिकित्सीः) तुमने मनसे हमारी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

८ (अथर्व भाष्य, काण्ड ५)

न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपजि ।

केन नु त्वमथर्वन्काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ।

॥ २ ॥

सत्यमहं गम्भीरः काव्येन सत्यं जातेनासि जातवेदाः ।

न मे दासो नार्यो महित्वा वृतं मीमायु यद्रहं धरिष्ये

॥ ३ ॥

न त्वदन्यः क्ववितरो न मेघया धीरतरो वरुण स्वधावन ।

त्वं ता विश्वा भुव्नानि वेत्स्य स चिन्तु त्वज्जनो मायीं विमाय

॥ ४ ॥

त्वं हाँह वरुण स्वधावन्विश्वे वेत्स्य जनिमा सुप्रणीति ।

किं रजस एना पुरो अन्यदेस्त्येना किं परेणावरममुर

॥ ५ ॥

अर्थ— (कामेन पुनर्मघः न भवामि) केवल इच्छासे ही मैं पुनः पुनः धनवाला नहीं होता हूँ । मैं (कं संचक्षे) किये यह कहूँ ? (एतां पृश्नि उप अजे) इस गौ आदिको पास ले चलता हूँ । हे (अथर्वन्) शान्त स्वभाववाले देव ! (केन नु काव्येन सत्यं) किस काव्यसे तू और (केन जातेन जातवेदाः अस्ति) किसके होनेसे तू जातवेद हुआ है ॥ २ ॥

(सत्यं अहं गम्भीरः) सत्य है कि मैं गम्भीर हूँ । और (सत्यं) यह भी सत्य है कि मैं (जातेन काव्येन जातवेदाः अस्मि) काव्य उत्पन्न करनेसे ही जातवेद कहलाता हूँ । (यत् अहं धरिष्ये) जिसकी मैं धारण करता हूँ (मे प्रप्तं) उस मेरे नियमको (न दासः न नार्यः) न तो दास और न नार्य (महित्वा मीमाय) महत्त्वेके साथ तोड़ सकता है ॥ ३ ॥

हे (स्वधावन वरुण) अपनी धारण शक्तिके युक्त श्रेष्ठ देव ! (त्वम् अन्यः क्ववितरो न) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक कबि नहीं है । (मेघया धीरतरो न) और सुदिके कारण अधिक धीरवाला भी कोई नहीं है । (त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्स्य) तू उन सब भुवनोंको जानता है । इसलिये (सः मायी जनः) वह कपटी मनुष्य (त्वत् चिन्तु विमाय) तुझसे निःशदेह अयभीत होता है ॥ ४ ॥

हे (अहं स्वधावन सुप्रणीते वरुण) प्रिय, अपनी धारणशक्तिके युक्त, उत्तम बलनेवाले श्रेष्ठ देव ! (त्वं हि विश्वा अनिमा वेत्स्य) तू ही सब जन्मोंको जानता है । हे (अ-मुर) हानी ! (एना रजसः परः अन्यत् किं अस्ति) इस प्रतिके परे दूसरा क्या है ? (एना परेण अथरं किं) और इस परेवालेके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

भाषार्थ— (भक्षका वपन) = हे ईश्वर ! बड़े बड़े शक्तिमान्की भी तुझे क्या उपदेश दिया है ? और सबका कुछ हरण करनेवाले पिताकी भी तुझे क्या कहा था ? तू स्वयं तेजस्वी है । तुझे ही यह गौ, भूमि, वाणी आदिका धान दिया है और हे पुनः पुनः धन देनेवाले देव ! तुझे ही इनामी चिकित्सा की है ॥ १ ॥

केवल इच्छा करने मात्रसे ही धनवान् नहीं होता हूँ । यह मैं किये ठीक प्रकार कहूँ ! मैं इस गौ, भूमि, वाणी आदिको प्राप्त करता हूँ । हे देव ! किस काव्यके बनानेसे तथा किस पदार्थके बननेसे तू जातवेद कहा जाता है ? ॥ २ ॥

(ईश्वरका उत्तर) = यह बात सत्य है कि मैं बड़ा गम्भीर हूँ और यह भी सत्य है, कि इस काव्यके प्रकाशित होनेके कारण मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हूँ । जिस नियमको मैं बनाता हूँ, उसको कोई तोड़ नहीं सकता, फिर वह नार्य हो वा दास हो ॥ ३ ॥

(भक्षका वपन) = हे ईश्वर और सत्यर्थ देव ! तेरेसे भिन्न कोई भी अधिक श्रेष्ठ कबि नहीं है और सुदिमान् भी नहीं है । तू ही ईश्वर भुवनोंका ज्ञान है इसलिये सब कुछ कपटी लोग तेरेसे ही करते रहते हैं ॥ ४ ॥

हे ईश्वर ! तू सबके सब जन्मोंको जानता है । हे देव ! इस प्रतिके परे क्या है और सबके परे है उसके उरे भी क्या है ? ॥ ५ ॥

एकं रजस एना पुरो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदुर्वाक् ।

तच्च विद्वान्वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उपसर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

त्वं ह्यङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मधेयवधानि भूरि ।

मो पु पूर्णारम्पेक्षतावतो भून्मा त्वा वोचन्नराघसं जनासः ।

॥ ७ ॥

मा मा वोचन्नराघसं जनासः पुनस्ते पृश्नि जरितर्ददामि ।

स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु

॥ ८ ॥

आ त्वं स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ।

देहि तु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि

॥ ९ ॥

अर्थ—(एना रजसः परः अन्यत् एकं अस्ति) इस प्रकृतिके परे दूसरा एक पदार्थ है । और (एना एकेन परः) इस एकसे परे जो है उसके (अर्वाक् चित् दुर्णशं) उरका भी पदार्थ दुष्प्राप्य है । हे (वरुण) श्रेष्ठ देव ! (ते तत् विद्वान् प्र ब्रवीमि) तेरी वह महिमा जाननेवाला मैं कहता हूँ कि (पणयः अधो वचसः भवन्तु) कुरिखत व्यवहार करनेवाले लोग नीचे मुख करनेवाले हों, तथा (दासाः भूमिं नीचैः उपसर्पन्तु) दास भाववाले लोग भूमिपर नीचे से चलते रहें ॥ ६ ॥

हे (अङ्ग वरुण) प्रिय श्रेष्ठ प्रभो ! (त्वं हि पुनर्मधेयु) तू भी फिर धन प्राप्त करनेके व्यवसायोंमें (भूरि अवधानि ब्रवीषि) बहुत निष्ठायोग्य दोष होते हैं, ऐसा कहता है । (एतावत् पणीन् मो सु अमिभूत्) इन व्यवहार करनेवालोंको भी हानि कभी न होवे और (जनासः त्वा अराघसं मा वोचन्) लोग तुझे धनहीन भी न कहें ॥ ७ ॥

(जनासः मा अराघसं मा वोचन्) लोग मुझे धनहीन न कहें । हे (जरितः) स्तुति करनेवाले ! (ते पृश्नि पुनः ददामि) तेरी गौका मैं फिर देता हूँ । (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंके बीचमें (शचीभिः मे विश्वं स्तोत्रं वा याहि) बुद्धिओंके साथ मेरे सब स्तोत्रको प्राप्त हो ॥ ८ ॥

(ते स्तोत्राणि) तेरे स्तोत्र (विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः) सब मनुष्योंसे युक्त दिशाओंमें (उद्यतानि यन्तु) उत्तम प्रकार फैलें । (यत् मे अदत्तः) जो मुझे दिया नहीं, (तु मे देहि) वह मुझे दे । क्योंकि तू (मे सप्तपदः युज्यः सखा असि) मेरे सात चरण बलकर बने हुएके समान योग्य मित्र है ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ईश्वरका उत्तर)= इस प्रकृतिके परे एक वस्तु है, और सब अश्रित वस्तुके ठेरे भी एक दुष्प्राप्य वस्तु है । (भक्षका कथन)= हे देव ! तेरा महिमा जानकर मैं कहता हूँ कि दुष्ट व्यवहार करनेवालोंका मुख नीचे हो जावे और सब दास भाववाले भी अधोगतिको पहुँचें ॥ ६ ॥

हे श्रेष्ठ देव ! तुमने कहा है कि बारम्बार धन बढ़ानेके प्रयत्नोंमें बहुत ही दोष उत्पन्न होते हैं । इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ कि सबपर ऐसी दया कर, कि ये व्यवहार करनेवाले भी कभी हानि न उठावें और दूसरे लोग भी तुझको कंजूस न कहें ॥ ७ ॥

लोग मुझे भी धनहीन या कंजूस न कहें । हे देव ! जो गौ आदि मेरा धन है, वह सब तेरे लिये समर्पित करता हूँ । मैं चाहता हूँ कि यह तेरा स्तोत्र सर्वत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल ॥ ८ ॥

तेरे स्तोत्र जगत्के मनुष्योंमें फैल जाय । हे देव ! जो अमीतक मुझे प्राप्त नहीं हुआ वह मुझे अब प्राप्त हो, क्योंकि मैं तेरा सुयोग्य मित्र हूँ ॥ ९ ॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यज्ञविषा समा जा ।

ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखांसि

॥ १० ॥

देवो देवाय गृणते वयोषा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः ।

अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नयन्वीणं पितरं देवबन्धुम् ।

तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः

॥ ११ ॥ (१०८)

अर्थ— (वरुण) श्रेष्ठ देव । (नौ समा बन्धुः) हम दोनों समान बन्धु हैं । और (जा समा) हमारी उत्पत्ति भी समान है । (अहं तत् वेद) मैं वह भी जानता हूँ (यत् नौ पपा समा जा) कि जो हमारी यह समान उत्पत्ति है । (यत् ते अदत्तः) जो तुझे नहीं दिया है (तत् ददामि) मैं वह देता हूँ । (ते युज्यः अस्मि) तेरे योग्य मैं हूँ । तेरा (सप्तपदः सखा अस्मि) सात वरुण बलकर बना हुआ मित्र मैं हूँ ॥ १० ॥

(गृणते देवाय वयोषाः देव) स्तुति करनेवाले ज्ञानीके लिये उत्तम मेधावान् ज्ञानी है । हे (स्वधावन् वरुण) अपनी धारणाशक्तिये युक्त श्रेष्ठ देव । तू (देवयधुं पितरं अयवर्षाणं अजीजनः) देवोंके माई जैसे पालक अवर्षा योगीकी बनाता है । (तस्मा उ सुप्रशस्तं राधः कृणुहि) उसके लिये उत्तम प्रशंसनीय धन प्रदान कर । (नः सखा असि) तू हमारा मित्र है और (परमं च बन्धुः) परम बन्धु भी तू ही है ॥ ११ ॥

माधार्थ— हे ईश्वर ! हम दोनों बन्धु हैं, हमारा जन्म भी समान है । मैं जानता हूँ कि यह हमारी समानता केशी है । मैंने जो अभिलाषा तेरे लिये समर्पित नहीं किया है, वह मैं तुम्हें अब समर्पित करता हूँ । अब मैं तेरा योग्य मित्र हूँ और सखा भी हूँ ॥ १० ॥

स्तुति करनेवाले उपासकों अष्टादि देववाला तू ही एक देव है । उपासकों उत्तम ज्ञान देनेवाला भी तू ही है । हे श्रेष्ठ देव । तू ही शस्त्रोंकी उत्पत्ति करता है, और उनको धनादि पदार्थ अथवा छिद्रि देता है । तू ही हम सबका मित्र है और माई भी है ॥ ११ ॥

ईश्वर और मत्तका संवाद ।

ईश्वर और मत्तका संवाद इस सूक्तमें होनेसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है । वेदमें इस प्रकारके संवादात्मक सूक्त बहुत थोड़े हैं, इसलिये इन सूक्तोंका मनन कुछ विशेष रीतिसे करना आवश्यक है ।

इस सूक्तमें ईश्वरका नाम ' पुनर्मघ ' आया है । पुनः पुनः धन देनेवाला, जो एक बार निधन हुआ है, उसको भी पुनः धन देनेवाला, यह इस शब्दका अर्थ है । दो प्रकारसे ईश्वरकी सहायता होती है । यह बात इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें कही है—

१ पृश्नि दक्षिणां ददावान् । (मं. १)

२ त्वं मनसा अचिक्रिस्तीः । (मं. १)

' (१) परमेश्वर भूमि, गो, वाणी आदि धनोकी दक्षिणा बार-बार देता है, और (२) सबकी मनसे चिक्रिस्त करता है । ' अर्थात्

जगत्के विविध पदार्थ देकर उपभोगके अनन्त साधन प्रदान करता है, जिससे मनुष्य सुखपूर्वक इस भूमिपर रह सकता है । यह स्थूल शरीरके सुखका प्रबंध ईश्वर द्वारा होता है । इसी प्रकार सबकी मानस चिक्रिस्ता भी करता है । हर एक मनुष्यको धर्ममार्गमें प्रवृत्त करता है, उल्टे मार्गे पर लगे मनुष्योंको छेपि मार्गेपर लाता है, धर्ममार्गकी प्रेरणा करता है । इस प्रकार अनन्त रीतियाँ हैं, जिनके द्वारा वह सबका भला करता है ।

ये ईश्वरके सबपर अनन्त उपकार हैं । इस मंत्रमें ' पृश्नि ' शब्द है, जिसका अर्थ ' प्रकृति, भूमि, गो, वाणी, विया ' आदि अनेक प्रकार हो सकता है । यहाँ प्राकृतिक विश्वके उपलक्षणमें यह शब्द आया है ।

दो प्रकारके लोग ।

जगत्में दो प्रकारके लोग हैं और उनको ज्ञान देनेके भी

दो प्रकार हैं । एक प्रकारके लोग 'असुर' कहलाते हैं और दूसरे प्रकारके 'पिता हरि' कहलाते हैं । 'असुर' शब्द शारीरिक बलसे युक्त पुरुषोंका वाचक है और 'पिता हरि' का अर्थ है कि जो 'रक्षक और दुःख हरण करनेवाले' होते हैं । इनके विषयमें यह कहा है—

१ महे असुराय कथं अग्रवीः । (मं १)

२ पित्रे हरये कथं अग्रवीः । (मं १)

'(१) बड़े शक्तिशालीके लिये तुने क्या और कैसे कहा ? और (२) दूसरोंके रक्षक और दूसरोंका दुःख हरण करनेवाले मनुष्यके लिये कैसे और क्या उपदेश दिया ।' इस जगत्में कई लोग शारीरिक शक्तिके घमड़में कुछ विशेष प्रकारसे श्रद्धाधार कर रहे हैं और दूसरे लोग ऐसे हैं कि जो अपना बल परोपकारार्थ लगाते हैं और दूसरोंकी रक्षा करते हैं, और दूसरोंके दुःखोंका हरण करते हैं, इन सत्पुरुषोंको किस प्रकारका उपदेश तुने दिया है ? कई बलवान् लोग ऐसे होते हैं कि जो अपनी शक्तिका उपयोग दूसरोंकी भलाईके लिये स्वार्थसे करते हैं, परंतु कई शक्तिमान् लोग ऐसे हैं कि जो अपनी शक्तिसे दूसरोंकी सहायता निःस्वार्थ करते हैं । इन सब लोगोंको तुने किस प्रकारका उपदेश दिया है, जिससे ये विविध प्रकारकी प्रश्रुतियां लोगोंमें दिखाई देती हैं । यह आशय इस प्रथम मंत्रके प्रश्नोंका है । तु कौनोंको सब जगत्के पदार्थ अर्पण करके तथा उनको आधिप्याधिक्योका शमन करके सबका भला करता है, तथापि जनतामें ऐसी मित्र प्रश्रुतिके लोग किस कारण उत्पन्न होते हैं, यह भाव यहाँ है ।

प्रयत्नका महत्त्व ।

केवल इच्छा करनेसे ही सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, इच्छाके साथ प्रयत्नकी भी अत्यंत आवश्यकता है, यह बात विशेष रीतिसे द्वितीय मंत्रमें कही है—

न कामेन पुनर्मघो भवामि । (मं. २)

'केवल इच्छा करने मात्रसे ही पुनः धनयुक्त नहीं होता हूँ ।' अर्थात् इच्छाके साथ विशेष प्रयत्नकी भी आवश्यकता है । जो इच्छा करेगा और सिद्धिके लिये प्रयत्न करेगा उसकी ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है । नहीं तो इच्छा करनेवाला कोई मनुष्य धनहीन नहीं रहेगा । परंतु हम देखते हैं कि हर एक मनुष्य धनी बननेकी इच्छा करता है, परंतु धनी निर्धन रहते हैं और कबित्तु कोई मनुष्य धनी होता है और धनी होनेपर बहुत ही थोड़े सुखी होते हैं । इसलिये पुरुषार्थका महत्त्व विशेष ही है । यह बात—

कं संवक्षे ? (मं २)

'किससे मैं कहूँ ।' अर्थात् हर कोई मनुष्य धनी होना चाहता है, परंतु प्रयत्न करनेकी तैयारी नहीं करता । यह अवस्था होनेके कारण मंत्र कहता है कि 'केवल इच्छामात्रसे सिद्धि नहीं हो सकती, यह बात मैं किससे कहूँ ? कौन इस उपदेशको सच्ची प्रकार सुननेको तैयार है ? सुनते तो सब ही हैं, परंतु करते बहुत ही थोड़े हैं । जो प्रयत्न करते हैं वे—

पतां पुंश्चि उप आज्ञे । (मं. २)

'इस प्रकृति (भूमि, वाणी, गौ आदि) को चलाते हैं, प्राप्त करते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार उनसे कार्य लेते हैं ।' यह सब प्रयत्नसे ही साध्य होता है, परंतु जो लोग प्रयत्न तो करते नहीं और इच्छाएँ बड़ी बड़ी करते हैं, उनसे कुछ भी नहीं होता । इसलिये उक्ति चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वे सद्विच्छा धारण करें और उसकी सिद्धताके लिये जितना हो सकता है उतना प्रयत्न भी करें ।

ईश्वरका महत्त्व ।

जैसे इतर पदार्थ हैं वैसा ही ईश्वर भी है । फिर सबके ऊपर परमेश्वरका शासन कैसे हुआ, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका प्रश्न बड़ा मननीय है—

हे अथर्वन् ! त्वं केन ? केन कायेन जातेन जातवेदाः असि ? (मं १)

'हे निखल देव ! तु किस कारण निखल हुआ है और किस कामके प्रकट करनेसे जातवेद कहलाता है ?' अर्थात् तु जो निखल है और तुझ कोई भी अपने स्थानसे हिला नहीं सकता, इतनी शक्ति तेरे अन्दर किस कारण प्राप्त हुई है और तुम्हें ज्ञानका उद्गम कहेते हैं, वह भी किस कारणसे ? किस पुरुषार्थके कारण परमेश्वरका यह महात्म्य प्रसिद्ध हुआ है, परमेश्वरकी ऐसी कौनसी पुरुषार्थ शक्ति है कि जिससे परमेश्वरका ऐसा ऐश्वर्य बड़ा हुआ है ? यह प्रश्न यहाँ है । मन्त्रका यह प्रश्न ध्वज करके परमेश्वर तृतीय मंत्रमें उत्तर देते हैं—

यत् अहं घरिष्ये, (तत्) मे द्यतं न दासः कार्यः मीमाय । (मं. २)

'मैं जो नियम करता हूँ, उस मेरे नियमको दास अथवा कार्य कोई भी तोड़ नहीं सकता ।' स्वतन्त्रताकी यह दृष्टता परमेश्वरमें है, इसलिये उसका शासन सर्वतोपरि हुआ है । नियमका पालन स्वयं करना और दूसरोंसे नियमका पालन करवाना, ये कार्य आत्मशक्तिसे होते हैं । परमेश्वरसम्बन्धे अधिक

शक्तिमान् है, इसलिये वह स्वयं नियमपालन करता है और दूसरोंसे नियमपालन करवाता है और उसने अपने विश्वव्यापक राज्यमें ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि उसके नियमोंको कोई भी तोड़ न सके । ऐसा सत्तम शासन रहनेके कारण उसका अधिकार सर्वतोपरि हुआ है । यह बात परमेश्वरकी शक्तिके विषयमें हुई, अब उसके ज्ञानके विषयमें देखिये—

सत्यं, काव्येन जातेन अहं जातवेदाः आसि ।

(मं. ३)

‘यह बात सत्य है कि यह काव्य प्रसिद्ध होनेके कारण ही मैं जातवेद नामसे प्रसिद्ध हुआ हूँ ।’ जातवेदका अर्थ ‘जिससे वेद प्रसिद्ध हुए’ ऐसा है । परमेश्वरका यह निश्चित वेद जगत्में प्रसिद्ध होनेके कारण ही ईश्वरकी ज्ञानविषयमें श्रेष्ठता जगत्में प्रसिद्ध हो गई है । पहिले मंत्रभागमें उसकी शक्तिका वर्णन हुआ और प्रबंधशक्तिका भी वर्णन हुआ है । इस मंत्र भागमें उसकी ज्ञानशक्तिका वर्णन हुआ । सबसे पूर्ण और श्रेष्ठ ज्ञान परमेश्वर ही सबको देता है, जो ध्यान लगाते हैं वे उसके समाधान प्राप्त करते हैं । यह सामर्थ्य परमेश्वरका ही है । इन्हीं प्रकार परमेश्वरकी गंभीरताका भी वर्णन इसी मंत्रमें निम्नलिखित प्रकार है—

सत्यं, अहं गंभीरः । (मं. ३)

‘यह सत्य है कि, मैं गंभीर हूँ ।’ गंभीर उसको कहते हैं कि जिसकी गहराईका किसीको पता नहीं लगता । सबसे गंभीर परमेश्वर ही है, क्योंकि उसकी गहराईका पता अभी तक किसीको लगा नहीं, इतना ही नहीं, परंतु उसके द्वारा बनाई गयी यह सृष्टि है, इसकी गंभीरताका भी पता अभी तक किसीको भी लगा नहीं है । उसकी गंभीरता इतनी है । ये गुण परमात्मामें होनेसे ही परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि है ।

इस प्रकार तृतीय मंत्रमें परमात्मका साधन भवण करके मन्त्र फिर इस गुणोंका वर्णन कर रहा है—

१ त्वत् अन्यः काचितरः न । (मं. ४)

२ [त्वत् अन्यः] मेघया धीरतरः न । (मं. ४)

‘(१) तेरेसे भिन्न दूसरा कोई अधिक श्रेष्ठ कवि या ज्ञानी नहीं है, और (२) तेरेसे भिन्न बुद्धिसे अधिक बुद्धिमान् भी कोई नहीं है ।’ अर्थात् तू ही इन गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ है । क्योंकि—

त्वं ता विश्वा भुवनानि धेत्य । (मं. ४)

त्वं विश्वा जनिमा यद् । (मं. ४)

‘तू ही इन सब भुवनोंको और जन्मोंको जानता है ।’ सर्वोप पदार्थमात्रका ज्ञान तेरे अन्दर है, तेरे लिये कोई अज्ञात पदार्थ नहीं है । तू सर्वश, श्रेष्ठ कवि और विशेष ज्ञानी होनेके कारण सब लोगोंके गुणदोष तू यथावत् जानता है, इसी कारण—

मायी जनः त्वत् चिमाय । (मं. ४)

‘कुटिल मनुष्य तुझसे ढरता रहता है ।’ क्योंकि, कपटी मनुष्य यद्यपि अन्य लोगोंके साथ कपट कर सकता है, तथापि वह परमेश्वरके साथ नहीं कर सकता; क्योंकि परमेश्वर उसके कर्मोंको यथावत् जानता है, उससे छिपा हुआ कुछ भी नहीं है । इसीलिये सब छली और कपटी उस परमेश्वरसे सदा डरते रहते हैं । आहिरी तौरपर बतावें या न बतावें, परन्तु वे मनमें डरते रहते हैं । इस सर्वज्ञताके कारण परमेश्वरका शासन सर्वतोपरि हुआ है ।

पंचम मंत्रमें भी यही बात पुनः कही है कि ‘वह ईश्वर सबके जन्मोंको यथावत् जानता है ।’ फिर कौन उसके किस प्रकार छिपा सकता है ? पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है कि—

रजसः परः किम् अन्यत् अस्ति ? (मं. ५)

किं परेण अवरम् ? (मं. ५)

‘इस प्रकृतिके परे दूसरा क्या है और उसके परे भी और क्या है ?’ उत्तरमें कहते हैं—

रजसः एकं परः अन्यत् अस्ति ।

परः एकेन दुर्गंशं चित् अर्वाक् ॥ (मं. ६)

‘इस प्रकृतिके परे एक श्रेष्ठ तत्त्व है और उसके परे अविनाशी तत्त्व है ।’ यहाँ प्रकृति जीवात्मा और परमात्माका वर्णन स्पष्टतासे आया है । मनुष्यको उचित है कि वह इनको जाने और अपनी उत्पत्तिका मार्ग इनके आश्रयसे है यह निश्चित रूपसे समझे ।

धनप्राप्तिमें दोष ।

पूर्वोक्त प्रकार अध्यात्मका विषय बतानेके पश्चात् व्यवहारका योडासा उपदेश करते हैं । इहलोकका व्यवहार करनेके लिये धन बहुत चाहिये, यहाँ धन कमानेके बहुत मार्ग हैं, परन्तु—

पुनर्मंघेषु भूरी अनवधानि । (मं. ७)

‘पुनः धन कमनेमें बहुत दोष अथवा निज कर्म होते हैं’ अर्थात् दोष न करते हुए और निज कर्म न करते हुए जितना धन कमाया जा सकता है, उतना कमाना चाहिये । दोष और

निध कर्म करके जो धन कमानेका व्यवहार करते हैं, वे दण्ड-
नीय समझने चाहिये, इस विषयमें देखिये—

पणयः अधोवचसः मधन्तु । (म. १)

दासाः भूमि नीचैः उपसर्पन्तु । (म. १)

‘व्यवहारमें निध कर्म करके धन कमानेकी इच्छा करने-
वालोंका मुख नीचेकी ओर होवे । और दूसरेका घात करके
धन कमानेवाले नीच रिश्तितमें गिर जावें ।’ अर्थात् जो धन
कमाना हो, वह धर्मानुकूल व्यवहार करके कमाना जावे । और
कोई मनुष्य निध व्यवहार और घातपात करके धन कमानेका
यत्न न करे ।

इस मंत्रभागमें ‘पणि’ शब्द है, इसका अर्थ ‘कय विक्रय
करनेवाला बनिया’ है । पणि शब्दमें कोई वस्तुतः बुरा भाव
नहीं है । परंतु पाठक जानते ही है कि बनियोंमें शुद्ध धर्मा
नुसार व्यवहार करके धन कमानेकी इच्छा करनेवाले बहुत थोड़े
होते हैं, और जैसी मर्जी चाहे बुरा भला व्यवहार करके शीघ्र
धनी होनेकी इच्छा करनेवाले ही बहुत होते हैं । इसलिये एक
मंत्रभागमें जिन (पणियों) बनियोंकी नीचे मुख करनेका
आप दिया है, वे दुष्ट व्यवहार करनेवाले हैं । इसी प्रकार
‘दास’ शब्दका धातवर्ष ‘क्षय करनेवाले, घातपात करनेवाले’
ऐसा होता है । दूसरोंकी लूटमार करके धनी होनेवाले यह अर्थ
इस मंत्रमें दास शब्दसे लेना योग्य है । इन सब क्रूरचित्त व्यव-
हार करनेवालोंकी अन्तमें दुर्दशा होती है, इसलिये धर्ममार्गसे
सत्तम व्यवहार करके धनी बननेका प्रयत्न सब लोग करें, यह
सुपदेश यही है । इतना होनेपर भी—

एतावतः पणीन् मा सु अभि भूत् । (म. ४)

‘बनियोंकी भी लुकसान न होवे ।’ अर्थात् वे भी धर्मान-
नुकूल व्यवहार करके योग्य लाभ अवश्य कमावें । जबतक धर्मा-
नुकूल व्यवहार वे करें तब तक उनको कोई रुकावट न
होवे, परंतु फिर स्वयं वे धर्मनिराकरण करने करें, तब ही
उनको बुरा किया जावे । हरएक व्यवहार करनेवाले लोग इस
सुपदेशके अनुसार अपना व्यवहार करें और धनी बनें ।

आगे अष्टम और नवम मंत्रमें ‘परमेश्वरका स्तोत्र अर्थात्
ईशमणिक सब लोगोंमें फैले’ यह इच्छा प्रकट की है, इसका
अर्थ यही है कि, सब लोग एक ईश्वरकी भक्तिसे रगे जावेंगे, तो
उनमें बुराईका व्यवहार करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नहीं होगी
और सब लोग सत्तम रीतिसे धर्मानुकूल चलेंगे । ईशभक्तिसे
मनुष्यका जीवन ही पवित्र होता है ।

ईश्वरका सखा ।

हरएक मनुष्यको ऐसा विश्वास होना चाहिये कि मैं परमे-
श्वरका मित्र हूँ । जो धार्मिक भक्त होते हैं, उनमें ही यह भाव
हो सकता है—

१ मे युज्यः सप्तपदः सखा असि । (म. १)

२ ते युज्यः सप्तपदः सखा असि । (म. १०)

३ सखा नः असि । वंशुः च असि । (म. ११)

‘ईश्वर मेरा मित्र और बन्धु है ।’ वस्तुतः जांबाभा और
परमारा परस्पर मित्र, बंधु और एक दूसरेपर रहनेवाले दो
पक्षियोंके समान परस्पर सख्य करनेवाले हैं । परंतु कितने लोग
ऐसे हैं कि जो इस मित्रताका अनुभव करते हैं, इसका विचार
किया जाय तो पता लगेगा कि बहुत ही मनुष्योंने इस मित्रताको
भुला दिया है । ईश्वरके साथ जीवित और जाग्रत मित्रताका
संबंध रखनेवाले कश्चित् कोई सन्त मईत होते हैं, शेष लोग
इस मित्रताके संबंधको भूले हुए होते हैं । यह ईशमित्रताका
संबंध जितने अन्तःकरणोंमें जाग्रत हो जाय उतना अच्छा है ।
जिनमें यह सबध जाग्रत होता है वे ही—

देहि नु मे यत् मे अदत्त । (म. १)

वदामि तत् यत् ते अदत्त । (म. १०)

‘दे मुझे वह जो अर्मातक नहीं दिया है । मैं तुम्हें वह देता
हूँ कि जो तुम्हें अर्मातक नहीं दिया है ।’ यह भक्त और
ईश्वरका वार्तालाप तब प्रत्यक्ष हो सकता है कि जब मनुष्य
ईश्वरकी अपना मित्र अनुभव करेगा । जो अर्मातक दी नहीं
गई ऐसी वस्तु ‘मोक्ष’ ही है जो इस समय भक्त मांगता है
और परमेश्वर भी देता है । परमेश्वरसे प्राप्त होनेवाला यह
अन्तिम दान है जो भक्तकी सबसे अन्तमें प्राप्त होता है ।

यज्ञ ।

(१२) ऋतस्य यज्ञः ।

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — जातवेदाः ।)

समिद्धो अथ मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः ।

आ च वह मित्रमहश्चिक्त्वान्त्वं दूतः कविरेसि प्रचेताः ॥ १ ॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वां समञ्जस्त्वं दया सुजिह्व ।

मन्मानि धीभिरुत यज्ञमुन्धन्द्वेवशा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्वा याज्ञमे वसुभिः सजोषाः ।

त्वं देवानामसि यह्य होता स र्णान्यक्षीपितो यजीयान् ॥ ३ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्वाम् ।

व्युप्रथते चितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

अर्थ — हे (जातवेदः) ज्ञान प्रकाशक देव । (अथ मनुषः दुरोणे समिद्धः देवः) आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ तू देव (देवान् यजसि) देवोंका यजन करता है । हे (मित्रमहः) मित्रके समान पूज्य देव । तू (चिक्त्वान्) आ चह च) ज्ञानवान् तनको यहाँ ला । (एवं कविः प्रचेता दूतः असि) तू कवि और विशेष ज्ञानी दूत है ॥ १ ॥

हे (तनू-न-पात् सुजिह्व) शरीरको न गिरानेवाले और उत्तम जिह्वावाले देव । (ऋतस्य यानान् पथः मध्वा समञ्जस् स्वदय) सत्यके चलने योग्य मार्गोंको मधुरतासे युक्त करता हुआ स्वादयुक्त कर । (धीभिः मन्मानि) बुद्धि-योंसे मननीय विचारोंको (उत यज्ञ ऋध्वन्) और यज्ञको सिद्ध करता हुआ (देवश्वा नः अध्वरं च कृणुहि) देवोंके मध्यमें हमारा अहिंसामय कर्म पूर्ण कर ॥ २ ॥

हे भग्न ! (आजुह्वानः ईड्यः वन्द्यः च) हवन करनेवाला स्तुति और वन्दन करने योग्य तू (सजोषाः वसुभिः आ याहि) त्रेमसे वसुओंके साथ आ । हे (यह्य) पूज्य । (एवं देवानां होता असि) तू देवोंका आह्वान करनेवाला है । (सः इपितः यजीयान् एनान् याक्षि) वह इष्ट और याज्ञक तू इनका यजन कर ॥ ३ ॥

(अह्वाम् अग्रे) दिनके प्रथम भागमें (अस्याः पृथिव्याः प्रदिशा) इस पृथ्वीको दिशासे (वस्तोः बर्हिः प्राचीनं आ वृज्यते) आच्छादनके लिये तुणादि पूर्व दिशाके अभिमुख फैलाया जाता है । यह आसन (चितरं वरीयः) विस्तृत और श्रेष्ठ (देवेभ्यः अदितये स्योनं) देवोंके लिये तथा स्वर्गताके लिये सुखदायक (उ विप्रथते) फैलाया जाता है ॥ ४ ॥

भाषार्थ — आज मनुष्यके घरमें प्रदीप्त हुआ अग्निदेव देवोंके लिये यज्ञ करता है और उनको यहाँ लाता है । यह मित्रके समान पूज्य, ज्ञानी, कवि, उत्तम चित्तवाला देवोंका दूत है ॥ १ ॥

शरीरको न गिरानेवाला और मधुर भाषी देव सत्यको पहुँचानेवाले मार्गोंको माधुर्ययुक्त करता है । उत्तम मननीय विचारोंसे यज्ञको सिद्ध करके देवोंके बीचमें हमारा यज्ञ पहुँचता है ॥ २ ॥

उत्तम हवन करनेवाला, स्तुति योग्य और नमस्कारके लिये योग्य तू देव वसुओंके साथ यहाँ इस यज्ञमें आ । तू देवोंको गुलानेवाला है । इसलिये तू याज्ञकोंमें उत्तम याज्ञक उन देवोंको यहाँ ले आ ॥ ३ ॥

रात कालमें ही इस पृथिवीको आच्छादित करनेके लिये पूर्वदिशाकी ओरसे आसन फैलाते हैं । यह विस्तृत और उत्तम आसन सब देवोंके बैठनेके लिये सुखदायक है और यह स्वर्गताके लिये भी उत्तम है ॥ ४ ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुभममानाः ।

देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

आ सुध्वयन्ती यजते उपाके उपासानक्ता सदतां नि योनौ ।

दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधानि ॥ ६ ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्वै ।

प्रचोदयन्ता विदयेषु कारु प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्तां ॥ ७ ॥

आ नो यज्ञं भारती तृपमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।

तिस्रो देवीर्बहिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

य इमे घावापृथिवी जनित्री रूपैरपिशद् भुवनानि विशां ।

तमद्य होतरिपितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

अर्थ— (शुभममाना जनयः पतिभ्यः न) सोमायमान क्रिया जिस प्रकार पतियोंका आदर करती हैं उस प्रकार (व्यचस्वती उर्विया) विस्तृत और महान् (बृहतीः विश्वं इन्वाः) बड़े और सबको प्राप्त करनेवाले (देवीः द्वारः) वे दिव्य द्वारों ! (देवेभ्यः सुप्रायणाः भवत) देवोंके लिये सुखसे आने आने योग्य होवें ॥ ५ ॥

(सुध्वयन्ती यजते उपाके) उत्तम चलनेवाली यज्ञनीय और समीपस्थित (दिव्ये योषणे) दिव्य और घेवनीय (बृहती सुरुक्मे) बड़ी सुन्दर (शुक्रपिशं श्रियं अधि दधानि) शुद्ध सोमाको धारण करनेवाली (उपासानक्ता योनौ नि आ सदताम्) दिन और रात्री हमारे घरमें आवे ॥ ६ ॥

(प्रथमा सुवाचा दैव्या होतारा) पहिले, सुन्दर बोलनेवाले दोनों दिव्य होता (मनुषः यज्ञं यजध्वै मिमाना) मनुष्योंके यज्ञमें यज्ञन करनेके लिये निर्माण करनेवाले (विदयेषु प्रचोदयन्ता कारु) यज्ञोंमें प्रेरणा करनेवाले कर्मकर्ता (प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्तां) प्राचीन ज्योतिको उसकी दिशासे बताते हैं ॥ ७ ॥

(भारती नः यज्ञं तृपे आ एतु) सबका भरण करनेवाली मातृभूमि हमारे यज्ञमें बलके साथ आवे । (इडा मनुष्यत् यज्ञं चेतन्ती इह) मातृभाषा मनुष्योंके पुष्क यज्ञकी चेतना देती हुई यहाँ आवे । (सरस्वती सु-अपसः आ सदन्तां) मातृसम्भवा उत्तम कर्म करनेवालोंके पास बैठे और ये (तिस्रः देवीः इदं स्योनं यजिहः) तीनों देवियाँ इष्ट उत्तम आद्यनपर आकर विराजें ॥ ८ ॥

(इमे जनित्री घावापृथिवी) इन उत्पन्न करनेवाली सु और पृथिवीमें (विश्वा भुवनानि रूपैः यः अपिशत्) सब भुवनोंको विविध रूपोंसे रूपवान् जिसने बनाया है । वे (होतः) यात्रक ! (यजीयान् इयितः विद्वान्) यज्ञ करनेवाला इष्ट विद्वान् तू (अद्य इह त देवं त्वष्टारं यक्षि) आज यहाँ उस त्वष्टा देवके लिये यज्ञन कर ॥ ९ ॥

भाषार्थ— क्रिया जिस प्रकार पतियोंके सुख देती हैं उस प्रकार ये हमारे दिव्य दरवाजे, जो विस्तृत बड़े और सबको आने जानेके लिये योग्य हैं, वे देवोंकी सुखपूर्वक अन्दर लानेवाले हैं ॥ ५ ॥

उत्तम गमन करने योग्य, एक दूसरेके साथ सम्बन्धित, दिव्य और सुन्दर प्रातःकाल और रात्रिका समय सुखपूर्वक हमारे घरमें आते ॥ ६ ॥

ये सुन्दर संप्रदान करनेवाले दिव्य होतावन मनुष्योंका यह यज्ञ पूर्ण करनेके लिये पूर्वदिशाकी ज्योतिका संदेश देते हुए, सबको प्रेरणा करनेके लिये यहाँ आवें ॥ ७ ॥

हमारे इस यज्ञमें सबका पोषण करनेवाली मातृभूमि, यज्ञकी प्रेरणा करनेवाली मातृभाषा और उत्तम कर्मकी प्रेरणा करनेवाली प्रवाहसे प्राप्त मातृसम्भवा यहाँ आकर इस यज्ञमें विराजें ॥ ८ ॥

उपावसृज तमन्या समञ्जन्देवानां पाथं ऋतुथा हवींषि ।

वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन

॥ १० ॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः ।

अस्य होतुः प्रशिष्युतस्य चाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः

॥ ११ ॥ (११९)

अर्थ—(तमन्या समञ्जन्) स्वयं प्रकट होता हुआ तू (देवानां पाथः हवींषि ऋतुथा उप अथ सृज) देवोंके लिये अन्न और हवन ऋतुके अनुसार दे । (वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः) वनस्पति, शान्तिकर्ता अग्निदेव (मधुना घृतेन हव्यं स्वदन्तु) मधुर घृतके साथ हव्यका स्वाद देवे ॥ १० ॥

(सद्यः जातः अग्निः यज्ञं वि अमिमीत) शीघ्र प्रकट हुआ अग्नि यज्ञका निर्माण करता है । वह (देवानां पुरोगाः अभवत्) वह देवोंका अग्रगामी होता है । (अस्य ऋतस्य होतुः प्रशिष्य चाचि) इस सत्य प्रवर्तक होनाकी प्रकट वाचनवाली वाणीमें (स्वाहाकृतं हविः देवा अवन्तु) स्वाहाकार द्वारा दिया हुआ हव्य देव खावें ॥ ११ ॥

मावार्थ—जो सब भूतोंकी विविध रूप देवी है वे दोनों यावापृथिवी हैं । हमारा याज्ञक त्वष्टा देवका यही यजन करे ॥ १० ॥ स्वयं यही प्रकट होकर सब देवोंकी ऋतुओंके अनुसार हवि और अन्न दे । वनस्पति, शमिता, और देव अग्नि ये सब हमारी हवि और घृत मीठेसे युक्त करें ॥ १० ॥

प्रचलित आग्नि यही हमारा यज्ञ निर्माण करता है । यह देवोंका अग्रणी है । इस होता अग्निकी वाणीमें अर्थात् मुखमें स्वाहाकारपूर्वक काला हुआ हवि सब देव खावें ॥ ११ ॥

यजमानकी इच्छा ।

यजमान अपने घरमें यज्ञ अथवा होम करता है, उस समय उसके मनमें जो विचार होने चाहिये वे इस सूक्तमें बड़े सुन्दर वर्णनके साथ दिये हैं । घरमें कोई धर्मकृत्य, धर्मका कोई संस्कार, करनेके समयमें ये विचार यजमानकी मनमें धारण करने योग्य हैं—

(१) यह मेरे घरमें प्रदीप्त किया हुआ यज्ञीय अग्नि निःसंदेह सब देवताओंका यजन करता है । वह निःसंदेह सब देवोंकी यज्ञस्थानमें ले आता है, क्योंकि वह देवोंकी बुलानेवाला, और हवि उनको पहुँचानेवाला प्रत्यक्ष देवदूत ही है ।

(२) यह उत्तम जिज्ञावाला अग्निदेव सबको पहुँचानेवाले धर्ममार्गपर मोठे पाथेय देनेवाला है । यह यही आता है, उत्तम स्तोत्रोंसे यज्ञ करता है, और अहिंसामय कर्मोंकी देवोंतक पहुँचा देता है ।

(३) हे अग्नि ! पृथिव्यादि आठ वसु देवोंकी तू यही इस यज्ञमें ला । तू बंदनीय और प्रशसनीय देव है । तू देवोंकी यही बुलानेवाला है, इसलिये देवोंको यही बुलाकर उनके लिये यजन कर ।

(४) हमने प्रातःकालसे ही देवताओंके सुखापूर्वक बैठनेके लिये पूर्वोद्दिष्टके सम्मुख आसन फैलाकर रखे हैं । देव यही आवें और सुखापूर्वक यही विराजें ।

(५) हमारे घरके द्वार पूर्णतया खोलकर रखे हैं, इनमेंसे देव सुखापूर्वक आवें और इस यज्ञमें मंगल करें ।

(६) सोमरेसे सायंकालतकका समय शोभन और तेजस्वी है, यह सब समय उत्तम आनन्दकारक रीतिसे हमारे घरमें बीते आया है हमारे लिये यह समय सुख देनेवाला होवे ।

(७) दिव्य होतागण हमारे यज्ञमें आ जाय, मनुष्योंके बुलावे, उत्तम प्रकार यज्ञ कर्म करें और इस यज्ञसे प्रकाशका मार्ग सबको बतावें ।

(८) इस यज्ञसे सबका भरणपोषण करनेवाली मातृभूमिका संस्कार हो, यही मातृभाषा सबको उत्तम प्रेरणा देवे, प्रवाहसे प्राप्त सभ्यता उत्तम कर्मकी प्रेरणा करे । इस प्रकार ये तीनों देवियों इस यज्ञमें आकर कार्य करें ।

(९) ये यावापृथिवी हैं, इनके कारण ही सब स्थिर वर पदार्थ रूपसे संपन्न हुए हैं । इनके बीचमें यह यज्ञ चल रहा है, अतः इस यज्ञमें सबको आकार देनेवाले त्वष्टा देवके लिये हवन अवश्य होवे ।

(१०) यज्ञकी अग्निधार, अग्नि और हवन सामग्री घीसे युक्त होवे, हवन सामग्रीमें मीठा मिलाया जावे । और ऋतुओंके अनुकूल देवोंके निमित्त हवन होता रहे ।

(११) अग्नि प्रदीप्त होते ही यज्ञका प्रारम्भ होता है, और देव भी उस यज्ञ स्थानमें आते हैं । इस अग्निमें स्वाहाकारपूर्वक

किया हुआ हवन सब देव खाते हैं और तृप्त होते हुए हमारा कल्याण करते हैं ।

इस प्रकार यज्ञमान अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करता है । जिस यज्ञमानके मनमें विश्वासपूर्वक ये बातें रहती हैं और जो स्वयमुच समझता है कि इस यज्ञकर्ममें सब देवताएं भाग लेती हैं और मनुष्यका कल्याण करती हैं, वही यज्ञमान वैदिक कर्मोंसे आध्यात्मिक लाभ उठा सकता है । अविश्वासीके उदारका कोई मार्ग नहीं है ।

इस सूक्तके कथनानुसार पाठक स्वयं जान सकते हैं कि सामग्री कैसी सिद्ध करनी चाहिये । यज्ञर्षी विधि जाननेके लिये भी इस सूक्तके मननसे बहुत लाभ हो सकता है ।

अग्निका नाम इस सूक्तमें 'तनु न-यात्' आया है । इसका अर्थ है 'शरीरको न गिरानेवाला' अर्थात् शरीरको बचानेवाला । इस शरीरमें अग्नि शरीरको बचाता है यह बात इस मन्त्रमें स्पष्ट कही है । पाठक स्थूल दृष्टिसे भी विचार करेंगे,

तो उनको पता लग जायगा कि मृत मनुष्यका शरीर ठण्डा हो जाता है और जीवित मनुष्यके शरीरमें उष्णता रहती है । इस अनुभवसे भी पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरका चला नवाना अग्नि है । अग्नि चलकर यहाँ तनूनयात् शब्द आत्माका बाचक हो जाता है और आत्मा शरीरका बालक है यह बात सब जानते ही हैं ।

जो यज्ञ अग्निमें किया जाता है उसका नाम अघ्नर है, यह बात द्वितीय मन्त्रमें कही है । अ-घ्नरका अर्थ 'अ-हिंसा' है अथवा 'अ-क्रुडिलता' भी है । अर्थात् यज्ञका अर्थ अहिंसा युक्त और क्रुडिलता रहित कर्म है । मनुष्यको इस प्रकारके ही कर्म करने चाहिये । परन्तु कई मनुष्य यज्ञक नामसे हिंसामय कर्म करते हैं, और आश्चर्यकी बात ता यह है कि ये उस हिंसाको भी अहिंसा मानते हैं । इससे अर्थका अनर्थ न हो तो और क्या हो सकता है ? अस्तु ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक उचित बोध प्राप्त करें ।

सर्पविष दूर करना ।

(१३) सर्पविषनाशनम् ।

(ऋषिः — गरुत्मान् । देवता — तक्षक, विषम् ।)

तुदिहिं मह्यं वरुणो दिवः कुर्विर्वचोमिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम् ।

खातमखातमुत सक्तमग्रममिरेव धन्वाग्नि जज्ञास ते विषम्

॥ १ ॥

यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्त्रयमम् ।

गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतायमं मियसां नेशदाहुं ते

॥ २ ॥

अर्थ—(दिवः कविः वरुण हि मह्यं दादिः) शुक्रोक्तके कवि वरुणने मुझे उपदेश दिया है कि (उग्रै चक्षोभि ते विपे नि रिणामि) बलवान् चक्षुनेके द्वारा तेरा विष दूर करता हू । (खातं अखात उत सक्त) घाव अधिक खुदा हुआ हो, न खुदा हुआ हो अथवा विष केवल उपर चिपका ही हुआ हो, इस सब विषको (अग्रमं) मैं लेता हू । (धन्वन् इरा इव) रेतली स्थानमें जिस प्रकार जलधारा नष्ट होती है उस प्रकार (ते विपे नि जज्ञास) तेरा विष नि शय नष्ट करता हू ॥ १ ॥

(यत् ते अप-उदकं विष) जो तेरा जलशोषक विष है (तत् ते एतासु अग्रम) वह तेरा विष इनमें लेता हू । (ते उत्तम मध्यमं उत अवम रसं गृह्णामि) तेरा उत्तम, मध्यम और नीचेवाला रस पकड़कर लेता हू । आ (यात् उ ते मियसा नेशात्) तेरे मयसे नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—(दिव्य ज्ञानी कहता है कि बलशाले बचनोंसे सर्पका विष दूर होता है । विष गहरे घावमें घसा हो, छेदे घावमें घसा हो अथवा केवल ऊपर ही ऊपर चिपका हो । उसको मैं पकड़ता हू और नि शेष करता हू ॥ १ ॥

वृषा मे रवो नमस्ता न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आर्दु ते ।

अहं तमस्य नृभिरग्रमं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम् ।

अहं म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगम्येतु त्वा विषम् ॥ ४ ॥

कैरात पृश्न उपतृष्य बध्नो आ मे मृणुतासिता अलीकाः ।

मा मे सख्युः स्तामानमपि घाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम् ॥ ५ ॥

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपौदकस्य च ।

सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव घन्वन्तो वि मुञ्चामि रथौ इव ॥ ६ ॥

आलिङ्गी च विलिङ्गी च पिता च माता च । विश्व वः सर्वतो घन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥ ७ ॥

अर्थ—(मे रवः नमस्ता तन्यतुः न वृषा) मेरा शब्द आकाशकी गर्जनाके समान बलवान् है । (उग्रेण वचसा आत् उ ते ते बाधे) बलवाले वचनोंसे निश्चयपूर्वक तुझे तुझे ही बाधा करता हूँ । (अहं नृभिः अस्य तं रसं अग्रमं) मैंने मनुष्योंके साथ इसके उस रसको लिया है । (तमसः ज्योतिः सूर्यः इव उदेतु) अन्धकारसे ज्योति देनेवाले सूर्यके समान यह उदयको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(चक्षुषा ते चक्षुः हन्मि) आँखसे तेरे आँधका नाश करता हूँ । (विषेण ते विषं हन्मि) विषसे तेरा विष नष्ट करता हूँ । हे (अहं म्रियस्व, मा जीवीः) सूर्य ! तू मर जा, मत जीता रह । (विषं त्वा प्रत्यक् अम्येतु) विष तेरे प्रति लौटकर आ जावे ॥ ४ ॥

हे (कैरात, पृश्ने, उपतृष्य, बध्नो, असिताः, अलीकाः) जंगलमें रहनेवाले, घन्धेवाले, घासमें रहनेवाले, भूरे रंगवाले, कृष्ण और निदनीय सर्पों ! (मे आ मृणुत) मेरा माषण घुनो । (मे सख्युः स्तामानं अपि मा स्यात्) मेरे मित्रके घरके पास मत ठहरो । (आश्रावयन्तः विषे नि रमध्वं) सुनाते हुए दूर अपने विषमें ही रमते रहो ॥ ५ ॥

(असितस्य) कृष्ण (तैमातस्य) गीले स्थानपर रहनेवाले (बध्नो) भूरे रंगवाले (अप-उदकस्य) जलसे दूर रहनेवाले और (सात्रासाहस्य मन्योः) सबको पराजित करनेवाले कोधी सर्पके विषबाधाको मैं (वि मुञ्चामि) ढीला करता हूँ, जिस प्रकार (घन्वन्तः ज्यां इव, रथान् इव) घनुष्यसे घोड़ी और रथोंके बंधनोंको ढीला करते हैं ॥ ६ ॥

(आलिङ्गी च विलिङ्गी च) चिपकनेवाली और न चिपकनेवाली (पिता च माता च) तथा नर और मादा (च यन्धु सर्वतः विश्व) तुम्हारे सबके बंधुओंको भी हम सब प्रकारसे जानते हैं । (अरसाः किं करिष्यथ) तुम नाराय होने पर क्या करोगे ? ॥ ७ ॥

भाचार्य—सर्प विष शोषक है । उसको ऊपर मध्यभागमें और नीचेके भागमें पकड़ लेता हूँ और सर्पविषके मयसे तुम्हें दूर करता हूँ ॥ २ ॥

मेरा शब्द प्रभावशाली है, उससे विषकी बाधा दूर करता हूँ । मैं अन्य मनुष्योंको सहायतासे विषके रसको स्तम्भित किया है, अब यह सूर्यउदयके समान भाग उठेगा ॥ ३ ॥

विषसे विष दूर करता हूँ । हे सूर्य ! अब तू मर जा, जीवित न रह । तेरा विष लौटकर तेरे प्रति जावे ॥ ४ ॥

जंगलमें रहनेवाले, घन्धेवाले, घासमें रहनेवाले और भूरे रंगवाले, काल और घृणित ऐसे सर्प होते हैं । हे सब सर्पों ! मेरे मित्रके घरके पास न ठहरो । दूर कहीं आकर अपने विषके साथ रमो ॥ ५ ॥

कृष्ण, गीले स्थानपर रहनेवाले और भूरे रंगवाले, जलस्थानसे दूर रहनेवाले और कोधी सर्पकी विषबाधाको मैं दूर करता हूँ । घनुष्यपरसे घोड़ी उतारनेके समान मैं दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

विषकी बाधकता नष्ट होनेपर सर्पोंका नर या मादा क्या हानि करेगा ? ॥ ७ ॥

उरुगुलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या । प्रतङ्गं दद्रुपीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥
 कर्णां श्वाचित् द्रवीद्विरैरवचरन्तिका । याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥
 तावुवं न तावुवं न घेत्त्वमसि तावुवंम् । तावुवेनारसं विषम् ॥ १० ॥
 तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवंम् । तस्तुवेनारसं विषम् ॥ ११ ॥ (१३०)

अर्थ— (उरु-गुलाया दुहिता जाता) बहुत हिंसक सर्पिणीको दुहिता (असिक्न्या दासी) कृष्णसर्पिणीको दासी हो गई है । इन (दद्रुपीणां सर्वासां) दाद पैदा करनेवाली सब सांभिणियों (प्रतङ्गं विषं अरसं) बड़ा दायक विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

(कर्णां श्वाचित्) कानवाली साहो (गिरेः अवचरन्तिका) पहाड़के नीचे घूमनेवाली (तत् अश्वीत्) बंद बोली (याः काः च इमा खनित्रिमाः) जो कोई ये भूमिको खोदकर रहते हैं, (तासां विषं अरसतमं) उनका विष नीरस होवे ॥ ९ ॥

(तावुवं न तावुवं) तावुव हिंसक नहीं है । (एवं तावुवं न घ इत् असि) तू तावुव तो हिंसक निःसंदेह नहीं है । (तावुवेन विषं अरस) तावुवके द्वारा विष नीरस होता है ॥ १० ॥

(तस्तुवं न तस्तुवं) तस्तुव भी नाशक नहीं है । (एवं तस्तुवं न घ इत् असि) तू तस्तुव तो नाशक निःसंदेह नहीं है । (तस्तुवेन विषं अरसं) तस्तुव द्वारा विष नीरस होता है ॥ ११ ॥

भाषार्थ— हिंसक, कृष्णसर्पिणी, और दाद उत्पन्न करनेवाली सांभिणोंका विष नीरस होवे ॥ ८ ॥

सब पहाड़ी सर्पोंका विष शरारित हो जावे ॥ ९ ॥

तावुव और तस्तुव नामक पदार्थ विशेषसे सर्पोंका विष निर्मल होता है ॥ १०-११ ॥

सर्प विष ।

इस सूक्तमें निम्नलिखित सर्पजातियोंका वर्णन है—

- १ कैराता— गोल जहाँ रहते हैं उस अंगलमें रहने-वाला सर्प,
- २ पुष्टि— घन्कोवाला सर्प,
- ३ उपतृण्य— घासमें रहनेवाला सर्प,
- ४ बभ्रु— भूरे रंगवाला सर्प,
- ५ असित— काले रंगवाला सर्प,
- ६ अलीकः— अमंगल सर्प,
- ७ तैमातः— गोल प्रदेशमें रहनेवाला सर्प,
- ८ अपोदकः— जो जलेक पास नहीं रहता,
- ९ सात्रासाहः— इसके संबंधमें आनेवालेका नाश करनेवाला सर्प,
- १० मय्युः— क्रोध धारण करनेवाला सर्प,
- ११ आलिगी— चिपकनेवाली अर्थात् शरीरको लपेटने-वाली सांभिण,
- १२ विलिगी— शरीरसे दूर रहनेवाली सांभिण,
- १३ उरु-गुला— जिसका निम्न प्रदेश बड़ा होता है,

१४ असिक्नी— काली सांभिण,

१५ दद्रुपी— जिस सांभिणके काटनेसे शरीरपर दाद उठता है और दादसे रक्त निकलता है ।

१६ कर्णा— कानवाली सांभिण,

१७ श्वाचित्— कुत्ता जिसको काटता है, कुत्ता जिसको हँदकर निकलता है ।

१८ खनित्रिमा— खोदी हुई भूमिमें रहनेवाली सांभिण, इसनी सांभिणी जातियोंके नाम इस सूक्तमें हैं । इनमेंसे दो तीन नामोंके विषयमें हमें संदेह है और उनके ज्ञान निश्चित करनेके लिये अभी बहुत खोजकी अपेक्षा है ।

उपाय ।

सर्पविषको बाधापर ' तावुव और तस्तुव ' का उपाय इस सूक्तके अन्तिम दो मंत्रोंमें लिखा है । परन्तु ये पदार्थ क्या हैं इसका ज्ञान खोज करनेपर भी अभीतक हमें महीं हुआ । संभव है कि ये कुछ औषधी, खनित्र पदार्थ या परपर जैसे पदार्थ अथवा मणि हों । संभव है ये सर्पविषकोके मस्तकमें मिलनेवाले मणिबोंके नाम हों । कुछ निश्चयसे नहीं कहा जा सकता । इस विषयमें खोज करनेकी आवश्यकता है ।

दूसरा उपाय तीन स्थानपर बध लगाकर विषकी गतिको रोकना है—

गृह्णामि ते मध्यमं उत्तमं अवमम् ।

पतासु विषं अभ्रमम् ॥ (मं २)

‘ऊपर, मध्यमें और नीचे रखसि बांधके, इनमें विषको पकड़ लेता हूं ।’ यह विधि इस प्रकार है । प्रायः हाथ या पांवकी सांग काटता है । जहां काटता है वहांसे विष ऊपर बढता है, इसलिये काटते ही अंधाके मूलमें, सुटनेपर तथा कटे स्थानसे किंचित ऊपर रखीसे बांध देनेसे विषकी ऊपर आनेकी गति रुक जाती है । इस प्रकार विषकी गति रोककर फिर जहां-तक विष गया हो, वहांपर लफ पदार्थोंका प्रयोग करनेसे विष निःसरव हो जाता है ।

परन्तु ‘तावत् और तस्वत्’ पदार्थ प्राप्त न होनेकी अवस्थामें यह उपाय कैसे किया जाय यह एक शंका है ।

जहांतक भ्रमनीमें विष पहुंचा होता है, वहांके बाल खड़े नहीं रहते, इसलिये बालोंको देखनेसे पता लगता है कि यहां तक विष आया है । अतः विष जहां है वहां जलता अमि रखकर वह स्थान जला दिया जाय तो मनुष्य बच सकता है । परन्तु यह बात इस सूक्तमें कहीं नहीं है ।

यह सूक्त दुर्बोध है । इसलिये कई मंत्रोंका अर्थ भी ठीक प्रकार समझमें नहीं आया है, इस कारण मंत्रोंका विवरण भी अधिक नहीं हो सकता ।

इस सूक्तके कई मंत्र ऐसे हैं कि मंत्रसामर्थ्यसे सांपको कुछ

कड़नेके समान भाषा उसमें है । जैसा—

प्रत्यक् अभ्येतु ते विषम् । (मं. ४)

अहो ! स्त्रियस्व । (मं. ४)

‘हे सांप ! तेरा विष लौटकर तेरे पास आवे । हे सर्प ! तू मर जा ।’ तथा—

मे सख्युः स्तामानं मा अपि द्याः । (मं. ५)

‘मेरे मित्रके घरके पास न ठहर ।’ इत्यादि-मंत्र पढ़नेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रप्रभाव, अथवा कड़नेवालेकी इच्छा-शक्तिके प्रभावसे सर्पपर कुछ परिणाम होता है । हमने ‘स्वयं’ असीतक देखा नहीं है, परन्तु बहुत लोग कहते हैं कि महा-राष्ट्रमें ऐसे मानिक हैं कि जो सर्प द्वारा दंशित मनुष्यके पास उस काटनेवाले सांपको बुलाते हैं, और उससे प्रणसे सब विष सुखवा लेते हैं । और इस प्रकार सर्पका विष शरीरसे बाहर हो जाने पर वह मनुष्य जाग्रत होनेके समान उठता है । तृतीय मंत्रके अन्तिम चरणमें ‘अन्धकारसे सूर्य उदय होनेके समान यह मनुष्य जाग उठे’ (मं. ३) ऐसा कहा है । संभव है कि इस प्रकारका कुछ भाव ही इसमें हो ।

यह सर्पदंशका विषय अत्यंत महत्त्वका है और इसलिये सब प्रकारके उपचारोंकी बड़ी खोज करनी चाहिये और निश्चय करना चाहिये कि कौनसा उपाय निश्चित गुणकारी है ।

इस प्रकारसे सूक्त गूढ़ आशय होनेके कारण बड़े दुर्बोध होते हैं और इसी कारण इस विषयकी सुबोध करनेके लिये बहुत खोजकी अपेक्षा होती है ।

घातक प्रयोगको लौटाना ।

(१४) कृत्याप्रतिहरणम् ।

(क्रयिः — शुक्रः । देवता — घनस्पतिः, कृत्याप्रतिहरणम् ।)

सुपर्णेस्त्वान्वेविन्दत्स्रुकरस्त्वोखनन्नसा । दिप्तौपधे त्वं दिप्तस्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

अवं जहि यातुधानान्वं कृत्याकृतं जहि । अथो यो अस्मान्दिप्तं तमु त्वं जह्योपधे ॥ २ ॥

अर्थ— (सुपर्णः त्वा अन्वविन्दत्) गरुडेने तुझे प्राप्त किया और (स्रुकरः त्वा नसा अखनन्त्) स्रुकरने तुझे अपनी नाथिकासे खोदा है । हे औपधे । (त्वं दिप्तस्तं दिप्त) तू नाशकका नाश कर और (कृत्याकृतं अवजहि) हिंसा करनेवालेकी मार बाल ॥ १ ॥

(यातुधानान्वं अवजहि) यातना देनेवालोंकी मार बाल । (कृत्याकृतं अवजहि) काटनेवालेकी मार बाल । (अथो यः अस्मान् दिप्तं) और ओ हमें मारना चाहता है, हे औपधे । (तं उ त्वं जहि) उसको तू मार ॥ २ ॥

रिश्यस्येव परीक्षासं परिकृत्य परिं त्वचः । कृत्यां कृत्याकृतं देवा निष्कर्मिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥
 पुनः कृत्यां कृत्याकृतं हस्तगृह्य परां णय । समक्षर्मस्मा आ घेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥
 कृत्याः सन्तु कृत्याकृतं शपथः शपथीयते । सुखो रय इव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥
 यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने । ताम् तस्यै नयामस्वधमिवाभ्यामिधान्या ॥ ६ ॥
 यदि वारिं देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता । तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सपुजां वधम् ॥ ७ ॥
 अग्ने पृतनापाद् पृतनाः सहस्र । पुनः कृत्यां कृत्याकृतं प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥
 कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि । न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशोमहि ॥ ९ ॥
 पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवामिष्टितो दध । बन्धमिवैवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥
 उदेणीव वारण्यमिस्कन्दं मृगीव । कृत्या कृतारमृच्छतु ॥ ११ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (रिश्यस्य परीक्षास इव) हिंसकको चारों ओरसे घुमनेवालोंके समान और (निष्कर्म इव) सुवर्णभूषणके समान (त्वचः परि परिकृत्य) त्वचके ऊपर घाव करके, (कृत्याकृतं कृत्या प्रति मुञ्चत) हत्या करनेवालोंके प्रति उसीके काटनेवाले प्रयोगको वापस करा ॥ ३ ॥

(पुनः कृत्या हस्ते गृह्य) फिर काटनेवाले साधनको हाथमें पकड़कर (कृत्याकृतं परा णय) प्राणघातक उपाय करनेवालोंके पास वापस भेजा (अस्मै समक्ष आ घेहि) इसके लिये सामन रख द, (यथा कृत्याकृतं हनत्) जिनसे हिंसक मारा जाय ॥ ४ ॥

(कृत्याः कृत्याकृतं सन्तु) मारक साधन हिंसकोंके ऊपर ही लौट जाय। (शपथ शपथीयते) गालियां गाली देनेवालोंके पास लौट जाय। (सुख रय इव) सुख देनेवाला रय भैसे जाता है उस प्रकार (कृत्याः कृत्याकृतं पुन वर्तता) घातपातके उपाय घातकके ऊपर ही फिर पहुँच आवें ॥ ५ ॥

(यदि स्त्री यदि वा पुमान्) चाहे स्त्रीने अथवा चाहे पुरुषने (कृत्यां पाप्मने चकार) घातक प्रयोग पायाका इच्छासे किया है। (ता उ तस्मै नयामसि) उसको उसका पास ही हम लौटा देते हैं, (अभ्या-अभि-घात्या अभ्यं इव) बोझको बांधनेकी तरह जिस प्रकार घाहेके पास ले जाते हैं ॥ ६ ॥

(यदि वा देवकृता मसि) यदि तू देवोंद्वारा की गई हो अथवा (यदि वा पुरुषैः कृता) यदि मनुष्योंद्वारा बनाई गई हो, (ता त्वा वर्यं) उस तुझको हम (इन्द्रेण सपुजा) इन्द्रकी इन्द्रक द्वारा (पुन नयामसि) पुनः हटा देते हैं ॥ ७ ॥

हे (पृतनापाद् अग्ने) सभाम आतनेवाले तेजस्वी पुरुष ! (पृतना सहस्र) शत्रुदेनाओंका परामव कर। (पुनः कृत्याकृतं) फिर घातपात करनेवालोंके प्रति (प्रतिहरणे कृत्यां प्रति हरामसि) प्रतिहार करनेके उपायसे घातक प्रयोगको लौटा देते हैं ॥ ८ ॥

हे (कृतव्यधनि) घातकका वेध करनेवाले ! तू (त विध्य) उसका वेध कर। (य चकार तं इत् जहि) जिसने घात किया उसका नाश कर (अचक्रुषे त्वा वधाय न शिशोमहि) दिया न करनेवाले तुझको वधके लिये हम चेतनना नहीं देते ॥ ९ ॥

(पुत्र इव पितरं गच्छ) पुत्रके समान पिताके प्रति जा। (स्वज इव अभितिष्ठत दध) लिपटनेवाले चावके समान घात करनेवालोंको काट। (यश्च इव अवक्रामी) बन्धनक प्रति आनेके समान जा। हे (कृत्ये) हिंसे ! (कृत्या कृतं पुनः गच्छ) हिंसकके प्रति पुन जा ॥ १० ॥

(वारिणी एणी इव मृगी इव) हाथिनी मृगीके ऊपर आनेके समान (अमिस्कन्द कृतार कृत्या उक् मृच्छतु) चलाई करनेवाले, घात करनेवालोंके प्रति घातक प्रयोग चला जाय ॥ ११ ॥

इष्वा ऋजीयः पततु यावापृथिवी तं प्रति । सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१२॥
अमिरिवैतु प्रतिक्लमनुक्लमिवोदकम् । सुखो रथ इव वर्तता कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥१३॥ (१४३)

अर्थ— हे यावापृथिवी ! (सा कृत्या तं प्रति इष्वाः ऋजीयः पततु) वह घातक प्रयोग उस कर्ताके प्रति बाणके समान सीधा गिरे । और (मृग इव) मृगके समान वह (तं कृत्याकृतं पुनः गृह्णातु) उस घातक प्रयोग करनेवालेको फिर पकड़ लेवे ॥ १२ ॥

(अग्निः इव प्रतिक्लं) अग्निके समान प्रतिक्लके प्रति और (उदक इव अनुक्लं पतु) जलके समान अनुक्ल-
लताके साथ वह चले । (सुखः रथः इव) सुखकारक रथके समान (कृत्या कृत्याकृतं पुनः वर्तता) घातक प्रयोग-
कर्ताके पास फिर चला आवे ॥ १३ ॥

दुष्ट कृत्यका परिणाम ।

दुष्ट कृत्य यदि दूसरेके घातघातके लिये किया जावे, तो वह अन्तमें कर्ताका ही घात करता है, यह इस सूक्तका तात्पर्य है । इसमें कृत्या नामका कुछ घातक प्रयोग कोई दुष्ट लोग करते हैं, ऐसा जो विषय कहा है, वह बड़ा दुर्बोध है और अवगत उस विषयमें हमें कोई पता नहीं लगा है । इसलिये हम इसपर अधिक कुछ लिख नहीं सकते । यदि कोई पाठक इस मारण प्रयोगके विषयमें कुछ निश्चित और सप्रयोग ज्ञान रखते हों, तो प्रकाशित करनेकी कृपा करें ।

सत्यका विजय ।

(१५) रोगोपशमनम् ।

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — मधुला वनस्पतिः ।)

एका च मे दश च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥
द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ २ ॥
तिस्रश्च मे त्रिंशश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ३ ॥
चतस्रश्च मे चत्वारिंशश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ४ ॥
पञ्च च मे पञ्चाशश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ५ ॥
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ६ ॥
सप्त च मे सप्तविंशश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ७ ॥
अष्ट च मेऽष्टविंशश्च मेऽपवृत्तार ओषधे । ऋतं जातु ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ८ ॥

अर्थ— हे (ऋतावरि ऋतं जाते ओषधे) सत्यपालक और सत्यसे उत्पन्न ओषधि । तू (मधुला) मधुरता उत्पन्न करनेवाली होकर (मे मधु करः) मेरे लिये सर्वत्र मधुरता कर । (मे एका च दश च अपवृत्तारः) मेरे लिये एक या दश निदक कर्बों न हो । इसी प्रकार (द्वे विंशतिः च) दो और बीस, (तिस्रः त्रिंशश्च) तीन और तीस, (चतस्रः चत्वारिंशश्च) चार और चालीस, (पञ्च पञ्चाशश्च) पाँच और पचास, (षट् षष्टिः च) छ और छठ, (सप्त

नर्थ च मे नवृतिश्च मेऽपवृत्तारं ओपधे । श्रुतं जातु श्रुतावृत्तिं मधुं मे मधुला करः ॥ ९ ॥
 दशं च मे श्रुतं च मेऽपवृत्तारं ओपधे । श्रुतं जातु श्रुतावृत्तिं मधुं मे मधुला करः ॥ १० ॥
 श्रुतं च मे सहस्रं चापवृत्तारं ओपधे । श्रुतं जातु श्रुतावृत्तिं मधुं मे मधुला करः ॥ ११ ॥ (१५३)
 ॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

सप्ततिः च) सात और सप्तर, (अष्ट अशीतिः च) आठ और अस्सी, (नव नवतिः च) नौ और नव्वे, (दश दशतिः च) दस और दस, (शतं सहस्रं च) सौ और हजार (अपवृत्तारः) निन्दक कर्मों न खड़े हों और सुखे प्रतिबन्ध करने का यत्न कर्मों न करे, मैं सत्यम गैस हा उनका प्रतिहार करूंगा । इसलिये सर्वत्र मेरे लिये मधुरता फैल ॥ १-११ ॥

सत्यसे यश ।

इस सूक्तम श्रुतावृत्ति श्रुतजाता औपधिका नाम है । यह कोन औपधिका है, इसका पता नहीं लगता । परन्तु इस सूक्तमें हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कोई औपधिका प्रयोग नहीं बताया है । परन्तु जो निन्दक शत्रु हैं उनको सत्यपालन और सत्य व्यवहारसे ही ठीक करना और सत्यका महत्त्व सिद्ध

करना ही बताया है । सत्यपालन करनेवालेके लिये सब दिशाएँ मधुरतायुक्त हो जाती हैं, अर्थात् उसके लिये कोई विरोधी नहीं रहता । सत्यपालन करनेवाला मनुष्य शत्रुरहित हो जाता है । मानो 'सत्यपालनका व्रत' ही सब दोषोंको घेनेवाली दोषघी अथवा ओषधि है । इस सूक्तमें कहीं सहसाका क्या भाव है वह समझमें नहीं आता ।

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

आत्मबल ।

(१६) वृषरोगशमनम् ।

(ऋषिः — विश्वामित्र । देवता — एकवृषः ।)

यद्येकवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ १ ॥ यद्विं द्विवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ २ ॥
 यद्विं त्रिवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ३ ॥ यद्विं चतुर्वृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ४ ॥
 यद्विं पञ्चवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ५ ॥ यद्विं षड्वृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ६ ॥
 यद्विं सप्तवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ७ ॥ यद्विं अष्टवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ८ ॥
 यद्विं नववृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ ९ ॥ यद्विं दशवृषोऽसिं सृजार्सोऽसिं ॥ १० ॥
 यद्येकादशोऽसिं सोऽपौदकोऽसिं ॥ ११ ॥

(१६५)

अथ — (यदि एकवृषः, द्विवृषः, त्रिवृषः, चतुर्वृषः, पञ्चवृषः, षड्वृषः, सप्तवृषः, अष्टवृषः, नववृषः, दशवृषः, अस्ति) यदि तू एक दो तीन चार पाँच छः सात आठ नौ और दस शक्तियोंके युक्त है, तो (सृज) बल उत्पन्न कर, नहीं तो (अरसः अस्ति) तू निःसत्त्व हो रहेगा । तथा यदि तू (एकादशः अस्ति) ग्यारहवाँ है, तो (अपौदकः अस्ति) तू प्राकृतिक जीवन रखने रहित है ॥ १-११ ॥

मनुष्यमें दश इन्द्रिय शक्तियाँ हैं । प्रत्येक इन्द्रियमें बड़ी भारी वृषशक्ति, अथवा अष्टशक्ति भी कहिये, है । शरीररस्य आत्मा इन सब शक्तियोंके युक्त रहता है । आत्माके शरीरमें आनेके पश्चात् उसको चाहिए कि वह अपना बल बढावे, यदि यह बल बढानेका प्रयत्न न करेगा, तो निःसत्त्व हो इसका बल घटता जायगा । बल न पड़े इसलिये इसको उचित है कि, वह अपना

बल बढानेका यत्न करे । त्रिस समय यह ग्यारहवाँ शुद्ध आत्म अर्थात् देहसे विरहित आत्मा होता है, उस समय उसके पास, ये प्राकृतिक शक्तियाँ नहीं होती हैं । उस समय वह केवल आत्मिक शक्तिये ही युक्त रहता है और वह अखंड शक्ति होती है, इसलिये उस समय उसमें घट-बढ कुछ नहीं हो सकता है ।

स्त्रीके पातिव्रत्यकी रक्षा ।

(१७) ब्रह्मजाया ।

(ऋषि — भयोभूः । देवता — ब्रह्मजाया ।)

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
 वीडुहारास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥
 सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहणीयमानः ।
 अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदुमिर्होता हस्तगृह्या मिनाय ॥ २ ॥
 हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत् ।
 न दूताय प्रहेयां तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥ ३ ॥
 यामाहुस्तारकैया विकेशीति दुच्छ्रुतां ग्राममवपद्यमानाम् ।
 सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुपीमान् ॥ ४ ॥

अर्थ— (अ-कूपारः सलिलः) अगाध समुद्र, (मातरिश्वा) वायु (वीडुहराः) बलवान् तेजवाला अग्नि (उग्रं तपः) उग्र तान देनेवाला सूर्य (मयो-भूः) सुख देनेवाला चन्द्र, (देवीः आपः) दिव्य जल, (ऋतस्य प्रथमजाः) ऋतका पहिला प्रवर्तक देव (ते प्रथमाः) ये पहिले देव भी (ब्रह्म किल्बिषे अवदन्) ब्राह्मणके संबंधमें पातक करनेवालेके विषयमें गवाही देते हैं ॥ १ ॥

(अहणीयमानः प्रथमः सोमो राजा) क्रोध न करता हुआ पहिला सोम राजा (ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्) ब्राह्मणकी भायांकी पुनः वापस देने लगा । उस समय (वरुणः मित्रः अन्वर्तिता आसीत्) वरुण और मित्र ये साथ चलनेवाले थे और (होता अग्निः हस्तगृह्या मिनाय) होता अग्नि हाथ पकड़कर चलाता रहा ॥ २ ॥

(हस्तेनैव ग्राह्यः अस्याः आधिः) हाथसे ही ग्रहण किया जावे, ऐसा इसका आदेश है, (ब्रह्मजाया इति चेत् अवोचत्) यदि यह ब्राह्मणकी परमा है ऐसा कहा जाय । (एषा दूताय प्रहेयां न तस्थे) यह दूतके लिये ले जाने योग्य होकर नहीं ठहरती, (तथा क्षत्रियस्य गुपितं राष्ट्रं) वैशा ही क्षत्रियका सुगुप्त राष्ट्र होता है ॥ ३ ॥

(विकेशी एषा तारका इति) बंधन रहित यह तारका है ऐसा (ग्रामं अवपद्यमानां दुच्छ्रुतां यां आहुः) जिसको ग्रामके ऊपर गिरनेवाली विपत्ति करके कहते हैं । इसी प्रकार (सा ब्रह्मजाया राष्ट्रं वि दुनोति) यह ब्राह्मण स्त्री राष्ट्रको विशेष दिला देती है, (यत्र उल्कुपीमान् शश अपादि) जहाँ उल्कायुक्त शशक गिरता है ॥ ४ ॥

भाषार्थ— अग्नि, जलनिधि समुद्र, वायु, तेजस्वी सूर्य, सुख देनेवाला चन्द्रमा, तथा अन्य सब देव ब्राह्मणके संबंधमें पाप करनेवाले पापीके पापाचरणके विषयमें सत्य बात स्पष्ट कह देते हैं ॥ १ ॥

सोमने शान्तिके साथ ब्राह्मणकी स्त्रीकी पुनः वापस दिया, वहा वरुण और मित्र उपस्थित थे और अग्नि भी पाणिग्रहणके समय होता बना था ॥ २ ॥

वे ब्राह्मणकी परनी कही जाती है वह पण्डितप्रहण विधिसे ही विवाहित हुई होती है । यह किसीके दूतद्वारा भगाई जाने योग्य नहीं होती, इसकी सुरक्षासे क्षत्रियका राष्ट्र सुगुप्त होता है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाशकी तारका और उल्का किसी ग्रामपर गिरती है और वह दुश्चिन्ह कहा जाता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मणकी भगाई जानेपर राष्ट्रका नाश करती है ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी चरति वेविपद्भिः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।

तेन जायामन्वविन्दुद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वी न देवाः

॥ ५ ॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वं सप्तसुपुस्तपसा ये निषेदुः ।

भीमा जाया ब्राह्मणस्पापनीता दुर्धा दधाति परमे व्योमिन्

॥ ६ ॥

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यचापलुप्यते । वीरा ये तुह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया दिनस्ति तान्

॥ ७ ॥

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वं अत्राहणाः । ब्रह्मा चेदस्तमग्रहीत्स एव पतिरिक्था

॥ ८ ॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राज्ञ्योऽत्र न वैश्यः । तत्सूर्यः प्रभुवन्निति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः

॥ ९ ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः । राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः

॥ १० ॥

अर्थ—(ब्रह्मचारी विप. वेविपत् चरति) ब्रह्मचारी प्रजाओंकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये (सः देवानां एकं अंगं भवति) वह देवोंका एक अंग बनता है। (तेन बृहस्पतिः जायां अन्वविन्दुः) उसके द्वारा बृहस्पतिने भर्षा प्राप्त की (सोमेन नीतां जुह्वी न देवा) जिस प्रकार सोमके द्वारा लक्ष्मी हुई चमससे हुत आहुति देव प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

(पतस्यां पूर्वं देवाः चै अवदन्त) इसके संबंधमें पूर्व देवोंने कहा है, तथा (ये तपसा निषेदुः सप्त ऋषयः) जो तप करनेके लिये बैठते हैं उन सप्त ऋषियोंने भी वैशा ही कहा है। (ब्राह्मणस्य अपनीता जाया भीमा) ब्राह्मणकी भगार्ई पत्नी भयंकर होती है, (परमे व्योमन् दुर्धा दधाति) परम धाममें भी दुःख देनेवाली वह होती है ऐसी चारणा करते हैं ॥ ६ ॥

(ये गर्भाः अवपद्यन्ते) जो गर्भ गिर पड़ते हैं, (जगत् यत् च अप लुप्यते) जो चलनेवाले प्राणी नाशको प्राप्त होते हैं, (ये वीराः मिथो तुह्यन्ते) जो वीर परस्पर लड़ते मिटते हैं, (तान् ब्रह्मजाया दिनस्ति) उनको ब्राह्मणकी भाषां मार डालती है ॥ ७ ॥

(उत् यत् पूर्वं अत्राहणाः स्त्रियाः दश पतय) और जो पहिले ब्राह्मणसे भिन्न छोके दस पति होते हैं, (ब्रह्मा चेत् हस्तं अग्रहीत्) ब्राह्मणने यदि उसका पाणिग्रहण किया, तो (स एव एकधा पतिः) वह उसका एक ही पति होता है ॥ ८ ॥

(ब्राह्मण एव पतिः न राज्ञ्यः न वैश्यः) ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। (सूर्यः पञ्चभ्य मानवेभ्यः तत् प्रभुवन्न पति) सूर्य पाँचों मनुष्योंको वह कहता हुआ चलता है ॥ ९ ॥

(देवाः चै पुनः अददुः) देवोंने पुनः दिया, (मनुष्याः पुनः अददुः) मनुष्योंने पुन दिया है। (सत्यं गृह्णाना राजानः) सत्य पालन करनेवाले राजा लोग भी (ब्रह्मजाया पुनः ददुः) ब्राह्मणोंकी पुन. देते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी विद्या समाप्त करनेपर जनताकी सेवा करता हुआ जगत्में संचार करता है, इसलिये उसको देवताश कहते हैं। यह उक्त अत्याचारका पता लगाता है, और जिसकी स्त्री होती है उसके पास पहुँचाता है ॥ ५ ॥

तप करनेवाले ऋषि और सभ देवता लोग इस विषयमें बारबार कहते आये हैं कि, इस प्रकार भगार्ई गुहपत्नी भयानक हानि करती है और दूसरे सब लोकोंमें भी बड़ी पीडा देती है ॥ ६ ॥

राष्ट्रमें जिस समय अकालमें बालकोंकी मृत्यु होती है और प्राणियोंका बहुत संहार होता है, और आपसमें वीर लोग एक दूसरेके लिये फोड़ने लगते हैं, तब समस्तना चाहिये कि यह परिणाम युशन्तीके पूर्वोंक कष्टसे ही हो रहा है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणसे भिन्न दस पति छोके होते हैं, परंतु जिस समय ब्राह्मण किसी आका पाणिग्रहण करता है, उस समय उस स्त्रीका वही एक पति होता है, कदापि उस स्त्रीका दूसरा पति नहीं हो सकता ॥ ८ ॥

ब्राह्मण ही एक पति है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं, यह बात सूर्य ही पञ्चजननोंको करता है ॥ ९ ॥

पुनर्दायं ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकलिवपम् । ऊर्जं पृथिव्या भक्तवोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥
 नास्य जाया शतवाही कल्याणी तत्पमा शये । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १२ ॥
 न विकर्णः पृथुशिंरास्तस्मिन्वेदमनि जायते । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १३ ॥
 नास्य क्षुत्ता निष्कग्रीवः सुनानामित्यग्रतः । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १४ ॥
 नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १५ ॥
 नास्य क्षेत्रं पुष्करिणी नाण्डीकं जायते विसम् । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १६ ॥
 नास्मै पृश्नि वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते । यस्मिन्नाष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचिन्त्या ॥ १७ ॥
 नास्य घेनुः कल्याणी नानुड्वान्तसहते धुरम् । विजानिर्नयत्र ब्राह्मणो रात्रि वसति पापया ॥ १८ ॥ (१८३)

अर्थ—(देवैः निकलिवप कृत्वा ब्रह्मजायां पुनर्दाय) देवाने पावरहित करके ब्राह्मणकी छो पुनः देकर (पृथिव्याः ऊर्जं भक्तवा) पृथिवीके बलका विभाग करके (उरुगाय उपासते) बड़ी प्रशंसा करने योग्य देवताकी उपासना करते हैं ॥ ११ ॥

(यस्मिन् राष्ट्रे अक्षित्या ब्रह्मजाया निरुध्यते) जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी छो प्रतिबंधमें डाली जाता है । (अस्य शतवाहा कल्याणी जाया तत्पमा अशये) उसकी सौ संतान उत्पन्न करनेवाली कल्याणकारिणी छो भी बिस्त्र-रेपर न सोवे ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पड़ती है (तस्मिन् घेदमनि विकर्णः पृथुशिंराः न जायते) उस घरमें विशेष सुननेवाला और बड़े शिरवाला पुत्र उत्पन्न नहीं होता ॥ १३ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पड़ती है, (अस्य क्षुत्ता निष्कग्रीवः सुनानां अग्रतः न पति) उस राष्ट्रका वीर सुवर्णलंकार गलेमें धारण करके लड़कियोंके धनुष नहीं आता है ॥ १४ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें पड़ी होती है (अस्य श्वेतः कृष्णकर्णः धुरि युक्तः न महीयते) उस राष्ट्रमें दशमर्कण श्वेतकर्ण घोड़ा धुरामें युक्त होकर महत्त्वको प्राप्त नहीं होता ॥ १५ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी प्रतिबंधमें होती है (अस्य क्षेत्रं पुष्करिणी) उसके क्षेत्रमें कमलोंवाले तलाव नहीं होते और (निस आण्डीक न जायते) कमलका बीज भी नहीं होता ॥ १६ ॥

जिस राष्ट्रमें अज्ञानसे ब्राह्मणकी छो प्रतिबंधमें डाली जाती है, उस राष्ट्रमें (ये अस्याः दोहं उपासते) जो इसके दोहनेके लिये बैठते हैं वे (अस्मै पृश्नि न दुहन्ति) इसके लिये गौ दुहती नहीं ॥ १७ ॥

(विजानिः ब्राह्मणः) क्षीरहित होकर ब्राह्मण (यत्र रात्रि पापया वसति) जहां रात्रिमें पापबुद्धिसे रहता है, (अस्य) उसके राष्ट्रमें (न कल्याणी घेनुः) कल्याण करनेवाली घेनु नहीं होती है और (न अनुड्वान्त धुरं सहते) न बैल धुराकी सहता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—देव, मनुष्य और सत्यशलक राजा लोग गुरुमतीको सुरक्षित गुरुके प्रति पहुंचाते हैं ॥ १० ॥

जहां निष्पापतासे गुरुपत्नीको सुरक्षितताके साथ गुरुपहके प्रति पहुंचाया जाता है, वहां भूमिका सत्य बढ़ता है और यश फैलता है ॥ ११ ॥

परंतु जिस राष्ट्रमें गुरुमतीको प्रतिबंध होता है, उस राष्ट्रमें मानो कोई सुवासिनी छो बिस्त्रेपर सुरक्षित नहीं हो सकती ॥ १२ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुमतीका अवमान होता है उस राष्ट्रमें वत्तम पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकते । सुवर्णक आभूषण धारण करके कोई वीर बालिकाओंके साथ खेल नहीं सकता ॥ दशमर्कण घोड़ेको कोई जोत नहीं सकता । कमलयुक्त तालाव प्रफुल्लित नहीं होते ॥ गौवं दूध नहीं देती ॥ १३-१७ ॥

जिस राष्ट्रमें गुरुमतीकी मानहानि होती है और उस कारण घर्मपत्नी न होनेसे गुरु अकेला ही प्रसन्न होकर क्रीडकी भावना मनमें धारण करके सोता है, उस राष्ट्रमें गौ भी कल्याण नहीं करती और बैल भी कार्य करनेवाला नहीं होता है ॥ १८ ॥

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा ।

स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा करनी चाहिये, यह उपदेश देनेके लिये यह सूक्त है । जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा की जाती है, और सब पुरुष स्त्रीके चारित्र्यकी रक्षा करनेके लिये तत्पर रहते हैं उस राष्ट्रकी उन्नति होती है । परन्तु जिस राष्ट्रमें स्त्रीचारित्र्यकी रक्षा नहीं होती, वह राष्ट्र पतित होता है । सारांशसे इस सूक्तका यह उपदेश है ।

इस सूक्तमें ब्राह्मणकी स्त्री क्षत्रियके द्वारा भगाई जानेसे राष्ट्र-पर कितने अनर्थ गुजरते हैं, इसका वर्णन है । 'घर्णानां ब्राह्मणो गुहाः ।' अर्थात् सब वर्णोंको विद्यादान देनेवाला सबका अध्यापक अथवा 'गुरु' ब्राह्मण है । इसलिये ब्राह्मणकी स्त्री सबकी 'गुरुपत्नी' होती है । जिस प्रकार 'ब्राह्मण' सब पुरुषोंको ज्ञानोपदेश देता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, उसी प्रकार 'ब्राह्मणी' भी सब स्त्रियोंको घमंका उपदेश करती हुई भ्रमण करती है । गुरुपत्नीका यह कर्तव्य ही है । यह कर्तव्य करनेके लिये जब गुरुवत्नी बाहर भ्रमण करती है तब उसके चारित्र्यकी रक्षण सब लोग करें । कोई भी उसको प्रति-बन्धन न करे और न उसका किसी प्रकार अपमान करे ।

जो गुरुपत्नीका अपमान करनेका साहस करे, वे अन्य स्त्रियोंका अपमान करनेसे पीछे नहीं हटेंगे, यह भाव यहां है । वास्तवमें सभी स्त्रियोंके चारित्र्यकी रक्षा होनी चाहिये । क्योंकि इसी पर राष्ट्रका गौरव अवलम्बित है । जिस राष्ट्रमें गुरुपत्नीका भी चारित्र्य अथवा पातिव्रत्य गुणोंके अत्याचारके कारण क्षुब्धित नहीं रहता, वहाँकी अन्य स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन ही क्या हो सकता है ? इसलिये सब स्त्रियोंके चारित्र्यके उत्कर्षकी दृष्टिसे ही इस सूक्तमें कहा है कि कोई भी गुरुपत्नीका अपमान न करे । यह सूक्त आकाशस्थ तारोंकी गतिपर रचा हुआ अलंकार है, इसका स्पष्टीकरण अब देखिये—

बृहस्पति और तारा ।

आकाशमें बृहस्पति नामका एक सितारा है, जिसको 'गुरु' भी कहते हैं । यह प्रसिद्ध सितारा है, जो रात्रिके समय पाठक देख सकते हैं । आकाशस्थ अन्य नक्षत्रोंमें 'तारा' अथवा ताराका 'नामका एक नक्षत्र है, स्पष्टसे समझा जाता है कि यह 'गुरु' की 'धर्मपत्नी' है, अर्थात् बृहस्पतिकी यह भार्या है । यहाँ घमंका कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि यह बृहस्पति इस नक्षत्रमें बहुत देरतक और इसके बहुत समीप रहता है । इसलिये इनकी आपसमें पतिपत्नीकी कल्पना की है । बृहस्पतिका 'ब्रह्मणस्पति' भी दूसरा नाम वेदमें है । इसका अर्थ 'ज्ञानी गुरु'

होनेसे इसका वर्ण ब्राह्मण माना गया, अर्थात् इसकी धर्मपत्नी होनेसे तारा भी 'ब्राह्मणी', गुरुवत्नी अथवा ब्रह्मजाया 'कहलाती है । इस प्रकार यहाँ एक ब्राह्मण परिवारकी कल्पना हुई । यह बृहस्पति देवोंका गुरु है और जब आकाशमें देवोंकी समा रात्रिके समय लगती है, उस समय यह देव गुरु उसमें विराजते हैं और मानो, देवोंको सुयोग्य सलाह देते हैं ।

इसी प्रकार राजा सोम भी देवसभामें उपस्थित होते हैं । इस समय ये एक क्षत्रिय राजा माने गये हैं । ये क्षत्रिय राजा अपनी राज्याधिकारके मदमें अनेक तारागणोंसे संबंधित होते हैं अर्थात् अनेक स्त्रियोंसे संबंध करते हैं । इस अत्याचारके कारण उनको क्षयरोग होता है । इस अनाचारके कारण विचार राजासाहिब क्षीण होते जाते हैं, अमावास्याकी रात्रिमें तो इनकी हालत बहुत खराब होती है । उस समय कुछ उपचार करनेपर शुक्र-पक्षमें कुछ पुष्ट होने लगते हैं । ऐसी अवस्थामें गुरुपत्नी ताराका दर्शन होता है और उसका दर्शन होते ही क्षयी राजाका मन चम्बल हो जाता है । राजा अपने शासनाधिकारके कारण उन्नत होनेके कारण गुरुपत्नीका गौरव और आदर न करता हुआ, उसका धर्पण करता है । इस प्रकार स्त्रीके पातिव्रत्यका नाश करनेके कारण जो पाप होता है, उस पापके कारण राष्ट्रमें बड़ा क्षोभ होता है । और सब प्रजा त्रस्त हो जाती है । जहाँ गुरुपत्नीका इस प्रकार अपमान होता है, वहाँ अन्य स्त्रियोंके पातिव्रत्यका क्या होता होगा, ऐसा विचार करके अत्याचारी राजाका निषेध उपस्थित ऋषि और सदस्य देव करने लगते हैं । राजा अपने घमटमें आकर विरोधक ऋषियों और देवोंको दबानेका यत्न करता है, इससे प्रजामें अधिक क्षोभ होता है । तत्पश्चात् राजा सोम देखता है कि अपनी प्रजा प्रतिकूल होगई है और अपनेकी राज्यसे परच्युत करनेका विचार करती है, इसपर प्रजाको अधिक दबानेके लिये अगुर सेनाही सहायता लेता है । और विदेशी अगुर सेनाके अपनी प्रजाको दबानेकी चेष्टा करता है । इससे प्रजा अधिक क्षुब्ध होती है और बड़ी लड़ाई छिड़ती है । दोनों ओरका बहुत संहार होनेपर दोनों पक्षोंका आपसमें कुछ सलाह होती है । इस संबंधके अनुसार राजा सोम गुरुपत्नीको बापस करता है । उस समय वरुण और मित्र साथ रहते हैं और अग्नि मार्गदर्शक होता है । इस प्रकार चन्द्रमाके कलंक लगकर इस घुरे कर्मका फल उसको मिलता है । इस समय सोम और ताराके संगमसे बुधकी उत्पत्ति होती है । तारा अमितापसे शुद्ध होकर फिर अपने घर पहुँचती है । इस प्रकारकी कथा बहुत पुराणोंमें है । इस विस्तृत कथाका कुछ मूल इस सूक्तमें दिखाई देता है । जिस प्रकार वृषकी कथा मेघ

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकुरिव गोपते ।

सा ब्राह्मणस्यैर्पुर्वांरा सर्वा विध्यति पर्यंतः

॥ १५ ॥ (१९८)

अर्थ— हे सृपते ! हे गोपते ! (दिग्धा इषु इव) विषमर बाणके समान, (पृदाकु इव) चापके समान, (सा ब्राह्मणस्य चोरा इषुः) वह ब्राह्मणका मयकर बाण (तथा पीयता विध्यति) उससे हिंसकका वेध करता है ॥ १५ ॥

भाषार्थ— हे राजन् । तू स्मरणमें धर कि विषयुक्त बाणके समान और चापके समान ब्राह्मणका मयकर बाण तू हिंसकका अवश्य नाश करता है ॥ १५ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

‘गौ’ शब्दका अर्थ ‘वाणी, भूमि, गाय, इन्द्रिय, प्रकाश’ आदि है । अर्थात् ‘ब्रह्मण्वी’ का अर्थ ‘ब्राह्मणका वाणी, भूमि, गाय’ आदि होता है । यही ब्राह्मणकी संपत्ति होता है । ब्राह्मण राम, दम, तप युक्त कर्म करता है, इसलिये शान्त पृथिवीवाला होता है, अतः उपपृथिवीवाले क्षत्रिय अथवा ब्राह्मणकी लूटमार कर उसकी संपत्ति हरकर उस धनसे अपना भोग बढा सकते हैं । परन्तु ब्राह्मण नरपत्नी और अध्यापन करनेवाला होनेके कारण यदि वह इस प्रकार दुःखी हुआ तो राष्ट्रमें अन्ध यज्ञ अध्यापन बढ हो जाता है और उस कारण अन्तमें सब राष्ट्रका ही नाश होता है । इस प्रकार ब्राह्मणके कष्ट राजाके नाशके कारण होते हैं ।

‘ब्राह्मणस्य गौ अनाद्या’ (ब्राह्मणकी गौ खाने योग्य नहीं) ऐसा इस सूक्तमें बारबार कहा है । कई लोग इस वाक्यसे, ‘क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी गौ खाने योग्य है ऐसा अर्थ करते हैं और ब्राह्मणका गौ कोई नहीं खाता था, परन्तु अन्य वर्णोंकी गौ लोग खाते थे,’ ऐसा अनर्थकारक अनुमान निका लते हैं । इसलिये इस विषयमें अवश्य विचार करना चाहिये । क्योंकि ‘गौ अक्षया’ है ऐसा वेदमें सर्वत्र कहा है, उससे विशद इस सूक्तमें गौ खानिका उल्लेख कैसे आ गया है । इसलिये यह बात अवश्य विचार करने योग्य है । इस सूक्ता आशय देखनेके लिये निम्नलिखित वचन सबसे प्रथम देखिये—

यो ब्राह्मण अर्थं पच मन्यते, स विषस्य पिपति ।

(म ४)

‘जो ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है वह माने, विष ही पीता है ।’ इस मन्त्रमें उक्त क्षत्रिय नरम स्वभाववाले ब्राह्मणको अपना अन्न मानता है ऐसा कहा है । इससे ब्राह्मणके टुकड़े करके क्षत्रिय खाते थे यह भाव लेना उचित नहीं है, क्षत्रिय नरमाध मोत्री कदापि नहीं था । फिर जो क्षत्रिय कदापि नरमाध नहीं खाते थे ब्राह्मणकी ही अपना अन्न कैसे मान सकते हैं,

इस वाक्यको दूर करनेके लिये निम्नलिखित मन्त्रका भाग देखिये—

यो मल्यः ब्रह्मणां अन्नं स्वादु अग्निं इति मन्यते ।
स शतापाष्टां गिरति । (म. ७)

‘जो मलिन क्षत्रिय ब्राह्मणोंका अन्न सुखमें भोगता है, ऐसा मानता है वह अन्नको विपत्तियोंमें गिरता है ।’ यही ब्राह्मणका अन्न लूट मारकर क्षत्रिय खावे, तो उसकी बड़ी दुर्गति होती है ऐसा कहा है । ‘ब्राह्मणको अन्न माननेका अर्थ’ यह है कि ब्राह्मणके पासके सब उपभोगके पदार्थ लूटकर अथवा बबरदस्तावे छीनकर, उनका उपभोग करना । दैह्यवशी क्षत्रियोंने ऐसा हा किया था । व क्षत्रिय ब्राह्मणोंके आश्रम लूटते थे और अपने भोग बढाते थे, इस कारण परशुरामने उनका नाश करके पुन यमका स्थापन किया । इस सूक्तमें भी वीतदुःख नामक राजाओंका परामर्श ब्राह्मणोंको पीडा देनेसे हुआ ऐसा कहा है । वसिष्ठ ऋषिको इस प्रकार विद्यावित्रने कष्ट दिये थे । इस सबका तात्पर्य ब्राह्मणकी मांस खानेसे नहीं है, अपितु ब्राह्मणकी संपत्ति, गौ, भूमि, तथा अन्य संपत्ति लूटना और उसका उपभोग स्वयं करना यही है ।

ब्राह्मणके पाषाण धन यज्ञयाग और विद्याद्विके लिये होता है, यदि वह धन लूटा जावे, तो यज्ञ नहीं होंगे और विद्याका नाश होगा । इससे अन्तमें सब जनताका नाश होगा । ब्राह्मणोंकी वाणीको प्रतिषेध करना, उनकी संपत्ति लूटना, तो चुराना अथवा धनसे हर्षण करना, और अन्यान्य प्रकार ब्राह्मणोंके आश्रमोंको कष्ट देना अन्तमें राज्यके नाशका लिये कारण होता है । ब्राह्मणको अन्न माननेका यह अर्थ है । इसी प्रकार ब्राह्मणकी गाय हर्षण करना और उसका दूध आदि स्वयं पीना, उसकी भूमि हर्षण करके उस भूमिका धान्य स्वयं खाना, इसादि प्रकार हानिकारक है यह भाव यही है । ब्राह्मण जनताको विद्या देते हैं, जनताके रोगोंकी चिकित्सा करते हैं, घरोंका अनुष्ठान करते हैं, इसलिये जनताका प्रेम ब्राह्मणोंपर होता है, और जो

क्षत्रिय ब्राह्मणोंको कष्ट देता है उसको जनता राज्यभ्रष्ट कर देती है। वेदमें 'गौ' शब्द 'गायका दूध, दही, मक्खन, घी, छाछ, गौके दूधसे और घोड़े बनीसब प्रकारकी मिठाई, गोचर्म, गायके सींग, और गौ' इतने पदार्थोंका वाचक है। इस पाठक जान सकते हैं कि यहाँ 'क्षत्रियके द्वारा ब्राह्मणकी गौ रखना' ब्राह्मणकी गौ आदि सब संपत्ति हड़प करना ही है। सब सूक्तका आशय ध्यानमें लानेसे यही आशय स्पष्ट प्रतीत होता है।

ब्राह्मणों प्रजां हिंस्त्रिवा असमव्य पराभवन् ।

(म १२)

ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा चैतद्व्याः पराभवन् ।

(म १०)

**यो देवयन्तुं ब्राह्मणं हिंस्त्रि स पितृयान
लोक न एति ।**

(म. १३)

'ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देनेसे सहज पराभव होता है। ब्राह्मणकी गौ हड़प करनेसे चैतद्व्य क्षत्रिय पराभूत हुए। जो क्षत्रिय ब्राह्मणको कष्ट देता है वह पितृलोकको भी प्राप्त नहीं होता है।' इन मन्त्र भागोंसे स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मणोंको कष्ट देना, उनको लूटना, उनके धर्म, कर्म चलनेमें रुकावट उत्पन्न करना, राजाके लिये अनिष्ट कारक है। यहाँ ब्राह्मणको मराने अथवा उसकी गौको खानेका आशय बिल्कुल नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'खानेका' अर्थ कई प्रकारसे होता है। 'वह ओहदेदार पैसा खाता है,' इस वाक्यका यह अर्थ कदापि

नहीं है कि वह अन्न न खाते हुए रुपये, आने और पारई खाकर हजम करता है। परन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि अयोग्य रीतिसे वह धन कमाता है। यही अर्थ संस्कृतमें भी है। ब्राह्मणको खानेका अर्थ ब्राह्मणकी धन दौलत लूटना और उसका खय उपभोग करना। आजकल कहते हैं कि अनियंत्रित राजा प्रजाको खाता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा मनुष्योंका भोज खाता है, अपितु राजा प्रजाको सताता है यह इसका अर्थ है। शतपथमें—

तस्माद्राष्ट्रीं विंश घातक । श प ब्रा १३।२।१।७

'अनियंत्रित राजा प्रजाके लिये घातक है।' यहाँ जो प्रजाके घातका वर्णन किया है वह केवल प्रजाकी काटना नहीं, अपितु प्रजाकी उन्नतिमें बाधा डालना है। इस सब वर्णनसे इस सूक्तका आशय ध्यानमें आ सकता है।

राजाका कर्तव्य ।

राजाका कर्तव्य है कि वह शान्तियोंको विद्यादान करनेमें, वैश्योंकी व्यापार करनेमें, शूद्रोंको अपनी कारीगरीके व्यवहार करनेमें उत्तेजना दे। अपने पास शक्ति है इसलिये निर्बलोंपर अत्याचार स्वयं न करे और ऐसा राज्यशासन करे कि जिससे सबकी उन्नति यथायोग्य रीतिसे हो सके। जिस राज्यमें शान्ति, दम और तप करनेवाले ब्राह्मणोंपर अत्याचार होते हैं वहाँ अन्धोंकी सुरक्षितता कहाँ रहेगी ?

पाठक पूरे सूक्तके साथ ही इस सूक्तको पढ़ें और उचित बोध प्राप्त करें। आगामी सूक्त भी इसी आशयका है।

ब्राह्मणको कष्ट ।

(१९) ब्रह्मगवी

(ऋषि — मयोभू । देवता — ब्रह्मगवी ।)

अतिमात्रमवर्धन्त नोर्दिव दिव्यमस्पृशन् । भृगुं हिंस्त्रिवा सृष्ट्या चैतद्व्याः पराभवन् ॥ १ ॥

ये बृहत्सामानमाह्निरुसमर्षयन्ब्राह्मणं जनाः पेट्वस्तेषामुभयादुमर्विस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

अर्थ—(सृष्ट्याः) हमला करके जय प्राप्त करनेवाले वीर (अतिमात्रं अवर्धन्त) अत्यन्त बड़े, (न दिव्य इव उस्पृशन्) इतने कि शूलोंकी मानों उन्होंने स्पर्श किया। परन्तु वे (चैतद्व्याः) देवोंका अन्न स्वयं भोगने लगे तब (सृष्टु हिंस्त्रिवा) सृष्टृकाधिकी दिसा करके (पराभवन्) पराभूत हो गये ॥ १ ॥

(ये जनाः बृहत्सामाने) जो लोग बड़े सामगायक (आंगिरसं ब्राह्मणं अर्षयन्) आंगिरस ब्राह्मणको सताते रहे, (तेषां तोकानि) उनके संतानोंको (पेट्वः अवि) हिंसक (उभयात् मावयत्) दोनों दाँतोंके बीचमें रगड़ता रहा ॥ २ ॥

मावार्थ— विजयी सृज्य क्षत्रिय बहुत बड़ गये थे, परन्तु जब वे ब्राह्मणोंको सताने लगे और देवोंके लिये दिया इव्य खर्च भोगने लगे, तब राज्यभ्रष्ट हो गये ॥ १ ॥

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्टीवन्त्ये वासिन्धुलकमीपिरे । अन्तस्ते मर्घ्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते ॥ ३ ॥
 ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्सामि विजङ्गहे । तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥
 क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते । क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम् ॥ ५ ॥
 उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति । परा तस्मिन्त्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥ ६ ॥
 अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्दनुः । द्याप्स्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥
 तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् । ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्वाष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥
 तं वृक्षा अपं सेधन्ति छायां नो मोपगा इति । यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

अर्थ— (ये ब्राह्मण प्रत्यष्टीवन्) जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, (ये वासिन्धुलक मीपिरे) अथवा जो इससे घन छीनना चाहते हैं, (ते अन्तः कुल्यायाः मर्घ्ये) वे रुधिरकी नदीके बीचमें (केशान् खादन्त आसते) केशोंको खाते हुए बैठते हैं ॥ ३ ॥

(सा पच्यमाना ब्रह्मगवी) वह इष्टप की गई ब्राह्मणकी गो (यावत् अभि विजङ्गहे) जिस कारण तबफती रहती है, उस कारण उस (राष्ट्रस्य तेज निर्हन्ति) राष्ट्रका तेज मारा जाता है और वह (वृषा वीरः न जायते) बलवान् वीर भी उत्पन्न नहीं होता है ॥ ४ ॥

(अस्या आशसन क्रूर) इसको कष्ट देना बड़ा क्रूरताका कार्य है, (पिशित तृष्टं अस्यते) मांस तो खा बढाने-वाला होनेके कारण फैलने योग्य है । (यन् अस्याः क्षीरं पीयते) जो इस ब्राह्मणकी गौका दूध पीना है (तत् वै पितृषु किल्बिष) वह निःशुद्ध पितरोंमें पाप कहा जाता है ॥ ५ ॥

(य राजा उग्रः मन्यमानः) जो राजा अपने आपको उग्र मानता हुआ (ब्राह्मण जिघत्सति) ब्राह्मणको सताता है, (तत् राष्ट्रं परा सिच्यते) वह राष्ट्र बहुत गिर जाता है (यत्र ब्राह्मण जीयते) जहाँ ब्राह्मणको कष्ट पहुँचता है ॥ ६ ॥

(अष्टापदी चतुरक्षी) आठ पांववाली, चार आँखवाली, (चतुःश्रोत्रा चतुर्दनुः) चार कानोंवाली और चार हनुवाली (द्याप्स्या द्विजिह्वा भूत्वा) दो मुखवाली और दो जिह्वावाली होकर (ब्रह्मज्यस्य राष्ट्रं सा अव धूनुते) ब्राह्मणको सतानेवाले राजाके राष्ट्रको बर्ह दिला देती है ॥ ७ ॥

(यत्र ब्राह्मण हिंसन्ति) जहाँ ब्राह्मणको कष्ट पहुँचते हैं (तत् राष्ट्रं दुच्छुना हन्ति) वह राष्ट्र विपत्तिसे भरता है । और (तत् वै राष्ट्रं) वह राष्ट्रको (वा स्रवति) गिरा देता है (उदकं भिन्नां नावं इव) जैसा जल टूटी हुई नौकाको बहा देता है ॥ ८ ॥

(नः छायां मा उपगा इति) हमारी छायामें यह न आवे, इस इच्छासे (त वृक्षा अपसेधन्ति) उसको वृक्ष दूर हटा देते हैं । हे नारद ! (यः ब्राह्मणस्य धनं सत् अभि मन्यते) जो ब्राह्मणका धन बलसे अपना मानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ— जिन्होंने सामगायक आगिरस ब्राह्मणको सताया था, उनके बलवत्ताओंके हिंसक पशुओंसे दाँतोसे पीछा था ॥ ३ ॥

जो ब्राह्मणका अपमान करते हैं, और उससे घन छीनते हैं, वे रुधिरकी नदीमें बालोंको खाते रहते हैं ॥ ३ ॥

जो ब्राह्मणको गाय इष्टप करता है उस क्षत्रियके राष्ट्रका तेज नष्ट होता है और उसमें बलवान् वीर नहीं उत्पन्न होते ॥ ४ ॥

गायको कष्ट देना बड़ी क्रूरताका कार्य है । दुष्टके गायका दूध पीना भी विषके समान ही है ॥ ५ ॥

अपने आपको बलवान् मानता हुआ जो राजा ब्राह्मणको सताता है, उसका राष्ट्र गिर जाता है ॥ ६ ॥

ब्राह्मणकी गाय दुष्टी होनेपर द्विगुणित मारक साँग आदिसे युक्त होकर उसके राष्ट्रका नाश करती है ॥ ७ ॥

जहाँ ब्रह्मण सताया जाता है वह राष्ट्र विपत्तिमें गिरता है । टूटी नौकाके समान वह वाचमें ही डूब जाता है ॥ ८ ॥

जो ब्राह्मणका धन छीनता है उसको वृक्ष भी अपनी छायामें नहीं आने देते ॥ ९ ॥

विपमेतदेवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् । न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥ १० ॥
 नवैव ता नवतयो या भूमिर्गर्भधूनुत । प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभ्रवं पराभवन् ॥ ११ ॥
 यां मृतायानुब्रूयन्ति कूर्घं पदयोपनीम् । तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥
 अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वाधृतुः । तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥
 येन मृतं स्तपयन्ति इमश्रूणि येनोन्दते । तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १४ ॥
 न वर्ष मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति । नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥ (११३)

अर्थ—(राजा वरुणः अब्रवीत्) वरुण राजाने कहा है कि । पतत् देवकृतं विप) यह देवोंका बनाया विप है । (ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा) ब्राह्मणकी गायको हडप कर (कश्चन राष्ट्रे न जागार) कोई भी राष्टमें नहीं जागता ॥ १० ॥

(याः नव नवतयः) जो निन्यानवें प्रधारकी प्रजाएँ हैं (ताः भूमिः एव वि अधूनुत) उनको भूमिने ही हटा दिया है । वे (कल्पणी ब्राह्मणीं प्रजां हिंसित्वा) कल्याण करनेवाली ब्राह्मण प्रजाको कष्ट देकर (असंभवं पराभवन्) असंभवनीय रीतिसे परास्त हुए ॥ ११ ॥

(यां पदयोपनीं कूर्घं) जिस पादचिन्ह हटानेवाली कटोरीवाली साड़की (मृताय अनुवधूयन्ति) मृतके साथ भीषते हैं, हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (देवाः तत् ते उपस्तरणं अब्रुवन्) देवोंने कहा है कि वह तेरा बिस्तर है ॥ १२ ॥

हे (ब्रह्म-ज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (यानि अश्रूणि) जो आँसू (कृपमाणस्य जीतस्य वाधृतुः) निर्बल और अति गये मनुष्यके बहते हैं । (देवा तं वै ते अपां भागं आधारयन्) देवोंने उसकी ही तेरा जलका भाग निधय किया है ॥ १३ ॥

हे (ब्रह्मज्य) ब्राह्मणको सतानेवाले ! (येन मृतं स्तपयन्ति) जिससे प्रेतको खाने कराते हैं, (येन इमश्रूणि च उन्दते) जिससे मूढ दाढ़ीके बाल गीले करते हैं (तं वै देवाः ते अपां भागं आधारयन्) उसको ही देवोंने तेरा जल-भाग निधय किया है ॥ १४ ॥

(मैत्रावरुणं वर्षं) मित्रावरुणसे प्राप्त होनेवाली वृष्टि (ब्रह्मज्य न अभि वर्षति) ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके ऊपर नहीं गिरती । और (अस्मै समितिः न कल्पते) इसको समा सड़गति नहीं देती (न मित्रं वशं नयते) और न मित्र वशमें रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ— राजा वरुणने कहा है कि ब्राह्मणकी गौको हडप करना विप पीनेके समान हानिकारक है, उसको स्वीकार करनेसे कोई भी जीवित नहीं रह सकता ॥ १० ॥

निन्यानवें बार जिन्होंने सब भूमिपर विजय प्राप्त किया था, वे जब ब्राह्मणोंको सताने लगे तब वे परास्त हो गये ॥ ११ ॥ कटोरी साड़ जो इसमान साड़नेके लिये काम आती है, उसपर वह मनुष्य सोता है कि जो ब्राह्मणको सताता है ॥ १२ ॥

निर्बल होनेके कारण पराजित हुए मनुष्यकी आँखमें जो आँसू आते हैं, उन आँसुओंका जल उसको पीनेके लिये दिया जाता है, जो ब्रह्मणको सताता है ॥ १३ ॥

जिस जलसे मुँहको खाने कराते हैं और जो जल हजामत करनेके समय दाढ़ी मूत्र भिगोनेके काम आता है, वह जल उसको मिलता है, कि जो ब्राह्मणको कष्ट देता है ॥ १४ ॥

ब्राह्मणको कष्ट देनेवालेके राष्टमें अच्छी वृष्टि नहीं होती, राष्ट्रसमा वैसे राजाके लिये अनुकूल नहीं होती, और वैसे क्षत्रियका कोई मित्र नहीं रहता ॥ १५ ॥

ज्ञानीकां कष्ट ।

ज्ञानी मनुष्यको दिवा हुआ कष्ट राज्यका नाश करता है । जिस राज्यशासनमें ज्ञानी सज्जनोंको कष्ट भोगने पड़ते हैं वह राज्यशासन सष्ट हो जाता है । जिस राज्यशासनमें ज्ञानी लोगोंकी बाणीपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है, उनको उत्तम उपदेश देनेमें रोका जाता है, जहाँ सुविज्ञ ज्ञानी पुरुषोंकी धनसंपत्ति सुरक्षित नहीं होगी, जहाँ अन्य प्रकारसे ज्ञानी सज्जनोंको श्रेष्ठ पहुँचते हैं, वह राष्ट्र अधोगतिको प्राप्त होता है ।

यह आशय इस सूक्तका है । राष्ट्रमें ज्ञानकी ओर ज्ञानीकी पूजा होती रहे । क्योंकि ज्ञानोपदेशसे ही राष्ट्रका सचा कल्याण हो सकता है । इसलिये हरएक राष्ट्रे लोग ज्ञानीका सत्कार करें और अपनी लक्षतिको भागी बनें ।

अन्येष्टीकी कुछ बातें ।

इस सूक्तका विचार करनेसे कुछ बातोंका पता लगता है, देखिये—

(१) मृतं क्षपयन्ति— मृत मनुष्यके शवको ज्ञान कराते हैं ।

(२) मृताय पदयोपनौ कूर्यं अनुयधन्ति— मृतको पाँवका चिन्ह मिटानेवाली शाहूसे अथवा किसी अन्य चीजसे बाँधते हैं । (इसमें ' कूर्य ' का अर्थ ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है । यह खोजका विषय है ।)

हजामत ।

(३) इमधूणि उन्दते— हजामत बनवानेके समय बाल भिगोये जाते हैं ।

इस सूक्तके कुछ कथनोंका ठीक ठीक भाव समझमें नहीं आता है, इस कारण यह सूक्त क्लिष्टता प्रतीत होता है । उन संश्लोक अधिक विचार पाठक करें ।

दुन्दुभीका घोष ।

(२०) शत्रुसेनात्रासनम् ।

(कविः — प्रह्ला । देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः ।)

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः संत्वनान् यन्वानस्पत्यः संमृत उस्तिर्घाभिः ।

वाचं क्षुण्वानो द्रमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नाभि तैस्तनीहि ॥ १ ॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विषद्वोऽभि क्रन्दन्पृषो वासितामिव ।

वृषा त्वं वध्र्यस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिपाहः ॥ २ ॥

वृषेव यूथे सहसा विद्वानो गृण्यन्नाभि रुव संघनाजित् ।

शुचा विष्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

अर्थ— (उच्चैर्घोषः सत्त्व-नायन्) जिसका ऊँचा शब्द है और जो बल बढ़ाता है, उस प्रकारका (वानस्पत्यः दुन्दुभिः) वनस्पतिसे बना हुआ दुन्दुभि (उच्छिर्घाभिः सभृतः) गौचर्मोंसे वेष्टित (वाचं क्षुण्वानः) शब्द करता हुआ, (सपत्नान् द्रमयन्) शत्रुओंको दबाता हुआ और (सिंह इव जेष्यन्) सिंहके समान विजय चाहता हुआ यह ढोल (अभि संस्तनीहि) गजैता रहे ॥ १ ॥

तु (द्रुवयः विषद्वः) इससे निर्माण हुआ और विशेष बाँधा हुआ (सिंह इव अस्तानीत्) सिंहके समान गजैता है । (वासितां वृषभः अभि क्रन्दन् इव) गौके लिये जैसे बेल गर्जता है । (त्वं वृषा) तू बलवान् है (ते सपत्नान् वध्र्यः) तेरे शत्रु निहल हुए हैं और (ते ऐन्द्रः शुष्मः अभिमातिपाहः) तेरा प्रभावयुक्त बल शत्रुनाशक है ॥ २ ॥

(यूथे गव्यन् वृषा इव) गौवोंके समूहमें गौवों का मना करनेवाले वाहके समान तु (सहसा संघनाजित्) वज्रसे विजय प्राप्त करनेवाला, और (विद्वानः) जाना हुआ (अभि रुव) गजैता कर । (परेषां हृदयं शुचा विष्य) शत्रुओंका हृदय शीघ्रसे युक्त कर । (शत्रवः ग्रामान् हित्वा प्रच्युताः यन्तु) शत्रु गाँवोंको छोड़कर गिरते हुए भाग आवें ॥ ३ ॥

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्णां गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व ।

दैवीं वाचं दुन्दुभ आ शुरस्व वेधाः शशूणामुपं भरस्व वेदः ।

॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा ।

नारीं पुत्रं धावतु हस्तगृह्णामित्री भीता समरे वधानाम् ।

॥ ५ ॥

पूर्वीं दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः ।

अमित्रसेनामभिजज्ञमानो घुमद्दद दुन्दुभे सनुतावत् ।

॥ ६ ॥

अन्तरेमे नर्मसी घोषो अस्तु पृथक्के ध्वनयो यन्तु क्षीमम् ।

अभि क्रन्द स्तनयोत्तिपानः श्लोककुन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ।

॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्पय सत्त्वनामायुधानि ।

इन्द्रमेदी सत्त्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्रां अव जहृघ्नीहि ।

॥ ८ ॥

संकन्दनः प्रवदो धृष्णुर्वेणः प्रवेदकृद्बुधा ग्रामघोषी ।

श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ।

॥ ९ ॥

अर्थ— हे दुन्दुभे ! (ऊर्ध्व—मायु पृतनाः संजयन्) ऊचा शब्द करनेवाला, शत्रुसेनाओंको पराजित करता हुआ (गृह्णाः शृणानः बहुधा वि चक्ष्व) प्रहण करने योग्योंको लेनेवाला तू बहुत प्रकार देख । (दैवीं वाचं आशुरस्व) दिव्य शब्द उच्चारण कर । (वेधाः शशूणां वेदः आ भरस्व) विधाता होकर शत्रुओंके घन लाकर भर दे ॥ ४ ॥

(दुन्दुभेः प्रयतां वदन्ती) दुन्दुभीका स्पर्श बोला हुआ (वाच आशृण्वती घोषबुद्धा) शब्द सुननेवाली और गर्जनासे बागी हुई (भीता नाथिता आमित्रि नारी) बरी हुई डू ली शत्रुकी स्त्री (समरे वधानां पुत्रं) युद्धमें मरे हुये वीरोंके पुत्रकी (हस्तगृह्णा घावतु) हाथ पकड़कर भाग जावे ॥ ५ ॥

हे दुन्दुभे ! (पूर्वं वाचं प्र वदासि) सबसे पहिले तू शब्द करता है । भूम्याः पृष्ठे रोचमानः वद) भूमिके पृष्ठपर प्रकाशता हुआ तू शब्द कर । हे बोल ! (अमित्रसेनां अभिजज्ञमानः) शत्रुसेनाका नाश करता हुआ तू (घुमत् सनुतावत् वद) प्रकाश युक्त रीतिले घल बोल ॥ ६ ॥

(इमे नर्मसी अन्तरा घोषः अस्तु) इन श्लोक और पृथ्वीके मध्यमें तरा घोष होवे । (ते ध्वनयः क्षीमं पृथक् यन्तु) तेरे ध्वनि क्षीम करो दिशाओंमें फैले । (उत्तिपानः श्लोककृत्) बजनेवाला और मश करनेवाला (मित्रतूर्याय स्वर्धा) मित्रहितके लिये सपन्न होता हुआ (अभिक्रन्द, स्तनय) शब्द कर और गर्जना कर ॥ ७ ॥

(धीभिः कृतः वाचं प्र वदाति) बुद्धिके द्वारा बनाया हुआ बोल शब्द करता है । (सत्त्वनां आयुधानि उद्धर्पय) वीरोंके आयुधोंको ऊचा उठा । (इन्द्रमेदी सत्त्वनः नि ह्वयस्व) शत्रुको आनन्द देनेवाला तू वीरोंको बुला (मित्रैः अमित्रान् अव जहृघ्नीहि) मित्रोंके द्वारा शत्रुओंको मार डाल ॥ ८ ॥

(संक्रन्दनः प्र-वदः) शब्द करनेवाला और घोषणा करनेवाला, (धृष्णुसेनः प्रवेदकृत्) विश्ववी सेनासे युक्त, सेना देनेवाला, (बहुधा ग्रामघोषी) अनेक प्रकारसे ग्राममें घोषणा करनेवाला, (श्रेयः वन्वानः) कल्याण प्राप्त करनेवाला, (वयुनानि विद्वान्) सब घोषणाके कार्य जाननेवाला तू ईदुभि (द्वि—राजे) दो राजाओंमें होनेवाले युद्धमें (बहुभ्यः कीर्तिं विहर) बहुत मनुष्योंके लिये कीर्ति प्राप्त कर ॥ ९ ॥

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि ।

अंशूनिव ग्रावाधिपवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुमेऽधि नृत्य वेदः

॥ १० ॥

शत्रुपाणीपादंभिमातिपाहो गवेपणः सहमान उद्भित् ।

वाग्मीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेपमुददेह

॥ ११ ॥

अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मूधो जेता पुरएतायोध्यः ।

इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्पयद्द्योतनो द्विपता याहि शीमम्

॥ १२ ॥ (२६५)

(२१) शत्रुसेनाप्राप्तनम् ।

(कृपिः — ब्रह्मा । देवता — वनस्पतिः, दुन्दुभिः, आदिः । यादयः ।)

विहृदयं यैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुमे ।

विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्वयैनान्दुन्दुमे जहि

॥ १ ॥

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च ।

धावन्तु विश्वतोऽमित्राः प्रश्रासेनाज्ये हुते

॥ २ ॥

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।

प्रश्राप्तममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः

॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुमे) डोल । तू (श्रेयःकेतः वसुजित्) भेष करनेवाला, धन जीतनेवाला, (सहीयान् संग्रामजित्) बलवान्, युद्धोको जीतनेवाला, (ब्रह्मणा संशितः आसि) ज्ञानके द्वारा तैयार किया हुआ है । (अधिपवणे अद्रिः प्राचा अंशून् इव) सोमरस निकालनेके समय जिस प्रकार पत्थर सोमपर नाचते हैं, उस प्रकार (गव्यन् वेदः अचिन्त्य) भूमी जीतनेकी इच्छा करनेवाला तू शत्रुके धनपर नाच ॥ १० ॥

(शत्रुपाद् नीपाद्) शत्रुको जीतनेवाला, निलविजयी, (अभिमातिपाहः गवेपणः) बैरियोंको बधमें करनेवाला, खोज करनेवाला, (सहमानः उद्भित्) बलवान् और सखेड़नेवाला, तू डोल (वाचं प्र भरस्व) शब्दको सर्वत्र भर दे । (वाग्मी मंत्र इव) जैसा वक्ता उपदेशको श्रोताओंमें भर देता है । (संग्राम-जित्याय इह इपं उत् चद्) संग्रामको जीतनेके लिये यहाँ अस्त्रके विषयमें बड़ी घोषणा कर ॥ ११ ॥

(अच्युत-च्युत्) न गिरनेवाले शत्रुओंको गिरानेवाला (स-मदः गमिष्ठः) आनंदयुक्त, यात्रा करनेवाला, (मूध-जेता) युद्धोको जीतनेवाला, (पुर-पता अयोध्यः) आगे बढ़नेवाला और युद्ध करनेके लिये कठिन, (इन्द्रेण गुप्तः) इन्द्रद्वारा रक्षित, (विदथा निचक्पयत्) युद्धकर्मको जाननेवाला, (द्विपतां हृद्-द्योतनः) शत्रुओंके हृदयोंको पहरानेवाला, तू डोल (शीमं याहि) शीघ्र शत्रुपर गमन कर ॥ १२ ॥

[२१]

हे (दुन्दुमे) डोल । तू (अमित्रेषु विहृदयं यैमनस्यं चद्) शत्रुओंमें हृदयकी व्याकुलता और मनकी उदा-जीनता कह दे । (विद्वेषं कश्मशं भयं अमित्रेषु नि दध्मसि) द्वेष, कष्टमकष्ट, झगडा, भय शत्रुओंमें रख दे । हे दुन्दुमे ! (एनान् अव जहि) इनको निकाल दे ॥ १ ॥

(आज्ये हुते) घृतकी आहुति देने जितने घोंटे समयमें ही (अमित्राः प्रश्रासेन) शत्रु पचवाहटसे (मनसा चक्षुषा हृदयेन च विश्वतः) मन, आँख और हृदयसे बरते हुए (धावन्तु) भाग जावें ॥ २ ॥

(वानस्पत्यः उस्त्रियाभिः संभृतः) वनस्पतिसे अर्घात् लकड़ीसे उत्पन्न होल जिसपर वनस्पती रसिया बंधी हैं, (विश्व-गो-त्र्यः) सब प्रकार भूमिका रसक और (वाज्येन अभिघारितः) घृतसे सोँचा हुआ तू (अमित्रेभ्यः प्रश्राप्तं चद्) शत्रुओंके लिये कष्टोंकी घोषणा कर ॥ ३ ॥

यथा मृगाः संविजन्ते आरण्याः पुरुषादधि ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान्ममि क्रन्दु प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ४ ॥

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु विस्मयतीः ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान्ममि क्रन्दु प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ५ ॥

यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनयोर्यथा ।

एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रान्ममि क्रन्दु प्र त्रासयार्थो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च । सर्वे देवा अतिव्रसन्त्ये सैग्रामस्येश्वरे ॥ ७ ॥

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पदघोषैश्छायया सह । तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

ज्याघोषा दुन्दुमयोऽमि क्रौञ्चस्तु या दिशः । सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत । पत्सङ्गिनीरासजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

युयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीतु शत्रून् ।

अर्थ— (यथा आरण्याः मृगाः पुरुषात् अधि संविजन्ते) जिस प्रकार वनके मृग मनुष्यसे डरकर भागते हैं, हे दुन्दुभे ! (एवा त्वं अमित्रान् ममि क्रन्दु) इसी प्रकार तू शत्रुओंपर गर्जना कर, (त्रासय) उनके डरा दे और (यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु विस्मयतीः) उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ४ ॥

(यथा अजावयो वृकात् बहु विस्मयतीः धावन्ति) जिस प्रकार भेड़ वृकरियों मेंडमेसे बहुत डरती हुई भाग जाती हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभे ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनके डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ५ ॥

(यथा पतत्रिणः श्येनात् संविजन्ते) जिस प्रकार पक्षी श्येनसे डरकर भागते हैं, और (यथा स्तनयोः सिंहस्य अहर्-दिवि) जिस प्रकार गर्जनेवाले सिंहसे प्रतिदिन डरते हैं, उसी प्रकार हे दुन्दुभे ! तू शत्रुओंपर गर्जना कर, उनके डरा दे, और उनके चित्तोंको मोहित कर ॥ ६ ॥

(ये सैग्रामस्य ईश्वरे) जो युद्धके स्वामी होते हैं वे (सर्वे देवाः) सब देव (हरिणस्य अजिनेन दुन्दुभिना च) हरिणके चर्मसे बने हुए नगाड़े की (अमित्रान् परा अतिव्रसन्) शत्रुओंको बहुत डरा देते हैं ॥ ७ ॥

(इन्द्रः यैः पद-घोषैः) इन्द्र जिन पादघोषोंसे और (छायया सह) छाया रूप सेनाके साथ (प्रक्रीडते) युद्धकी क्रीडा करता है, (तैः न-अमीः अमित्राः प्रसन्तु) उनसे हमारे इन शत्रुओंको प्राय होवे कि (य अनौकशः यन्ति) जो सेनाकी पक्षियोंके साथ हमला करते हैं ॥ ८ ॥

(ज्या-घोषाः दुन्दुमयोः) धनुष्यकी बोरोंके शब्दके साथ डोल (या दिशः अमि क्रौञ्चस्तु) जो दिशाएं हैं उनमें शब्द करें । जिससे (अमित्राणां अनीकशः पराजिताः यतीः) शत्रुओंकी सपशः पराजित हुई सेना भाग जावे ॥ ९ ॥

हे (आदित्य) सूर्य ! (चक्षुः आदत्स्व) शत्रुकी दृष्टि हर ले । (मरीचयोः अनु धावत) प्रकाश किरण हमारे अनु-कूल दौड़ें । (बाहुवीर्ये विगते) बाहु बर्य कम होनेपर (पत्-सङ्गिनीः वा सजन्तु) पत्नीको बांधनेकी रस्सियों शत्रुओंके पांवमें बांधी जावे ॥ १० ॥

(पृश्निमातरः उग्रः मरुतः) हे भूमिकी माता माननेवाले, शूर, मरनेके लिये सिद्ध हुए वीरों ! (इन्द्रेण युजा शत्रून् प्र मृणीतु) इन्द्र अर्थात् शूर सेनापतिके साथ रहकर शत्रुओंको मार डाले । सोम, वरुण, महादेव, मृत्यु और इन्द्र ये सब शूरोंकी सहायता करनेवाले देव हैं ॥ ११ ॥

सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः

॥ ११ ॥

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा

॥ १२ ॥ (१३७)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— (एताः देवसेनाः सूर्यकेतवः) ये दिव्य सेनाएं सूर्यका चक्र लेकर चलनेवाली (सचेतसः) उत्तम चित्तसे युक्त होकर (न. अमित्रान् जयन्तु) हमारे शत्रुओंका पराभव करें । विजयके लिये हमारा (स्व-आ-हा) आत्मसमर्पण हो ॥ १२ ॥

नगाडा ।

आर्योका ध्वज ।

ये दोनों सूक्ष्म नगाडिका वर्णन कर रहे हैं । यह वर्णन स्पष्ट बारहवें मंत्रमें सूर्यचिह्नयुक्त केतुका वर्णन है । यह वर्णन और सद्गुण समझने योग्य होनेसे इसका भावार्थ देने और देखनेसे आर्योका ध्वज सूर्यचिह्नयुक्त या यह बात स्पष्ट हो विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । जाती है ।

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

ज्वर निवारण ।

(२२) तक्मनाशनम् ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — तक्मनाशनम् ।)

अग्निस्तक्मानमर्ष बाधतामिवः सोमो ग्रावा वरुणः पुतदक्षाः ।

वेदिर्वेहिः समिधः शोशुचाना अप द्वेपांसमुया भवन्तु

॥ १ ॥

अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नाग्निर्विवाभिदुन्वन् ।

अघा हि तक्मन्नरसो हि भूया अघा न्यडिधराद् वा परैहि

॥ २ ॥

यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस ईवारुणः । तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्च परा सुव

॥ ३ ॥

अर्थ— अग्नि, सोम, ग्रावा, वरुण, पुतदक्षा, वेदि, ये पवित्र बलवले देव और (वेदिः शोशुचानाः समिधः) कुशा, प्रदीप समिधाएं, (इतः तक्मान अप बाधतां) यहासे ज्वरदि रोगको दूर करें । (असुया द्वेपांसि अप भवन्तु) इससे सब द्वेष दूर हों ॥ १ ॥

(अर्थ-यो विश्वान्हरितान्कृणोषि) यह जो तू ज्वररोग सबको निस्तेज करता है । (अग्निः इव उच्छोचयन् अग्निं दुन्वन्) अग्निके समान तपाता और कष्ट देता है । हे (तक्मान्) ज्वर । (अघाहि नरसः भूयाः) और तू नीरख हो जा । (अघा न्यडिधराद् वा परा इहि) और नीचेके स्थानसे दूर हो जा ॥ २ ॥

(यः परुषः पारुषेयः) जो पूर्वपर्वमें होता है और जो पूर्वशेषके कारण उत्पन्न होता है और जो (अरुणः अवध्वंसः इव) रक्तवर्ण अग्निके समान विनाशक है । हे (विश्वधा-वीर्यं) सब प्रकारके शामर्थ्यवाले । (तक्मानं अघराञ्च परासुव) ज्वरको नीचेकी गतिसे दूर कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— यहसे ज्वर दूर होता है, अग्नि, सोम, समिधा, और हवनसामग्री ज्वरको दूर करती है ॥ १ ॥

ज्वर मनुष्यको निस्तेज बनाता है, उसको अग्नि तपाकर निर्वाय बनाता है, इस कारण यहसे ज्वर दूर होता है ॥ २ ॥

ज्वरसे पूर्व-पूर्वमें दूर होता है, इसलिये ऐसे ज्वरको दूर इतना चाहिये ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तुमने । शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेत महावृषान् ॥ ४ ॥
 ओकों अस्य मूर्जवन्त ओकों अस्य महावृषाः । यावज्जातस्तर्कमस्तावानसि बलिहर्कपु न्योचरः ॥ ५ ॥
 तकमन्व्यालि वि गदु व्यङ्ग भूरि यावय । दासीं निष्टकरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥
 तकमन्मूर्जवतो गच्छ बलिहकान्वा परस्तराम् । शूद्रामिच्छ प्रकृष्य तां तकमन्वीवि धूनुहि ॥ ७ ॥
 महावृषान्मूर्जवतो वन्ध्वद्धि परेत्य । प्रैतानि तुमनें भूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥
 अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः । अभूदु प्रार्थस्तुक्मा स गमिष्यति बलिहकान् ॥ ९ ॥
 यच्चं शीतोऽथो रुरः सह कासावैषयः । भीमास्ते तकमन्हेतुस्तार्मिः स्म परिबृढग्घिनः ॥ १० ॥

अर्थ— (तकमने नम कृत्वा) ऊपरको नमन करके (अधराञ्चं प्र हिणोमि) नीचे उतार देता हूँ । (शकम्भरस्य मुष्टिहा) शक भक्षककी मुष्टिसे अर्थात् बलसे मरनेवाला यह रोग (महावृषान् पुनः पुनः) महावृषावाले देशोंमें पुनः पुन आ जाता है ॥ ४ ॥

(अस्य ओकः मूर्जवतः) इसका घर मूर्ज घासवाला स्थान है तथा (अस्य ओकः महावृषा) इसका घर बड़ी वृष्टिवाला स्थान है । हे (तकमन्) ऊपर । (यावत् जात) जबसे तू उत्पन्न हुआ है । (तावान् बलिहर्कपु गोचर अस्ति) तबसे बलिहर्कोंमें दीखता है ॥ ५ ॥

हे (व्याल व्यङ्ग तकमन्) सर्पके समान विषवाले और विरुष अण करनेवाले ऊपर । हे (वि गदु) विशेष रोग । तू (भूरि यावय) बहुत दूर चला जा । तू (निष्टकरीं दासीं इच्छ) निकृष्टतामें रहनेके कारण क्षयको प्राप्त होनेवालीकी इच्छा कर और (ता वज्रेण समर्पय) उसपर अपना वज्र चला ॥ ६ ॥

(तकमन् ! मूर्जवतः गच्छ) हे ऊपर । मूर्जवाले स्थानकी इच्छा कर, (बलिहकान् वा परस्तराम्) दूरके बाल्हीक देशोंकी इच्छा कर । ऐसे देशोंमें (प्रकृष्य शूद्रा इच्छ) भ्रमण करनेवाली शोकमय स्त्रीकी इच्छा कर । हे (तकमन्) ऊपर । (तां वि बृध धूनुहि) उसकी क्या दे ॥ ७ ॥

(महावृषान् मूर्जवतः वन्धु मद्धि) बड़ी वृष्टिवाले और मूर्ज घास जहाँ होती है, उन बंधन करनेवाले स्थानोंको तू खा । (परेत्य) दूर जाकर (पतानि इमा अन्यक्षेत्राणि) इन सब अन्य क्षेत्रोंको (तकमने ये प्र भूमः) हम ऊपरके लिये बतलाते हैं ॥ ८ ॥

(अन्यक्षेत्रे न रमसे) इससे क्षेत्रमें तू रमता नहीं, (वशी सन् नः मृडयासि) बधमें रहकर हमें श्रद्धा करता है । (तक्मा प्रार्थ अभूत् उ) ऊपर प्रबल हो गया है । (स बलिहर्कान् गमिष्यति) वह बाल्हीकोंके प्रति आवेगा ॥ ९ ॥

(यत् त्व शीतः) जो तू सर्दी लगकर आनेवाला है, (अथो रुरः) अथवा अधिक पीडा देनेवाला दहश है, (कासा सह अवेपयः) खाँसीके साथ क्या देता है । हे (तकमन्) ऊपर । (ते हेतय भीमा) तेरे साथ मयकर हैं । (तामिः न परिबृढग्घिन स्म) उनसे हम सबको बचाये रख ॥ १० ॥

मावायर्थ— बहुत वृष्टि जहाँ होती है उन देशोंमें यह ऊपर होता है । शाकभोगी लोगोंमें एक विशेष बल होता है इस कारण उनसे यह ऊपर दूर मागता है ॥ ४ ॥

बहुवृष्टिवाले और मूर्ज घासवाले देशोंमें यह ऊपर बहुत होता है ॥ ५ ॥

इस ऊपरका विष सर्पके समान होता है जिससे शरीर टेढ़ा मेढ़ा होता है । मलिन जीवनवाले लोगोंमें यह होता है ॥ ६ ॥

घासवाले स्थानोंमें यह ऊपर हाता है और इस ऊपरके आनेपर शरीर काँपता है ॥ ७ ॥

बड़ी वृष्टिवाले और घासवाले प्रदेशोंमें भिक्ष आन उत्तम क्षेत्रोंमें यह ऊपर नहीं होता है ॥ ८ ॥

अन्य स्थानोंमें नहीं होता है । बड़ी नियमपूर्वक रहनेवाले लोगोंको यह नहीं होता । उनसे दूर मागता है ॥ ९ ॥

यह ऊपर शीत, रुध, और कफयुक्त होता है । इसका परिणाम मयकर होता है इसलिये इससे बचना चाहिये ॥ १० ॥

मा स्मेतान्त्सर्वान्कुरुथा बलासं कासमृद्युगम् । मा सातोऽर्वाडैः पुनस्तत्त्वा तस्मिन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥
 तस्मिन्प्रात्रा बलासेन स्वस्त्रा कासिकया सह । पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छाम्भरणं जनम् ॥ १२ ॥
 तृतीयकं विवृतीयं सन्दन्दिमुत शारदम् । तुकमानं शीतं रूरं प्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥
 गुन्धारिभ्यो मूलज्वर्योऽङ्गैभ्यो मृगधैभ्यः । प्रैष्यन्जनमिव शेषविं तुकमानं परि दधसि ॥ १४ ॥ (१५१)

अर्थ— हे (तकमन्) ज्वर ! (बलासें कामं उद्युगं) कफ, खाँसी, और क्षय (एतान् सखीन् मा स्म कुरुथाः) इनको अपने मित्र मत बना । (अतः अर्वाड् मा स्म ऐः) इससे धर्मी न आ । हे (तकमन्) ज्वर ! (तत्त्वा पुनः उपब्रुवे) यह तुझे मैं पुनः कहता हूँ ॥ ११ ॥

हे (तकमन्) ज्वर ! तू (प्रात्रा बलासेन) अपने माई कफके साथ, (स्वस्त्रा कासिकया सह) बहिन खाँसीके साथ, (पाप्मा भ्रातृव्येण सह) पापी भतीजे क्षयके साथ (अमुं भरणं जनं गच्छ) उस मलिन मनुष्यके पास आ ॥ १२ ॥

(तृतीयकं) तीसरे दिन आनेवाले, (विवृतीयकं) तीन दिन छोड़कर आनेवाले, (सदन्दि) सदा रहनेवाले, (उत शारदं) और शरदतुमें होनेवाले, (शीतं, रूरं) शीत अथवा पीडा करनेवाले, (प्रैष्मं, वार्षिकं) ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके संधधसे आनेवाले ज्वरको (नाशय) हटा दे ॥ १३ ॥

(गुन्धारिभ्यः मूलज्वर्यः) गौधरा, मूलवान् (अङ्गैभ्यः मृगधैभ्यः) अंग और मृगधोंको (प्रैष्यन् शेषविं जन इव) भेजे आनेवाले खजानेके रक्षक मनुष्यके समान (तुकमानं परि दधसि) ज्वरको हम भेज देते हैं ॥ १४ ॥

भाषार्थ— इस ज्वरके कफ, खाँसी और क्षय ये तीन मित्र हैं । यह ज्वर हमारे पास कभी न आवे ॥ ११ ॥

इस ज्वरका माई कफ; बहिन खाँसी और भतीजा क्षय है । मलिन लोगोंको यह होता है ॥ १२ ॥

तीसरे दिन आनेवाला, चौथे दिन या तीन दिन छोड़कर आनेवाला, सदा अर्थात् प्रतिदिन आनेवाला, शरद, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुके कारण होनेवाला, शीत और रूख, ये सब ज्वर हटाने चाहिये ॥ १३ ॥

जिस प्रकार रक्षक मनुष्य दूसरे देशको भेजे जाते हैं, उस प्रकार सब ज्वर दूर भेजे जाय, अर्थात् ये मनुष्योंको कह न दें ॥ १४ ॥

ज्वर रोग ।

ज्वर रोगके विषयमें बहुतसी बड़ी विचारणीय बातें इस सूक्तमें बड़ी हैं—

ज्वरके भेद ।

१ सदन्दिः— सदा, प्रतिदिन आनेवाला ज्वर ।

२ तृतीयकः— तीसरे दिन आनेवाला ज्वर ।

३ वि-तृतीयकः— तीन दिन छोड़कर चौथे दिन आनेवाला वातुर्धिक आदि ज्वर । (मं. १३)

ये तीन भेद दिनोंके अन्तरके कारण होते हैं । ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके नाम ये हैं—

१ प्रैष्मः— ग्रीष्म ऋतुमें होनेवाला ज्वर ।

२ वार्षिकः— वर्षा ऋतुके कारण आनेवाला ज्वर ।

३ शारदः— शरदतुके कारण आनेवाला ज्वर । (मं. १३)

ये तीन भेद ऋतुके कारण आनेवाले ज्वरके हैं । अब इस ज्वरके स्वरूप भेद देखिये ।

१ शीतः— शीत ज्वर, जिसमें प्रथम शीत लगकर पश्चात् ज्वर आता है ।

२ रूरः— रूख, पित्त ज्वर, अथवा पीडा देनेवाला ज्वर । (मं. १३)

ये भेद इसका स्वरूप से हैं । ज्वरके साथ होनेवाले रोग ये हैं ।

१ बलासः— कफ बलघन, यह ज्वरमें होता है ।

२ कासः— खाँसी भी ज्वरमें होती है । (मं. ११, १२)

ये दोनों लक्षण बहुत खराब हैं, इसका परिणाम—

३ उत्-युगं— ये दोनों अर्थात् कफ और खाँसी इकट्ठी आती हैं, इसका नाम क्षय है । यह तो इसका मयङ्कर परिणाम होता है । (मं. ११)

देश विशेषके कारण होनेवाले ज्वरोंका परिणाम निम्न प्रकार इस सूक्तमें किया है ।

१ महाज्वरः— बड़ी वृद्धिवाले प्रदेशमें होनेवाला ज्वर ।

'अस्य ओकः महापुत्रः'— इसका घर बड़ी छुट्टि-वाला प्रदेश है । (मं. ५)

२ मूजवान्— पास ज़ादा होता है ऐसे कीचड़के स्थानमें यह ज्वर होता है ।

'अस्य ओकः मूजवतः'— इसका घर मूजवाला स्थान है । (मं. ५)

इस प्रकारके प्रदेश इस ज्वरके लिये बढानेवाले होते हैं, अन्य क्षेत्रोंमें यह नहीं बढता है, अर्थात् हुआ भी तो क्षीघ्र हट जाता है । इस ज्वरमें बहुत विष होता है, जो शरीरमें आता है और वही पीका करता है—

१ व्यालः— सर्पके समान यह ज्वरका विष है ।

२ व्यसगः— अंगों और इंद्रियोंमें विकृता करानेवाला यह ज्वर है । (मं. ६)

मलिन स्त्रीपुरुषोंको यह विशेषकर होता है, अर्थात् अन्तर्बाह्य पवित्र रहनेवालोंको नहीं होता, इस विषयमें मनुष्य प्रमाण देखिये—

१ ज्वरणं जन— नाँव जीवन व्यतीत करनेवालेको होता है । (मं. १२)

२ निष्ठकरीं— क्षीण और मलिनको होता है । (मं. ६)

३ प्रफलयं— फूला मनुष्य, जिसमें सधा बल नहीं होता उसको होता है । (मं. ७)

यम, नियम पालन करनेवाला संयमी पुरुष सुखसे रहता है । इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र मननपूर्वक देखिये—

न चक्षी मूढयासि । (मं. ९)

'हममें जो वशी अर्थात् संयमी पुरुष होता है, उसको सुख देता है,' अर्थात् यह ज्वर उसको कष्ट नहीं देता है । इस प्रकार यह संयम ज्वरादिषु और स्यादिषु बचनेका एकमात्र उपाय है । पाठक इसका विचार करके ब्रह्मचर्यादि धनियमोंके पालनद्वारा अपना स्वास्थ्य बढाये और रोगोंसे दूर रहें ।

ज्वर निवृत्तिका उपाय ।

संयम, ब्रह्मचर्य आदि उपाय ज्वरप्रतिबंधक हैं, परंतु ज्वर आनेपर उसको हटानेके उपाय निम्नलिखित हैं—

१ यक्षः— अग्निमें सोमादि औषधियोंका हवन करनेसे ज्वर हटता है । (मं. १)

२ अघराह् परेहि— नीचेके मार्गसे ज्वर दूर होता है, अर्थात् शीघ्र शुद्धि, पेट साफ रहनेसे ज्वर दूर होता है । (मं. २)

३ शकं-भरस्य मुष्टि-हा— शाकभोजीकी मुष्टिसे मरनेवाला ज्वर होता है । मांसभोजी मनुष्यकी अपेक्षा शाकभोजी मनुष्यमें ज्वरप्रतिबंधकशक्ति अधिक होती है, इस लिये मानो शाकभोजी मनुष्य इस ज्वरकी मुक्तिसे मार देता है । (मं. ४)

इस प्रकार इस ज्वरके संबंधका विवरण इस सूक्तमें है । वैय इस सूक्तका अधिक विचार करें । इस सूक्तमें कदे लेखणोत्त प्रतीत होता है कि यह तत्काल आत्मकलका घातज्वर अथवा 'मलेरिया' है ।

रोगजन्तुओंका नाश ।

(२३) किमिन्द्रम् ।

(क्रयिः — कणयः । देवता — इन्द्रः, किमिन्द्रमनाय देवप्रार्थना ।)

ओतैं मे घावापृथिवी ओता देवी सरस्वती । ओतैं म इन्द्रश्चामिश्च किमिं जम्मपतामिति ॥ १ ॥
अस्येन्द्रं कुमारस्य किमीन्चनपते जहि । हता विद्या अरातय उग्रेण वचसा मम ॥ २ ॥

अर्थ— यावापृथिवी, देवी सरस्वती, इन्द्र, अग्नि ये सब देव (भोले, ओता, ओतैं) परस्पर मिले जुले (मे मे किमिं जम्मपता) मेरे लिये किमियोंका नाश करें ॥ १ ॥

हे धनपते इन्द्र ! (अस्य कुमारस्य किमीन् जहि) इस कुमारके किमियोंको हटा दे । (मम उग्रेण वचसा विध्याः भरातयः हताः) मेरे पासकी उग्र वचसे सब दुष्टदामी किमि मारे गये ॥ २ ॥

यो अक्षयौ परिसर्पति यो नासै परिसर्पति । दतां यो मध्यं गच्छति तं किमि जम्भयामसि ॥ ३ ॥
 सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ । वभ्रुश्च वभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥
 ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिवाहवः । ये के च विश्वरूपास्तान्किमिज्जम्भयामसि ॥ ५ ॥
 उत्पुरस्तात्सर्व एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा । दृष्टांश्च मन्त्रदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन्किमिन् ॥ ६ ॥
 येवापासः कण्कपास एजत्काः शिपिविनुकाः । दृष्टश्च हन्यतां किमिहतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥
 हतो येवापः किमिणां हतो न्दानिमोत । सर्वांश्च मन्मपाकरं दृष्ट्वा खल्वौ इव ॥ ८ ॥
 त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं किमि सारङ्गमर्जुनम् । शृणाम्यस्य पृथीरपि वृथामि यच्छिरः ॥ ९ ॥
 अत्रिवदः क्रिमयो हन्मि कण्ववजमदशिवत् । अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनम्पुहं किमिन् ॥ १० ॥
 हतो राजा किमिणामुतैर्वा स्थपतिहताः । हतो हतमाता किमिहताभ्राता हतस्वसा ॥ ११ ॥

अर्थ—(यः अक्षयौ परिसर्पति) जो आँखोंमें भ्रमण करता है, (यः नासै परिसर्पति) जो नाथमें घुसा होता है, (दतां यो मध्यं गच्छति) दाँतोंके बीचमें जो जाता है, (तं किमि जम्भयामसि) उस किमिको हम विनाश करें ॥ ३ ॥
 (सरूपौ द्वौ, विरूपौ द्वौ) दो समान रूपवाले और दो विरुद्ध रूपवाले, (द्वौ कृष्णौ, द्वौ रोहितौ) दो काले और दो लाल, (वभ्रुः च वभ्रुकर्णः च) भूरा और भूरे कानवाला, (गृध्रः कोकः च) गिद्ध और भेड़िया (ते हताः) वे सब मर गये ॥ ४ ॥

(ये क्रिमयः शितिकक्षाः) जो किमि ध्वन कोखवाले, (ये कृष्णाः शितिवाहवः) जो काले और काली भुजावाले और (ये के च विश्वरूपाः) और जो बहुत रूपवाले हैं (तान् किमिन् जम्भयामसि) उन किमियोंका नाश करते हैं ॥ ५ ॥

(सर्व-उत पुरस्तात् एति) सर्व आगेसे चलता है वह (विश्वदृष्टः अदृष्ट-हा) सबको जो प्रलक्ष है और जो न देखनेवाले क्रियोंका भी नाश करनेवाला है, वह (दृष्टान् च अदृष्टान् च सर्वांश्च किमिन्) देखनेवाले और न देखनेवाले सब किमियोंको (मन्त्र प्रमृणन्) नाश करता है और कुचल दालता है ॥ ६ ॥

(येवापासः कण्कपासः) येवाप, कण्व, (एजत्काः शिपिविनुकाः) एजत्क और शिपिविनुक ये किमी हैं । (दृष्टः किमिः हन्यतां) देखनेवाले किमीको मारा जाय और (उत अदृष्टः च हन्यतां) और न देखनेवाला भी मारा जाय ॥ ७ ॥

(किमिणां येवापः हताः) किमियोंसे येवाप नामक किमी मारा गया (उत न्दानिमो हताः) और नाद करनेवाला भी मर गया । (सर्वांश्च मन्मपा नि अकरं) सबको मसल मसलकर नष्ट किया (दृष्ट्वा खल्वौ इव) जिस प्रकार परधरसे चनोंको पीसते हैं ॥ ८ ॥

(त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं) तीन शिरोंवाले, तीन कुदानवाले, (सारङ्गं अर्जुनं किमि) त्रिशिविचित्र रंगवाले और श्वेत रंगवाले किमीको (शृणामि) मैं मारता हूँ । (अस्य पृथीः अपि) इसकी पृथलियोंको भी तोड़ता हूँ और (यत् शिरः वृथामि) जो शिर है ससक कुचलता हूँ ॥ ९ ॥

हे (क्रिमयाः) अनुओं ! (अत्रिवत्, कण्ववत्, जमदग्निवत्) अत्रि, कण्व और जमदग्निसे समान (यः हन्मि) तुमको मारता हूँ । (अहं अगस्त्यस्य ब्रह्मणा) मैं अगस्त्यके ज्ञानसे (किमिन् सं पिनम्पि) रोगके किमियोंको पीसता हूँ ॥ १० ॥

(किमिणां राजा हताः) रोगकिमियोंका राजा मारा गया, (उत एवां स्थपतिः हताः) और इनका स्थानपति मारा गया । और (हत-माता हत-भ्राता) भिषक माता और भाई मारे गये हैं तथा (हत-स्वसा किमिः हताः) जिसकी बहिन मारी गई है ऐसा किमी भी मारा गया ॥ ११ ॥

हतासौ अस्य वेशसौ हतासः परिवेशसः । अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥
सर्वेषां च किमीणां सर्वासां च किमीणाम् । भिनन्नचर्मना शिरा दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥ (१६४)

अर्थ— (अस्य वेशस हतासः) इसके घरवाले मारे गये, (परिवेशसः हतासः) इसके परिवारवाले मारे गये ।
(अथो ये क्षुल्लकाः इव) और जो क्षुल्लक किमि थे (ते सर्वे क्रिमयः हताः) वे सब किमि मारे गये हैं ॥ १२ ॥

(सर्वेषां च किमीणां) सब पुद्गल किमियोंका और (सर्वासां च किमीणां) सब आ किमियोंका (अश्मना शिरः भिनन्नि) पत्थरसे शिर टाटता हूँ और (अग्निना मुख दहामि) अग्निसे मुख जलाता हूँ ॥ १३ ॥

रोगकिमियोंका नाश ।

रोगके किमि शरीरमें छुपते हैं और वहाँ विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह बात वेदके कई सूक्तोंमें कही है । अग्नि, वायु, जल आदि द्वारा इन किमियोंका नाश होता है, यह प्रथम मन्त्रका कथन है । छोटे बालकोंके शरीरमें भी किमि होते हैं उनको दूर करनेके लिये दवा औषधिका उपयोग करना चाहिये यह द्वितीय मन्त्रका उपदेश मननीय है ।

आँख, नाक और दाँतोंमें किमि जाते हैं और वहाँ विविध रोग उत्पन्न करते हैं, यह तृतीय मन्त्रका कथन प्रत्यक्ष देखने योग्य है । चतुर्थ और पञ्चम मन्त्रमें किमियोंके रंगोंका वर्णन है । सूर्यकिरणसे सब रोगकिमियोंका नाश होता है, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह मन्त्रमें कही है । विपुल सूर्यकिरणोंके साथ अपना सम्बन्ध करके पाठक रोगकिमियोंका अपना बचाव कर सकते हैं । अन्य मन्त्रोंका कथन स्पष्ट है इसलिये उद्य विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

सुरक्षितताकी प्रार्थना ।

(२४) ब्रह्मकर्म ।

(ऋषिः — अथर्व । देवता — ब्रह्मकर्मात्मा, नानादेवता ।)

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रित्यामस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामाश्रित्यामस्यां देवहृत्यां स्वाहा ॥ २ ॥

अर्थ— (अस्मिन् ब्रह्मणि) इस ब्रह्मणमें, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्ममें, (अस्यां पुरोधायाम्) इस पुरोहितके अनुष्ठानमें, (अस्यां प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठामें, (अस्यां चित्याम्) इस चिन्तनमें, (अस्यां आकृत्याम्) इस संकल्पमें, (अस्यां आश्रित्याम्) इस आशीर्दानमें, (अस्यां देवहृत्याम्) इस देवोंकी प्रार्थनामें, (स्व-आ-दा) आत्म-सर्वस्वका समर्पण करता हूँ, इस समय (सः प्रसवानां अधिपतिः सविता मा अवतु) वह सब चेतनाओंका अधिपति श्रेष्ठ परमेश्वर मेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

(सः वनस्पतीनां अधिपतिः अग्निः मा अवतु) वह वनस्पतियोंका अधिपति अग्नि मेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम् ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ३ ॥

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपतौ तौ मावताम् ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ७ ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्त्वांमस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ९ ॥

अर्थ— (ते दातॄणां अधिपत्नी द्यावापृथिवी मा अवतां) वे दाताओंके अधिपति द्यावापृथिवी मेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(सः अयां अधिपतिः चरणः मा अवतु) वह जलोका अधिपति वरुण मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

(तौ वृष्ट्या अधिपतौ मित्रावरुणौ मा अवतां) वे दोनों वृष्टिके अधिपति मित्र और वरुण मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(ते पर्वतानां अधिपतयः मरुतः मा अवन्तु) वे पर्वतोंके अधिपति मरुत मेरी रक्षा करें ॥ ६ ॥

(सः वीरुधां अधिपतिः सोमः मा अवतु) वह ओषधियोंका अधिपति सोम मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सः अन्तरिक्षस्य अधिपतिः वायुः मा अवतु) वह अन्तरिक्षका अधिपति वायु मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(सः चक्षुषां अधिपतिः सूर्यः मा अवतु) वह नेत्रोंका अधिपति सूर्य मेरी रक्षा करे ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १० ॥

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ ११ ॥

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १२ ॥

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १३ ॥

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १५ ॥

तुता अवरं ते मावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मेण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चित्पायामस्यामाकृत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १६ ॥

अर्थ— (सः नक्षत्राणां अधिपतिः चन्द्रमाः सा अवतु) वह नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ १० ॥

(सः दिवः अधिपतिः इन्द्रः सा अवतु) वह गुलोकका अधिपति इन्द्र मेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

(सः पशूनां अधिपतिः मरुतां पिता सा अवतु) वह पशुओंका अधिपति मरुतिवत्ता मेरी रक्षा करे ॥ १२ ॥

(सः प्रजानां अधिपतिः मृत्युः सा अवतु) वह प्रजाओंका अधिपति मृत्यु मेरी रक्षा करे ॥ १३ ॥

(सः पितॄणां अधिपतिः यमः सा अवतु) वह पितरोंका अधिपति यम मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

(ते परे पितरः सा अवन्तु) वे पूर्व पितर मेरी रक्षा करें ॥ १५ ॥

तत्तस्ततामहास्ते मावन्तु ।

अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां

चिच्योमस्यामाकृत्यामस्यामाश्लिष्यस्यां देवहृत्यां स्वाहा

॥ १७ ॥ (१८१)

अर्थ— (ते अवरे तताः मा अवन्तु) वे पिछले पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १६ ॥

(ते ततः ततामहाः मा अवन्तु) वे बड़े पितामह मेरी रक्षा करें ॥ १७ ॥

अपनी सुरक्षितता ।

ज्ञानोपदेशका कर्म, अन्यान्य पुरुषार्थ, यजन याजन, सभकी स्थिरता और सुदृढता बढानेवाले कर्म, चित्तसे चित्तन मनन आदि कर्म, सकल्प, आशीर्वाद देना और लेना, ईश्वरकी स्तुति

प्रार्थना आदि कर्म तथा जो जो अन्यान्य कर्तव्यकर्म मनुष्य करता है, उसमें संपूर्ण देवताएं और उन देवताओंका प्रेरक परमात्मा मेरी रक्षा करे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । यह स्पष्ट आशय-वाला है इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

गर्भधारणा ।

(२५) गर्भाधानम् ।

(क्राचिः — ब्रह्मा । देवता — योनिगर्भः, पृथिव्यादयो देवताः ।)

पर्वतादिवो योनेरङ्गादङ्गात्समामृतम् । शेषो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे ॥ २ ॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति । गर्भं ते अश्विनोमा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः । गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

अर्थ— (पर्वतात् दिवः) पर्वतसे लेकर युलोकपर्यन्त स्थित पदार्थोंके (अंगात् अंगात् सं आधृतं) अंग प्रत्यंगसे इकट्ठा किया हुआ (योनेः) योनिके स्थानमें (रेतोधाः शेष) वीर्यकी स्थापना करनेवाला पुरुषेन्द्रिय (सरौ पर्ण इव) जल-प्रवाहमें पत्तको रखनेके समान (गर्भस्य आ दधत्) गर्भका बीज आधान करता है ॥ १ ॥

(यथा इमं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बड़ी पृथिवी (भूतानां गर्भं आदधे) समस्त भूतोंके गर्भको धारण करती है, (एवा ते गर्भं दधामि) इस प्रकार तेरा गर्भ धारण करती हूँ (तस्मै अवसे त्वां हुवे) उस रक्षाके लिये दुर्लभ सुलगी हूँ ॥ २ ॥

हे (सिनीवालि) अल्प खन्डवाली राश्री देवी । (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर । हे (सरस्वति) ज्ञानदेवी । (गर्भं धेहि) गर्भको धारण कर । (अभौ पुष्करस्रजौ) दोनों कमलमाला धारण करनेवाले अश्विदेवों (ते गर्भं आ धत्तां) तेरे गर्भको धारण करें ॥ ३ ॥

(मित्रावरुणौ ते गर्भं) मित्र और वरुण तेरे गर्भको पुष्ट करें (देव बृहस्पतिः गर्भं) देव बृहस्पति गर्भको धारण करे । (इन्द्रः च अग्निश्च ते गर्भं) इन्द्र और अग्नि तेरे गर्भको धारण करे । (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ४ ॥

विष्णुर्गोनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिशतु । आ सिंश्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥
 यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती । यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्र्भकरणं पिब ॥ ६ ॥
 गर्भो अस्यापघ्नीनां गर्भो वनस्पतीनाम् । गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥
 अधि स्कन्द वीर्यस्व गर्भमा धेहि योन्याम् । वृषासि वृष्णवावन्प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥
 वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् । अदृष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥
 धातुः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि स्रुतवे ॥ १० ॥
 त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि स्रुतवे ॥ ११ ॥
 सार्वितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि स्रुतवे ॥ १२ ॥
 प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि स्रुतवे ॥ १३ ॥ (१९४)

अर्थ— (विष्णु योनिं कल्पयतु) विष्णु योनिको समर्थ बनावे । (त्वष्टा रूपाणि पिशतु) त्वष्टा रूपोंको अवयवोंवाला बनावे । (प्रजापतिः आ सिंश्चतु) प्रजापति गर्भको सीधे और (धाता ते गर्भं दधातु) धाता तेरे गर्भको धारण करे ॥ ५ ॥

(यत् राजा वरुणः वेद) जो वरुण राजा जानता है, (या यत् देवी सरस्वती) अथवा जो देवी सरस्वती जानती है । (यत् वृत्रहा इन्द्रः वेद) जो वृत्रहा नाश करनेवाला इन्द्र जानता है (तत् गर्भ-करणं पिब) वह गर्भको स्थिर करनेवाला यह रस पान कर ॥ ६ ॥

(ओषधीनां गर्भः अस्ति) तू औषधियोंका गर्भ है, और (वनस्पतीनां गर्भः अस्ति) तू वनस्पतियोंका गर्भ है, तू (विश्वस्य भूतस्य गर्भं) सब भूतमात्रका गर्भ है, हे अग्ने ! (सः इह गर्भं आधाः) वह तू यहाँ गर्भको धारण कर ॥ ७ ॥

(अधिस्कन्द) उठकर खड़ा हो, (वीर्यस्व) वीरता कर, (योन्यां गर्भं आ धेहि) योनिमें गर्भको स्थापना कर । हे (वृष्णवावन्) वृषा अस्ति) वीर्यवान् । तू बलवान् है । (त्वा प्रजायै नयामसि) तुमने केवल सन्तानके लिये ही ले जाते हैं ॥ ८ ॥

हे (बार्हत्सामे) बृहत्साम गानेवाली स्त्री ! तू (जिहीष्व) विशेष प्रकार तैयार रह । (ते योनिं गर्भं आशयां) तेरी योनिमें गर्भ स्थिर होवे । (सोमपाः देवाः उभयाविने पुत्रं ते अदु) सोमपान करनेवाले देवोंने तुम दोनोंकी रक्षा करनेवाले पुत्रको तुमसे दिया है ॥ ९ ॥

हे (धातुः) धाता ! और हे (त्वष्टः) रूप बनानेवाले देव ! हे (सार्वित) सत्यपदक देव ! हे (प्रजापते) प्रजापालक देव ! (अस्याः नार्याः गवीन्योः) इस स्त्रीके दोनों गर्भधारक नाटियोंके बीचमें (श्रेष्ठेन रूपेण पुमांसं पुत्रं आधेहि) उत्तम सुंदर रूपके साथ पुत्र सन्तान स्थापन कर और (दशमे मासि स्रुतवे) दसवें मासमें उत्पत्ति होनेके लिये उसे योग्य कर ॥ १०-१३ ॥

गर्भकी सुरक्षितता ।

गर्भकी सुरक्षितताके लिये परमेश्वरकी तथा अन्गान्य देवताओंकी प्रार्थना इस सूक्तमें की गई है । इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे मानस शक्तिकी आपत्ति द्वारा बहुत लाभ होता है । इसके अतिरिक्त इस सूक्तमें गर्भविषयक अन्गान्य बहुतसी उपयुक्त बातें कही हैं, उधका घोड़ावा विचार यही करना आवश्यक है ।

पृथ्वीके ऊपर पर्वतसे लेकर शूलोकपर्यंत अर्थात् इस धाया-पृथिवीके अन्दर जितने पदार्थ हैं, उन सबके अंग प्रत्यंगोंके अंग ले लेकर और उन सब अंशोंको विशेष योजनासे इकट्ठा करके यह गर्भ बनाया गया है । यह प्रथम मंत्रका कथन है । अर्थात् इस गर्भमें जिस प्रकार सूर्य और चंद्रके अंश हैं, उसी प्रकार वायु और बलके अंश भी हैं और उसी रीतिसे ओषधि-वनस्पतियोंके भी अंश हैं । जो मन्त्राष्टमं है वही षिण्डमं है ।

प्रज्ञाण्डका एक अंश ही पिंड है। इसी प्रकार पितृके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व बाँये बिन्दुमें आता है और वसी कीर्मे बिन्दुसे गर्भ होता है, इस लिये गर्भमें पितृके अंग प्रत्यंगोंका सत्त्व आया हुआ होता है। इस प्रकार एक दृष्टिसे यह गर्भ सब प्रज्ञाण्डका सर्वांश है और दूसरी दृष्टिसे यह गर्भ पितृका सर्वांश है। गर्भमें, मानो, इतनी प्रचण्ड शक्तियाँ हैं, इस लिये गर्भकी जितनी सुरक्षा हो उतनी करनी चाहिये और उसकी जिस प्रकार रक्षति हो सके उस प्रकार यत्न करना चाहिये।

मंत्र १ से ५ तक देवताओंकी प्रार्थना है कि सब देव इस गर्भकी रक्षामेंसे सहायता दें। और जो देवताओंके अंश यही रह रहे हैं उनको अपनी शक्तिसे सुरक्षित रखें और बढावें। पाठक यहाँ स्मरण रखें कि रक्षा तो देवों द्वारा ही होनी है, मनुष्यका कार्य इतना ही है कि वह उसमें रुकावट न करे।

जिस प्रकार बंद कमरेमें सदा रहनेसे सूर्यकी रक्षासे मनुष्य दूर रहते हैं, वसी प्रकार अन्त्यान्य देवोंकी रक्षासे मनुष्य अपनी अज्ञानताके कारण दूर रहता है। इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपने आपको इन देवताओंके स्थापान करे। ऐसा करनेसे इसकी उत्तम रक्षा हो सकती है। गर्भकी भी सुरक्षितताके लिये गर्भिणी जो शुद्ध वायुमें तथा धूप आदिमें अपने आपको रखे और सूर्यादि देवोंसे जो रक्षा प्राप्त होती है उससे लाभ उठावे तो अधिक लाभ हो सकती है।

गर्भ उत्तम रीतिसे बढकर दसवें मासमें माताके उदरसे बाहर आना चाहिये। यह समय उसकी पूर्ण शुद्धिका है। यह बात दशम मंत्रमें कही है।

अन्य मंत्र गर्भाधान विषयक हैं वे सुविश पाठक सहजहीमें समझ सकते हैं।

यज्ञ ।

(२६) नवशालायां घृतहोमः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वास्तोष्पतिः, नानादेवताः ।)

यज्ञेऽपि यज्ञे समिधः स्वाहाऽग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु	॥ १ ॥
युनक्तु देवः सविता प्रजानन्स्मिन्यज्ञे मंहिषः स्वाहा	॥ २ ॥
इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयज्ञः स्वाहा	॥ ३ ॥
प्रेषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः	॥ ४ ॥
छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेर्व पुत्रं पिपृतेह युक्ताः	॥ ५ ॥
एयमंगमन्वर्हिषा प्रोक्षणीभिर्विशं तन्वानादितिः स्वाहा	॥ ६ ॥

अर्थ— (प्रविद्वान् अग्निः इह यज्ञे) विशेष ज्ञानी अग्नि इस यज्ञमें (यः यज्ञेऽपि समिधः) आपके लिये यज्ञवेद मंत्र और समिधार्थ (युनक्तु स्वाहा) उपयोगमें आवे, मैं अपनी आहुतियाँ समर्पित करता हूँ ॥ १ ॥

(मंहिषः प्रजानन् सविता देवः) महान् ज्ञानी सर्व प्रेरक सविता देव (अस्मिन् यज्ञे युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें हवन सामग्रीका उपयोग करे, मैं अपनी आहुतियाँ समर्पित करता हूँ ॥ २ ॥

(प्रविद्वान् सुयज्ञः इन्द्रः) ज्ञानी सुयोग्य इन्द्र, (अस्मिन् यज्ञे उक्थामदानि युनक्तु, स्वाहा) इस यज्ञमें आनन्दकारक स्मृतिलोकोकी प्रशंसा करे, इसमें मेरा समर्पण हो ॥ ३ ॥

(प्रेषाः निविदः इह यज्ञे युक्ताः शिष्टाः) आहुतार्थ और आरमभिवेदन करनेकी रीतियाँ आननेवाले इस यज्ञमें नियुक्त हुए शिष्ट लोग (पत्नीभिः सहित, स्वाहा), अपनी धर्मपरिचर्याके साथ यज्ञका भार उठावें, यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ४ ॥

(माता इह पुत्रं) माता जैसे पुत्रकी पूर्ण करती है, उस प्रकार (इह यज्ञे युक्ताः मरुतः) इस यज्ञमें लगे हुए मरुत देव (छन्दांसि पिपृत, स्वाहा) छंदोंको पूर्ण करें, मेरा समर्पण यज्ञके लिये होवे ॥ ५ ॥

(एयं अदितिः यर्हिषा प्रोक्षणीभिः) यह अदिति देवी हवन सामग्री और शोधक घाघनोंके साथ (यज्ञं तन्वाना आ आगन् स्वाहा) यज्ञका विस्तार करती हुई आई है। इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ६ ॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपोऽस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

भगो युनक्त्वाशिषोन्वृत्स्मा अस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

सोमो युनक्तु बहुधा पर्यास्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्योष्णस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वपदकारेण यज्ञं वर्धयन्तौ ।

बृहस्पते ब्रह्मणा यातमर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥ (३०६)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ—(सुयुजः विष्णु अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य विष्णु देव इस यज्ञमें (तपोऽसि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपनी तपन शक्तियोंका बहुत प्रकार उपयोग करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण होवे ॥ ७ ॥

(सुयुजः त्वष्टा अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य त्वष्टा देव इस यज्ञमें (रूपाः नु बहुधा युनक्तु, स्वाहा) विविध रूपोंको बहुत प्रकार प्रयुक्त करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ८ ॥

(सुयुजः प्रविद्वान् भग अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य ज्ञानी भग देव इस यज्ञमें (अस्मै नु आशिषः युनक्तु, स्वाहा) इसके लिये आशीर्वाद देवे । इस यज्ञमें मेरा आत्मसमर्पण होवे ॥ ९ ॥

(सुयुजः सोमः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य सोम देव इस यज्ञमें (पर्यासि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अलोक बहुत प्रकार प्रयुक्त करे, मेरा समर्पण इस यज्ञमें होवे ॥ १० ॥

(सुयुजः इन्द्रः अस्मिन् यज्ञे) सुयोग्य इन्द्र देव इस यज्ञमें (वीर्याणि बहुधा युनक्तु, स्वाहा) अपने सामर्थ्योंका बहुत प्रकार उपयोग करे । इस यज्ञमें मेरा समर्पण हो ॥ ११ ॥

हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (ब्रह्मणा वपद कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ) ज्ञान और दान द्वारा यज्ञको बढ़ाते हुए (अर्वाञ्चौ आयातं) हमारे पास आओ । हे बृहस्पते ! (ब्रह्मणा अर्वाङ् आयाहि) ज्ञानके साथ पास आ । (अयं यज्ञः यजमानाय स्व) यह यज्ञ यजमानके लिये तेज बढ़ानेवाला होवे । (स्वाहा) यज्ञमें आत्मसमर्पण होवे ॥ १२ ॥

यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

'स्वाहा' शब्दका अर्थ (स्व + आ + हा) 'अपना करने योग्य जो जो पदार्थ हैं उन सबका जगत्की मलाईके लिये समर्पण करना' है । वाल्मिकी रीतिये यज्ञमें यह आत्म-शक्तिका समर्पण अत्यंत मुख्य भाग है । मानो, इसके बिना कोई यज्ञ हो नहीं सकता । यज्ञमें आहुति देते समय 'स्वाहा, न भम' (यह पदार्थ मैंने यज्ञमें दिया है, अब यह मेरा नहीं है) यह मंत्र जो पढ़ा जाता है उसका तात्पर्य आत्मसमर्पणका पाठ देना ही है । इस सुखके प्रत्येक मन्त्रमें 'स्वाहा' शब्दका पाठ इसीलिये किया है ।

अग्नि, सविता, इन्द्र, मरुत, अदिति, विष्णु, त्वष्टा, भग, सोम, अश्विनो, बृहस्पति आदि सब देवताएँ जगत्के यज्ञमें अपना अपना कार्य कर रही हैं, अर्थात् अपनी अपनी शक्तियोंका समर्पण कर रही हैं, यह देवताओंका आत्मसमर्पण देखकर

हर एक मनुष्यको उचित है कि, वह भी अपनी संपूर्ण शक्ति यज्ञमें समर्पित करे और अपने जीवनकी सार्यकता यज्ञद्वारा करे । अग्नि उष्णता देता है, सविता प्रकाश देता है, इन्द्र चमकता है, मरुत जीवन देते हैं, अदिति आभार देती है, विष्णु सर्वत्र व्यापकर सबको रखा करता है, त्वष्टा सब पदार्थोंके रूप बनाता है, भग सबकी माग्यवान् बनाता है, सोम सबकी शक्ति देता है, अश्विनी देव सबके दोष दूर करते हैं, बृहस्पति सबको ज्ञान देता है किंवा एक ही परमात्मदेव इतनी शक्तियों द्वारा जगत्का यज्ञ साँग सँपन्न करता है । ये सब देव ये कार्य अपने सुखके लिये नहीं करते, परंतु सब जगत्की मलाईके लिये आत्मशक्तिका समर्पण करते हैं । इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी तन, मन धनादि सब शक्तियोंका यज्ञ जनताकी मलाईके लिये करे और इस आत्मसमर्पण समर्पणके यज्ञद्वारा अपने जीवनकी सफलता करे । इस प्रकार यज्ञमय जीवन व्यतीत करनेका उपदेश इस सुखने दिया है ।

यहाँ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

अग्नि की ऊर्ध्वगति ।

(२७) अग्निः ।

(ऋषि — प्रह्ला । देवता — मग्निः ।)

उर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचीषुग्नेः ।

धुमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः

॥ १ ॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन

॥ २ ॥

मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृदेवः सविता विश्ववारः

॥ ३ ॥

अच्छायमेति शर्वसा घृता चिदीडानो वह्निर्ममसा

॥ ४ ॥

अग्निः सुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः

॥ ५ ॥

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु यसवश्चार्तिष्ठन्वसुघातरश्च

॥ ६ ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे यतं रक्षन्ति विश्वहा

॥ ७ ॥

उरुव्यचसाऽध्वेर्घाज्ञा पत्यमाने ।

आ सुध्वयन्ती यजते उपाके उपासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः

॥ ८ ॥

अर्थ— (अस्य अग्नेः समिधः ऊर्ध्वाः भवन्ति) इस अग्नि की समिधाएं ऊंची होती हैं, तथा इस अग्नि की (शुक्रा शोचीषु अर्ध्वा भवन्ति) शुद्ध ज्वालाएं ऊंची होती हैं । यह अग्नि (धुमत्तमा) अति प्रकाशवाला, (सु-प्रतीकः, ससूनुः) धुर रूपवाला, पुत्रों सहित रहनेवाला, (तनू-न-पाद, असु-रः) शरीर को न गिरानेवाला, जीवन देनेवाला, (भूरि-पाणिः) अनेक हाथों से अर्घात् ज्वालाओं से युक्त है ॥ १ ॥

(देवेषु देवः देवः) सब देवों में मुख्य देव (मध्वा घृतेन पथः अनक्ति) मधुर घृत से मार्ग को प्रकट करता है ॥ २ ॥

(नराशंसः सुकृत् सविता विश्ववारः देवः अग्निः) मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होने योग्य, उत्तम कर्म करनेवाला, प्रेरक, सब को स्वीकार करने योग्य दिव्य अग्नि (मध्वा यज्ञं प्रैणानः नक्षति) मधुरता से यज्ञ को प्रेरित करता हुआ चलता है ॥ ३ ॥

(अयं ईडानः वह्निः शयसा घृता नमसा चित्) यह स्तुति किया गया अग्नि बल, घृत और नमनादिके साथ (अच्छायमेति) मही प्रकार चलता है ॥ ४ ॥

(अध्वरेषु धुचः प्रयक्षु अग्निः) यज्ञों में धुचाओं [अध्वर्यों] को इच्छा करनेवाला अग्नि होता है । (सः अस्य अग्नेः महिमानं यक्षत्) यह यज्ञमान इस अग्नि की महिमा को उपासना करे ॥ ५ ॥

(तरी मन्द्रासु प्रयक्षु) तारण करनेवाला अग्नि हर्ष के समय में यजन करनेवाला होता है । (घसु-घा-तरः यस्य च अतिष्ठत्) यज्ञों को अधिक धारण करनेवाले अग्नि और वधु सब का अतिक्रमण करके स्थित है ॥ ६ ॥

(अस्य यतं देवीः द्वारः) इसके यत की दिव्य द्वार और (विश्वे) सब अन्य देव (विश्व-हा अनु रक्षन्ति) सर्वदा अनुकूलता से रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

(अग्नेः उरु-व्यचसा घाम्ना) अग्नि के अति विस्तृत घाम से (पर्यमाने सु-सु-अयन्ती उपाके यजते) पतिरूप बननेवाली, उत्तम शीति से चलनेवाली, घमीयस्थित, परस्पर संगत, (उपासानक्ता नः इमं अध्वरं यज्ञं आ अयतां) श्रात-काल और सम्यक्काल हमारे इस हिसारहित यज्ञ की उत्तम रक्षा करें ॥ ८ ॥

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं भोऽग्नेजिह्वयामि गृणत गृणता नः स्विष्टिये ।

तिस्रो देवीर्बहिरेदं सन्दन्तामिहा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देवं त्वष्टा रायस्पोषं वि व्यु नाभिमुस्य ॥ १० ॥

वर्नस्पतेऽव सृजा रराणः । रमनां देवेभ्यो अग्निर्हव्यं शमिता स्वदयतु ॥ ११ ॥

अमे स्वाहा कृणुहि जातवेदः । इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुपन्ताम् ॥ १२ ॥ (३१८)

अर्थ— हे (दैवा होतारः) दिव्य होता गण । (नः ऊर्ध्वं अध्वरं अग्ने, जिह्वया अग्नि गृणत) हमारे ऊंचे यज्ञके अग्निके जिह्वके द्वारा प्रशंसा करो और (नः स्विष्टिये गृणत) हमारी उत्तम इष्टिके लिये प्रशंसा करो । (इहा सरस्वती भारती मही) मातृभाषा, मातृव्यवृत्ता, और पोषण करनेवाली मातृभूमि ये (तिस्रः देवीः) तीन देवताएं (इदं यज्ञिः सन्दन्तां) इस यज्ञमें विराजें ॥ ९ ॥

(देव त्वष्टाः) हे त्वष्टा देव । (नः तत् तुरी-प अद्भुत) हमारे लिये वह त्वरासे रक्षा करनेवाला अद्भुत (पुरुक्षु रायः पोषं) निवासके लिये हितकारी धन और पुष्टि दे और (अस्व नाभिं विव्य) इसकी मध्य प्रयोजी खोल दे ॥ १० ॥

हे वनस्पते । (रराणः अथसृज) दान करता हुआ तू हमें दान कर । (शमिता अग्नि रमना देवेभ्यः हव्यं स्वदयतु) शान्ति स्थापन करनेवाला अग्निदेव आत्मशक्तिके देवोंके लिये हवनीय पदार्थोंका खाद देवे ॥ ११ ॥

हे (जातवेदः अग्ने) ज्ञानी प्रकाशस्वरूप देव ! (स्वाहा कृणुहि) तू स्वाहा रूप यज्ञ कर । तथा (इन्द्राय यज्ञं) इन्द्रदेवके लिये यज्ञ कर । (विश्वे देवा इदं हविः जुपन्तां) सब देव इस हविका सेवन करें ॥ १२ ॥

यज्ञका महत्त्व ।

यह सूक्त यज्ञकी प्रशंसाकर है । यज्ञयोग करनेसे दिव्य लोकमें जानेका मार्ग खुला होता है यह बात द्वितीय मंत्रमें कही है । जिस प्रकार (अग्नेः ऊर्ध्वोः शोचीरि) अग्निकी ऊंचाली ऊपर जाती है और कभी नीचकी दिशामें नहीं जाती, ठीक उस प्रकार अग्निकी उपासना करनेवाला याज्ञक सीधा सब मार्गोंसे सब गति प्राप्त करता है । यज्ञयागका यह महान् फल है ।

यज्ञके द्वारा मातृभाषा, मातृव्यवृत्ता और मातृभूमिका आदर बढ़ता है, क्योंकि यज्ञके द्वारा इनकी ही सेवा की जाती है । यज्ञमें इनके लिये अप्रस्थान मिलता है । यह बात नवम मंत्रमें कही है ।

इस सूक्तमें कहे अग्निके विशेषण विचार करने योग्य हैं । उन गुणोंका मनन करके उनसे बोधित होनेवाले गुण उपासकको अपने अन्दर बसाने चाहिये । उपासिका यह सीधा मार्ग है ।

दीर्घायु और तेजस्विता ।

(२८) दीर्घायुः ।

(अक्षिः — अथर्वा । देवता — भिवृत्, अग्न्यादयः ।)

नवं प्राणान्नवमिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय श्रतश्चरदाय ।

हरिते त्रीणि रजते त्रीण्यसि त्रीणि तपसाविष्टितानि ॥ १ ॥

अर्थ— (श्रतश्चरदाय दीर्घायुत्वाय) सो वर्षवाले दीर्घ जीवनके लिये (नव प्राणान् नवमिः सं मिमीते) नव प्राणोंको नव इन्द्रियोंके साथ समानतासे मिलाता है । (हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि) सुवर्णमें तीन, चांदीमें तीन और लोहेमें तीन (तपसा आविष्टितानि) उष्णतासे विशेष प्रकार स्थित हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— दीर्घ आयुकी प्राप्तिके लिये नव प्राणोंको नव इन्द्रियोंमें सम प्रमाणमें स्थिर करते हैं । सुवर्णके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन मिलकर नौ धागे उष्णतासे एकट्ठे जोड़ देते हैं । यह सुवर्णका यज्ञोपवीत होता है ॥ १ ॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च ।

आर्त्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥

त्रयः पोषास्त्रिवृतिं श्रयन्तामनक्तं पूषा पर्यसा घृतेन ।

अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

इममादित्या वसुना समृक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः ।

इममिन्द्र सं सृज वीर्येणास्मिन्त्रिवृच्छ्रयतां पोषयिष्णु ॥ ४ ॥

भूमिश्चा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपत्त्वयसा सजोषाः ।

वीरुद्धिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत् ।

अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्तवायुपे ॥ ६ ॥

अर्थ— अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, भूमि, जल, यो, अन्तरिक्ष, (प्रदिशः दिशः) उपदिशाएँ और दिशाएँ, (ऋतुभिः संविदाना आर्त्तवः) ऋतुओंके साथ मिल हुए ऋतुविभाग (अनेन त्रिवृता मा पारयन्तु) इस तीनोंके योगसे मुझे पार ले जावें ॥ २ ॥

(त्रिवृति त्रयः पोषाः श्रयन्ता) इस तिहरे उपवीतमें तीन पुष्टियाँ बनी रहें । (पूषा पर्यसा घृतेन अनक्तम्) पूषा दूध और घीसे हमें भरपूर करे । (अन्नस्य भूमा) अन्नकी विपुलता, (पुरुषस्य भूमा) पुरुषोंकी अधिकता, तथा (पशूनां भूमा) पशुओंकी समृद्धि (ते इह श्रयन्तां) तेरे यहाँ ये सब स्थिर रहें ॥ ३ ॥

हे (आदित्याः) आदित्यो ! (इमं वसुना स उक्षत) इसकी तुम वसुओंसे सींचो । हे अग्ने ! (वावृधानः इमं वर्धय) तू सूर्य बढात हुआ इसको बढा । हे इन्द्र ! (इमं वीर्येण सं सृज) इसको वीर्यसे युक्त कर । (अस्मिन् पोषयिष्णु त्रिवृत् श्रयतां) इसमें पोषण करनेवाला तिहरा उपवीत स्थित रहे ॥ ४ ॥

(भूमि हरितेन त्वा पातु) भूमि सुवर्णके द्वारा तेरी रक्षा करे । (विश्वभृत् सजोषा अग्निः अयसा पिपत्) सबका पोषण करनेवाला प्रेममय अग्नि लोहके द्वारा तुझे पूर्ण करे । (वीरुद्धिः संविदानं अर्जुनं सुमनस्यमानं दक्षं) औषधियों द्वारा प्राप्त होनेवाला कलकरहित शुमनरूपमय बल (ते दधातु) तेरे लिये धारण करे ॥ ५ ॥

(इदं हिरण्यं जग्मना त्रेधा जात) यह सुवर्ण जन्मसे ही तीन प्रकारसे उत्पन्न हुआ । उनमेंसे (एकं अग्नेः प्रियतमं बभूव) एक अग्निके अतिश्रेष्ठ हुआ है । (एकं हिंसितस्य सोमस्य परापतत्) दूसरा निचोड़ सोमसे बाहर निकलता है । (एकं वेधसां अपां रेतः आहु) तीसरा सारभूत जलका वीर्य है ऐसा कहते हैं । (तत् त्रिवृत् हिरण्यं) वह तिहरा सुवर्ण (ते आयुपे अस्तु) तेरी आयुके लिये होवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— विश्वके तीनों धागोंमें कमश भूमि, जल, अग्नि, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सूर्य, बुलोक, दिशा उपदिशाएँ, और ऋतु आदि काल विभाग ये नव दिव्य तत्त्व रहते हैं, वह तीन धागोंवाला यज्ञोपवीत मुझे दु खोंसे पार करके दीर्घ जीवन देवे ॥ २ ॥

इस तिहरे उपवीतसे तीन पुष्टियाँ मिलती हैं । पोषणकर्ता परमेश्वर हमें दूध और घी भरपूर देवे । अन्नकी पुष्टि, मनुष्योंकी सहायता, पशुओंकी विपुलता ये तीन पुष्टियाँ हमें यहाँ मिलें ॥ ३ ॥

आदित्य हमें सब वस्तुओंकी शक्ति प्रदान करे । अग्नि हमारी बुद्धि करे । इन्द्र वीर्य बढावे । इस प्रकार यह तिहरा यज्ञोपवीत सब दु खोंसे पार करनेवाला हमारे ऊपर स्थिर रहे ॥ ४ ॥

सुवर्णके धागेसे भूमि रक्षा करे । लोहके धागेसे सबका पोषक अग्नि हमारी पूर्णता करे । तथा चांदीके धागेसे औषधियोंकी शक्तियोंके साथ हमें सत्तम मनुष्यक बल प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

स्वामन्वत सुवर्ण तीन प्रकारका है । एक अग्निके लिये प्रिय है, दूसरा सोमके रक्षके रूपसे प्राप्त होता है, और तीसरा सारभूत जल जो वीर्य रूपसे धारारमें रहता है । यह तिहरा सुवर्ण है, यह मेरी आयु बढानेवाला होवे ॥ ६ ॥

अय्युपं जमदग्नेः कश्यपस्य अय्युपम् ।

त्रेधामृतस्य चक्षुणं श्रीण्यायुषि तेऽकरम्

॥ ७ ॥

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायंभेकाक्षरमभिसंभूयं शक्राः ।

प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकर्मन्तुर्दधाना दुरितानि विश्वा

॥ ८ ॥

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्वा पात्वर्जुनम् ।

भूम्या अयस्मयं पातु प्रागादिवपुरा अयम्

॥ ९ ॥

इमास्त्रिस्तो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।

तास्त्वं विभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विपतां भव

॥ १० ॥

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आविधे प्रथमो देवो अग्ने ।

तस्मै नमो दश प्राचीः कुणोम्यनु मन्यतां प्रिवृदावधे मे

॥ ११ ॥

अर्थ— (जमदग्नेः अय्युपं) जमदग्नि का तिहरी आयु, (कश्यपस्य अय्युपं) कश्यप की तिहरी आयु, यह (अमृतस्य त्रेधा चक्षुणं) अमृत का तीन प्रकार का दर्शन है । इससे (ते श्रीणि आयुषि अकरं) तेरे लिये तीन आयुष्यों की करता हू ॥ ७ ॥

(यत् शक्राः त्रयः सुपर्णाः) जब समय तीन सुपर्ण (त्रिवृता एकाक्षरं अभि संभूय आयन्) तिहरे होकर एक अक्षर में सब प्रकार मिलकर रह रहे हैं । वे (अमृतेन साकं विश्वा दुरितानि अन्तर्दधानाः) अमृत के साथ सब अग्नि-शोकी मिटाकर (मृत्युं प्रति औहन्) मौत की दूर करते हैं ॥ ८ ॥

(हरितं त्वा दिव्यं पातु) सुर्ण तेरी चुनोछे रक्षा करे, (अर्जुनं त्वा मध्यात् पातु) श्वेत तेरी अन्तरिक्ष से रक्षा करे, (अयस्मयं भूम्याः पातु) लोहा भूमि के स्थान से तेरी रक्षा करे । (अयं देव-पुराः प्रागात्) यह देवों की प्रियों की प्राप्त हुआ है ॥ ९ ॥

(इमाः तिस्रः देव-पुराः) ये तीन देवनगरियां हैं, (ताः सर्वतः त्वा रक्षन्तु) ये सब प्रकार से तेरी रक्षा करें । (तयं ताः विश्वत् वर्चस्यं) तू उनको धारण करके तेजस्वी होकर (द्विपतां उत्तरः भव) बैरियों की अवेष्टा अधिक भेद्य हो ॥ १० ॥

(देवानां हिरण्यं पुरं अमृतं) देवों की सुवर्णमय नगरी अमृत रूप है । (यः प्रथमः देव अग्ने आविधे) जिस पहिले देवने सबसे पूर्व इनको बोधा या । (तस्मै दश प्राचीः नमः कुणोमि) उसको दसों अंगुलियों ओढ़कर नमस्कार करता हू । (त्रिवृत् मे आविधे, अनु मन्यतां) यह तिहरी उर्वशी अपने शरीर पर बांधता हूँ, इससे लिये अनुमति दे ॥ ११ ॥

भावार्थ— जमदग्नि और कश्यप की बाल, तल्लु और बूझ अवस्था में स्थापनेवाली तिहरी आयु, मानो, अमृत का साक्षात्कार करनेवाली है । यह तीन प्रकार की आयु हमें प्राप्त होवे ॥ ७ ॥

तीन बड़ी शक्तियां हैं जो एक ही अक्षर में रहती हैं । उस अमृत से सब अग्नि दूर होते हैं और उससे मृत्यु को दूर दिय जाता है ॥ ८ ॥

सुवर्ण चुनोछे, चांदी अन्तरिक्ष से और लोहा भूमि से तेरी रक्षा करे । ये देवों की नगरियां ही प्राप्त हुई हैं ॥ ९ ॥

ये तीन देवनगरियां हैं । ये तीनों सबकी रक्षा करें । इनका धारण करनेवाला तेजस्वी होकर शत्रुओं को नीचे कर देता है ॥ १० ॥

देवों की सुवर्णमयी नगरी अमृत से परिपूर्ण है । जो पहिला देव इसको सबसे पहिले स्थिर करता है, उसको हाथ ओढ़कर नमस्कार करते हैं । यह तिहरी उर्वशी में अपने शरीर पर बांधता हूँ, मुझे अनुमति दीजिये ॥ ११ ॥

आ त्वां चतुस्त्वयमा पूषा बृहस्पतिः । अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाविं चृतामसि ॥ १२ ॥
ऋतुभिर्द्वाविंशैरार्युषे वर्षसे त्वा । संवत्सरस्य तेजसा तेन सहैतु कृण्वसि ॥ १३ ॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समेक्तं भूमिदंहमच्युतं पारयिष्णु ।

भिन्दत्सपत्नान्धरांश्च कृण्वदा मां रोह महते सौमगाय

॥ १४ ॥ (३३२)

अर्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति (त्वा आ चृतुतु) तुमसे बधि । (अहर्जातस्य यत् नाम) प्रतिदिन उत्पन्न होने-
वालेका जो नाम है (तेन त्वा अति चृतामसि) उससे तुमको अत्यन्त बाधते हैं ॥ १२ ॥

(आयुषे वर्षसे) आयुष्य और तेजके लिये (ऋतुभिः आर्तवैः) ऋतुओं और ऋतुविभागोंसे और (संवत्स-
रस्य तेन तेजसा) संवत्सरके उस तेजसे (सं-इतु कृण्वसि) संयुक्त करता हूँ ॥ १३ ॥

(घृतात् उल्लुप्तं) घीसे मरा हुआ, (मधुना समेक्तं) मधुसे सींचा हुआ (भूमिदंहं अच्युतं पारयिष्णु)
भूमिके समान स्थिर और पार से जनेवाला (सपत्नान् भिन्दत्) वैरियोंको छिन्न भिन्न करनेवाला और उनको (अधरांश्च
कृण्वत् च) नीचे करनेवाला तू (महते सौमगाय मा आरोह) बड़े सौभाग्यके लिये मेरे ऊपर आरोहण कर ॥ १४ ॥

भावार्थ— अर्यमा, पूषा, बृहस्पति और दिनमें प्रकाशनेवाला सूर्य ये सब देव यज्ञोपवीत धारण करनेके लिये तुमसे
अनुमति देवें ॥ १२ ॥

संवत्सर, ऋतु और अन्य कालविभागोंके तेजसे तुमसे संयुक्त करके तुमसे दीर्घ आयु और उत्तम तेज देते हैं ॥ १३ ॥

यह घृतादि शौष्ठिक पदार्थोंसे युक्त, मधु आदि मधुर पदार्थोंसे परिपूर्ण, भूमिके समान सुहृद, न गिरनेवाला और सब
दुःखोंसे पार करनेवाला है । यह ऋतुओंको छिन्न भिन्न करता और उनको नीचे करता है । यह उपवीत बड़ा सौभाग्य मुझे देकर
मेरे ऊपर रहे ॥ १४ ॥

यज्ञोपवीतका धारण ।

इस सूक्तमें यज्ञोपवीतके महत्त्वका वर्णन किया है । यज्ञो-
पवीतके वर्णनके विषयमें अर्द्धतः देखिये मैत्रमाय वेदमें हैं । परंतु
यह संपूर्ण सूक्तका सूक्त दीर्घ आयु और तेजस्विताका उपदेश
करते करते यज्ञोपवीतके महत्त्वका वर्णन कर रहा है इसलिये इस
सूक्तका महत्त्व विशेष है । इस सूक्तका पठन करके पाठक
यज्ञोपवीतका महत्त्व जानें और यज्ञोपवीत धारण करते समय
मनमें समझें कि मैं इतने महत्त्वका यह यज्ञसूत्र धारण कर
रहा हूँ ।

तीन धामे ।

सब जानते हैं कि यज्ञोपवीतमें तीन सूत्र होते हैं और प्रत्येक
सूत्रमें फिर तीन तीन धामे होते हैं, अर्थात् सब मिलकर नव
सूत्र हैं । ये तीन धामे इस प्रकार बनें—

हरिते त्रीणि, रजते त्रीणि, अयसि त्रीणि ।

(मं. १)

' द्रवणके तीन, चांदीके तीन और लोहेके तीन ' अर्थात्
प्रत्येक सूत्रके अंदर सोना, चांदी और लोहेके तार हैं । इस

प्रकार तीन धातुओंसे बना हुआ यह यज्ञोपवीत होना चाहिये ।
' अयस्य ' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ' लोहा ' है, परंतु इसका
दूसरा अर्थ ' केवल धातुमात्र ' ऐसा भी है । अर्थात् तांबा भी
इसका अर्थ हो सकता है ।

सुवर्णका यज्ञोपवीत ।

यह यज्ञोपवीत सोना, चांदी और तांबेका बने अथवा सोना,
चांदी और लोहेका बने, इस विषयमें अधिक खोज करना
चाहिये । ये तीनों धातु इस प्रकार शरीरपर धारण करनेसे
शरीरमें कुछ मंदता विद्युत्प्रवाह शुरू होता है, जिससे शरीरका
स्वास्थ्य, बल और दीर्घायु प्राप्त होना संभव है । ये तीनों
धातुओंके तार (तपसा आधिष्ठितानि) सज्जतासे परस्पर
जुड़े हुए हों अर्थात् एक दूसरेके साथ जुड़ी हुई अवस्थामें
रहें, तभी ये तार कार्य करते हैं । जिस प्रकार—

इन्द्रिय और प्राण ।

शतशारदाय दीर्घायुवाय नव प्राणान्
नयमिः संमिमते । (मं. १)

' सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये जिस प्रकार नव प्राणोंको नव

इन्द्रियोंमें मिलाना चाहिये ' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करना हो तो प्राणोंका शरीरसे, इन्द्रियोंसे और अवयवोंसे वियोग कभी न हो सके ऐसा प्रबंध करना चाहिये । अर्थात् प्राणकी अपने शरीरके सब अवयवोंमें कार्य करने योग्य बनाना चाहिये । यह बात प्राणायामसे उत्पन्न होनेवाली अभिषे होती है । जो प्राणायामसे अपना बल नहीं बढ़ाते उनकी किसी अवयवमें प्राणशक्ति नहीं कार्य करती । ऐसा होनेसे वह अवयव अपना कार्य करनेमें असमर्थ होता है । कई मनुष्योंके कई अवयव कमजोर होते हैं, इसका कारण यही है । यही कमजोरी आयुको खोना करती है ।

इसी प्रकार तीन धातुओंके ये नव धागे उष्णतासे इकट्ठे हुए शरीरका आरोग्य, बल और दीर्घ आयु बढ़ाते हुए शरीरमें उत्साह कायम रखते हैं । इस यज्ञोपवीतके नव धागोंमें निम्न लिखित नव देवतायें रहती हैं—

**अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो धोरन्तरिक्षं
प्रदिशो विशाखः । अर्तधा क्रतुभिः संविदाना
अनेन मा प्रिवृता पारयन्तु ॥** (मं. २)

' भूमि-अग्नि-आपः, अन्तरिक्ष-चन्द्रमा-दिशा, और धौ.-सूर्य-ऋतु ये नव देवताएँ इस तिहरे यज्ञोपवीतमें रहकर मुझे दु सोधे पार करें । '

पृथ्वीस्थानीय तीन देव, अन्तरिक्ष स्थानीय तीन देव और गुप्तास्थानीय तीन देव, ये सब नव देव यज्ञोपवीतके नव धागोंमें रहकर मुझे दु सोधे पार करें । यह इच्छा इस मंत्रमें प्रकट की गई है । यज्ञोपवीत धारण करनेका आशय इतने देवताओंका तेज और वीर्य अपने अंदर धारण करना तथा इनके विषयमें अपना कर्तव्य करना है । यज्ञोपवीत केवल भूषणके लिये नहीं धारण किया जाता है; यह तो बड़ी भारी भिम्बेवालीका कार्य है । तीन लोकों और उनमें स्थित सब दैवी शक्तियोंके साथ अपना संबंध व्यक्त करनेके लिये यह निवृत्त सूत्र धारण किया जाता है । इस संबंधसे अपना उनके विषयक कर्तव्य जानना और उनसे दिव्य तेज प्राप्त करना चाहिये । जो यह न करेगा, उसके लिये यज्ञोपवीत यज्ञोपवीत नहीं रहता । यज्ञोपवीत धारण करने-वालोंको इस मंत्रका उद्देश्य अपने मनमें अवश्य धारण करने योग्य है । इस यज्ञोपवीतमें तीन प्रकारकी पोषण शक्तियाँ हैं, इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

**त्रया पोषाः प्रिवृति भयन्ताम् ।
अन्नस्य भूमा । पुरुषस्य भूमा । पशूनां भूमा ।**
(मं. ३)

' तीन पुष्टियाँ इस तिहरे यज्ञोपवीतके आभयसे रहें । अन्नकी विपुलता, अनुवासी मनुष्योंकी विपुलता, और पशुओंकी

विपुलता ' ये तीनों विपुलतायें इस यज्ञोपवीतके आभयसे रहें । यज्ञोपवीत धारण करनेवाले मनुष्य करते हैं, उस यज्ञमें बहुत मनुष्य संमिलित होते हैं और संगठन होकर मनुष्योंकी संप शक्ति बढ़ती है, यज्ञके कारण पर्यन्त्यादि ठीक रीतिसे होते हैं इस कारण विपुल अन्न प्राप्त होता है, और यज्ञमें दूध और घीके हवनके लिये गौ आदि बहुत पशु लाये जाते हैं, पशुओंकी शक्तियाँ बढ़ाई जाती हैं, इस कारण पशुओंकी भी उन्नति होती है । ये तीनों काम यज्ञसे होते हैं और यज्ञका आभिकार इस यज्ञोपवीतसे प्राप्त होता है, इसलिये यज्ञोपवीतसे उक्त लाभ होते हैं ऐसा इस मंत्रमें कहा है ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' आदित्यसे शक्ति, अभिषे वृद्धि और इन्द्रके वीर्य प्राप्त हो ' और इस त्रिवृत् सूत्रसे हमारा उत्तम प्रकारसे पोषण होवे । इस यज्ञोपवीतके एक एक धागेमें एक एक देवताकी शक्ति वियमाना है, इसलिये जो मनुष्य इस भावनासे यज्ञोपवीतका धारण करता है उसको बहुत लाभ हो सकता है । इस विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

**भूमिः हरितेन पातु ।
अग्निः अयसा पिपन्तु ।
अर्जुने घीरुद्रिः दक्ष दधातु ॥** (मं. ५)

' भूमि सुवर्णके धागेसे रक्षा करे, लोहे या ताँबेके धागेसे अग्नि पूर्णता करे, तथा चाँदीके धागेसे औषधियोंकी सहायतासे बल धारण होवे । ' इस प्रकार ये तीन देव यज्ञोपवीतके तीन धागोंमें रहकर मनुष्यकी उन्नति करते हैं । अर्थात् यज्ञोपवीत केवल सूत्रका ही बना नहीं है, प्राप्त वह इन देवताओंकी शक्तियोंसे बना है, यह भाव यही देखने योग्य है । जो यज्ञोपवीतके केवल धागा ही समझते हैं वे उसके महत्त्वको नहीं जानते । जो युवर्ण, चाँदी और ताँबेके अथवा लोहेसे बने हुए आभूषण रूप यज्ञोपवीतको धारण करेंगे उनको तो निःसन्देह विपुलसंसार शरीरमें होनेके कारण बड़ा लाभ होगा ही, परन्तु जो सुवर्ण यज्ञोपवीत धारण करनेमें असमर्थ हों, वे सूत्रका यज्ञोपवीत भी धारण करें, परन्तु वह धारण करनेके समय इस भावनासे धारण करें, जिससे इसके मनोबल द्वारा आकर्षित हुई उक्त देवताएँ इसकी अरय सहायता करेंगी ।

यह मंत्रमें सुवर्णके तीन भेद कहे हैं, एक सुवर्ण अर्थात् सोना, दूसरा सोमादि औषधीयका रस और तीसरा वीर्य जो शरीरमें होता है । यज्ञोपवीत धारियोंकी उन्नति है कि वे इन तीनों सुवर्णोंका उपार्जन करें । ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वे र्य स्थिर करें, शरीरमें वीर्य बढ़ावें और ऊर्ध्वरेता बनें । शरीरपोषणके लिये सोमादि औषधियोंका रस, कंदमूल फलका ही सेवन करें

रोग-क्रिमि-निवारण ।

(२२) रक्षोघ्नम् ।

(क्रमिः — चातनः । देवता — जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः ।)

पुरस्ताद्युक्तो बह जातवेदोऽयं विद्धि क्रियमाणं यथेदम् ।

त्वं भिषग्भ्यं जस्यासि कर्ता त्वया गामश्चं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ।

यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति ॥ २ ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः ।

विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

अस्यौ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्धि प्र दतो मृणीहि ।

पिशाचो अस्य यतमो जघासामे यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

अर्थ — हे जातवेद अग्ने ! (त्वं भिषक्) तू वैद्य और (भिषजस्य कर्ता असि) औषधका करनेवाला है । (पुरस्तात् युक्तः सह) पहिलेसे सब कार्योंमें नियुक्त होकर कार्यके भारको उठा । (यथा इदं क्रियमाणं विद्धि) जैसा यह कार्य किया जा रहा है उसको तू जान । (त्वया गां अभ्यं पुरुषं सनेम) तेरी सहायतासे गौवें, घोड़े और मनुष्योंको उत्तम प्रकार नौरोग अवस्थामें हम प्राप्त करें ॥ १ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ (तथा तत् कुरु) वैद्य प्रबंध कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह मर्यादा गिर आवे, (यः नः दिदेव) जो हमें पीटा देता है और (यतमः जघास) जो हमें खा जाता है ॥ २ ॥

हे जातवेद अग्ने ! (विश्वेभिः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलता हुआ तू (तथा कुरु) वैद्य आचरण कर कि (यथा अस्य सः परिधिः पताति) जिससे इस रोगकी वह सब सीमा नष्ट हो आवे ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (अस्यौ नि विध्य) इसके आँखोंको छेद कर, (हृदयं नि विध्य) हृदयको वेध कर, (जिह्वां नि तृन्धि) जिह्वाको काट दे, (दतो मृणीहि) दाँतोंको भी तोड़ डाल । हे (यविष्ठ) बलवाले ! (अस्य यतमः पिशाचः जघास) इसको जिस रक्ष मनुष्यने खाया है (तं प्रति शृणीहि) उसका नाश कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ — हे तेजस्वी वैद्य ! तू स्वयं वैद्य है और औषध बनानेमें प्रवीण है । रोगनिवारणके उपाय जो यहां किये जाते हैं वे ठीक हैं वा नहीं, इसका निरीक्षण कर । तेरी चिकित्सासे हम गौवें, घोड़े और मनुष्योंको उत्तम नौरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकें ॥ १ ॥

तू अल, ओषधि, बायु आदि देवताओंको अनुकूल बनाकर ऐसा प्रबंध कर कि जिससे पीटा देनेवाले और मांसको क्षीण करनेवाले रोगजन्तुओंको शरीरमें बनी मर्यादा नष्ट हो आवे ॥ २-३ ॥

जिस मांसमनुष्य रोगकिमीने इसके मांसको खाया है, उसका नाश कर, उसके सब अवयव नष्ट कर दे ॥ ४ ॥

यदेस हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यत्तत्पिशाचिः ।

तदग्रे विद्वान्पुनरा भर्त्स्व शरीरे मांसमसुमेरयामः

॥ ५ ॥

आमे सुपके शयले विपके यो मां पिशाचो अशने दुदम्भ ।

तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामग्दोक्ष्यमस्तु

॥ ६ ॥

क्षीरे मां मन्ये यत्तमो दुदम्भाकृष्टपच्ये अशने घान्येक्षु यः ।

तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामग्दोक्ष्यमस्तु

॥ ७ ॥

अपां मा पानिं यत्तमो दुदम्भं क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।

तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामग्दोक्ष्यमस्तु

॥ ८ ॥

दिवा मा नक्तं यत्तमो दुदम्भं क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम् ।

तद्वात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामग्दोक्ष्यमस्तु

॥ ९ ॥

अर्थ— हे विद्वन् अमे । (पिशाचिः अस्य आत्मनः) मांसमशुको द्वारा इसके अपने शरीरका (यत् हृतं, विहृतं, यत् पराभृतं) जो भाग हरा गया, छीना गया और जो छुटा गया है और (यत्तमत् जग्धं) जो भाग खाया गया है, (त्वं तत् पुनः आ भर्त्स्व) तू वह फिर भर दे । और (शरीरे मांसं अशुं आ ईरयामः) शरीरमें मांस और प्राणको स्वापित करते हैं ॥ ५ ॥

(या पिशाचः आमे सुपके) जो मांसमोक्षी किमि कच्चे, अच्छे पके, (शयले विपके अशने मा दुदम्भ) भापे पके, विशेष पके मोत्रनमें प्रविष्ट होकर सुप्त हाथि पहुँचाता है, (तत् आत्मना प्रजया पिशाचाः) वह स्वयं और प्रजाके साथ वे सब मांसमोक्षी किमी (यि यातयन्तां) इटायें आये । और (अयं अगदः अस्तु) यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ६ ॥

(यतमः क्षीरे मन्ये अकृष्टपच्ये घान्ये) जो दूधमें, मछीमें, बिना खेतोंके उपज हुए घान्यमें तथा (या अशने मा दुदम्भ) जो मोत्रनमें प्रविष्ट होकर सुप्त दबाता है । (तत् आ०) वह मांसमशुक किमि अपनी संततिके साथ दूर दूर भागे और यह पुरुष नीरोग होवे ॥ ७ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसमशुक किमि (अपां पाने) जलके पान करनेमें और (यातूनां शयने शयानं) यात्रियोंके बिछोनेपर सोते हुये (मा दुदम्भ) मुसको दबा रहा है (तत् आ०) वह मांसमशुक किमि अपनी संततिके साथ दूर दूर भागे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ८ ॥

(यतमः क्रव्यात्) जो मांसमोक्षी किमि (दिवा नक्तं यातूनां शयने शयानं मां दुदम्भ) दिनमें वा रात्रीमें यात्रियोंके समय स्थानमें सोते हुए मुसको दबाता है (तत् आ०) वह अपनी संततिके साथ दूर दूर भागे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

भाषार्थ— मांसमशुक रोगकिमियोंके इस रोगोंके जो जो अवयव छीन किये हैं, उनको फिर पुष्ट कर और इसके शरीरमें पुनः मोखकी शक्ति होवे ॥ ५ ॥

जो शरीर छीन करकेवाला किमि कच्चे, भापे पके, पके और अधिक पके हुए मोत्रनमें प्रविष्ट होकर सताते हैं, उनका घनून् नाश किया जावे और यह मनुष्य नीरोग होवे ॥ ६ ॥

दूध, छाछ, घान्य तथा अन्य मोत्रनके पदार्थों द्वारा शरीरमें प्रविष्ट होकर जो रोगग्रही सताते हैं उनको दूर किया जावे और यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ७ ॥

जो मांसछीन करकेवाले किमि जलपानके द्वारा तथा अनेक मनुष्योंके साथ सोनेसे शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ८ ॥

जो किमि दिनके समय अथवा रात्रीके समय अनेक मनुष्योंके साथ सोनेके कारण शरीरमें प्रविष्ट होकर सताते हैं उनको दूर करके यह मनुष्य नीरोग बने ॥ ९ ॥

क्रव्यादमग्रे रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः ।

तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु छिनत्तु सोमः शिरों अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥

सनादग्रे मृणसि यातुधानान् त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्मुः ।

सहमूरान्तु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

समाहर जातवेदो यद्वत् यत्पराभृतम् । गात्राप्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम् । अग्रे विरिञ्चनं मेघ्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु ॥ १३ ॥

एवास्ते अग्रे समिधः पिशाचजम्भनीः । तास्त्वं जुपस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

ताष्टाधीरमे समिधः प्रति गृह्णाद्यर्चिषा । जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्यति ॥ १५ ॥ (१७७)

अर्थ— हे जातवेद अग्रे ! (क्रव्यादं रुधिरं मनोहनं पिशाचं जहि) मांसमक्षक, रुधिररूप, मनको मारनेवाले, रक्त खनिवाले, क्रिमिको नाश कर । (वाजी इन्द्र- तं वज्रेण हन्तु) बलवान् इन्द्र उसको वज्रेसे मार देवे, (धृष्णुः सोमः अस्य शिरः छिनत्तु) निर्मय सोम इसका शिर काट देवे ॥ १० ॥

हे अग्रे ! (यातुधानान् सनात् मृणसि) पीका देनेवाले क्रिमियोंको तू सदा नष्ट करता है । (त्वा रक्षांसि पृत-
नासु न जिग्मुः) तुझे राक्षस संप्रामोमे पराभूत नहीं करते । (सह-मूरान् क्रव्यादः अन्तु दह) समूल मांसमक्षकोंको
जला दे । (ते दैव्यायाः हेत्या मा मुक्षत) तेरे दिव्य शस्त्रसे कोई न छूटने पावे ॥ ११ ॥

हे जातवेदः ! (अस्य यत् हृतं यत् पराभृतं) इसका जो भाग हर लिया और नष्ट कर लिया है उस भागको
(समाहर) पुनः ठीक प्रकार भर दे । (अस्य गात्राणि वर्धन्तां) इसके अंग पुष्ट हो जावें, (अयं अंशुरः इव व्याप्या-
यतां) यह मनुष्य चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होवे ॥ १२ ॥

हे जातवेदः ! (अयं सोमस्य अंशुरः इव व्याप्यायतां) यह मनुष्य चंद्रमाकी कलाके समान बढ़े । हे अग्रे ! इस
(विरिञ्चनं मेघ्यं अयक्ष्मं कृणु) निरौष, पवित्र व निरोग कर और यह (जीवतु) जीवित रहे ॥ १३ ॥

हे अग्रे ! (पताः ते समिधः पिशाचजम्भनीः) ये तेरी समिधाएँ मांस खानेवाले रोगक्रिमियोंको दूर करनेवाली हैं ।
हे जातवेद ! (त्वं ताः जुपस्व) तू उनका सेवन कर और (यनाः प्रति गृहाण) इनको स्वीकार कर ॥ १४ ॥

हे अग्रे ! (ताष्टा-अर्घीः समिधः अर्चिषा प्रति गृह्णाहि) तुषारोगका शमन करनेवाली इन समिधामोंको तू अपनी
पवालाओंसे स्वीकृत कर । (यः अस्य मांसं जिहीर्यति) जो इसके मांसको खीन करना चाहता है वह (क्रव्यात् रूपं
जहातु) मांसभोजी इसके रूपको छोड़ देवे ॥ १५ ॥

भाषार्थ— रक्त और मांसकी क्षीणता करनेवाले, मनको मोहित करनेवाले रोग क्रिमि हैं, उनको इन्द्र और सोमके प्रबो-
धसे दूर किया जावे ॥ १० ॥

अभि इन क्रिमियोंको सदा दूर करता है, ये क्षीणता करनेवाले क्रिमि अभिको परास्त नहीं कर सकते । अतः अभिद्वारा इन
रोगक्रिमियोंका कुल समूल नाश किया जावे ॥ ११ ॥

इस रोगीका जो अवयव क्षीण हुआ था, वह फिर पुष्ट होवे और उसके सब अवयव पुनः पुष्ट हों, जिस प्रकार चंद्रमा
बढ़ता है उस प्रकार यह बढ़े ॥ १२ ॥

चन्द्रमाकी कलाके समान यह बढ़े, यह रोगी दौध राहेत, पवित्र व निरोग होवे और दीर्घ कालतक जीवित रहे ॥ १३ ॥

जो समिधाएँ यज्ञमें होमी जाती हैं वे रोगक्रिमियोंका नाश करनेवाली हैं । इनकी जलाकर अभिद्वारा ये रोगक्रिमि दूर हों ॥ १४ ॥

जो क्रिमि रोगीके मांसको क्षीण करते हैं उनका पूर्ण रीतिसे नाश होवे । इन समिधामोंको जलाकर प्रदीप्त की हुई अभि
इन रोगक्रिमियोंका नाश करे ॥ १५ ॥

रोगोंके क्रिमि ।

इस सूक्तमें रोगजन्युओंका वर्णन है । कुछ जातीके क्रिमि हैं जो शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और विविध यातनाएं उत्पन्न करते हैं, मनुष्यको इनसे बड़े क्रोध होते हैं । इन क्रिमियोंको दूर करनेका साधन इस सूक्तमें बताया है । यह साधन वैद्य, औषधि और अग्नि है । इस सूक्तमें इन क्रिमियोंका ओ वर्णन है वह पहिले देखिये—

(१) यः विद्वेष— जो शरीरमें पीटा देते हैं, जिनके कारण शरीर मथित हुए समान अशक्त होता है, अवयव टूट जानेके समान जिसमें अशक्ता आती है ।

(मं. ३)

(२) यतमः जघास— जो शरीरको खा जाता है और क्षीण करता है । (मं. ३-४)

(३) विशाच्— (विशिताच्) मांस खानेवाला, रक्त पीने वाला । जो रोगक्रिमि शरीरमें घुसनेके बाद रक्त, मांस आदि धातु क्षीण होने लगते हैं । (मं. ४-१०)

(४) हृत्, विहृन्, पराभृन्, जग्धं— शरीरके रक्त-मांसका हरण करते हैं, विशेष प्रकार छूटते हैं, शरीरकी जीवन शक्तिको नष्ट करते हैं, मार ला जाते हैं । (मं. ५)

(५) कवयाद्— (कवि-अद्) ओ शरीरका कषा मांस खाते हैं । (मं. ८-११)

(६) रुधिरः— यह रक्तरूप होता है, रक्तमें मिल जानेवाला है, रक्तमें रहता है । (मं. ११)

(७) मनोहन— मनकी मननशक्तिका नाश करता है । अब ये रोगक्रिमि शरीरमें जाते हैं, तब मननशक्ति नष्ट होती है, मन क्षीण होता है । (मं. १०)

(८) यातुघानः— (यातु) यातना (घानः) घारण करनेवाला । ये क्रिमि शरीरमें गये तो रोगोंको यातनाएं होती हैं । (मं. ११)

(९) रक्षः— (क्षरणः) क्षीण करनेवाला । (मं. ११)
ये सब शब्द रोगजन्युओंके गुण बताते हैं । पाठक इन शब्दोंका विचार करके रोगक्रिमियोंका स्वरूप जानें और उनसे होनेवाले रोगोंके कष्टोंका विचार करें । ये क्रिमि किस प्रकार शरीरमें प्रवेश करते हैं, इस विषयमें अब देखिये—

रोगजन्युओंका शरीरमें प्रवेश ।

आग्ने, शयले सुषके, विषके, अरुहपचये घान्ये, अघाने, क्षीरे, मध्ये, सर्पा पाने, यातुर्ना शयने दृग्मम् । (मं. ५-८)

१५ (अयं नाभ्य, काण्ड ५)

विवा मकं दृग्मम् । (मं. ९)

‘कषा, आषि पक्षा, अच्छा पूर्ण पक्षा, अधिक पक्षा जो अक्ष होता है, क्षेतीके बिना ओ उत्पन्न होता है वह घान्य आदि पदार्थोंका मोहन, दूध, दही, मठा, छाछ, पानी आदिका पान करना, और अर्धमल रोगोंके बिलरूप सोना, इन कारणोंसे रोगक्रिमि दिनमें तथा रात्रिमें शरीरमें जाते हैं और रोग उत्पन्न करते हैं । यही बात अन्य रीतिये यजुर्वेदमें आ गई है । देखिये—

ये मन्त्रेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबन्तो जनान् ।

(यजु. १९/६२)

‘जो अन्नमें और पीनेके पात्रोंमें रहकर जनोंके शरीरोंमें घुसते हैं और उनके स्वास्थ्यको बंध डालते हैं ।’ अर्थात् बीमार करते हैं । इसी मंत्रका स्पष्टीकरण ऊपर लिखे दो तीन मंत्र हैं । पाठक इस दृष्टिये यजुर्वेद मंत्र और अथर्ववेद मंत्रकी तुलना करके मंत्रका ठीक भाव ध्यानमें धारण करें ।

आरोग्य प्राप्ति ।

सक प्रकार रोगक्रिमि शरीरमें जाते हैं, फिर वहासे उनको किस रीतिये हटाना होता है इसका विचार अब करना है । इसकी पहिली रीति यह है—

युक्तः मेषक् । मेषजस्य कर्ता । क्रियमाणं अग्ने वेत्ति । (मं. १)

‘सुयोग्य वैद्य, जो औषध बनाना जानता है । किया जाने-वाला प्रयोग पहिलेसे जानता है ।’ इस प्रकारका सुयोग्य वैद्य अपने इलाजसे रोगी मनुष्यको निरोग करे । यह वैद्य—

विश्वेभिः देवैः संविदानः अस्य परिधिः पताति । (मं. २, ३)

‘सब देवोंसे उहायता प्राप्त करनेकी रीति जानता हुआ, इस रोगकी अन्तिम मर्यादाको तोड़ डालता है ।’ इस प्रकार उसकी मर्यादा गिनालेके पश्चात् रोगकी अब खरब नष्ट हो जाती है । देवोंके साथ परिचय रखनेका तात्पर्य यही है कि प्रत्येक देवताकी शक्तिये ओ चिकित्सा हो सकती है वह चिकित्सा करके रोग दूर करनेकी शक्ति रखना । मृत्तिका-चिकित्सा, जलचिकित्सा, आग्निचिकित्सा, घोरचिकित्सा, विजुचिकित्सा, वायुचिकित्सा, औषधिचिकित्सा, मानवचिकित्सा, हवनचिकित्सा आदि सब चिकित्साएं देवताओंकी शक्तियोंकी उहायतासे होनी हैं, देवोंके साथ मिलकर रोग दूर करनेका तात्पर्य यही है । चिकित्साक उक्त देवोंके साथ रहता हुआ रोग दूर करता है । इस प्रकार—

तं प्रतिशृणोहि । (मं. ४)

अयं अगदः अस्तु । (मं. ५-९)

‘सद्य रोगकिमिका नाश करे । और यह मनुष्य नीरोग हो जावे । और—

विशदितं मेघं अयक्ष्मं कृणु । जीवतु । (मं. १३)

‘इस रोगीको दोषरहित, पवित्र और नीरोग कर । यह मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे ।’ वेश्यको उचित है कि वह रोगी-की ऐसी बिचिन्ता करे कि रोगीके शरीरके सब दोष दूर हो जाय, रोगीका शरीर पवित्र बने और उसके शरीरसे यक्ष्म रोग दूर जावे । केवल रोगको रोकनेवाली वैद्य अच्छे नहीं होते, रोका हुआ रोग किसी न किसी रूपसे कभी न कभी बाहर प्रकट होगा ही । इस लिये शरीर निर्दोष और मलरहित करके रोगका बीज दूर करना चाहिये । औदहर्वे मंत्रमें—

पिशाचजम्भनीः समिधाः । (मं. १४)

‘इन छन सुखानेवाले कुम्भीका नाश करनेवाली समिधा-ओंका वर्णन है ।’ यक्षीय वृक्षोंकी लकड़ियोंका यह गुण है । हवन सम्प्रदायों काय रखनेसे भी यही गुण बढ जाता है । हवन बिचिन्ताका यह लक्ष्य है, पाठक इसका अधिक विचार करें । इस प्रकारकी बिचिन्तासे—

गो अश्वं पुरुषं सन्नेम । (मं. १)

‘गौवें, घोड़े और मनुष्योंको निरोग अवस्थामें प्राप्त कर सकते हैं ।’

भयानकमें मंत्रमें अमिचिबिदशसे इन रोगग्रन्थोंको दूर करनेका उद्देश्य है । जहाँ ये किमि होते हैं वहाँ अग्नि जलानेसे अथवा हवन करनेसे बड़ाका स्थान नीरोग होता है ।

संसर्ग रोग ।

कई रोग एक दूसरेके संघर्षसे होते हैं, मलिन लोगोंके बिल्लरमें (शयने शयानं) सोनेसे तथा उनके संसर्गमें रहनेसे रोग होते हैं । संघर्षके स्थानमें अग्नि प्रदीप्त करनेसे संघर्ष दोष दूर होता है । भिल्लर हथक करनेसे भी इसी कारण संघर्ष दोष दूर होता है ।

रोग हटनेका लक्षण ।

रोग हटते ही मनुष्यका शरीर पुष्ट होने लगता है, यही आरोग्य प्राप्तिका लक्षण है—

शरीरे मांसं भर । अक्षं पेरयामः । (मं. ५)

सोमस्य अशु इव माध्यायतां । (मं. १२, १३)

‘शरीरमें मांस बढना, प्राणकी चेतना प्राप्त होना, चन्द्र-मासी कलाओंके समान वृद्धिको प्राप्त होना ।’ यह मरीगताका चिह्न है । चन्द्रमाके समान मुख दिखाई देने लगा तो समझना कि यह मनुष्य नीरोग है ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करनेसे अनेक बोध प्राप्त हो सकते हैं । आशा है कि पाठक इस प्रकार विचार करके बोध प्राप्त करेंगे ।

दीर्घायुकी प्राप्ति ।

(३०) दीर्घायुष्यम् ।

(कृपि — उन्मोचनः (आयुःकामः) । देवता — आयुष्यम् ।)

आवर्तस्त आवर्तः परावर्तस्त आवर्तः ।

इद्वै मंव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृननु पश्यामि ते इदम्

॥ १ ॥

अर्थ—(ते आवर्तः आवर्तः) तेरे समीपसे समीप और (ते परावर्तः आवर्तः) तेरे दूरसे दूरसे भी (ते मनुज एते पश्यामि) तेरे अन्दर पाएंगे मैं दृढ मानता हूँ । (इदम् एव मय) वही ही रह । (पूर्वान् मा नु गाः) पूर्वजों की ओर न जा, (मा पितृन् अनु गाः) पिताओं की ओर न जा अर्थात् शीघ्र न मर ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे रोगी तारे प्राणको मैं दूरके अथवा समीपके उपायसे तेरे अन्दर स्थिर करता हूँ । तू इस मनुष्य लोकमें दीर्घायु तक रह । मेरे हुए पूर्वजोंके पीछेसे शीघ्र न जा ॥ १ ॥

यत्वाभिचेहः पुरुषः स्वो यदरंजो जनः । उन्मोचनप्रमोचने उमे वाचा वंदामि ते ॥ २ ॥
 यदुद्रोहिंश्च शेपिये स्त्रिये पुंसे अचिंश्या । उन्मोचनप्रमोचने उमे वाचा वंदामि ते ॥ ३ ॥
 यदेनसो मातृकृताच्छेपे पितृकृताश्च यत् । उन्मोचनप्रमोचने उमे वाचा वंदामि ते ॥ ४ ॥
 यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भाता च सजैतः । प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥
 इहैधिं पुरुष सर्वेण मनसा सह । द्रुतौ यमस्य मातुं गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥
 अनुद्वृतः पुनरेहि विद्वानुदर्यनं पथः । आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥
 मा विभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा । निरवोचमहं यक्षममङ्गम्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

अथ— (यत् स्व. पुरुषः) यदि तेरा अपना संबंधी पुरुष अथवा (यत् अरणाः जनः) यदि कोई हीन मनुष्य (त्वा अभिचेहः) तेरे ऊपर कुछ घातक प्रयोग करता है, तो उसके लिये मैं (वाचा ते) अपनी वाणीसे तुझे (उमे उन्मोचन-प्रमोचने वंदामि) दोनों छूटने और दूर रहनेकी विया कहता हूँ ॥ २ ॥

(यत् स्त्रिये पुंसे अचिंश्या उद्रोहिंश्च) यदि स्त्रीसे अथवा पुरुषसे बिना जाने श्रेष्ठ किया है अथवा (शेपिये) शाप दिया है, तो (वाचा०) वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनो वियाएँ मैं तुझें कहता हूँ ॥ ३ ॥

(यत् मातृकृताश्च पितृकृताश्च) यदि माताके किये हुए पापसे अथवा (यत् पितृकृताश्च शेपे) यदि पिताके लिये पापसे (शेपे) तू सोया है (वाचा०) ता वाणीसे छूटने और दूर रहनेकी दोनो वियाएँ तुझें कहता हूँ ॥ ४ ॥

(यत् ते माता) जो तेरी माता व (यत् ते पिता) जो तेरे पिताने तथा (जामिः भाता च सजैतः) जो तेरी बहिन और भाईने तैयार किया है; (भेषजं प्रत्यक् सेवस्व) उस औषधको ठीक प्रकार सेवन कर; (त्वा जरदष्टिं कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला मैं तुझको करता हूँ ॥ ५ ॥

हे (पुरुष) मनुष्य । (सर्वेण मनसा सह इह पृथि) संपूर्ण मनके साथ यहाँ रह । (यमस्य द्रुतौ मा अनु गा) यमके द्रुतोंके पाछे मत आओ । (जीवपुराः अधि इहि) जीवकी पुरीमें निवास कर ॥ ६ ॥

(उदयन पथः विद्वान्) ऊपर चढ़नेके मार्गको जानता हुआ (अनुद्वृतः पुनः आ इहि) बुलाया हुआ फिर यहाँ आ (जीवतः जीवतः आरोहणं आक्रमण अयनम्) प्रत्येक जीवित मनुष्यका चढ़ना और आक्रमण करना ये दो गतियाँ हैं ॥ ७ ॥

(मा विभेर्, न मरिष्यसि) मत डर, तू कभी नहीं मरेगा । (जरदष्टिं त्वा कृणोमि) वृद्ध अवस्थातक रहनेवाला तुझें मैं बनाता हूँ । (तव अङ्गम्यः अङ्गज्वरं यक्षं महं निरवोचं) तेरे अङ्गोंसे शरीरके ज्वरकी और क्षयरोगकी मैं बाहर निकाल देता हूँ ॥ ८ ॥

भाषार्थ— जो तेरा अपना संबंधी अथवा कोई पराया मनुष्य, जो कुछ भी घातक प्रयोग करता है; उससे बचनेके दो उपाय हैं— एक उन्मोचन और दूसरा प्रमोचन ॥ २ ॥

श्रेष्ठ अथवा पुरुषका श्रेष्ठ, माताका पाप और पिताका पाप, आदिके कारण जो घात होता है उससे बचनेके लिये भी ये ही दो उपाय हैं ॥ ३-४ ॥

माता, पिता, भाई, बहिन, आदिकों द्वारा तैयार किया हुआ औषध रोगी सेवन करे और दीर्घजीवी बने ॥ ५ ॥

अपने मनकी संपूर्ण शक्ति रोगनिवृत्तिमें ही विश्वाससे लगाई जावे । कोई मनुष्य यमद्रुतोंके बगैरे न जावे, और इस शरीरमें— अर्थात् जीवात्माकी नगरीमें— दीर्घकाल तक रहे ॥ ६ ॥

उच्चिताका मार्ग जानना चाहिये । अर्थात् मनुष्य आरोग्य की उच्चति करनेके उपाय जाने और रोगोंपर आक्रमण करके उनको परास्त करे ॥ ७ ॥

हे रोगी ! तू मत डर, तू मरेगा नहीं । तेरी पूर्ण आयु बनाता हूँ । तेरे संपूर्ण अवयवोंसे ज्वर और क्षय दूर करता हूँ ॥ ८ ॥

अङ्गमेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः । यस्मिन् द्येन इव प्रापस्तद्धाचा माहः परस्तराम् ॥ ९ ॥

ऋषीं चाधप्रतीचे प्रावत्त्वमो यश्च जागृविः । तौ ते प्राणस्य गोसारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥ १० ॥

अयमग्रिहृत्सद्य इह सूर्य उदेतु ते । उदेहिं मृत्योर्गोम्रीरात्कृष्णाच्चित्तमस्तस्मिन् ॥ ११ ॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति ।

उत्पारणस्य यो वेदु तमग्निं पुरो दधेऽसा अरिष्टतावये ॥ १२ ॥

येतु प्राण येतु मन येतु चक्षुरयो बलम् । शरीरमस्य सं विद्वां तत्पद्मां प्रति तिष्ठतु ॥ १३ ॥

प्राणेनाग्निं चक्षुषा सं संजेमं समीरय तन्वादे सं बलेन ।

वेद्यामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भवतु ॥ १४ ॥

अर्थ— (अङ्गमेदः अङ्गज्वरः) अवयवोंकी पीडा, अंगोंका ज्वर (यः च ते हृदयामयः) और जो तेरा हृदयरोग है । चाचा साहः यक्ष्मः) बचासे पराजित हुआ यक्ष्मरोग (द्येन इव परस्तरां प्रापतत्) द्येनपर्वाकी तरह परे माग जाव ॥ ९ ॥

(योधप्रतिबोधौ ऋषी) बोध और प्रतिबोध ये दो ऋषि हैं । (अस्मन् यः च जागृविः) एक निद्राहित है और दूसरा जागता है । (तौ ते प्राणस्य गोसारौ) वे दोनों तेरे प्राणके रक्षक हैं, वे तेरे अन्दर (दिवा नक्तं च जागृतां) दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

(अय अग्निः उपलस्यः) यह अग्नि उपासनाके योग्य है । (इह ते सूर्यः उदेतु) यहाँ तेरे लिये सूर्य उदय होवे । (गोम्रीरात् कृष्णात् तमसः मृत्योः चित्) गहरे, काले, अन्धकाररूपी मृत्युके भी (परि उदेहि) परे उदयकी प्राप्त हो ॥ ११ ॥

(यमाय नमः) यमके लिये नमस्कार है । (मृत्यवे नमः अस्तु) मृत्युके लिये नमस्कार होवे । (उत ये नयन्ति, पितृभ्यः नमः) जो हमें ले जाते हैं, उन पितरोंके लिये नमस्कार है । (यः उत्पारणस्य वेदः) जो पार करना जानता है (त अग्निं अस्मि अरिष्ट तातये पुरः दधे) उस अग्निको इस कल्याणशुद्धिके लिये आगे रक्ते हैं ॥ १२ ॥

(प्राणः आ पतु) प्राण आवे, (मनः मा पतु) मन आवे, (चक्षुः प्रयो यन्ते) आँख और बज आवे । (अस्य शरीरं विद्वां सं पतु) इसका शरीर बुद्धिके अनुसार चले । (तत् पद्मां प्रति तिष्ठतु) वह पाँव से प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १३ ॥

हे अग्ने ! (प्राणेन चक्षुषा सं संज) प्राण और चक्षुषे संयुक्त कर । (तन्वा बलेन हमं सं सं हरय) शरीर और बलसे इसको प्रेरित कर (अमृतस्य वेद्यः) तू अमृतको जानता है । (मा नु गान्मा) तारा प्राण न चला जावे । (भूमिगृहः मा नु भुवत्) भूमिकी पर करनेवाला न हो । अर्थात् मरकर मिट्टीमें न मिल ॥ १४ ॥

भाषाया— शरीरका दुबटना, अंगोंका ज्वर, हृदयरोग और स्वरोग ये सब तेरे शरीरसे दूर हों ॥ ९ ॥

तेरे अन्दर बोध और प्रतिबोध ये दो माने ऋषि हैं । एक दुस्वी आने नहीं देता और दूसरा जगा देता है । ये तेरे प्राण-रक्षक हैं, वे दिनरात जागते रहें ॥ १० ॥

यहाँ प्राणामित्री मुझसे उपासना करनी चाहिये । इससे तेरे अन्दर आत्मरूपी सूर्य प्रकाशित होता रहे । ऐसा करनेसे मृत अन्धकाररूपी मृत्युसे तू दूर होगा और अपने प्रकाशसे प्रकाशित होगा ॥ ११ ॥

यम और मृत्युके लिये नमस्कार दे, तथा जो मृत्युके पश्चात् ले जाते हैं उन पितरोंके लिये भी नमस्कार है । मृत्युसे पार होनेकी विद्या जो जानता है उस अग्निसे कल्याण प्राप्त करते हैं ॥ १२ ॥

प्राण, मन, चक्षु, बल ये सब शक्तियों शरीरमें क्रिये निवास करें और यह शरीर अपने पाँवसे खड़ा रह सके ॥ १३ ॥
यह प्राण और चक्षुको शक्तियोंसे युक्त है । शरीरके बलसे यह प्रेरित होवे । अमृत प्राप्तिका उपाय जान और उससे तेरा प्राण शीघ्र न चला जावे ॥ १४ ॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते । सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छत रुदिममिः ॥ १५ ॥

इयमन्तर्बदति जिह्वा बुद्धा र्पनिष्पदा । त्वया यक्ष्मं निर्गोचं शतं रोपीथ त्वमनः ॥ १६ ॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः । यस्मै त्वमिह मृत्युधे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।

स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जुरसौ मृथाः

॥ १७ ॥ (३६४)

अर्थ— (ते प्राणः मा उपदसत्) तेरा प्राण नष्ट न होवे । (ते अपानः मो अपि धायि) तेरा अपान न आच्छादित होवे । (अधिपतिः सूर्यः रुदिममिः त्वा उदायच्छत) अधिपति सूर्यकिरणोंमें तुझे ऊपर उठावे ॥ १५ ॥

(पनिष्पदा इयं अन्तः यद्धा जिह्वा) शब्द बोलनेवाली यह अन्दर बंधी हुई जिह्वा (बुद्धा) बोलती है । (त्वया यक्ष्मं) तेरे साथ रहनेवाला क्षयरोग और (त्वमनः च शतं रोपी) ज्वरकी सौ प्रकारकी पीडा (निः) अघोचं) दूर करता हूं ॥ १६ ॥

(अय अपराजितः लोकः देवानां प्रियतमः) यह पराजित न हुआ हुआ लोक देवोंका प्यारा है । (यस्मै मृत्युधे दिष्टः पुरुषः त्वं इह जज्ञिषे) जिस लोककी मृत्युकी मिथित प्राप्त होनेवाला तू पुरुष यहाँ उत्पन्न होता है । (सः च त्वा अनु ह्वयामसि) वह और तुझे बुलाते हैं । और कहते हैं कि (अरसः पुरा मा मृथाः) बुढ़ापेमें पूर्व मत मर ॥ १७ ॥

माधार्थ— तेरा प्राण और अपान तेरे शरीरमें दृढतासे रहे । सूर्य अपनी किरणोंमें तुझे ऊपर उठावे अर्थात् जीवन देवे ॥ १५ ॥

अपनी वायव्यशक्तिसे मैं कहता हूं कि क्षय, ज्वर तथा अन्य पीडाएं इस प्रकार दूर की जाती हैं ॥ १६ ॥

तू देवोंका प्रिय है, यद्यपि तू इस मृत्युलोकमें जन्म लेनेके कारण मरनेवाला है, तथापि हम यह ही कहते हैं कि, तू बुढ़ा-वस्थाके पूर्व न मर ॥ १७ ॥

आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु ।

इस सूक्तमें आरोग्यपूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त करनेके बहुतसे निर्देश हैं । पाठक इनका मनन करेंगे, तो उनकी बहुत लाभ हो सकता है । यहाँ दीर्घायुके विषयमें मुख्य प्रश्न आत्म-विधाषका है, इस विषयमें प्रथम मंत्रका निर्देश देखने योग्य है—

आत्मविश्वाससे दीर्घायु ।

इह एव भय, पूर्वान् पितृन् मा अनुगाः ।

ते अमुं ददन् यथाभि ।

(मं १)

'यहाँ अर्थात् इस शरीरमें रह, प्राचीन पूर्वजोंके पीछे मत जा अर्थात् शीघ्र न मर । तेरे शरीरमें प्राणोंकी दृढतासे बाँधता हूं ।' ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा बता रहे हैं कि आत्मविश्वाससे दीर्घ आयु होनेमें सहायता होती है । 'तू मत मर जा' यह उसीकी कहा जा सकता है, कि जिसके आधीन शीघ्र या देरीसे मरना हो । यदि मनुष्यके आधीन यह बात न होगी, तो 'इस समय न मर, बुढ़ापेमें पश्चात् मर' इत्यादि आशयें व्यर्थ होंगी । ये आशयें अंतरहसे कह रही हैं, कि मनुष्यकी इच्छासाक्षिपर मृत्युकी शीघ्र या देरीसे प्राप्त होना अवलंबित है ।

१६ (अथर्व. माध. काण्ड ५)

मैं शीघ्र न मरूँगा, मैं दीर्घायु होऊँगा, मैं अपनी आयु धर्म कार्यमें समर्पण करूँगा । इस प्रकारकी मनकी सुरत मानना रही, तो सहसा अल्प आयुमें मृत्यु न होगी, पीछे यदि कोई विषयी क्षणभंगुरताका ही ध्यान करेगा, तो वह स्वयं क्षण-भंगुर बनेगा । आत्मविश्वास यह अन्य दीर्घायु प्राप्तिके अनुष्ठानोंकी बुनियाद है । अन्य अनुष्ठान तब विधि हो सकते हैं, जब कि यह बुनियाद ठीक सुरत हुई हो ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि 'उन्मोचन और प्रमोचन' ये दो उपाय हैं जिनसे नीरोगता और दीर्घायु सिद्ध हो सकती है । ये विधि क्या हैं, इसकी कोश करनी चाहिये । इनमेंसे एक विधि आरोग्य बढ़ानेवाला और दूसरा अकाल मृत्यु हरण करनेवाला है ।

कुविचारसे अनारोग्य ।

तृतीय मंत्रमें श्री पुरुषोत्तमो शाप देना, पालिश देना, अथवा बुरे शब्द प्रयुक्त करना बुरा दे देना कहा है । किसीके शप दोह करना भी घातक है । बुरे शब्द बोलनेसे प्रथम अपना मन बुरे विचारोंसे भर जाता है और जो ऐसे हीन विचारोंके शब्द सुनते हैं उनमें ऐसे ही हीन भाव क्रम जाते हैं । इस

प्रकार मनका स्वास्थ्य बिगडनेके लिये ये सारे शब्द कारण होते हैं। मनका स्वास्थ्य बिगडनेसे ही शरीरमें रोगबीज प्रविष्ट होते हैं और वे रोगबीज उसी कारण वहां स्थिर होते हैं ।

मातापिताका पाप ।

मातापिताके पापाचरणसे भी रोग होते हैं यह बात चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मातृकृतात् पितृकृतात् च एनसः शोषे ॥ (म ४)

‘माता और पिताके किये पापाचरणसे तू बीमार होकर पड़ा है ।’ इस मन्त्रभागमें स्पष्ट कहा है कि बाभारीका एक हेतु मातापिताके पापाचरण भी है । मातापिताके पापा आचार-व्यवहारके कारण जन्मत ही लडकेका शरीर निर्बल होता है और बालक जन्मसे ही बीमारिबोका घर बन जाता है । यह स्थ घर्षमें रहनेवाले लोग इस मन्त्रका अवश्य विचार करें, क्योंकि यदि वे कुछ भी पाप करें, तो वे अपने बच्चे को दु खमें डालनेके दोषी हो सकते हैं । इससे पता चलता है कि, अभिचार, मद्यपान आदि दुष्ट व्यवहारोंमें फसे हुए लोग न केवल स्वयं दुःख भोगते हैं, प्रत्युत अपने बच्चेजोंकी भी बीमारियोंके महासागरमें डाल देते हैं । वेदने यह मन्त्र कहकर जनताके स्वास्थ्यके विषयमें बड़ा उत्तम उपदेश दिया है, परंतु पाठकोंको चाहिये कि वे इसका मनन करें और आचरणमें लावें ।

पंचम मंत्रमें कहा है कि [भेषज सेषस्य । त्वा जरदष्टि कृणोमि । (म ५)] योग्य औषधिका सेवन कर, इतना पथ्य करेगा तब मैं तुम्हें दीर्घायु बनाता हूँ । ’ छेदह मत कर, तू पथ्य पालन करनेसे अवश्य दीर्घायुवाला हो जायगा ।

मानसशक्ति ।

षष्ठ मंत्रमें मनकी शक्तिका वर्णन किया है जो विशेष महत्त्वका है—

पुरुष । सर्वेण मनसा सह इह पृथि ।

यमस्य दूतो मा अनुगाः । जीवपुता अधि इहि ॥

(म ६)

‘हे मनुष्य ! अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ तू यहां रह । समके दूतोंके पीछे न जा । जावोंकी पुरियोंमें अर्थात् शरीरमें यहां स्थिर रह ।’

इस मन्त्रका सार पहिले मंत्रके कथनके साथ बहुत ही धनिय है । अपनी सब मानसिक शक्तिके साथ इच्छापूर्वक ‘मैं दीर्घायु बनूँगा ।’ ऐसा मनमें निर्धार करना चाहिये । मनका शक्ति विलक्षण है, मनकी शक्ति जितनी प्रबल होगी उतनी विषयसे छिद्दि हो सकती है । मनकी कल्पनासे रोगा मनुष्य

नीरोग और नीरोग मनुष्य रोगी बनता है । बलवान् निर्बल होता है और निर्बल भी सबलके समान कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है । मनकी यह विलक्षण शक्ति होनेके कारण हर एक मनुष्यकी उचित है कि वह अपने मनमें सुविचारोंकी धारणा करता हुआ नीरोगतापूर्वक दीर्घायु प्राप्त करे । हीन विचार मनमें न आने दें । क्योंकि हीन विचारोंसे मनुष्य क्षीणायु हो जाता है । मरनेके विचार कभी मनमें न आने दें । पूर्ण स्वास्थ्यके विचार हा मनमें स्थिर किये जावें ।

उन्नतिका मार्ग ।

अपनी उन्नतिका मार्ग कौनसा है, इसका ज्ञान श्रेष्ठ मनुष्योंसे प्राप्त करें और तदनुसार आचरण करें, आरोग्य प्राप्तिके मार्गका नाम ‘उद्यन पथ’ है, अर्थात् उत्तम अवस्था प्राप्त करनेका यह राजमार्ग है । इसपरसे ‘आरोहणं आक्रमण’ अर्थात् इस आरोग्यके मार्ग पर आना और उसपरसे चलना मनुष्यके लिये लाभदायक है—

उद्यन पथः विद्वान् पेहि ।

आरोहण आक्रमण जीवतः अयनम् ॥ (म ७)

‘उन्नतिके मार्गको जानकर हा इस ससामें रह । इस मार्गपर आना और इसी मार्गपरसे चलना जीवित मनुष्यके लिये हितकारक है ।’ इसलिये हर एक मनुष्यकी उचित है कि वह अपने आरोग्यके बढानेके उपायोंको जानें और उनका आचरण करके अपनी आयु और आरोग्य बढावे । इस प्रकार करनेसे कितने लाभ हो सकते हैं इसका वर्णन अष्टम मंत्रमें किया है—

मा विभेः । न मरिष्यसि । त्वा जरदष्टि कृणोमि ।

(म ८)

यदि तू पूर्वोक्त मंत्रोंमें कह मार्गके अनुसार आचरण करेगा, तो ‘तू क्षात्र नहीं मरेगा, तू मत डर, मैं तुझे दीर्घायु करता हूँ ।’ जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार आचरण करेगा, उसके लिये यह आशीर्वाद अवश्य मिलेगा । पाठक ! विचार करके देखिये, तो मालूम होगा कि यह मार्ग सीधा है, परंतु मनुष्य प्रलोभनमें पड़ता है और फसता है—

मार्गदर्शक दो ऋषि ।

अपने ही अंदर मार्ग बतानेवाले दो ऋषि बैठे हैं, ये ऋषि दशम मंत्रमें देखिये—

योधप्रतिबोधी ऋषी । अस्यप्रः जामुघिः ।

तौ प्राणस्य गौतारी दिवानक च जागृताम् ॥

(म १०)

‘मनुष्यके अन्दर बोध और प्रतिबोध अर्थात् ज्ञान और विज्ञान ये दो श्रष्टि हैं । इनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है । इन मेंसे एक (अ-स्वप्न) सुप्त नहीं है और दूसरा खदा जागता रहता है । ये ही दो श्रष्टि मनुष्यके प्राणोंके रक्षक हैं । अतः ये दिन रात यहाँ जागते रहें । ’ ये दो श्रष्टि यहाँ जागते रहनेसे ही मनुष्य नीरोग, स्वस्थ और दीर्घायु हो सकता है । ज्ञान-विज्ञानसे उसको यहाँका व्यवहार कैसा करना चाहिये इसका ज्ञान हो सकता है । ठाक व्यवहार करके यह मनुष्य अपना स्वास्थ्य उत्तम रखता है और दीर्घायु होता है । व्यक्तिमें और समाजमें ये बोध और प्रतिबोध अथवा ज्ञान और विज्ञान जागते रहें । जबतक इनकी जाग्रति रहेगी तबतक उन्नति होना स्वाभाविक है । इसलिये कहा है—

गम्भीरात् कृष्णात् तमस परि उदेदि । (म ११)
‘ गहरे काले अन्धकार रूपी मृत्युसे ऊपर उठ ’ अर्थात् मृत्युके अधकारमें न फस और जावनके प्रकाशमें मिल रह । यहाँ पूर्वोक्त दो श्रष्टियोंकी सहायतासे मृत्युसे बचनेका उपदेश है । क्योंकि वे ही मृत्युको दूर करके दीर्घ जीवन देनेवाले हैं ।

मृत्युको दूर करना ।

यहाँ एक बात लक्ष्यमें रखने योग्य कही है वह यह है कि ‘ मृत्यु अंधकार है ’ और ‘ जीवन प्रकाशमय है । ’ यह अनुभव सत्य है । जीवित मनुष्यका प्रकाशवर्तुल आकाशभर व्यापक होता है, यह प्रकाशवर्तुल मरनेके समय शून्य शून्य छोटा छोटा हो जाता है । जब यह प्रकाशवर्तुल अंगुष्ठ मात्र रह जाता है

उस समय मनुष्य मरा होता है । मरनेवाले मनुष्यको मरनेसे पूर्व कुछ घण्टे ऐसा अनुभव आता है कि जगत्के अंदर व्यापने-वाला प्रकाश अब घरके अंदर ही रहा है और बाहर अन्धकार है । मृत्युको छाया रूप वर्णन किया है इसका कारण यह है । यह कविकल्पना नहीं है परंतु सत्य बात है । अपने आपको अन्धरेसे वेष्टित होने न देना आवश्यक है, यही मृत्युको दूर करनेका तात्पर्य है । प्रकाशका महत्त्व इतना है, यह प्रकाश अपने आत्माका ही है बाहरका नहीं ।

जीवनका लक्षण ।

बारहवें मंत्रमें उन पितरोंको नमन किया है कि जो जीवको इस लोकसे यमलोकमें ले जाते हैं । वे कृपा करें और हमारे (उत्पारण) मृत्युपार होनेके अनुष्ठानमें सहायता करें । बारहवें मंत्रमें यह कहनेके पश्चात् तेरहवें मंत्रमें जीवनका लक्षण बताया है । ‘ मनुष्यके शरीरमें प्राण, मन, चक्षु और बल रहें और यह अपने पाँवके बलसे खड़ा रहें । ’ (म. १३) यह जीवनका लक्षण है, मृत्युका लक्षण भी इधरसे ज्ञात हो सकता है, वह इस प्रकार है— ‘ शरीरमें प्राण, मन, आँख और बल न रहें और शरीर अपने पाँवपर खड़ा न रह सके । ’ इन शक्ति-योंका यहाँ होना और न होना जीवन और मृत्यु है । और पूर्वोक्त प्रकार मृत्युको दूर और जीवनको पास किया जा सकता है ।

पाठक इन मंत्रोंका अच्छी प्रकार विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तमें कही जीवन वियाका ज्ञान हो सकता है ।

घातक प्रयोगको दूर करना ।

(३१) कृत्यापरिहरणम् ।

(कविः — शक्रः । देवता — कृत्यादूषणम् ।)

यां ते चक्रामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।

आमे मांसे कृत्या यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्

॥ १ ॥

अर्थ— (यां ते आमे पात्रे चक्रुः) जिसको वे कच्चे बर्तनमें करते हैं, (यां मिश्रधान्ये चक्रुः) जिसको मिश्र-धान्यमें करते हैं, (आमे मांसे यां कृत्यां चक्रुः) कच्चे मांसमें जिस रीति प्रयोगकी करते हैं (तां पुनः प्रति हरामि) उसको मैं हटा देता हूँ ॥ १ ॥

यां तें चक्रुः कृक्वाकावजे वा यां कुरीरिणि ।	
अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ २ ॥
यां तें चक्रुरेकक्षफे पशूनामुभयादति ।	
गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ३ ॥
यां तें चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् ।	
क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ४ ॥
यां तें चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाभायुत दुधितः ।	
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ५ ॥
यां तें चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने ।	
अक्षेपु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ६ ॥
यां तें चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिन्वायुधे ।	
दुन्दुभी कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ७ ॥
यां तें कृत्यां कूपेऽवदधुः रमशाने वा निचरन्तुः ।	
सर्पानि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्	॥ ८ ॥

अर्थ— (यां ते कृक्वाकावजे चक्रुः) जिसको वे पक्षिविशेषमें करते हैं, (यां वा कुरीरिणि अजे) अथवा जिसको घोंगवाले मेंमें अथवा वधमें करते हैं, (या कृत्यां ते अव्या चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे भेटीमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हू ॥ २ ॥

(यां ते एकपफे चक्रुः) जिसको वे एक छावाले पशुमें करते हैं, (पशूनां उभयादति) पशुओंमें जिनको दोनों ओर दीत होते हैं, उनमें जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां गर्दभे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको गधेमें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हू ॥ ३ ॥

(यां ते अमूलाया चक्रुः) जिसको वे अमूला औषधिमें करते हैं, और (नराच्यां वा वलगं) नराचा औषधिमें बल घटानेका जो प्रयोग करते हैं, (यां कृत्यां ते क्षेत्रे चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको वे खेतमें करते हैं (तां०) उसको मैं हटाता हू ॥ ४ ॥

(यां ते गार्हपत्ये चक्रुः) जिसको गार्हपत्य अभिषेक करते हैं, (उत दुधितः पूर्वाभा) और जिसको सुदी तरहसे प्रशस्ति पूर्व अभिषेक करते हैं तथा (यां कृत्यां शालायां चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको शालामें करते हैं (तां०) उसको मैं दूर करता हू ॥ ५ ॥

(यां ते सभायां चक्रुः) जिसको वे सभामें करते हैं, (यां अधि देवने चक्रुः) जिसको खेलमें करते हैं, (यां एत्यां अक्षेपु चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको पाषाणमें करते हैं, (तां०) उसको मैं दूर करता हू ॥ ६ ॥

(यां ते सेनायां चक्रुः) जिसको वे सेनामें करते हैं, (यां इयु-मायुधे चक्रुः) जिसको बाण और धनुष्यपर करते हैं, (यां कृत्यां दुन्दुभी चक्रुः) जिस घातक प्रयोगको दुन्दुभी पर करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हू ॥ ७ ॥

(यां कृत्यां तेषु अवदधुः) जिस घातक प्रयोगको वे कूपमें करते हैं, (रमशाने वा निचरन्तुः) अथवा जिसको रमशानमें गाढ देते हैं, (यां कृत्यां सर्पानि चक्रुः) अथवा जिस घातक प्रयोगको सर्पमें ही करते हैं, (तां०) उसको मैं हटाता हू ॥ ८ ॥

यां ते चक्रुः पुरुषास्ये अग्रौ संकसुके च याम् ।

श्लोकं निर्दिष्टं कृत्वाद्यं पुनः प्रति हरामि ताम्

॥ ९ ॥

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिणमसि । अधीरं मर्याधीरेभ्य सं जभाराचिष्या ॥ १० ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पार्दमङ्गुरिम् । चकार मद्रमसम्भ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

कृत्याकुर्वं वलगिनं मूलिनं अपथेयम् । इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनामिर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥ (१७६)

॥ इति षष्ठोऽनुवाक ॥ ६ ॥

॥ इति पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥ ५ ॥

अर्थ— (यां ते पुरुषास्ये चक्रुः) जिसको वे मनुष्यकी दृष्टिमें करते हैं, (संकसुके अग्रौ चक्रुः) प्रज्वलित अभिमें ओ करते हैं, (श्लोकं निर्दिष्टं कृत्वाद्यं प्रति) चोरीसे प्रज्वलित किये माघ खानेवाले अभिमें प्रति (पुन तां प्रति हरामि) फिर उसको मैं हटा देता हू ॥ ९ ॥

(अपथेन यनां वा जभार) कुमार्गसे इस हिंसाको लाया है (तां पथा इतः प्र हिणमसि) उसको कुमार्गसे यहासे हटाते हैं (अधीरं मर्याधीरेभ्यः) मूढ मनुष्य मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषोंसे (मखिरया सं जभार) बिना सोचे उपाय प्राप्त कर सकता है ॥ १० ॥

(यः कर्तुं चकार) जिसने हिंसा करनेका यत्न किया, वह (न शशाक) वह समर्थ नहीं हुआ । परन्तु (पार्दमङ्गुरि शश्रे) उसने ही पाँव और अंगुलिको तोड़ दी है । (अभगः) उस भमागिने तो (मद्रमभ्यं भगवद्भ्यः मद्र चकार) हम सोमाग्यवानोंके लिये तो उसने कल्याण ही किया है ॥ ११ ॥

(इन्द्रः वलगिनं) इन्द्र इस नीच (मूलिनं अपथेयं) जदमें दु ख देनेवाले और गालियाँ देनेवालोंकी (महता वधेन हन्तु) बड़े वधोपायसे मारे और (अग्निः अस्तया विध्यतु) अग्नि अग्निसे बध लाले ॥ १२ ॥

भावार्थ— कथा बर्तन, मिश्रधान्य, कथा मांस, कृकवाक पक्षी, भेडे, बकरी, भेडी, एक सुरवाले पशु, दोनों ओर दात-वाले पशु, गधा, अमूला औषधि, चराची वनस्पति, खेत, गार्हपत्य अभि, पूर्वाभि, घर या कमरा, घमा, खेलका स्थान, पांछे, देवा, बाण और धनुष्य, दु-दुभी, कूबा, स्मशान, घर, पुरुषकी दृष्टी, प्रज्वलित अभि, मांस जलानेवाला अभि आदि स्थानोंमें कुछ लोक घातक प्रयोग करते हैं । उनसे बचनेका उपाय करना चाहिये ॥ १-९ ॥

कुमार्गसे ही यह हिंसक और घातक प्रयोग हुआ करते हैं । यद्यपि दूसरेने कुमार्गसे ऐसे प्रयोग किये, तो भी उनको ठीक प्रकार दूर करनेका उपाय हमें करना ही चाहिये । मनुष्य स्वयं उपाय न जानता हो, तो जानी पुरुषोंसे उपायको जान सकता है ॥ १० ॥ जो दूसरेकी हिंसा करनेका यत्न करता है वह दूसरेकी हिंसा करनेके पूर्व अपनी ही करता है । जो दूसरेकी हिंसा करना चाहता है वह भमागी है, उससे ईश्वरभण होनेसे जो भाग्यवान् होते हैं उनका कल्याण ही होता है ॥ ११ ॥

ईश्वर ही नीच मनुष्योंको दण्ड देवे ॥ १२ ॥

[इस सूक्तका विषय संदिग्ध होनेसे इसका विशेष स्पष्टीकरण करना कठिन है । यह खोचका विषय है ।]

यहां षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

॥ पञ्चम काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चम काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
	पथम काण्डकी भूमिका	३		शारीरिक बल	३४
	सूक्तोंके ऋषिदेवता छन्द	४	४ कुष्ठ औषधि		३४
	ऋषिक्रमानुसार सूक्तविभाग	६	कुष्ठ औषधि		३६
	देवता क्रमानुसार सूक्तविभाग, सूक्तोंके गण	७	५ लाक्षा		३६
	सात मर्यादायें	८	लाक्षा		३८
१ आत्मोन्नतिकी विद्या		९	६ मल्लविद्या		३९
	आत्मोन्नतिकी मार्ग, आत्माकी उन्नति	१२		ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग, स्वर्गके मन्त्रोंकी घोषणा	४२
	अदम्य आत्मशक्तिका तेज	१२		शत्रुको मगाना, सिद्धिका मार्ग	४३
	शुश्रूषाणीका गुप्त सदेश, शरीर भारणका उद्देश्य	१३		स्ना-हा करो, सोम और रुद्र, तीन उपदेश	४४
	अपने अन्दरके अमृत	१४		संज्ञोंके शत्रु	४५
	दुष्टोंके साथ आदरका व्यवहार	१४		पाशवी बलाका आत्मिक बलसे प्रतिकार	४५
	विरोधके शक्तियोंकी एकतासे वृद्धि	१५		आत्मसमर्पण	४६
	सात मर्यादाएँ	१६	७ ऐश्वर्यमयी विपत्ति		४६
	परमपिताकी उपासना	१७		विपत्तिपूर्ण संपत्ति	४८
	ईश गुणवर्णन, ईश सूक्तका सार	१८		कंजूसोंसे गिरावट, हार्दिक इच्छा	४९
२ भुवनोंमें ज्येष्ठ देव		१९	८ शत्रुको दवाना		५०
	सूक्तकी विशेषता, ज्येष्ठके लक्षण	२१		शत्रुका नाश, ईश प्रार्थना, नास्तिकोंकी असफलता	५२
	दासकी धरदारुहट, दासके लक्षण	२२		शत्रुके नाशका उपाय	५३
	विरोधियोंका सहकार्य	२२	९-१० आत्मिक बल		५३
	शक्तिकी वृद्धि, माधुर्य	२३		आत्मिक शक्ति	५५
	प्राद्वन क्षत्रियोंकी एकता	२४		पत्थरका कवच	५७
	आप्तपुत्रकी स्तुति	२५	११ अष्ट देव		५७
	आदर्श पुरुष, काव्य कैसा हो ?	२६		ईश्वर और भक्तका संवाद, दो प्रकारके लोग	६०
	राष्ट्रोन्नतिकी सन्देश	२७		प्रयत्नका महत्त्व, ईश्वरका महत्त्व	६०
	देवता, ईश्वर विषयक भावार्थ	२८		धनप्राप्तमें दोष, ईश्वरका सहा	६२
विजयकी प्राप्ति		२८	१२ यज्ञ		६४
	अपने विजयकी प्रार्थना, विजयी विचार	३१		यज्ञमानकी इच्छा	६६
	शत्रुको दूर करना, कामनाकी वृत्ति	३२	१३ सर्पविष दूर करना		६७
	ईश्वर उपासना, निष्ठापन बनना	३२		सर्पविष, उपाय	६९
	ईश प्रार्थना, देवोंकी सहायता, राजप्रबंध	३३			

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
१४	घातक प्रयोगको लौटाना दुष्ट कृत्यका परिणाम	७० ७२	२५	गर्भधारणा गर्भको सुरक्षितता	९८ ९९
१५	सत्यका विजय सत्यसे यश	७९ ७१	२६	यज्ञ यज्ञमें आत्मसमर्पण	१०० १०१
१६	आत्मबल	७३	२७	अग्निकी ऊर्ध्वगति	१०२
१७	लोक पातिमत्यकी रक्षा जा चारित्र्यकी रक्षा, गृहस्थि और तारा	७४ ७७		यज्ञका महत्त्व	१०३
१८	ब्राह्मणकी गौ ब्राह्मणकी गौ राजाका कर्तव्य	७९ ८२ ८३	२८	दीर्घायु और तेजस्विता यशोपवातका धारण, तीन धागे	१०३ १०६
१९	ब्राह्मणको कष्ट ज्ञानीका कष्ट, अन्त्येष्टिकी कुछ बातें, हजामत	८३ ८६		सुवर्णका यशोपवीत, इन्द्रिय और प्राण	१०६
२०-२१	दुन्दुभीका घोष नगाका, आँखोंका ध्वज	८६ ९०		ओंकारकी तीन वाक्तियाँ, देवोंके नगर	१०८
२२	ज्वर निवारण ज्वर रोग, ज्वरके भेद ज्वर निवृत्तिका उपाय	९० ९२ ९३	२९	रोग-क्रिमि निवारण रोगोंके क्रिमि, रोग जन्तुओंका शरीरमें प्रवेश	१०९ ११०
२३	रोग जन्तुओंका नाश रोग किमियोका नाश	९३ ९५		आरोग्य प्राप्ति	११३
२४	सुरक्षितताकी प्रार्थना अपनी सुरक्षितता	९५ ९८		सर्घरोग, रोग हटनेका लक्षण	११४
			३०	दीर्घायुकी प्राप्ति आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु, आत्मविश्वाससे दीर्घ आयु	११४ ११७
				कुविचारसे अनारोग्य	११७
				मातापिताका पाप, मानसशक्ति	११८
				उन्नतिकी मार्ग, मार्गदर्शक दो ऋषि	११८
			३१	घातक प्रयोगको दूर करना	११९





अथर्ववेद

सुबोध भाष्य

षष्ठं काण्डम् ।

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-याचस्पति, गीतालङ्कार

स्वाध्याय - मण्डल, पारडी

*

तृतीय वार

•

शब्द १०१०, शक १८८३, सं १९६१

*
* *
अऋण होना ।

अनुणा असिन्ननुणाः परस्मिन्तृतीयं लोके अनुणाः स्याम ।
ये देवयानाः पितृयानाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनुणा आ क्षियेम ॥

(अथर्ववेद ६।११७।३)

“ हम इस लोक में अऋण, परलोक में अऋण और तीसरे लोक में भी अऋण
होवें । जो देवयान और पितृयान लोक हैं, उन के सब मार्गों में हम अऋण होकर
चलेंगे । ”

* *

*

मुद्रक और प्रकाशक— वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.
भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय-मण्डल, पोस्ट—‘स्वाध्याय-मंडल (पारवी)’ [मि. सुरत]



अथर्ववेद का स्वाध्याय ।

[अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।]

षष्ठ काण्ड ।

इस षष्ठ काण्डके प्रथम सूक्तमें ' सविता ' देवताका वर्णन है । सविता देवता सबकी उत्पत्ति करनेवाली, सबको प्रकाश देनेवाली और उत्तम चेतना देनेवाली है । संख्याके गुरुमन्त्रमें इसीका वर्णन है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह मंगलवाचक पहिला सूक्त है और इसका मनन करनेसे सबका शुभ मंगल हो सकता है ।

इस षष्ठ काण्डमें प्रायः तीन मंत्रवाले सूक्त हैं । इस कारण इस काण्डकी ' प्रकृति तीन मंत्रवाले सूक्तोंकी है ' ऐसा कहते हैं; इससे भिन्न मंत्रसंख्यावाले सूक्त इस काण्डमें विद्युति हैं । परंतु यही स्मरण रखना चाहिये कि, अधिक मंत्रवाले कई सूक्त भी पुनरुक्त मंत्रभागोंकी अलग करनेसे तीन मंत्रवाले सूक्त बनाये जा सकते हैं । तथापि कुछ सूक्त ऐसे रहेंगे कि जो निश्चयसे इस काण्डमें विद्युति सूक्त ही कहे जायेंगे ।

इस काण्डकी सूक्त व्यवस्था इस प्रकार है—

इस काण्डमें १२२ सूक्त ३ मंत्रवाले हैं, इनकी मंत्रसंख्या ३६९ है ।

इस काण्डमें १२ सूक्त ४ मंत्रवाले हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४८ है ।

इस काण्डमें ८ सूक्त ५ मंत्रवाले हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४० है ।

कुल सूक्तसंख्या १४२

कुल मंत्रसंख्या ४५७

इस प्रकार इस काण्डके १४२ सूक्तोंमें ४५७ मंत्र हैं । इस काण्डमें १३ अनुवाक हैं, बहुधा प्रत्येक अनुवाकमें दस दस सूक्त हैं; तथापि तृतीय, सप्तम, एकादश और द्वादश इन चार अनुवाकोंमें प्रत्येकमें ब्यासह सूक्त हैं और प्रयोदशवें अनुवाकमें अठारह सूक्त हैं ।

काण्डोंकी मंत्रसंख्या क्रमपूर्वक बढ रही है । प्रथम काण्डमें १५३, द्वितीयमें २०७, तृतीयमें २३०, चतुर्थमें ३२४, पंचममें ३७६ और इस षष्ठ काण्डमें ४५७ मंत्र हैं । यह संख्या प्रथम काण्डकी मंत्रसंख्यासे तीन गुनी, तृतीयसे दुगुनी और पंचमसे षेडगुनी है । सूक्तसंख्या भी बहुत है । परंतु सूक्त प्रायः तीन मंत्रवाले होनेके कारण बड़ी संख्याका महत्त्व विशेष नहीं है, तथापि कुल अभ्यास इस काण्डमें पहिलेकी अपेक्षा अधिक ही होता है । प्रथम पाठ छोटा देकर पचास बडे पाठ देनेके समान ही यह व्यवस्था बड़ी दिखाई देती है—

सूक्तोंके ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१ प्रथमोऽनुवाकः । १३ त्रयोदशः प्रपाठकः ।				
१	३	अथर्वा	सधिता	उष्णिक्, त्रिपदा विपलिकमन्या सान्नी जगती । २, ३ विपलिकमन्य पुरवष्णिक् ।
२	३	अथर्वा	वनस्पतिः, सोमः	उष्णिक्, १-३ परोष्णिक् ।
३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	जगती १ पथ्याबृहती ।
४	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	नानादेवताः	१ पथ्याबृहती, २ संस्तारपंक्तिः, ३ त्रिपदा विशाङ्गर्मा गायत्री ।
५	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	इन्द्राग्नी	अनुष्टुप् २ भुरिक् ।
६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	ग्रहणस्पतिः, सोमः	अनुष्टुप्,
७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	सोमः, ३ विश्वदेवाः	गायत्री, १ निचुत् ।
८	३	जमदग्निः	कात्मारमदेवता	पथ्यापंक्तिः
९	३	जमदग्निः	कात्मारमदेवता	अनुष्टुप्
१०	३	शन्तातिः	नानादेवताः (अग्निः, वायुः, सूर्यः)	१ सान्नी त्रिष्टुप्, २ प्राजापत्या बृहती, ३ सान्नीबृहती ।
२ द्वितीयोऽनुवाकः ।				
११	३	प्रजापतिः	रेतः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
१२	३	गरुमान्	तक्षकः	अनुष्टुप्
१३	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	मृत्युः	अनुष्टुप्
१४	३	बभ्रुपिगलः	थलासः	अनुष्टुप्
१५	३	उद्दालकः	वनस्पतिः	अनुष्टुप्
१६	४	शौनकः	चन्द्रमाः (मन्त्रोक्तदेवताः)	अनुष्टुप् १ निचुत् त्रिपदा गायत्री, ३ बृहतीगर्मा ककुम्भस्यनुष्टुप्, ४ त्रिपदाप्रतिष्ठा ।
१७	४	अथर्वा	गर्भदेहणं	अनुष्टुप्
१८	३	अथर्वा	इष्योविनाशनं	अनुष्टुप्
१९	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः (नानादेवताः)	गायत्री, अनुष्टुप् ।
२०	३	भृग्वेगिराः	यक्ष्मनाशनं	१ अतिजगती, २ कुक्कुम्माती प्रस्तारपंक्तिः, ३ घतापंक्तिः ।
३ तृतीयोऽनुवाकः				
२१	३	शन्तातिः	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
२२	३	शन्तातिः	आदित्यरश्मिः, मरुतः	त्रिष्टुप्, चतुष्टुप्, त्रिपदागयत्री ।
२३	३	शन्तातिः	आपः	अनुष्टुप्, २ त्रिपदागयत्री ३ परोष्णिक्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
२४	३	शान्तातिः	आपः	अनुष्टुप्
२५	३	शुनःशेषः	मन्त्रोक्तदेवतं	अनुष्टुप्
२६	३	ब्रह्मा	पाप्मा	अनुष्टुप्
२७	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	जगती, २ त्रिष्टुप् ।
२८	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	त्रिष्टुप् २ अनुष्टुप्, ३ जगती ।
२९	३	भृगुः	यमः, निर्ऋतिः	बृहती, १-२ विराण्मा गायत्री, ३ इयवसाना सप्तपदा विराह्यी ।
३०	३	उपरिचन्द्रवः	शमी	जगती, २ त्रिष्टुप्, ३ वतुपदा ककुम्भत्यनुष्टुप् ।
३१	३	उपरिचन्द्रवः	गौः	गायत्री

४ चतुर्थोऽनुवाकः ।

३२	३	१-२ चातनः, ३ अथर्वा	अग्निः	त्रिष्टुप्, २ प्रत्तारपंक्तिः ।
३३	३	जाटिकायनः	इन्द्रः	गायत्री, २ अनुष्टुप् ।
३४	५	चातनः	अग्निः	गायत्री
३५	३	कौशिकः	वैश्वानरः	गायत्री
३६	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	अग्निः	गायत्री
३७	३	अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्
३८	४	अथर्वा (वर्चस्काः)	वृहस्पतिः, रिविपिः	त्रिष्टुप्
३९	३	अथर्वा (वर्चस्काः)	वृहस्पतिः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ।
४०	३	अथर्वा (१-२ अथयकामः, ३ स्वस्त्ययनकामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	जगती ३ ऐन्द्रीअनुष्टुप्
४१	३	ब्रह्मा	चन्द्रमाः, बृहदेवत्यम्	अनुष्टुप्, १ उरिह्, २ त्रिष्टुप् ।

५ पञ्चमोऽनुवाकः ।

४२	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तेकीकरणकामः)	मन्युः	अनुष्टुप् १-२ उरिह् ।
४३	३	भृग्वंगिराः (परस्परं चित्तेकीकरणकामः)	मन्युमशनं	अनुष्टुप्
४४	३	विश्वामित्रः	धनस्पतिः (मन्त्रोक्तदेवता)	अनुष्टुप् ३ त्रिपदा महाबृहती ।
४५	३	अंगिराः प्रचेताः यमश्च	दुष्यन्नाशनम्	१ पद्यापंक्तिः, २ उरिह् त्रिष्टुप्, ३ अनुष्टुप् ।
४६	३	अंगिराः	रघुमं	१ ककुम्भती विस्तारपंक्तिः । २ इयव- साना छहरीगर्भा पद्यपदा जगती, ३ अनुष्टुप् ।
४७	३	अंगिराः	अग्निः, २ विश्वेदेयाः ३ सुघम्या	त्रिष्टुप्
४८	३	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
४९	३	गार्ग्य	अग्निः	१ अनुष्टुप् २-३ जगती (३ विराट्) १ विराट् जगती, २, ३ पद्यापंक्तिः ।
५०	३	अथर्वा (अमयकामः)	अभ्यनौ	त्रिष्टुप्, १ गायत्री, २ जगती ।
५१	३	शान्तातिः	आपः, ३ घटनः	

श्रुत	मंत्रसंख्या	कृति	देवता	छंद
६	पञ्चोऽनुवाकः । १४	चतुर्दशः प्रपाठकः ।		
५२	३	भागलिः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
५३	३	बृहस्पतिकः	नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १ जगती
५४	३	ब्रह्मा	अग्नीषोमी	अनुष्टुप्
५५	३	ब्रह्मा	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१ जगती २ त्रिष्टुप्, ३ जगती ।
५६	३	शन्तातिः	१ विश्वेदेवाः २-३ रुद्रः	१ अग्निगर्भा पथ्यार्षिकिः, २ अनुष्टुप् ३ निचृद् ।
५७	३	शन्तातिः	रुद्रः	१-२ अनुष्टुप्, ३ पथ्यार्षिकिः ।
५८	३	अथवा (यशस्कामः)	बृहस्पतिः, मन्त्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ प्रत्यार्षिकिः, ३ अनुष्टुप्
५९	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः, मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्
६०	३	अथर्वा (यशस्कामः)	अर्यमा	अनुष्टुप्
६१	३	अथर्वा (यशस्कामः)	रुद्रः	त्रिष्टुप्, २-३ श्रुक् ।

७ सप्तमोऽनुवाकः ।

६२	३	अथर्वा	रुद्रः । मन्त्रोक्तदेवताः	त्रिष्टुप्
६३	४	द्रुहणः (आयु- धर्चोबलकामः)	निर्मतिः, यमः, ४ अग्निः	जगती, १ अतिजगतीगर्भा ४ अनुष्टुप्
६४	३	अथर्वा	सामनस्यं, विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्, २ त्रिष्टुप् ।
६५	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ पथ्यार्षिकिः ।
६६	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्, १ त्रिष्टुप् ।
६७	३	अथर्वा	चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः	अनुष्टुप्
६८	३	अथर्वा	मन्त्रोक्तदेवताः	१ पुरोविराडतिशकरीगर्भा चतुष्पदा जगती, २ अनुष्टुप्, ३ अतिजगती- गर्भा त्रिष्टुप् ।
६९	३	अथर्वा (धर्चस्कामो यशस्कामश्च)	बृहस्पतिः, अभिनौ	अनुष्टुप्
७०	३	कांकायनः	अध्या	जगती
७१	३	ब्रह्मा	अग्निः, १ विश्वेदेवाः	जगती, ३ त्रिष्टुप् ।
७२	३	अथर्वागिराः	शेपोऽर्कः	अनुष्टुप्, १ जगती, ३ श्रुक् ।

८ अष्टमोऽनुवाकः ।

७३	३	अथर्वा	सामनस्यं नानादेवताः	त्रिष्टुप्, १, ३ श्रुक् ।
७४	३	अथर्वा	सामनस्यं नानादेवताः त्रिणामा	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।
७५	३	कथन्धः (सपत्नक्षयकामः)	इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुप्, चतुष्पदा जगती ।
७६	४	कथन्धः (सपत्नक्षयकामः)	सांतपनाग्निः	अनुष्टुप्, ३ ककुम्भती ।
७७	३	कथन्धः (सपत्नक्षयकामः)	जातवेदाः	अनुष्टुप्
७८	३	अथर्वा	१, २ चन्द्रमाः, ३ स्वष्टा	अनुष्टुप्
७९	३	अथर्वा	संस्कानः	गायत्री, ३ त्रिपदा प्राञ्जपत्या जगती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	अपि	देवता	छन्द
८०	३	अथर्वा	चन्द्रमाः	अनुष्टुप्, १ मुरिक्, ३ प्रसारपङ्क्तिः ।
८१	३	अथर्वा	आदित्यः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्
८	३१	भगः (जायाकामः)	इन्द्रः	अनुष्टुप्

९ नवमोऽनुवाकः ।

८३	४	अंगिराः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, ४ एकावसाना द्विपदा निवृत्ता अपुष्टुप् ।
८४	४	अंगिराः	निर्गतिः	१ मुरिगुज्जती, २ त्रिपदा आर्था बृहती, ३-४ जगती, ४ मुरिकित्रष्टुप् ।
८५	३	अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)	घनस्पतिः	अनुष्टुप्
८६	३	अथर्वा (वृषकामः)	एकवृष	अनुष्टुप्
८७	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्
८८	३	अथर्वा	ध्रुवः	अनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ।
८९	३	अथर्वा	रुद्रः, मन्त्रोक्तदेवता	अनुष्टुप्
९०	३	अथर्वा	रुद्रः	१, २ अनुष्टुप्, ३ आर्था मुरिगुज्जित् ।
९१	३	भृग्वंगिराः	मन्त्रोक्तदेवता, यक्ष्मनाशनं	अनुष्टुप्
९२	३	अथर्वा	घाञ्जि	त्रिष्टुप् १ जगती ।

१० दशमोऽनुवाकः ।

९३	३	शन्तातिः	रुद्रः, ३ बहुदैवत्यम्	त्रिष्टुप्
९४	३	अथर्वांगिराः	सरस्वती	अनुष्टुप् २ विराड् जगती ।
९५	३	भृग्वंगिराः	घनस्पतिः, मन्त्रोक्ता	अनुष्टुप्
९६	३	भृग्वंगिराः	घनस्पतिः, ३ सोमः	अनुष्टुप् ३ त्रिपदाविराग्न्या गायत्री ।
९७	३	अथर्वा	मित्रावरुणौ	त्रिष्टुप्, १ जगती, मुरिक् ।
९८	३	अथर्वा	इन्द्रः	त्रिष्टुप्, २ बृहती गार्गाष्टरपङ्क्तिः ।
९९	३	अथर्वा	इन्द्रः, ३ सोमः सविता च	अनुष्टुप्, ३ मुरिक् बृहती ।
१००	३	गरुत्मान्	घनस्पतिः	अनुष्टुप्
१०१	३	अथर्वांगिराः	ब्रह्मणस्पतिः	अनुष्टुप्
१०२	३	जमदग्निः	अश्विनौ	अनुष्टुप्

(अभिसंमनस्कामः)

११ एकादशोऽनुवाकः । १५ पञ्चदशः प्रपाठकः ।

१०३	३	वृद्धोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०४	३	प्रमोचनः	इन्द्राग्नी, बहुदैवत्यम्	अनुष्टुप्
१०५	३	उन्मोचनः	कासः	अनुष्टुप्
१०६	३	प्रमोचनः	दूर्वाशाला	अनुष्टुप्
१०७	४	शन्तातिः	विश्वजित्	अनुष्टुप्
१०८	५	शौनकः	मेधा, ४ अग्निः	अनुष्टुप्, २ वरेण्यबृहती, ३ पथ्याबृहती ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
१०९	३	अथर्वी	विष्णुली, भैषज्यं	अनुष्टुप्
११०	३	अथर्वी	अग्निः	त्रिष्टुप्, १ वंकिः ।
१११	४	अथर्वी	अग्निः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप् ।
११२	३	अथर्वी	अग्निः	त्रिष्टुप्
११३	३	अथर्वी	पूषा	त्रिष्टुप्, ३ वंकिः ।

१२ द्वादशोऽनुवाकः ।

११४	३	प्रज्ञा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११५	३	प्रज्ञा	विश्वेदेवाः	अनुष्टुप्
११६	३	जादिकायनः	वैवस्वतः	जगती, २ त्रिष्टुप् ।
११७	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११८	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
११९	३	कौशिकः (अनृण कामः)	अग्निः	त्रिष्टुप्
१२०	३	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१ जगती, २ वंकिः, ३ त्रिष्टुप् ।
१२१	४	कौशिकः (अनृण कामः)	मन्त्रोक्तदेवताः	१-२ अनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् ।
१२२	५	भृगुः	विश्वकर्मा	त्रिष्टुप्, ४, ५ जगती ।
१२३	५	भृगुः	विश्वेदेवाः	त्रिष्टुप्, ३ त्रिपदा घात्री अनुष्टुप् । ४ एकावसाना त्रिपदा प्राजापत्या मुनिगुणुष्टुप् ।
१२४	३	अथर्वी (निर्ऋ- त्यपसरणकामः)	मन्त्रोक्तदेवताः दिव्या आपः	त्रिष्टुप्

१३ त्रयोदशोऽनुवाकः ।

१२५	३	अथर्वी	घनस्पतिः	त्रिष्टुप्, २ जगती ।
१२६	३	अथर्वी	घनस्पत्यो दुग्धुमिः	भुरिक्त्रिष्टुप्
१२७	३	भृगुगिरिः	घनस्पतिः, यक्षमनाशनं	अनुष्टुप्, ३ यक्षमना यत्पदा जगती ।
१२८	४	भृगुगिरिः (अथर्वीगिरिः)	चन्द्रमाः, शक्रधूमः	अनुष्टुप्
१२९	३	भृगुगिरिः (अथर्वीगिरिः)	भगः	अनुष्टुप्
१३०	४	अथर्वीगिरिः	सरः	अनुष्टुप्, १ विराट्पुरस्ताद्बहती ।
१३१	३	अथर्वीगिरिः	सरः	अनुष्टुप्
१३२	५	अथर्वीगिरिः	सरः	अनुष्टुप् १ त्रिपदानुष्टुप्, ३ भुरिक्, २, ४, ५ त्रिपदा महावृक्षतो, २, ४ विराट् ।
१३३	५	अगस्त्यः	मेघला	त्रिष्टुप्, १ भुरिक्, २, ५ अनुष्टुप्, ४ जगती ।
१३४	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्, १ परानुष्टुप् त्रिष्टुप्, २ भुरिक् त्रिपदागायत्री ।
१३५	३	शुक्रः	मन्त्रोक्तदेवताः	अनुष्टुप्

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
११६	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	धनस्पतिः	अनुष्टुप्, २ एकावसाना द्विपदा
		{ वीतहव्यः }		साम्नीबृहती ।
१३७	३	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	धनस्पतिः	अनुष्टुप्
		{ वीतहव्यः }		
१३८	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	धनस्पतिः	अनुष्टुप्, ३ पश्चापंकिः
		{ वीतहव्यः }		
१३९	५	अथर्वा (केशवर्धनकामः)	धनस्पतिः	अनुष्टुप्, १ त्र्यवसाना पदपदा विराज्जगती ।
१४०	३	अथर्वा	ग्रहणस्पतिः, मंत्रोक्ताः	अनुष्टुप्, १ उरोबृहती, २ उपरिष्ठा-उज्योतिष्मती त्रिष्टुप्, ३ आस्तार-पंकिः ।
१४१	३	विश्वामित्रः	आश्विनौ	अनुष्टुप्
१४२	३	विश्वामित्रः	वायुः	अनुष्टुप्

इस प्रकार षष्ठ काण्डके सूक्तोंके ऋषि, देवता, छंद हैं । अब इनका श्रष्टिकमानुसार विभाग देखिये—

श्रष्टिकमानुसार सूक्तविभाग ।

१ अथर्व ऋषिके १-७, १३, १७, १८, ३२, ३६-४०, ५०, ५८-६२, ६४-६९, ७३, ७४, ७८-८१, ८५-९०, ९२, ९७-९९, १०९-११३, १२४-१२६, १२९-१३३, १३६-१४० ये ६१ सूक्त हैं ।

२ शन्ताति ऋषिके १०, १९, २१-२४, ५१, ५६, ५७, ६३, १०७ ये ग्यारह सूक्त हैं ।

३ सूरवंगिराः ऋषिके २०, ४२, ४३, ९१, ९५, ९६, १२७ ये सात सूक्त हैं ।

४ अज्ञा ऋषिके २६, ४१, ५४, ५५, ७१, ११४, ११५ ये सात सूक्त हैं ।

५ कौशिक ऋषिके ३५, ११७-१२१ ये छः सूक्त हैं ।

६ सुगु ऋषिके २७-२९, १२२, १२३ ये पांच सूक्त हैं ।

७ अत्रिः प्राचेतसु ऋषिके ४५-४८ ये चार सूक्त हैं ।

८ विश्वामित्र ऋषिके ४४, १४१, १४२ ये तीन सूक्त हैं ।

९ अथर्वत्रिः ऋषिके ७२, ९४, १०१ ये तीन सूक्त हैं ।

१० जमदग्नि ऋषिके ८, ९, १०२ ये तीन सूक्त हैं ।

११ अत्रिः ऋषिके ८३, ८४, १२८ ये तीन सूक्त हैं ।

१२ कवन्ध ऋषिके ७५-७७ ये तीन सूक्त हैं ।

१३ गहमन्त्र ऋषिके १२, १०० ये दो सूक्त हैं ।

१४ शौनक ऋषिके १६, १०८ ये दो सूक्त हैं ।

१५ उपरिषप्रव ऋषिके ३०, ३१ ये दो सूक्त हैं ।

१६ आतन ऋषिके ३२, ३४ ये दो सूक्त हैं ।

१७ जाटिकायन ऋषिके ३३, ११६ ये दो सूक्त हैं ।

१८ शुक ऋषिके १३४, १३५ ये दो सूक्त हैं ।

१९ प्रजापति ऋषिके ११ यह एक सूक्त है ।

२० बभ्रुपिंगल ऋषिके १४ यह एक सूक्त है ।

२१ उदालक ऋषिके १५ यह एक सूक्त है ।

२२ शुन.शेष ऋषिके २५ यह एक सूक्त है ।

२३ यम ऋषिके ४५ यह एक सूक्त है ।

२४ गार्य ऋषिके ४९ यह एक सूक्त है ।

२५ मागल ऋषिके ५२ यह एक सूक्त है ।

२६ बृहच्छुक ऋषिके ५३ यह एक सूक्त है ।

२७ काङ्कायन ऋषिके ७० यह एक सूक्त है ।

२८ मग ऋषिके ८२ यह एक सूक्त है ।

२९ उच्छोचन ऋषिके १०३ यह एक सूक्त है ।

३० प्रशोचन ऋषिके १०४ यह एक सूक्त है ।

३१ उग्मोचन ऋषिके १०५ यह एक सूक्त है ।

३२ प्रमोचन ऋषिके १०६ यह एक सूक्त है ।

३३ अगस्त्य ऋषिके १३३ यह एक सूक्त है ।

इस प्रकार ३३ ऋषियोंके नामोंसे इस काण्डका संबंध है ।

प्रथम काण्डमें ८, द्वितीय काण्डमें १७, तृतीय काण्डमें ८,

चतुर्थ काण्डमें १७, पंचम काण्डमें १२ और इस षष्ठ काण्डमें

३३ ऋषियोंका संबंध है । अब देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग

देखिये—

देवताक्रमानुसार सूक्तविभाग ।

- १ नाना देवताः, बहुदेवतम्, मन्त्रोक्तदेवतं के ३: ४; १०; ११; १६; १९; २५; ४१; ४४; ४८; ५२; ५३; ५८; ६२; ६८; ७३; ७५; ८१; ८३; ८९; ९१; ९३; ९५; १२०; १२१; १२४; १३४; १३५; १४० ये २९ सूक्त हैं ।
- २ सोम, अग्रमा के २; ६; ७; १६; १९; २१; ३७; ४१; ६५-६७; ७८; ८०; ९६; ९९; १२८ ये १६ सूक्त हैं ।
- ३ अग्नि के १०; ३२; ३४; ३६; ४७; ४९; ६३; ७१; १०८; ११०-११२; ११७-११९, ये १५ सूक्त हैं ।
- ४ वनस्पति के २; १५; ४४; ८५; ९५; ९६; १००; १२५; १२७; १३६-१३९ ये १३ सूक्त हैं ।
- ५ विश्वेदेवाः देवता के ७; ४७; ५५; ५६; ६४; ७१; ११४; ११५; १२३ ये ९ सूक्त हैं ।
- ६ रुद्र देवता के ५५-५७; ५९; ६१; ६२; ८९; ९०, ९३ ये ९ सूक्त हैं ।
- ७ इन्द्र देवता के ३३; ६५-६७; ७५; ८२; ९८; ९९ ये ८ सूक्त हैं ।
- ८ बृहस्पति के ३८; ३९; ५८; ५९; ६९ ये पाँच सूक्त हैं ।
- ९ निर्ऋति के २७-२९; ६३; ८४ ये पाँच सूक्त हैं ।
- १० मरुतगण के ६; १०१; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं ।
- ११ अधिनो के ५०; ६९; १०२; १४० ये चार सूक्त हैं ।
- १२ यम के २७-२९; ६३ ये चार सूक्त हैं ।
- १३ आपः के २३, २४, ५१, १२४ ये चार सूक्त हैं ।
- १४ सोमनस्य के ६४, ७३; ७४ ये तीन सूक्त हैं ।
- १५ पराशर के ६५-६७ तीन सूक्त हैं ।
- १६ सर के १३०-१३२ तीन सूक्त हैं ।
- १७ वायु के १०, १४२ ये दो सूक्त हैं ।
- १८ यक्ष्मनाशन के २०, १२७ ये दो सूक्त हैं ।
- १९ ध्रुव के ८७, ८८ ये दो सूक्त हैं ।
- २० कालात्मा के ८, ९ ये दो सूक्त हैं ।
- २१ सविता के १, ९९ ये दो सूक्त हैं ।

शेष सूक्त एक देवताका एक है देखिये, इन्द्राभि ५, सूर्य १०, रेतः ११, सश्वः १२, मृग्युः १३, वनासः १४, गर्महर्षण १७, इन्द्राविनाशन १८, आदित्यरश्मिः २२, महतः २२, पाप्मा २६, धामी ३०, गौः ३१, वैश्वानरः ३५, त्विषिः ३८, मृग्युः ४३, मरुतगण ४३, दुष्यप्रनाशन ४५, स्रग् ४६,

सुधन्वा ४७, वरुणः ५१, अग्नीध्री ५४, अर्यमा ६०, अग्र्या ७०, सोषोऽर्कः ७३, त्रिगामा ७४, सौतपनाभिः ७६, आत-वेदाः ७७, स्वष्टा ७८, संस्फानः ७९, आदित्यः ८१, एकवृषः ८६, वाजी ९२, सरस्वती ९४, मित्रावरुणौ ९७, काशः १०५, दुर्वाशाला १०६, विश्वजित् १०७, मेघा १०८; पिप्पली १०९, मेघज्यं १०९, पूषा ११३, वैवस्वतः ११६, विश्वकर्मा १२२, वानस्पयो दुन्दुभि १२६, शक्रधूमः १२८, भगः १२९, मेघला १३३ ये अष्टतालीस देवताओंके प्रत्येकके एक एक ऐसे सूक्त हैं ।

पहिले के २१ और ये ४८ मिलकर ६९ देवताएँ इस काण्डमें हैं । अर्थात् इतनी देवताओंका विचार इस काण्डमें हुआ है । अब इस काण्डके गणोंकी व्यवस्था देखिये—

इस काण्डमें सूक्तोंके गण ।

- १ बृहच्छान्तिगण के १९, २३, २४, ५१, ५७, ५९, ६१, ९३, १०७ ये नौ सूक्त हैं ।
- २ स्वस्त्ययनगण के ३, ४, ७, १३, ३२, ३७, ४० ९३, ये आठ सूक्त हैं ।
- ३ तक्ष्मनाशनगण के २०, २६, ४२, ८५, ९१, १२७ ये छः सूक्त हैं ।
- ४ पृथिव्यमगण के ४, १५, ३३, ७९, १०२ ये पाँच सूक्त हैं ।
- ५ अपराशितगण के ६५-६७ ९७, ये चार सूक्त हैं ।
- ६ वर्षस्त्ययनगण के ३८, ५८, ६९, ये तीन सूक्त हैं ।
- ७ पवित्रगण के ५१, ६२, ७३ ये तीन सूक्त हैं ।
- ८ रौद्रगण के ५५, ६१, ९० ये तीन सूक्त हैं ।
- ९ वास्तुगण के १०, ७३ ये दो सूक्त हैं ।
- १० चातनगण के ३९, ३४ ये दो सूक्त हैं ।
- ११ अंशुलिङ्गगण के ३५, ३६ ये दो सूक्त हैं ।
- १२ अग्रयण के ४०, ५० ये दो सूक्त हैं ।
- १३ इन्द्रमहोत्सव के ८६, ८७ ये दो सूक्त हैं ।
- १४ दुष्यप्रनाशनगण का ४५ यह एक सूक्त है ।
- १५ सोमनस्त्ययन का ७३ यह एक सूक्त है ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके गण हैं । पाठक यदि इन सूक्तोंका गण सूक्तोंके साथ साथ मिलकर विचार करेंगे, तो सूक्तोंका तात्पर्य समझनेमें बड़ी सुगमता होगी ।

इतना विचार ध्यानमें रखकर अब इस काण्डका मनन कीजिये ।



अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

षष्ठ काण्ड ।

अमृतदाता ईश्वर !

[सूक्त १]

(ऋषि — अथर्व । देवता — सविता ।)

दोषो गाय बृहद् गाय युमद्वेदि । आथर्वेण स्तुधि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

तमं दृष्टि यो अन्तः सिन्धौ स्रुतः । सत्यस्य युवानमद्रोषवाच सुशेर्वम् ॥ २ ॥

स घा नो देवः सविता साविषद्रुमृतानि भूरि । उमे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (आथर्वेण) अथर्वकि अनुयायी ! (सवितार देव) सविता देवकी (स्तुधि) स्तुति कर । (दोषो गाय) रात्रीके समय या, (बृहद् गाय) बहुत भजन कर, (युमत् वेदि) तेजबुलकी घासना कर ॥ १ ॥

(य सिन्धौ अन्तः सत्यस्य स्रुतः) जो भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, तथा (युवान) युवा, (सुशेर्वम्) उत्तम सुख देनेवाला और (अ-द्रोष-वाच) दोहरीन वाणीसे युक्त है (त उ स्तुधि) उसका गुणगान कर ॥ २ ॥

(स घा सविता देवः) वही सर्व प्रेरक देव (उमे सुष्टुती सुगातवे) दोनों प्रकारकी स्तुति करने योग्य उत्तम मार्गपरसे हम जाय, इसके लिये (न भूरि अमृतानि साविपत्) हमें बहुतसे अमृतमय सुख देता रहता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे योगमार्गमें प्रवृत्त मनुष्य ! तू सर्वप्रेरक एक ईश्वरकी उपासना कर । रात्राके समय उसका गुणगान कर, उसका बहुत भजन कर और उसके तेजकी मनमें घासना कर ॥ १ ॥

वही एक ईश्वर इस भवसमुद्रके बीचमें सत्यकी प्रेरणा करनेवाला है, वह न बाल होता है और न बूढ़ होता है । अथिु सदा तरुण रहता है । वही सब सुखोंकी देनेवाला है और हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, उसका गुणगान कर ॥ २ ॥

वही सबका प्रेरणा देनेवाला एक देव हम दोनों प्रकारके प्रशसनीय मार्गपरसे प्रगति करें, इसलिये हमें अनन्त सुख सदा देता रहता है ॥ ३ ॥

एक देवकी भक्ति ।

इस सूक्तमें एक देवकी भक्ति करनेका उत्तम उपदेश है । विशेष विचार न करते हुए इस सूक्तका अर्थ देखनेसे, यह सूक्त सूर्य देवकी उपासना करनेका उपदेश कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है । सूर्य परमात्माका प्रतिनिधि इस सूर्य मालामें है, इस-

लिये उसकी उपासना करनेसे परंपरया परमात्माकी उपासना है । सफ़्ती है, इसमें सदेह नहीं है; परन्तु यह प्रतीकोपासना साधारण भ्रष्ट बालबुद्धि जनोकी मनाधिरताके लिये उपयोगी है । वेदमें अग्नि, विष्णु और सूर्य इनके द्वारा पार्थिव, अन्तःस्थ और गुलिक सबकी तीन दृश्य तेषोंका दर्शन करके परमात्मोपासनाका ही पाठ दिया होता है; इसी नियमके अनु-

सार यहाँ खविता देवके द्वारा सूर्यका दर्शन कराते हुए एक अद्वितीय परमात्माकी ही उपासना कही है इसका उत्तम प्रमाण यह है—

दोषो गाय । (मं १)

‘रात्रीके समय उसका गुणगान कर, उसकी भक्ति कर, उसकी उपासना कर, यदि ‘दिनमें दिखाई देनेवाले सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें होती, तो ‘रात्रीके समय उसका गुणगान कर’ ऐसा कहना अनुचित था, क्योंकि सूर्यकी उपासना दिनके समय ही हो सकती है और रात्रीके समय नहीं। इस सूक्तमें तो रात्रीके एकान्त समयमें उस सूर्य देवका खूब भजन करो ऐसी आज्ञा है, देखिये—

दोषो गाय, गृह्ण गाय । (मं १)

‘रात्रीके समय भजन कर, बहुत भजन कर’ इस प्रकार रात्रीके समय भजन करनेकी ही कहा है यदि इस सूर्यकी ही उपासना इस सूक्तमें अमोघ होती, तो उसकी उपासना रात्रीका नामनिर्देश करके कैसे कही होती? इस सूक्तमें दिनका नाम तक नहीं है, परंतु रात्रीका स्पष्ट उल्लेख है, इतना ही नहीं परंतु उस रात्रीमें—

गुमसू घेहि । (मं. १)

‘तेजवाले स्वरूपकी मनमें धारणा कर।’ सूर्यका तेज दिनमें दिखाई देता है, रात्रीके समय नहीं। परंतु यहाँ तो रात्रीके समय सूर्यके तेजका ध्यान करना लिखा है; इस लिये, जो सूर्य रात्रीके समय उपासनाके लिये प्राप्त हो सकता है, और जिसे तेजकी धारणा रात्रीके समयमें भी की जा सकती है, उस सूर्यका वर्णन इस सूक्तमें है ऐसा हम कह सकते हैं। अर्थात् सूर्यका भी जो सूर्य परमात्मा है, जिसके शासनसे यह सूर्य यहाँ प्रकाश रहा है, उस परमात्मरूपी सूर्यकी उपासना इस सूक्त द्वारा कही है। इसके गुणका उपासनाके समय मनन करना चाहिये, जिनका वर्णन त्रिप्र लिखित प्रकाश इस सूक्तमें हुआ है—

१ गृह्णत् = वह सबसे बड़ा है, उससे बड़ा कोई नहीं है,

२ गुमसू = वह प्रकाशवाला है,

३ घेय = वह सब प्रकारसे दिव्य है, वह दाता प्रकाशक और ऐश्वर्ययुक्त है,

४ सविता = वह सबकी उत्पत्ति करनेवाला और सबका ऐश्वर्य बढानेवाला है,

५ सिन्धो अमृतः = इस सगरसमुद्रके गहरे स्थानमें भी वह विद्यमान है,

६ सत्यस्य सूनुः = सत्यकी प्रेरणा करनेवाला, वह सत्य स्वरूप है,

७ युधा = वह सदा जवान है, वह न कभी घाल था और न कभी बुढ़ा होगा, सदा तक्षण जैसा शक्तिशाली है,

८ सुद्योयः = उत्तम सुख देनेवाला, किंवा (सु-सेवाः) उत्तम प्रकार सेवा करने योग्य,

९ अ-द्रोघ-धाक् = हिंसारहित शब्दोंकी प्रेरणा करनेवाला,

१० अमृतानि भूरि साविष्यत् = अनंत सुखोंको देता रहता है।

ये दस गुण इस परमात्माके इस सूक्तमें कहे हैं, उपासकको इन गुणोंका मनन करना चाहिये। परमात्माके इन गुणोंका मनन करके, इनकी धारणा मनमें करके अपने अन्दर अद्भुतक ही वहाँ तक इन गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सर्वथा इन गुणोंका उत्कर्ष मनुष्यमें न भी हो सके, तो कोई हर्ष नहीं है, जिस अवस्था तक हो सके, उस अवस्थातक उत्कर्ष करना आवश्यक है।

परमात्माके इन गुणोंका मनन करनेसे उसके तेज स्वरूपका साक्षात्कार सर्वत्र होने लगता है। योगमार्गमें प्रवृत्त होकर प्राणायाम ध्यानधारणाकी और योकीर्णी प्रवृत्ति होनेसे ही प्रकाशदर्शन होने लगता है। इस प्रकाशदर्शनका निरव्य स्मरण करनेसे और इसीकी ध्यानमें स्थिर करनेसे योगसिद्धि सज्जतिके प्रकाशका मार्ग सिद्ध हो जाता है। यह तेजका केन्द्र इस संसार महासागरमें सर्वत्र उपस्थित देखना और उसके बिना कोई पदार्थ नहीं है, ऐसा मनका निश्चय करना चाहिये। उसका तेज, उसके सारयनियम और उसकी दया सर्वत्र अनुभव करनेसे उसकी सर्वत्र उपस्थिति जानी जा सकती है।

अहिंसक वाणी ।

परमात्मा स्वयं हिंसारहित वाणीका प्रवर्तक है, अतः जो मनुष्य उसके भक्त होता चाहते हैं, वे सदा मोहहित वाणीका प्रयोग करें। ‘अद्रोघाशक्’ अर्थात् जिन शब्दोंमें कोडा भी होह नहीं, योधी भी हिंसा नहीं, दूसरोंकी कष्ट देनेका योधा भी आशय नहीं, उस प्रकारकी वाणी मनुष्योंकी बोलना उचित है। इस शब्द द्वारा ईश्वरभक्तको किंच प्रकाशका आचरण करना चाहिये यह दर्शाया है। यदि स्वयं परमेश्वर कभी मोहमय शब्दोंका प्रयोग नहीं करता, तो उसके भक्तको भी ऐसे ही शब्द प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् अगबद्धभक्त अपने मनमें हिंसाका भाव न रखे, हिंसाभाव वाणीसे प्रकट न करे, और हिंसाका कोई कर्म न करे। इस प्रकार प्रयत्न करनेसे कोई समय ऐसा आ जाता है, कि जिस समय उपासकके मनमें

हिंसाकी लहर उठती ही नहीं । यह अवस्था जब प्राप्त होती है तब उसके समुच्च हिंसक जन्तु भी हिंसाश्रुति भूल जाते हैं । आत्मोन्नतिके लिये इस प्रकार 'अद्रोह श्रुति' की परम आवश्यकता रहती है ।

, अद्रोह श्रुति केवल द्रोह निषेधको ही व्यक्त करती है, ऐसा कोई न समझे । द्रोह निषेधका अपेक्षा 'दूसरोंका सुख बढ़ानेके लिये आत्मसमर्पण' करनेकी इस श्रुतिमें आवश्यकता है । अहिंसा, अद्रोह ये शब्द केवल हिंसा निवृत्ति ही नहीं बताते, प्रत्युत जनताकी सेवा करने द्वारा जो भगवान की सेवा होती है, उसके करनेकी भी इसमें आवश्यकता है ।

सत्यका मार्ग ।

अहिंसाके साथ 'सत्य' का मार्ग भी इस सूक्तमें बताया है । परमात्माको 'सत्यस्य सूनुः' कहा है, यही 'सूनु' शब्दका अर्थ (सु-प्रसवे) प्रसव करना है । सत्यका प्रसव करनेका तात्पर्य सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना, अर्थात् सत्यरूप बनना है । परमात्मा सत्यका प्रवर्तक है, ऐसा कहनेसे ईश्वर मनुष्यको उचित है कि वह सत्यनिष्ठ बने । अपनी उन्नतिके लिये सत्यकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

अहिंसा श्रुति और सत्यनिष्ठा इन दो भावनाओंसे मनुष्यकी उन्नति हो सकती है और परमात्माका साक्षात्कार होता है ।

दो मार्ग ।

अहिंसा और सत्य ये दो प्रशंसनीय मार्ग हैं, इनसे ही मनुष्यमात्रका इहपरलोकमें कल्याण हो सकता है इन दो मार्गोंके विषयमें इस सूक्तमें इस प्रकार कहा है ।

उभे सुष्टुती सुगातवे सः भूरि अमृतानि साविपत् । (मं. १)

(दोनों उत्तम प्रशंसनीय मार्गोंपरसे (सु) उत्तम रीतिसे (गातवे) जानेके लिये वह परमात्मा बहुत सुखसाधन हमें

देता है ।) यही उसकी अपार दया है । इस जगतमें सबसे अनन्त सुखसाधन बनाये हैं, और मनुष्योंको दिये हैं । इसका उद्देश्य यह है कि मनुष्य उन सुखसाधनोंका अवलम्बन करके अहिंसा और सत्यके साधनद्वारा अपनी उन्नतिका साधन करे और अन्तमें परमात्माको प्राप्त करे । परमेश्वरकी अपार दया इस प्रकार अनुभव करके उसके उपर दृढ़ श्रद्धा रखनी योग्य है ।

उक्त दो मार्ग ऐहिक अभ्युदय साधन और पारमार्थिक निःश्रेयस साधन ये भी हो सकते हैं । धर्मके ये दो अंग ही हैं । परमात्माने इस जगतमें जो सुखसाधन निर्माण किये हैं उनको लेकर अभ्युदय और निःश्रेयस साधन करके परमगतिको मनुष्य प्राप्त हो ।

अथर्वाका अनुयायी ।

इस सूक्ता उपदेश 'आ-धर्षण' के लिये किया है । 'धर्ष' का अर्थ क्रुद्धता, हिंसा, चंचलता आदि । 'अ-धर्ष', का अर्थ है 'अक्रुद्धता, अहिंसा और स्थिरता' जो मनुष्य अक्रुद्धता और अहिंसा श्रुतिसे चलते हुए मन स्थैर्य प्राप्त करते हैं अर्थात् योगमार्गका अनुष्ठान करके चित्तश्रुतियोंका निरोध करते हैं, उनको अथर्वा कहते हैं । इस योगमार्गके जो अनुयायी होते हैं, उनको 'आधर्षण' कहते हैं । इन आधर्षणोंको उन्नति किस प्रकार होती है, इसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्ता विचार करेंगे, तो उनको आत्मोन्नतिके वेदप्रतिपादित योगमार्गका ज्ञान हो सकता है ।

आशा है कि पाठक इस सूक्तसे अहिंसा और सत्यका महत्त्व जानकर उसके अवलम्बनसे अपनी उन्नतिका साधन करे और वेदका उपदेश अपने दैनिक आचरणमें लाकर इहपरलोकमें परम उन्नति प्राप्त करें ।

विजयी इन्द्र ।

[सूक्त २]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सोमः, वनस्पतिः ।)

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत । स्तोतृषो वचः शृण्वद्वचं च मे ॥ १ ॥

अर्थ— हे (ऋत्विजः) ऋतुओंके अनुकूल यज्ञ करनेवाले । (इन्द्राय सोमं सुनोत) इन्द्रके लिये सोमरस निकालो, (च धावत) और उसको अच्छी प्रकार शोधो । (यः स्तोतुः मे वचः) जो स्तुति करनेवाले मेरी स्तुति और (वचं च) मेरी मार्शना (शृण्वत्) सुने ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्द्वो वयो न वृक्षमन्धसः । विरिण्णिन्वि मृचो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥
सुनोता सोमपात्रे सोममिन्द्राय वृजिणे । युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यं अन्धसः इन्द्रयः) जिसके प्रति अन्नरसके अंश (आ विशन्ति) पहुँच जाते हैं (वृक्षं वयो न) वृक्षके प्रति जैसे पक्षी जाते हैं । दे (विरिण्णन्) विज्ञानयुक्त वीर । (रक्षस्विनीः मृचा वि जहि) आसुरी वृत्तिके शत्रुओंका नाश कर ॥ २ ॥

(सोमपात्रे वृजिणे इन्द्राय) सोमपान करनेवाले राजभारी इन्द्रके लिये (सोमं सुनोत) सोमका रस निचोरो । (सः पुरुष्टुतः जेता युवा ईशानः) वह प्रशंसनीय विजयी युवा ईश है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे याजको ! इन्द्र देवके लिये सोमरस निचोड़ो और उस रसको छानकर पवित्र बनाओ । वह प्रभु ऐसा है कि जो हमारी प्रार्थना सुनता है और हमारे मनोरथ पूर्ण करता है ॥ १ ॥

उसी प्रभुके प्रति यह सोमयज्ञ पहुँचता है । हे वीर ! आसुरी भाववाले शत्रुओंको परास्त कर ॥ २ ॥

सोमपान करनेवाले राजभारी इन्द्रके लिये सोमरस तैयार करो । वही इन्द्र प्रशंसनीय विजयी युवा वीर है और वही सबका प्रभु है ॥ ३ ॥

इन्द्रके लिये सोमरस ।

सोमरस निछाड़कर उसको छानकर पवित्र करके उसका प्रभुके लिये समर्पण करना चाहिये और अवशिष्ट रहे हुए रसका स्वयं धेवन करना चाहिये । यह सोमरस बड़ा बलवर्धक, पौष्टिक, आरोग्यवर्धक, उत्साहवर्धक और तेजस्विता बढ़ानेवाला है ।

ईश्वरको भक्तिपूर्वक समर्पण करनेके बाद अवशेष भक्षण करनेका महत्त्व इस सूक्तमें है ।

तृतीय मंत्रमें 'ईशान' शब्द है ओ इन्द्र शब्दका विशेषण होनेसे यशोका वर्णन परमात्मपरक होनेका निधय करता है । 'युवा, जेता, इन्द्र' आदि शब्द भी उसी प्रभुके वाचक प्रसिद्ध हैं ।

रक्षाकी प्रार्थना ।

[सूक्त ३]

(क्राविः — अथर्वो । देयता — नानादेयताः ।)

पातं न इन्द्रापृष्णादितिः पान्तु मरुतः ।

अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन् पातु नो विष्णुर्दुत द्यौः

॥ १ ॥

पातां नो घावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः ।

पातु नो देवी सुमगा सरस्वती पातुभिः शिवा ये अस्य पायवः

॥ २ ॥

अर्थ— (इन्द्रापृष्णो नः पातं) इन्द्र और पूषा ये दो देव हमारी रक्षा करें, (आदितिः मरुतः पान्तु) आदिति और मरुत देव हमारी रक्षा करें । (अपां नपात्, सप्त सिन्धवः पातन्) येनोंको न मिरानेवाला पञ्चन्यदेव और घातों समुद्र हमारी रक्षा करें, (विष्णुः दुत द्यौः नः पातु) व्यापक देव और शुलोक हमें बचावे ॥ १ ॥

(घावापृथिवी अभिष्टये नः पातां) शुलोक और पृथिवी लोक अभीष्ट अवस्था प्राप्त होनेके लिये हमारी रक्षा करें । (ग्रावा सोमः नः अंहसः पातु) पत्थर और सोम औषधि हमें पापसे बचावें, (सुमगा सरस्वती देवी नः पातु) स्वप्न ऐश्वर्यशाली विधादेवी हमारी रक्षा करे । (अग्निः पातु) अग्नि हमारी रक्षा करे और (ये अस्य पायवः) ओ इसके रक्षक गुण हैं, ये भी हमारी रक्षा करें ॥ २ ॥

पातां नो देवाभिनो शुभस्पती उपासानक्तो न उरुष्यताम् ।

अर्पा नपादमिन्दुती गर्यस्य चिद् देवं त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये

॥ ३ ॥

अर्थ— (शुभस्पती अभिनो देवी नः पातां) उत्तम पालक अभिनोदेव हमारी रक्षा करें । (उत उपासानक्ता नः उरुष्यतां) तथा उपा और रात्री हमारी रक्षा करें । (अर्पा नपात् त्वष्टः देव) हे जलोंको न गिरनेवाले त्वष्टा देव । (गयस्य अमिन्दुती चिन्) परकी दुःखस्याधे मो दूर करके (सर्वतातये वर्धय) सब प्रकारके विस्तारके लिये हमारी पक्षि कर ॥ ३ ॥

देवों द्वारा हमारी रक्षा ।

इस सूत्रमें कई देवोंके नामोंका उल्लेख करके उनसे हमारी रक्षा होनेकी प्रार्थना की है । इसमें पृथ्वीस्थानीय देव ये हैं—

१ पृथिवी = भूमि जिसपर सब मानवजाति रहती है,

२ सप्त सिन्धधः = सात समुद्र, जिनमें जल भरा पड़ा है,

३ अग्निः, अथ्य पायधः च = अग्नि और उसकी सब रक्षक शक्तियाँ,

४ सोमः = सोम आदि सब वनस्पतियों और औषधियों,

५ प्राचा = पत्थर तथा अन्यान्य कनिष्ठ पदार्थ ।

ये पाँच देव पृथिवीस्थानीय हैं, ये अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें । इनके अन्दर विविध शक्तियाँ हैं, इसलिये उन शक्तियोंसे मनुष्यका सुख बढ़े ऐसा उपाय अवलंबन करना चाहिये । उदाहरणके लिये अमिका उपयोग पाक करने आदि कार्योंमें करनेसे लाभ और गृहादिके अलावेमें करनेसे हानि होती है । इसी प्रकार अन्यान्य देवताओंके विषयमें जानना चाहिये । अब अन्तारिक्षस्थानीय देवोंके विषयमें देखिये—

६ इन्द्र = जो परमेश्वर देता है, विजुक्तका संभार करता है,

७ मरुताः = सब प्रकारके वायु, जो प्राणादि रूपसे सबकी रक्षा करते हैं,

८ अर्पा नपात् = जलोंको मेघोंमें धारण करनेवाला देव,

९ त्वष्टा = जो तोड़ने मोड़नेका कार्य करता है और जो रूपोंको बनाता है ।

ये देव भी विविध शक्तियोंके द्वारा मनुष्योंकी रक्षा करते हैं । इसलिये इनकी शक्तियोंसे मनुष्यका लाभ हो और कदापि हानि न हो ऐसा प्रबंध करना चाहिये । अब पुस्त्यानीय देवताओंका विचार देखिये—

१० सौः = धुलोक जहाँ सब तेजपारी सूर्यादि भौलक रहते हैं,

११ पूषा = सूर्य जो अपने किरणोंसे सबको पुष्ट करता है ।

ये देव धुलोकमें रहते हुए मनुष्यकी रक्षा कर रहे हैं, इसी प्रकार अन्य देवोंके विषयमें देखिये—

१२ अश्विनौ = श्राव और चरुवाध, शय और अपान, तारु (जमरी), मारु (गुँरी) शक्ति, यह प्राण शक्ति है ।

१३ उपासानक्ता = उपा और रात्री, यह काल है ।

१४ सरस्वती = विद्या देवी, ज्ञानदेवता, शास्त्रविद्या, सम्भता,

१५ अदितिः = असंखित मूल शक्ति, और

१६ विष्णुः = सर्वव्यापक ईश्वर ।

ये सब देव और देवताएँ मनुष्यकी रक्षा करें । मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे ऐसा व्यवहार करे, कि जिससे इनकी शक्ति इसकी सहायक बने और कभी विरोधक न बने ।

इनमें सब शक्ति एक अद्वितीय सर्वव्यापक देवसे आती है, तथापि मनुष्यका इनके साथ अलग अलग संबंध आता है, और इनसे मनुष्यके विविध कार्यसिद्ध भी होते हैं और इनका विरोध होनेसे मनुष्यकी बड़ी हानि भी होती है, इसलिये इनकी सहायताकी याचना यहाँ की है ।

दो उद्देश्य ।

मानवी उत्पत्तिके दो उद्देश्य हैं— (१) गयस्य अमिन्दुती = परकी कृष्टिजता, हानि आदि दूर करना, और (२) सर्वतातये वर्धय = सब प्रकारका विस्तार होनेके लिये बढ़ना । सब देवताओंकी शक्तियोंसे ये दो उद्देश्य सिद्ध हों, ऐसा व्यवहार करना चाहिये । पूर्वोक्त देव अपने शरीरमें अंश रूपसे हैं, उनका शक्तियोंकी उत्पत्ति करके भी मनुष्यका बड़ा लाभ हो सकता है । इस सूत्रका विचार करनेसे इस दंगले बहुत लाभ हो सकता है ।

अगला सूत्र भी इसी विषयका है, वह अब देखिये ।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — मधर्षा देवता — नानादेवताः ।)

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टं त्रायमाणं सहः ॥ १ ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।

अप तस्य द्वेपो गमेदभिर्हुतो यावयच्छत्रमन्तितम् ॥ २ ॥

धिये समंश्चिना प्रायंत न उरुण्या न उरुज्मक्षप्रयुच्छन् ।

द्यौःस्पितर्यावय द्रुच्छुना या ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वष्टा) सबका निर्माण करनेवाला, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति और (पुत्रैः भ्रातृभिः अदितिः) पुत्र और भाइयों के साथ अदिति देवा, (मे दैव्यं वचः) मेरे देवों के संबंधके वचनको सुनें, और (नः दुष्टं त्रायमाणं सहः पातु) हम सबके अत्रेय और पालना करनेवाले सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

अथा, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, अदिति और मरुत देव ये सब देव मेरी (पान्तु) रक्षा करें । (तस्य अभिर्हुतः द्वेपः अपगमेत्) उस शत्रुका फुटल द्वेष दूर होवे । (अन्तितं शत्रुं यावयत्) ये सब पास आये शत्रुको दूर भगा दें ॥ २ ॥

हे (अभिचनी) अभिदेवो ! (धिये नः सं प्रायंत) बुद्धिके लिये हमारी उत्तम रक्षा करो । हे (उरु-ज्मक्ष) विशेष गतिवाले ! (अप्रयुच्छन्) भूल न करता हुआ तू (नः उरुण्य) हम सबकी रक्षा कर । हे (द्यौः पितः) बुलोकके पालक ! (या द्रुच्छुना यावय) जो दुरंगति है, उसको दूर कर ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें पूर्व सूक्तमें कहे ओ देवोंके नाम आ गये हैं वे ये हैं— ' त्वष्टा, अदिति, मरुतः ' । जो देवोंके नाम पूर्व सूक्तमें नहीं आये वे ये हैं— ' पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति, अंश, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, द्यौस्पिता । ' पूर्वके अनु-संधानसे ही इस सूक्तका अर्थ देखना चाहिये ।

१ पर्जन्यः = मेघ, जल देनेवाला देव,

२ ब्रह्मणस्पति = ज्ञानका स्वामी, ज्ञान देनेवाला,

३ अंशः = प्रकाश देनेवाला,

४ भगः = भाग्यवान्, भाग्य देनेवाला,

५ वरुणः = वरिष्ठ देव, सबके भेष्ट देव,

६ मित्रः = सबका हितकारी,

७ अर्यमा = भेष्ट कौन है इनका मिथ्य करनेवाला,

८ द्यौस्पिता = बुलोकका पालक देव ।

९ पुत्रैः भ्रातृभिः सह अदितिः = लड़कों और भाइयोंके समेत अदिति देवी । अर्धविकृत मूल शक्तिका नाम अदिति देवी है, इससे सूर्यादि तेजके गोलक उत्पन्न होते हैं इसलिये ये इसके पुत्र हैं । तथा उसके समान जो हैं वे उसके भाई हैं । अर्थात् मूल प्रकृति अथवा मूल शक्ति और उससे उत्पन्न हुए सब पदार्थ इस मंत्रमागसे लेने योग्य हैं ।

यह सब देवी शक्तियोंका समूह हम सबकी रक्षा करे ।

रक्षाका कार्य ।

रक्षा करनेका क्या तात्पर्य है यह इस सूक्तमें बताया है, इसलिये इसके सूचक वाक्य देखिये । रक्षाके लिये अपनी बुद्धि उत्तम रहनी चाहिये । यह दर्शनके लिये कहा है—

१ धिये नः सं प्र अवतं— ' उत्तम बुद्धिके विस्तार होनेके लिये हम सबकी उत्तम प्रकार विशेष रक्षा करो । ' मनुष्यकी बुद्धिकी ही विशेष आवश्यकता है । मनुष्यकी रक्षा भी इधो-लिये होनी चाहिये कि उसकी बुद्धि विशेष शुद्ध, पवित्र, निर्दोष और कुशाग्र हो और कभी हीन न हो । (म. १)

२ मे दैव्यं वचः— मेरा माधव दिव्य हो, अर्थात् उसमें देवके गुणोंका वर्णन हो, शुद्ध भाव हों, और कभी हीन भाव न हों । वाणीकी इस प्रकार शुद्धि होनेसे ही ऊपर कही बुद्धिकी उन्नति हो सकती है । इस सूक्तमें एक वाणीका उल्लेख करके सब अन्य इंद्रियोंकी प्रशंसा शुद्ध करनेका उपदेश सूचित किया है । जिस नियमसे वाणीकी शुद्धि होती है, उसी नियमसे नेत्र, कर्ण आदि अन्यग्रन्थ इंद्रियोंकी भी शुद्धि होती है । इंद्रियोंको शुभ कर्ममें सदा निमग्न रखनेसे ही सब इंद्रिय शुद्ध हो सकते

हैं । यह नियम सब इन्द्रियोंके विषयमें समान ही है । अपने इन्द्रियोंमें ' दिव्य भाव ' स्थिर करना चाहिये, यह इस विवरणका तात्पर्य है । इस प्रकार सब इन्द्रियां शुद्ध होनेसे बुद्धि भी इसी कारणसे शुद्ध होती है और विकसित होती है । (मं. १)

३ **द्वेषः अप्रमत्तः**—द्वेषभाव, निंदा करनेका स्वभाव, शत्रुत्व करनेका आशय अन्तःकरणसे दूर हो जावे । यह पवित्र मननेका मार्ग है । द्वेषभाव मनसे पूर्णतया हटा, तो मन शुद्ध हो सकता है । (मं. २)

४ **दुर्गुणानां यावय**—सब दुर्गुणोंको दूर कर । अपने इन्द्रिय हीन कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेसे ही सब प्रकारकी दुर्गति प्राप्त होती है । इसलिये पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि हो गयी तो दुर्गति अपने पास कदापि रहेगी ही नहीं । (मं. ३)

५ **शत्रुं यावय**—शत्रुको दूर भगा दे । अपने अन्दर कामक्रोधादि शत्रु हैं, समाजमें कामी, क्रोधी ये शत्रु हैं और राष्ट्रके भी शत्रु होते हैं । इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये । पूर्वोक्त प्रकार आत्मशुद्धि करनेसे सब आंतरिक शत्रु दूर होते हैं, सामाजिक और अन्य शत्रु दूर करनेका उपाय भी वहीकी

शुद्धता करना ही है । इस कार्यके लिये अपने अन्दर बल चाहिये, उसका उपदेश इस प्रकार किया है—

६ **नः पुष्टर प्रायमाणं सहः**—हमारे अन्दर शत्रुद्वारा पार करनेके लिये कठिन और जिससे अपनी रक्षा हो इस प्रकारका बल हमारा हो । बलके दो लक्षण यहाँ कहे हैं, वह बल ऐसा चाहिये कि जिसका (दुः+तरं) उल्लंघन शत्रु न कर सके । जब शत्रु आक्रमण करे उस समय वह पूर्ण रीतिसे परास्त हो, ऐसा अपना बल रहना चाहिये । इसी प्रकार उस बलसे हरएक कठिन प्रसंगमें हमारी रक्षा होवे, ऐसा हमारा बल हमेशा रहना चाहिये । इस प्रकारका बल बढ़ जानेसे स्वयमेव सब शत्रु दूर होंगे ।

इस प्रकारका बल बढ़ाना ब्रह्मणस्पतिका कार्य है । ब्रह्मणस्पति यह ज्ञान और विश्रान्तका देव है और वह अपने ज्ञानके दानसे पूर्वोक्त बल मनुष्योंमें बढ़ाता है । इसीलिये उगड़ी उपासना और स्तुति प्रार्थना मनुष्योंको करना चाहिये । उपासनाके समय इस प्रकारका मनन करनेसे और ब्रह्माभक्तियुक्त अन्तःकरणसे उपासना करनेसे ये सब फल प्राप्त होते हैं ।

यज्ञसे उन्नति ।

[सूक्त ५]

(ऋषि — अथर्व । देवता — इन्द्राग्नी ।)

उदेनमुत्तरं न्यायं घृतेनाहुत । समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि ॥ १ ॥
इन्द्रेम प्रतरं कृधि सजातानामसद् वृद्धी । रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय ॥ २ ॥
यस्य कृणो हविर्गृहे तममे वर्धया त्वम् । तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पति ॥ ३ ॥

अर्थ—हे (घृतेन आहुत भस्मे) गोषे आहुति पाये हुए अग्नि । (यन उत्तरं उग्रय) इस मनुष्यको अधिक ऊँचा उठा । (यनं वर्चसा सं सृज) इसको तेजसे समृद्ध कर । (च प्रजया बहुं कृधि) और प्रजाले समृद्ध कर ॥ १ ॥

हे इन्द्र । (इम प्रतरं कृधि) इस मनुष्यको ऊँचा कर । यह (सजातानां यशो असत्) यह मनुष्य स्वजातिके पुत्रोंके बीच सबको बचाने करनेवाला होवे । (रायस्पोषेण सं सृज) इसको धन और पुष्टि उत्तम प्रकार प्राप्त हो और (जीवातवे जरसे नय) दीर्घजीवनके लिये बुझपेतक सुखपूर्वक लेना ॥ २ ॥

हे भो ! (यस्य गृहे हविः कृणमः) जिसके घरमें हम हवन करते हैं, (एवं सं वर्धय) तू उसको बढ़ा, (सोमः अयं च ब्रह्मणस्पतिः) सोम और यह ब्रह्मणस्पति (तस्मै अधि ब्रवत्) उसको आशीर्वाद देवे ॥ ३ ॥

हवनसे आरोग्य ।

जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है, और सब प्रकारकी उन्नति होती है । इसके विषयमें देखिये—

१ एनं उत्तरं = जिसके घरमें हवन होता है वह (उत्तर-तरः) अधिक उन्नत बनता है, पूर्वकी अपेक्षा अधिक उन्नत होता है ।

२ घर्त्तसा सं = जिसके घरमें हवन होता है वह तेजस्वी होता है ।

३ प्रजया वृद्धः = जिसके घरमें हवन होता है उसकी वृद्धि होती है ।

४ इमं प्रतरं = जिसके घरमें हवन होता है, वह अधिक

उंचा बनता है । हर एक प्रकारसे श्रेष्ठ होता है ।

५ सजातानां घघी = स्वजातियोंकी अपने आधीन करनेवाला होता है, जो प्रतिदिन हवन करता है ।

६ रायस्पोषेण सं = उसका धन बढ़ता है और पुष्टि भी बढ़ती है । वह हृष्टपुष्ट होता है ।

७ जीघातये जरसे नय = उसको दीर्घ आयु प्राप्त होती है ।

अर्थात् जिसके घरमें हवन होता है उसकी हर एक प्रकारसे उन्नति होती है । प्रतिदिन उसको सुख और सौभाग्य प्राप्त होता है । इसलिये प्रतिदिन हवन करना लाभकारी है । हवनसे आरोग्य, बल, दीर्घायु प्राप्त होकर, धन, यश और अन्य सब प्रकारका अभ्युदय और निःश्रेयस भी प्राप्त होता है ।

शत्रुका नाश ।

[सूक्त ६]

(त्रयिः — अथवा । देवता — ग्रहणस्पतिः, सोमः ।)

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति । वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्टयः । अप तस्य बलं तिर महीव दौर्विधुत्तमना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (ग्रहणस्पते) ज्ञानपते ! (य. अदेवः अस्मान् अभिमन्यते) जो ईश्वरकी भक्ति न करनेवाला हमें नीचे करनेकी इच्छा करता है, (तं सर्वं) उस सब शत्रुका (सुन्वते यजमानाय मे रन्धयासि) सोमरूपसे यज्ञन करने-वाले मेरे लिए नाश कर ॥ १ ॥

हे सोम ! (यः दुःशंसः) जो दुराचारी (सुशंसिनः नः आदिदेशति) सदाचार करनेवाले हम सबको आज्ञा करता है अर्थात् हमें आधीन करना चाहता है, (अस्य मुखे वज्रेण जहि) इसके मुखमें वज्रसे आपात कर, जिससे (सः संपिष्टः अपायति) वह नष्ट होकर दूर होवे ॥ २ ॥

हे सोम ! (यः सनाभिः) जो स्वजातीय (यः च निष्टयः) और जो सबसे नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य (नः अभिदासति) हमें दास बनाना चाहता है, अथवा हमारा पात करता है, (तस्य बलं घटयामना अप तिर) उसके बलको अपने वधसाधनसे नीचे कर, (मही यौः इव) जिस प्रकार बड़ा गुलोक अपने प्रकाशसे अंधकारको दूर करता है ॥ ३ ॥

शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें शत्रुके लक्षण निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

१ अदेवः = जो एक अद्वितीय ईश्वरकी नहीं मानता, देवकी भक्ति नहीं करता जो नास्तिक और धर्मपर अविश्वास रखता है ।

२ अभिमन्यते = जो अभिमानसे भरा है, जो घमंडी है ।

३ दुःशंसः = जिसके विषयमें सब लोग बुरा कहते हैं, सब लोग जिसकी निंदा करते हैं, अर्थात् जो अकेला सबका अहित करता है ।

४ आदिदेशति = जो दूसरोंपर हुकुमत करनेका अभि-

लाषी है, जो दूसरोंको आज्ञा देना ही जानता है । जो दूसरोंपर जिस किसी रीतिसे अधिकार जमाना चाहता है ।

५ अभिदासति = जो दूसरोंको दास बनाना चाहता है, दूसरोंका नाश करता है, दूसरोंको लुटता है ।

शत्रुके ये पांच लक्षण हैं । इन लक्षणोंसे बोधित होनेवाले शत्रुको दूर करना चाहिये, फिर वह (सनाभिः) स्वजातीय, अपने कुलमें उत्पन्न हुआ हो, अथवा (नि-ष्टयः) निकट जातिका अथवा किसी हीन कुलमें उत्पन्न अथवा आचारहीन हो, या वैसा भी हो, उसको दूर करना चाहिये ।

अद्रोहका मार्ग ।

[सूक्त ७]

(काविः — अथर्वा । देवता — सोमः, १ विभ्येदेवाः ।)

येन सोमादितिः पृथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः । तेना नोवसा गंहि ॥ १ ॥

येन सोम साहन्त्यासुरान् रुन्धयासि नः । तेना नो अधि वोचत ॥ २ ॥

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीष्वम् । तेना नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सोम) शान्तदेव ! (येन पृथा मदितिः) जिस मार्गसे यह पृथिवी (या मित्राः अद्रुहः यन्ति) अपना सूर्य आदि देव परस्पर रोह न करते हुए चलते हैं, वे (तेन अवसा नः आ गंहि) उर्ध्व मार्गसे अपनी रक्षाके साथ हमें प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे (साहन्त्य सोम) विजयी शक्तिसे युक्त सोम ! (येन असुरान् नः रुन्धयासि) जिससे असुरोंको हमारे लिये नष्ट करता है, (तेन नः अधि वोचत) उस शक्तिसे साथ हमें आशीर्वाद दे ॥ २ ॥

हे (देवाः) देवो ! तुम (येन असुराणां ओजांसि अकृणीष्वम्) जिससे असुरोंके बलोंका निवारण करते हैं, (तेन नः शर्म यच्छत) उस बलसे हमें सुख दो ॥ ३ ॥

प्रार्थना ।

अद्रोहका विचार ।

हे शान्त और सुखदायक ईश्वर ! जिस तेरे सुनियमके कारण सूर्यचन्द्रादि सब विविध लोकलोकान्तर एक दूसरेके साथ न टकराते हुए अपने मार्गसे भ्रमण करके कार्य कर रहे हैं, वह बल हमें दे । इस बलसे युक्त, उस विचारसे युक्त होते हुए हम एक दूसरेके साथ, आपसमें विरोध और लड़ाई न करते हुए, और अपना संघबल बढ़ाते हुए हम अपनी उत्तम रक्षा कर सकेंगे । इसलिये 'अद्रोहका विचार' हमारेमें स्थिर हो जावे ।

चलकी वृद्धि ।

हे ईश्वर ! जिस बलसे तुम असुरों, राक्षसों और दस्युओंको नष्ट करते हो; उस बलका दान करनेका आशीर्वाद हमें दो । अपना वह बल हमें प्राप्त हो और इस बलके प्राप्त होनेसे हम

पूर्वोक्त शत्रुओंको दूर कर सकेंगे ।

हे ईश्वर ! जिस बलसे शत्रुओंके बलोंको रोका जाता है, वह बल हमें प्राप्त हो, और उसके द्वाया हमें सुख प्राप्त हो ।

तीन उपदेश ।

इस सूक्तमें ' (१) आपसमें अद्रोहका व्यवहार करना, (२) अपना बल बढ़ाना, (३) और शत्रुओंके बलोंको रोचना अथवा अपना बल उनसे अधिक प्रभावशाली करना ' ये तीन उपदेश हैं । इससे निःसन्देह सुख प्राप्त हो सकता है । इस सूक्तमें इन बलोंको प्रार्थना ईश्वरसे की है, इस कारण यह उत्तम प्रार्थनासूक्त है । इसमें बलवाचक दो शब्द हैं, 'सहः' और 'ओजः' । इनमें 'सहः' शब्द मानसिक और आत्मिक बलका बोधक और 'ओजः' शब्द शारीरिक अथवा पाशवी बलका वाचक है । अर्थात् अपना सब प्रकारका बल बढ़े, यह इस प्रार्थनाका भाव है ।

दम्पतीका परस्पर प्रेम ।

[सूक्त ८]

(ऋषिः — जमदग्नि देवता — कामात्मा ।)

यथा वृक्षं लिखुजा समन्तं परिपस्वजे ।

एवा परिं ध्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगा असः ॥ १ ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् ।

एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगा असः ॥ २ ॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः ।

एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापंगा असः ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा लिखुजा वृक्षं समन्तं परिपस्वजे) जिस प्रकार बेल वृक्षको चारों ओरसे लिपट जाती है, (एव मां परि ध्वजस्व) इस प्रकार तू मुझे आलिंगन दे, (यथा मां कामिनी असः) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली हो और (यथा मत् अपगा न असः) जिससे तू मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ १ ॥

(यथा प्रपतन् सुपर्णः) जैसे उड़नेवाला पक्षी (भूम्यां पक्षौ निहन्ति) भूमिकी ओर अपने दोनों पंखोंको दबाता है, (एव ते मनः नि हन्मि) इस प्रकार तेरा मन अपने अंदर खींचता है, (यथा०) जिससे तू मेरी इच्छा करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ २ ॥

(यथा इमे द्यावापृथिवी) जिस प्रकार इस सुलोक और पृथ्वीलोकके बीच (सूर्यः सद्यः पर्येति) सूर्यका प्रकाश तत्काल फैलता है, (एव ते मनः पर्येमि) इसी प्रकार तेरे मनको मैं व्यापता हूँ (यथा०) जिससे तू मेरी कामना करनेवाली और मुझसे दूर जानेवाली न हो ॥ ३ ॥

[सूक्त ९]

वाञ्छ मे तन्वंपादौ वाञ्छाक्ष्यौ वाञ्छ सक्थ्यौ ।

अक्ष्यौ वृष्यन्त्याः केशा मां ते कामेन श्रुष्यन्तु ॥ १ ॥

मम त्वा दोषणिश्रियं कृणोमि हृदयश्रियम् । यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम् । गावो घृतस्य मातरौऽमं सं वानयन्तु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— (मे तन्वं पादौ वाञ्छ) मेरे शरीरकी और दोनों पैरोंकी इच्छा कर, (अक्ष्यौ वाञ्छ) मेरे दोनों आँखोंकी इच्छा कर, (सक्थ्यौ वाञ्छ) दोनों जगहोंकी इच्छा कर । (वृष्यन्त्याः ते सक्थ्यौ केशाः) बलकी इच्छा करती हुयी तेरी आँखें और बाल (कामेन मां श्रुष्यन्तु) कामसे मुझे सुखावें ॥ १ ॥

(त्वा मम दोषणिश्रियं) तुझे मेरी मुझाँवोंमें आश्रित और (हृदयश्रियं कृणोमि) हृदयमें आश्रय करनेवाली करता हूँ । (यथा मम क्रतावसो) जिससे तू मेरे कार्यमें दक्ष हो और (मम चित्तमुपायसि) मेरे चित्तके अनुसार चल ॥ २ ॥

(यासां) जिनके (नाभिः) मिलना (आरेहणं) आनन्ददायक है और जिनके (हृदि संवननं कृतं) हृदयमें प्रेमकी सेवा है, (घृतस्य मातरः गावः) पीछे निर्माण करनेवाली यह गाँवें, (अमं मे सं वानयन्तु) इस बीछो मेरे साथ मिला दें ॥ ३ ॥

स्त्री और पुरुषका प्रेम !

गृहस्थधर्ममें रहनेवाले स्त्री और पुरुष परस्पर प्रेम करें और सुखसे गृहस्थाश्रमका व्यवहार करें, यह उपदेश इन दोनों सूक्तोंमें कहा है ।

अष्टम सूक्तमें कहा है कि स्त्री-पुरुष गृहस्थाश्रममें परस्पर मिलकर रहें, एक दूसरेपर प्रेम करें और उनमेंसे कोई भी एक दूसरेसे दूर होनेका यत्न न करे। पुरुष यत्न करके अपनी स्त्रीका मन अपनी ओर आकर्षित करे और उससे अपने पाप सद्गुण रखे, जिससे वह बार बार पतिपुत्रद्वे दूसरी ओर भाग न आवे। जिस प्रकार सूर्य इस जगत्में अपने प्रकाशसे फैला रहता है, इसी प्रकार पति भी ऐसा आचरण करे कि जिससे स्त्रीके मनमें पतिके विषयमें आदर भरा रहे। इसी प्रकार स्त्रीका भी ऐसा व्यवहार हो कि जिससे पतिके मनमें स्त्रीका आदर बड़े।

इस प्रकार दोनों परस्पर आदर रखते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कार्य करें।

नवम सूक्तमें कहा है पति स्त्रीको और स्त्री पतिको आत्म सर्वस्व अर्पण करे। एक दूसरेके वियोगसे दुखी और साध रहनेसे दोनों सुखी हों। स्त्री और पुरुष परस्परके कार्योंमें एक दूसरेकी सहायता करें और परस्परकी अनुकूलतासे चलें। परस्परकी अनुकूलतासे अपने सब व्यवहार करें। जिनसे धर्मपूर्वक मिलना सुखदायी है, क्योंकि सप्तम स्त्रियोंके हृदयोंमें प्रेम भरा हुआ रहता है, पतिके घरकी गोबं स्त्रियोंकी आकर्षित करें।

इस प्रकार व्यवहार करके स्त्री-पुरुष सुखसे गृहस्थाश्रमके कार्य करें और परस्परकी अनुकूलतासे सुखी हों।

अष्टम सूक्तके प्रथम मन्त्रके साथ अथर्व १।२४।५ और २।३०।१ ये मन्त्र तुलना करके देखिये। कुछ आशय समान है।

वाह्यशक्तियोंसे अन्तःशक्तियोंका संबंध ।

[सूक्त १०]

(स्तुतिः — शन्तातिः । देवता — नानादेवता, अग्नि, वायु, सूर्यः ।)

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥ २ ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— पृथ्वी, (श्रोत्राय) कान, वनस्पति तथा पृथ्वीके अधिपति अग्निके लिये (स्व-आह) प्रशंसा कहते हैं ॥ १ ॥
अन्तरिक्ष, प्राण, (वयोभ्यः) पक्षी तथा अन्तरिक्षके अधिपति वायुके लिये हमारी स्तुति हो ॥ २ ॥
सुलोक, आँख, नक्षत्र और सुलोकके अधिपति सूर्यकी मैं प्रशंसा करता हूँ ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें बाह्य राक्षिसे व्यक्तिके अन्दरकी शक्तियोंका संबंध बताया है—

बाह्यलोक	उद्यमें प्राप्त पदार्थ	लोकाधिपति	व्यक्तिके शरीरमें इन्द्रिय
पृथिवी	वनस्पति	अग्नि	कान (शब्दग्रहण)
अन्तरिक्ष	पक्षी	वायु	प्राण
सुलोक	नक्षत्र	सूर्य	आँख

इस प्रकार व्यक्तिके इन्द्रियोंका बाह्य जगत्के लोकों और देवोंके साथ संबंध है। यह संबंध जानकर सूर्य प्रकाशसे आँखकी, शुद्ध वायुसे प्राणकी, और अग्निसे श्रवणशक्तिकी शक्ति बढ़ावें। यही अग्निसे श्रवणशक्तिका संबंध खोजका विषय है।

॥ यद्वा प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

पुंसवन ।

[सूक्त ११]

(ऋषिः — प्रजापतिः । देवता — रेतः, मन्त्रोक्तदेवता ।)

शमीमंश्चतथ आरूढस्तत्र पुंसर्वनं कृतम् । तद् वै पुत्रस्य वेदन् तत् स्त्रीष्व भ्रामसि ॥ १ ॥
पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु पिच्यते । तद् वै पुत्रस्य वेदन् तद् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥
प्रजापतिरनुमतिः सिनीवालयचीकल्पत् । स्त्रैर्पुयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधद्विह ॥ ३ ॥

अर्थ— (अश्व-रथः) अश्वत्थ वृक्ष (शमी आरूढः) शमी वृक्षपर जहाँ बड़ा होता है (तत्र पुंसवनं कृतं) वहाँ पुंसवन किया जाता है । वह ही (पुत्रस्य वेदने) पुत्र-प्राप्तिका निश्चय है । (तत् स्त्रीषु वा भ्रामसि) वह जिनमें हम भ्रम करते हैं ॥ १ ॥

(पुंसि वै रेतः भवति) पुरुषमें निश्चयसे बीज होता है (तत् स्त्रियां अनु पिच्यते) वह जिनमें साँचा जाता है, (तत् वै पुत्रस्य वेदन्) वह पुत्र प्राप्तिका साधन है, (तत् प्रजापतिः अब्रवीत्) यह प्रजापतिने कहा है ॥ २ ॥

(प्रजापतिः अनुमतिः) प्रजापालक पिता अनुकूल मति धारण करे और (सिनी-वाली अचीकल्पत्) गर्भवती स्त्री समर्थ होवे, ऐसा होने पर (पुमांसं उ दध दधत्) पुत्र गर्भ ही वहाँ धारण होता है, (अन्यत्र स्त्रैर्पुयं दधत्) अन्य परिस्थितिमें स्त्रीगर्भ धारण होता है ॥ ३ ॥

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति ।

निश्चयसे पुत्रकी उत्पत्ति होनेके लिये एक उपाय इस सूक्तमें कहा है, वह औषधि प्रयोगका उपाय यह है—

शमीं अश्वरथ आरूढः तत्र पुंसर्वनं कृतम् ।

तद् वै पुत्रस्य वेदन्, तत् स्त्रीष्वभ्रामसि ॥ (मं. १)

(१) शमी वृक्षपर चढ़ा और बड़ा हुआ पीपलका वृक्ष होता है, वह पीपल पुत्र रूप गर्भको धारण करनेवाला होता है । अर्थात् इसका औषध बनाकर यदि स्त्री सेवन करेगी तो वह स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेवाली बनेगी । (२) यह पीपल निश्चयसे पुत्र उत्पन्न करनेवाला है, (३) इसके सेवनसे निश्चयसे पुत्र उत्पन्न होता है, (४) पुत्र उत्पत्तिके लिये इस पीपलके औषधको जिनको देना चाहिये ।

शमीके वृक्षपर चढ़े पीपल वृक्षके पत्राक्षका चूर्ण करके मधुके साथ सेवन किया जावे अथवा अम्य दूध आदि द्वारा सेवन किया जावे । इसके सेवनसे स्त्रीका गर्भाशय पुरुष गर्भ बनानेमें समर्थ होता है । जिस स्त्रीकी लक्ष्मियां ही होती हैं उस स्त्रीको यह औषध देनेसे उसमें, गर्भाशयमें परिवर्तन होकर, पुरुष गर्भ उत्पन्न करनेकी शक्ति आ सकती है ।

पुंसवन और स्त्रैपूय ।

पुरुष पुत्र उत्पन्न होनेका नाम 'पुंसवन' और लक्ष्मी

उत्पन्न होनेका नाम 'स्त्रैपूय' है । ये दोनों नाम इस सूक्तमें प्रयुक्त हुए हैं । जो पुरुष संतान निश्चयसे चाहते हैं वे इस औषधोका उपयोग करें । इस मंत्रके स्तंभ अर्थात् और भी एक आशय व्यक्त होता है, वह देखने योग्य है—

१ अश्व+रथः— अश्वका अर्थ बाजी है । बाजीकरणका अर्थ पुरुषको पुरुष शक्तिसे युक्त करना है । अश्व शब्दका अर्थ यहाँ घोड़ेके समान पुरुष धर्मसे युक्त और समर्थ पुरुष । (अश्व) घोड़ेके समान जो (रथ, रथः) रहता है ऐसा बलवान् पुरुष ।

२ शमी— मनुकी वृत्तियां उलटने न देनेवाली स्त्री, अर्थात् जो घमस्त्रिकूल गृहस्वधर्म नियमोंका पालन करनेवाली स्त्री ।

ऐसे स्त्रीपुरुषोंके संबंधसे निश्चित पुरुष संतान होती है । पाठक इसमें देखें कि इस स्त्रीपुरुषबंधबंधमें बीर्यका बल अधिक होने और रजकी न्यूनता रखनेका विधान किया है इसी कारण निश्चयसे पुत्र संतान होती है । अर्थात् पुरुष अधिक बलशाली हुआ तो पुरुषसंतान और स्त्री बलशालिनी हुई तो स्त्रीसंतान होती है । यही बलका अर्थ पुरुषबीर्य और स्त्रीरज्जा भाव लेना योग्य है ।

द्वितीय मंत्र गर्भाधान परक है और स्पष्ट है । स्तुति मंत्रमें फिर स्तुतिार्थसे कुछ विशेष आशय कहा है । वह अब देखिये—

१ प्रजापतिः— अपने संतानोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेमें समर्थ गृहस्थी पुरुष ।

२ अनुमतिः— परस्पर अनुकूल प्रेमपूर्ण मन रखनेवाले छो या पुरुष ।

३ सिनीवाली— सिनका अर्थ है चन्द्रकला, उसका बल बढ़ानेवाली छो सिनीवाली है । जिस प्रकार शक्रपक्षकी रात्रिमें चन्द्रकी कलायें बढ़ती हैं, उस प्रकार जिस छोके गर्भाशयमें गर्भकी कलायें बढ़ती हैं ।

ये शब्द बड़े विचारणीय हैं । सन्तान उत्पन्न बड़ी करे कि जो उनके पालन पोषणका भार सहन करनेमें समर्थ हो । सन्तानोत्पत्ति करना है तो छो-पुरुष परस्पर अनुकूल संभति रखें, तो ही समान शुणवाला पुत्र होगा । उनमें विरोध होगा तो संतान भी विरुद्ध गुणधर्मवाली होगी । गर्भवती छो समझे

कि मेरे अन्दर चंद्रमा जैसा अपनी कलाओंसे बढ़नेवाला गर्भ रहा है और उसकी सुश्रुतिका प्रबंध करना मेरा कर्तव्य है । इस प्रकार व्यवस्था होनेसे पुरुष सन्तान होता है । इसके विपरीत अवस्था होनेसे छो सन्तान होती है अथवा नपुंसक सन्तान होगी ।

अर्थात् पुरुष वीर्यकी न्यूनता, छो रजकी अधिकता, पुरुष और छोके मनेवृत्तियोंमें विरोध इत्यादि कारणसे छो सन्तान और रजवीर्यकी समानतासे नपुंसक सन्तान होती है ।

सत्तम वैद्य इस सूक्तका अधिक विचार करें और वास्तविक रीतिसे प्रयोग करके देखें और इस पुषवन और छेपूषके शास्त्रका निश्चय करें ।

सर्प-विष-निवारण ।

[सूक्त १२]

(कवि — गह्वरमान् । देवता — तक्षकः ।)

परि धार्मिव सूर्योऽर्हीनां जनिमागमम् । रात्री जगदिवाव्यहंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

यद् ब्रह्मभिर्घृष्टिर्भिर्घृद् देवैर्विदितं पुरा । यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

मध्वा पृश्ने नद्यः पर्वता गिरयो मधु । मधु परूष्णी शीपाला श्मास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

अर्थ— (सूर्य-चां इव) जिस प्रकार सूर्य बुलोकको जानता है, उस प्रकार मैं (अर्हीनां जनिम परि अगमम्) सर्पोंके जन्मस्थको जानता हूँ । (रात्री हंसात् अव्यहंसात् इव) रात्री जैसी सूर्यसे भिन्न अगलका आवरण करता है (तेन ते विषं वारये) उसी प्रकार तेरे विषका मैं निवारण करता हूँ ॥ १ ॥

(प्रह्लाभिः ऋषिभिः देवभिः) आक्षिप्तों, ऋषियों और देवोंने (यद् पुरा विदितं) जो पूर्वकालमें जान लिया था (तद् भूतं भव्यं आसन्वत्) वह भूत, भविष्यकालमें रहनेवाला ज्ञान है (तेन ते विषं वारये) उससे तेरा विष दूर करता हूँ ॥ २ ॥

(मध्वा पृश्ने) मधुसे सिंचन करता हूँ, (नद्यः, पर्वताः, गिरयः मधु) नदियाँ, पर्वत, पहाड़ सब मधु देवें । (परूष्णी शीपाला मधु) परूष्णी और शीपाला मधुरता देवे । (श्मास्ने शं अस्तु) तेरे मुखके लिये शान्ति और (हृदे शं) हृदयके लिये शान्ति मिले ॥ ३ ॥

इस मन्त्रमें नदियों और पर्वतोंके स्त्रियों आदिके जलकी धारासे सर्पविष उतारनेका विधान प्रतीत होता है । परन्तु निश्चय नहीं है । इसकी खोज सर्पविषचिकित्सकको करना चाहिये । जल-धारासे सर्पविष दूर करनेका विधान वेदमें अन्य स्थानमें भी है । परन्तु उनका तात्पर्य क्या है, यह समझमें नहीं आता । यदि

बिल्कुल विष नष्ट रहा हो तो उसपर जलकी धारा एक बेगसे गिरानेसे बिल्कुल विष उतरता है । यह अनुभव हमने लिया है । परन्तु इससे सर्पविष उतरता है, ऐसा मानना कठिन है । इसी प्रकार इस सूक्तके अन्य विधान भी विचारणीय हैं । अर्थात् इस सूक्तका विषय अन्वेषणीय है । जो इसकी चिकित्सा जानते हों वे इसका अधिक विचार करें ।

मृत्यु ।

[सूक्त १३]

(ऋषि — अथर्व । (स्वस्त्वयनकामः) । देवता — मृत्युः ।)

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः । अथो ये विश्वानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः । सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः ॥ २ ॥

नमस्ते यातुधानेभ्यो नमस्ते भेषजेभ्यः । नमस्ते मृत्यो मूलेभ्यो ब्राह्मणेभ्य इदं नमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (देववधेभ्यः नमः) ब्राह्मणों के शत्रुओं को नमस्कार, (राजवधेभ्यः नमः) क्षत्रियों के शत्रुओं को नमस्कार (अथो ये विश्वानां वधाः) और जो वैश्यों के शत्रु हैं उनको नमस्कार है और हे मृत्यो ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार होवे ॥ १ ॥

(ते अधिवाकाय नमः) तेरे आशावादको नमस्कार और (ते परावाकायः नमः) तेरे प्रतिकूल वचनको भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (ते सुमत्यै नमः) तेरी उत्तम मति के लिये नमस्कार और (ते दुर्मत्यै इदं नमः) तेरी दुष्ट मतिको भी यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(ते यातुधानेभ्यः नमः) तेरे यातना देनेवाले रोगों को नमस्कार और (ते भेषजेभ्यः नमः) तेरे औषध उपायों के लिये भी नमस्कार हो । हे मृत्यो ! (ते मूलेभ्यः नमः) तेरे मूल कारणों को नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः) ब्राह्मणों को भी मेरा नमस्कार है ॥ ३ ॥

मृत्युके प्रकार ।

इस सूक्तमें मृत्युके कई प्रकार कहे हैं, देखिये—

१ देववधः = देवों के द्वारा होनेवाला वध अथवा मृत्यु ।
अग्नि, वायु, सूर्यादि देव हैं, ब्राह्मण भी देव हैं । इनके कारण होनेवाला मृत्यु । अग्नि प्रकोप, वायु बिगड़ने, सूर्य के उताप, तथा ब्राह्मणादिकों के कारण जो मृत्यु होती है ।

२ राजवधः = लड़ाईमें होनेवाला वध, अथवा राजपुरुषों के व्यवहारोंसे होनेवाली मृत्यु ।

३ विश्वानां वधाः = वैश्यों, पूज्यपतियों अथवा घनवानों के कारण होनेवाली मृत्यु ।

इन तीन कारणोंसे मृत्यु होती है । अतः इनका सुधार होना चाहिये । तथा—

४ अधिवाकः = अनुकूल वचन ।

५ परावाकः = प्रतिकूल वचन ।

६ सुमतिः = उत्तम बुद्धि, और

७ दुर्मतिः = दुष्टबुद्धि ।

ये भी चार कारण हैं जिनसे मृत्यु होती है । अनुकूल वचनका अतिरेक होनेसे भी अविवेक होकर मृत्यु होती है, प्रतिकूल वचनसे निराशा होकर मृत्यु होती है । उत्तम बुद्धि होनेसे केवल बौद्धिक कार्योंका ही ध्यान करनेके कारण शारीरिक निर्बलता उत्पन्न होकर मृत्यु होती है और दुर्मतिसे तो मृत्यु होती ही है । तथा—

८ यातुधानः = यातना देनेवाले रोग मृत्यु करते हैं, और

९ भेषजं = औषधीय उपाय भी कितनी कितनी सम्यक् मृत्यु ला देनेवाले होते हैं ।

ये और इससे भिन्न जो भी मृत्युकी अर्थ हैं, उन सबको दूर करना चाहिये ।

यही ब्राह्मणों अथर्व ऋषियोंका कार्य है । इस कारण उनको नमस्कार है । सबको प्रयत्न करके इन सब मृत्युके कारणोंको दूर करके अपने आपको दीर्घजीवी बनानेका यत्न करना चाहिये ।

क्षयरोगका निवारण।

[सूक्त १४]

(अपि: — यधुपिंगलः । देयता — यलासः ।)

अस्थिरसं परुसंसमास्थितं हृदयामयम् । यलासं सर्वं नाशयाद्भेष्टा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

निर्बलासं यलासिनः क्षिणोमिं सुक्करं यथा । छिनद्म्यस्य चर्चनं मूलपूर्वावा इव ॥ २ ॥

निर्बलासेतः प्र पंताशुंगः शिशुको यथा । अयो इष्ट इव हापनोर्प द्राक्षर्वीरहा ॥ ३ ॥

अर्थ— (अस्थिरसं परुसंसं) हृदियों और जोड़ोंमें डीलापन लानेवाले, (अस्थितं हृदयामयं) शरीरमें रहनेवाले हृदयके रोगके अर्थात् (सर्वं यलासं) सब क्षयरोगके और (यः अंगेष्टाः च पर्वसु) जो अवयवों और जोड़ोंमें रहता है, उस सब रोगको (नाशय) नाश कर दे ॥ १ ॥

(यलासिनः यलासं निः क्षिणोमिं) क्षयरोगके क्षयरोगको दूर करता है (यथा सुप्-करं) जिस प्रकार बेगो करनेवालेको दूर किया जाता है । (अस्य चर्चनं छिनद्भि) इस रोगके चर्चनको छेद डालता है, (उपार्वाः मूलं इव) ऐसे कंकड़ोंके जड़को काटते हैं ॥ २ ॥

हे (यलास) क्षयरोग । (इतः निः प्रपत) यशसि इष्ट जा । (यथा आशुंगः शिशुको) जिस प्रकार शीघ्रगामी बछड़ा जाता है । (अयो अयोरदहा अप द्राविड) और बीरोंका नाश न करनेवाला य शक्ति भाग जा । (हापनः इष्ट इव) ऐसा प्रतिवर्ष उगनेवाला घास नाशको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कफक्षय ।

इस सूक्तमें 'यलास' शब्द है, इसका अर्थ कफ और कफक्षय है । यह शरीरके पर्वों, जोड़ों, हृदय और अन्योन्य अवयवोंमें रहता है और रोगोंका नाश करता है । इसको दूर करनेका वर्णन इस सूक्तमें है । इसमें जिस उपायका वर्णन है, उसका पता नहीं चलता । इसलिये क्षयरोग निवारणका जो

उपाय इस सूक्तमें कहा है उसके विषयमें कुछ अधिक कहना, बिना अधिक जोख किये, कठिन है । पाठकोंमें जो वैद्य और मानसचिकित्सक होंगे वे इसका अधिक मनन करेंगे तो कुछ पता चल सकता है । हमारे विचारसे तो यह सूक्त मानस-चिकित्सका सूक्त है । अपने मनके स्वास्थ्य प्रभावपूर्ण विचारोंसे रोगके रोग दूर होते हैं । इसका यही संक्षेप प्रतीत होता है । इस दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका विचार करें ।

मैं उत्तम बनूंगा ।

[सूक्त १५]

(अपि: — उहालकः । देयता — वनस्पतिः ।)

उत्तमो अस्पोर्धनीनां सर्वं वृक्षा उपस्तपः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अमिदासति ॥ १ ॥

अर्थ— (ओपधीनां उत्तमः अस्ति) वृक्षोंमेंमें उत्तम है । (वृक्षाः तप उपस्तपः) अन्य इष्ट तरे उपाय-वती है । अतः (यः अस्मान् अमिदासति) जो हमें दाव बनाकर हमारा नाश करनेका इच्छुक है (सः अस्माकं उपस्तिः अस्तु) वह हमारा अनुगामी होवे ॥ १ ॥

४ (अपर्व, माघ, काष्ठ ६)

सर्वधुवासर्वन्धुश्च यो अस्मौ अभिदासति । तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥
यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषा कृतः । तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ— (सर्वन्धु च असर्वन्धुः च) वन्धुवाला अथवा वन्धुरहित (य. अस्मान् अभिदासति) जो हमारा नाश करता है (वृक्षाणां सा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार वह उत्तम है उस प्रकार (अहं तेषां उत्तम भूयासं) मैं उनसे उत्तम होऊंगा ॥ २ ॥

(यथा सोम हविषा ओषधीना उत्तम कृत) जिस प्रकार सोम हविके पदार्थों और ओषधियोंमें उत्तम बनाया है और (वृक्षाणां तलाशा इव) वृक्षोंमें जिस प्रकार तलाश वृक्ष उत्तम होता है उस प्रकार (अहं उत्तम भूयासं) मैं उत्तम बनूंगा ॥ ३ ॥

मैं श्रेष्ठ बनूंगा ।

'मैं उत्तम बनूँ, मैं श्रेष्ठ बनूँ' यह महत्वाकांक्षा मनुष्यमें हानी चाहिये । मनुष्यका अभ्युदय और नि प्रेयस इसा इच्छा पर निर्भर है । शत्रुको नीच दबानेसे मा उनसे अपनी अवस्था सब बन सकती है परन्तु यहाँ कहा है कि ऐसा प्रयत्न करो, कि तुम अयोसे श्रेष्ठ बनो । अन्धोंको नाचे गिराना नहीं है, अपितु अपनी योग्यता सबसे अधिक करनी है ।

य अस्मान् अभिदासति स अस्माक उपस्ति अस्तु । (म १)

'जो हमारा नाश करना चाहता है वह हमारे पास उपस्थित

होनेवाला हवे ।' तथा—

तेषां अहं उत्तम भूयासम् । (म २)

'उनसे मैं सबसे उत्तम बनूँगा' । मैं अपनी योग्यता ऐसी बढाऊँगा कि जिससे मेरे सब शत्रु मेरे आश्रयसे रहनेवाले बनें । अपनी उन्नति करनेकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण करे । और जगत्में जा उन्नतिके साधनके नियम हैं, उनको जानकर सबसे श्रेष्ठ बने ।

सूचना— इस सूक्तमें आये 'उत्तम, तलाशा' ये औषधियोंके भी नाम होंगे । परन्तु इन औषधियोंका पर्याय आजकल नहीं लगता । 'सोम' भी आजकल प्राप्त नहीं है ।

औषधिरसका पान ।

[सूक्त १६]

(ऋषि — शौनक । देवता — चन्द्रमा, मन्त्रोक्तदेवता ।)

आवयो अनावयो रसस्त उग्र आवयो । आ तं कर्मभर्मसि ॥ १ ॥
विहृहो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता । स हि न त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥
तौविलिकेऽवेलयावायमैलुष ऐलयीत् । वृभुश्च वृभुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

अर्थ— (हे आवयो, आवयो, अनावयो) फैलनेवाला और न फैलनेवाला औषधि ! (ते रसः उग्रः) तेरा रस उग्र है । (ते कर्म या अशसि) तेरे रसका हम पेय बनात हैं ॥ १ ॥

(ते पिता विहृह) तेरा पिता विहृह है और (ते माता मदावती नाम) तेरी माता मदावती नामक है । (स हि न त्वमसि) वही उनसे ही तू बनता है । (य. रवं आत्मान आवयः) जो तू अपने आत्माकी रक्षा करता है ॥ २ ॥

(तौविलिके अथ ऐलुष) प्रगतिके कार्यमें हमें प्रेरित कर । (अथ ऐलुष अथ ऐलयीत्) यह भूमिके सबधमें कार्य करनेवाला प्रेरणा करता है । ह (आल) समर्थ । (वृभुः च वृभुकर्णं च) भूरा और भूरे कानवाला (नि अप इहि) हमस वर रह ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वी सिलाञ्जालास्युत्तरा । नीलागलसाला

॥ ४ ॥

अर्थ— (पूर्वा अलसाला) पहिले वू आलसियोंको रोहनेवाली है, (उत्तरा सिलाञ्जाला) दूसरी वू अलसियोंको पहुंचनेवाली है । तथा (नीलागलसाला) पर घरमें उपयोगी है ॥ ४ ॥

रसपान ।

इस सूक्तमें 'करंभ' शब्द है । दही और छाछका आटा मिलाकर बड़ा लपम पेय रस बनता है उसका यह नाम है । यह करंभोको हटानेवाला और बड़ा पुष्टि करनेवाला होता है । इसमें कई औषधियोंके रस मिलानेसे इसके गुण अधिक बढ़ जाते हैं ।

'विहल्ह' (पिता) शब्दका 'मदावती' नामक (माता) औषधिपर कलम करनेसे जो औषधि बनती है वह (आश्मानं

आवय-) आमाश्वी-अपनी-रक्षा करनेवाली होती है । यह द्वितीय संज्ञका कथन है । यह मातृपितृके स्थानकी औषधियाँ इस समय अत्रात हैं ।

इसी प्रकार इस सूक्तमें आये अग्न्याग्नी नाम किन वनस्पतियोंके हैं, इसका पता नहीं चलता । आग्नु, अनाग्नु, विहल्ह (पिता), मदावती (माता), सीविलिहा, ऐलव, यज्ञ, यज्ञकर्मा, आल, अलसाला (पूर्वा), सिलाञ्जाला (उत्तरा), नीलागलसाला, इत्यादि नाम इस सूक्तमें आये हैं । इनका पता नहीं लगता । इसलिये इनपर अधिक लिखना अर्थमय है ।

गर्भधारणा ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — अधर्षा । देवता — गर्भदेवताम् ।)

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे । एवा तं ध्रियतां गर्भोऽनु सृत्तुं सर्वितवे ॥ १ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन् । एवा तं ध्रियतां गर्भोऽनु सृत्तुं सर्वितवे ॥ २ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरान् । एवा तं ध्रियतां गर्भोऽनु सृत्तुं सर्वितवे ॥ ३ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्टितं जगत् । एवा तं ध्रियतां गर्भोऽनु सृत्तुं सर्वितवे ॥ ४ ॥

अर्थ— (यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बड़ी पृथिवी (भूतानां गर्भे आदधे) भूतोंका गर्भ धारण करती है, (यय ते गर्भे) इस प्रकार तेरा गर्भ (सृत्तुं अनु सविताये ध्रियतां) संतानको अनुकूलतासे उत्पन्न करनेके लिये स्थिर होवे ॥ १ ॥

(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बड़ी पृथिवी (इमान् वनस्पतीन् दाधार) इन वनस्पतियोंका धारण करती है, इसी प्रकार संतान उत्पन्न होनेके लिये तेरे अंदर गर्भ स्थिर होवे ॥ २ ॥

जिस प्रकार यह बड़ी पृथिवी (पर्वतान् गिरान् दाधार) पर्वतों और पहाड़ोंको धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ मुखसे प्रसूति होनेके लिये स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार यह बड़ी पृथिवी (विष्टित-जगत्) विविध प्रकारके रहनेवाले जगत्को धारण करती है, उस प्रकार तेरे अंदर यह गर्भ मुख प्रसूतिके लिये स्थिर रहे ॥ ४ ॥

श्रीको अपने गर्भाशयमें गर्भ स्थिर रहनेकी इच्छा होती है, वह उत्पन्न करनेके लिये यह आशीर्वाद है ।

ईर्ष्या-निवारण ।

[सूक्त १८]

(श्राविः — अथर्वा । देवता — ईर्ष्याघिनाशनम् ।)

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापरांम् । अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वीपयामसि ॥ १ ॥
यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तथा । यथोत मध्रुपो मन एवैर्ष्यामृतं मनः ॥ २ ॥
अदो यत् ते हृदि ध्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् । तवस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते ईर्ष्यायाः प्रथमां ध्राजिं) तेरी ईर्ष्या-डाह-के पहिले बेगको (उत प्रथमस्याः अपरां) और पहिलेकी अगिनी गतिको तथा (हृदय्यं तं शोकं अग्निं) हृदयमें रहनेवाले उस शोक रूपी अगिनीको (निर्वीपयामसि) हम हटा देते हैं ॥ १ ॥

(यथा भूमिः मृतमनाः) जैसी भूमि मरे मनवाली है अथवा (मृतात् मृतमनस्तथा) मरेसे भी अधिक मरे मनवाली है, (उत यथा मध्रुपो मनः) और जैसा मरनेवालेका मन होता है (एव ईर्ष्याः मनः मृतं) उस प्रकार ईर्ष्या-डाह-करनेवालेका मन मरा होता है ॥ २ ॥

(अदो यत् ते हृदि ध्रितं) ओ तेरे हृदयमें रहा हुआ (पतयिष्णुकं मनस्कं) गिरनेवाला अथ मन है, (ततः ते ईर्ष्यां निः मुञ्चामि) वहासे तेरी ईर्ष्याको मैं हटाता हूँ । (दृतेः ऊष्माणं इव) जिस प्रकार धौकनीसे वायुको निकालते हैं ॥ ३ ॥

डाहको दूर करना ।

दूसरेकी उन्नति देख म सकनेका नाम 'ईर्ष्या' अथवा डाह है । यह मनमें तब उत्पन्न होता है कि जब दूसरेका उत्थय सदा नहीं जाता । यह ईर्ष्या कितनी हानि करती है, इस विषय में देखिये—

१ हृदय्यं शोक अग्निं = हृदयके अंदर शोक उत्पन्न करती है, शोकसे हृदय जलने लगता है और यह आग आपुष्ठा क्षय करती है । (मं. १)

२ ईर्ष्याः मृतं मनः = ईर्ष्या करनेवालेका मन मरे हुए समान हो जाता है, मनमें कोई शुभ विचार नहीं आते, जीवनहीन मन होता है । इसलिये उसको 'मृतमना' गुदां मनवाला कहते हैं । वह (मृतात् मृतमनस्तथा)

मुर्देसे भी अधिक मरा होता है । (मं. २)

३ पतयिष्णुकं मनस्कं = उसका मन गिरनेवाला होता है और छोटा सङ्कुचित वृत्तिवाला होता है ।

देखिये यह ईर्ष्या कितनी घातक होती है, हृदयको जलाती है, मनको मार देती है और सबका पतन कराती है । इसलिये यह ईर्ष्या मनसे दूर करनी चाहिये । ईर्ष्या दूर होनेसे हृदय शान्त होगा, मनमें सजीव चैतन्य कार्य करेगा और मन भी ऊपर उठनेवाले विचारोंसे परिपूर्ण होगा । इस कारण ईर्ष्या दूर होनेसे मनुष्यकी उन्नति होती है और ईर्ष्या मनमें रहनेसे हानि होती है । इसलिये जहाँतक हो सके वहाँतक प्रयत्न करके मनुष्य ईर्ष्यासे अपने आपको दूर रखे ।

आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना ।

[सूक्त १९]

(श्राविः — शम्भुतातिः । देवता — चन्द्रमा, नानादेवताः ।)

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया । पुनन्तु विश्वा भूतानि पर्वमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

अर्थ— (देवजनाः मा पुनन्तु) दिव्यजन मुझे शुद्ध करें । (मनवः धिया पुनन्तु) मननशील अपनी बुद्धिसे

पर्वमानः पुनातु मा क्रतुं दक्षाय जीवसे । अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥
 उमाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सुवेनं च । अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

पवित्र करें । (विभ्या भूतानि पुनस्तु) सब भूत मुझे पवित्र करें और (पयमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ १ ॥

(क्रतुं दक्षाय जीवसे) कर्म, फल और दीर्घ आयु के लिये (अथो अरिष्टतातये) और कल्याणक विचारके लिये (पयमानः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला देव मुझे पवित्र करे ॥ २ ॥

हे (देव सवितः) सबके उत्पादक देव । तू (चक्षसे) ठीक दर्शन होनेके लिये (उमाभ्यां पवित्रेण) दोनों पवित्र विचार और (सुवेनं च) यज्ञके (अस्मान् पुनीहि) हम सबको पवित्र कर ॥ ३ ॥

अपनी कर्मशक्ति, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति, दीर्घ आयु बढ़ानेके लिये और कल्याणकी प्राप्ति होनेके लिये विचार व आचारकी पवित्रतासे अपने आपकी पवित्रता करना हरएकको उचित है । उस कार्यके लिये यह उत्तम ईश्वरप्रार्थना है । जो मनो-भावसे यह प्रार्थना करेगा, उसकी पवित्रता होगी, इसमें शक नहीं है ।

क्षयरोगनिवारण ।

[सूक्त २०]

(श्रुतिः — भृगोक्तः । देवता — यक्ष्मनाशनम् ।)

अधेरिवाह्य दहत एति शुष्मिणं उतेवं मत्तो विलपन्नपापति ।
 अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदमृतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तुकमने ॥ १ ॥
 नमो रुद्राय नमो अस्तु तुकमने नमो रात्रौ वरुणाय त्विषामते ।
 नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥ २ ॥
 अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विषां रूपाणि हरिता कृणोषि ।
 तस्मै तेऽरुणाय पुत्र्यै नमः कृणोमि वन्याय तुकमने ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुपाखः ॥

अर्थ—(दहतः शुष्मिणः अह्य अग्ने इव) जलनेवाले इस बलवान् अग्निके तापके समान यह ज्वर (पति) व्यापता है । (उत मत्त इव विलपन् अपापति) और तन्मत्तके समान बहबहाता हुआ पला जाता है । (अन्यतः अस्मत् अग्न्यै कं चित् इच्छतु) यह अनियमकाले मनुष्यको अनेकता ज्वर हमसे भिन्न किसी दूसरे मनुष्यको ईद लेने । (तपुः-वधाय तत्कमने नमो अस्तु) तथापि सब करनेवाले इस ज्वरको नष्टकार होने ॥ १ ॥

रत्न, (तत्कमने) ज्वर, (शिवीषामते) ठेकराही राजा वरुण (दिवे पृथिव्यै ओषधीभ्यः नमः) पुनोद, भूमीक और औषधियों, इन सबके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

(अयं यो अभिशोचयिष्णुः) यह जो छोक बजानेवाला है, (विषां रूपाणि हरिता कृणोषि) सब कर्मोंके फल और निरुक्त बनता है, (तस्मै तेऽरुणाय वन्यायै) उस दुष्ट मान, भूरे और (वन्याय तत्कमने नमः कृणोमि) हमसे बलाज ज्वरको नष्टकार बनता हुआ ॥ ३ ॥

ज्वरके लक्षण और परिणाम ।

इस सूक्तमें ज्वरके लक्षण और परिणाम बड़े हैं देखिये उनके सूक्त शब्द ये हैं—

- १ अग्निः इव दहनः = अग्निके समान जलाता है, ज्वर अग्निके बाद शरीर अग्निके समान उष्ण होता है और वह उष्णता रक्त्तको जलाती है । (मं. १)
- २ नृग्मिन् = शीघ्र उद्विग्न करता है, सुखा देता है । शरीरको सुखाता है । (मं. १)
- ३ मत्त इव विलपन् = पागल जैसा रोगीको बनाता है, इस कारण वह रोगी मन चाहे-चाहे बहबहाता रहता है । (मं. १)
- ४ अग्रतः = यह ज्वर मृतहीन अर्थात् नियम पालन करनेवालेको ही आता है । अर्थात् नियमानुवूल व्यवहार करनेवालेको नहीं सताता । (मं. १)
- ५ तपुः वधः = यह ज्वर तपके वध करता है । (मं. १)
- ६ तक्ष्मा = बड़े कष्ट देता है । (मं. १)
- ७ रुद्रः = यह हलानेवाला है । (मं. २)

॥ यहाँ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

केशवर्धक औषधी ।

[सूक्त २१]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — चन्द्रमाः ।)

इमा यास्तिस्त्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा । तासामधि त्वचो अहं भेषजं सप्तं जग्रमम् ॥ १ ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुघानाम् । सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

रेवतीरनाधूपः सिपासवः सिपासथ । उत स्व केशद्वंद्वणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥

अर्थ— (इमा याः तिस्त्रः पृथिवीः) ये जो तीन लोक हैं (तासां भूमिः उत्तमा) उनमें यह भूमि उत्तम है । (तासां त्वचः अधि) उनमें त्वचाके विषयमें (भेषजं अहं उ सं जग्रमम्) यह औषध मैंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(भेषजानां श्रेष्ठमसि) औषधोंमें यह श्रेष्ठ है, (वीरुघानां वसिष्ठं) वनस्पतियोंकी यह बसानेवाला अर्थात् श्रेष्ठ है । (यथा यामेषु देवेषु) जैसे चलनेवाले देवोंमें (सोमः भगः वरुणः) सोम, भग और वरुण श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

हे (रेवतीः अनाधूपः सिपासवः) सामर्थ्य युक्त, अर्द्धसित और आरोग्य देनेवाले रेवती औषधियों । (सिपासिथ) आरोग्य देनेकी इच्छा करो । (उत केशद्वंद्वणीः स्व) और बालोंकी बलवान् करनेवाली हो (अथो ह केशवर्धनीः) और बालोंको बढ़ानेवाली हो ॥ ३ ॥

‘ रेवती ’ औषधी केश बढ़ानेवाली और बालोंको दृढ़ करनेवाली है । यह रक्त्तके रोगोंके लिये भी उत्तम है । यह औषधि आजकल नहीं मिलती, इसलिये इसकी खोज करनी चाहिये ।

८ अभिशोचयिष्णुः = शोक बढानेवाला है । (मं. ३)

९ विदग्धा रूपाणि हरिता कृणोति = शरीरको हरा पीला अर्थात् निरस्तन्न बनाता है । ज्वर आने-वालेका शरीर फीका होता है । (मं. ३)

१० वन्यः = वनमें इसकी उत्पत्ति है । (मं. ३)

इस सूक्तमें इतने ज्वरके कारण, लक्षण और परिणाम बड़े हैं । मृत पालन अर्थात् नियम पालन करनेसे यह ज्वर नहीं आता और आया हुआ दृढ़ जाता है । इसलिये इसको ‘ अग्रतः ’ कहा है । पृथिवी-भूमि, ओषधी, वरुण राजाके सब जलस्थान, रुद्रके रुद्रसूक्तके स्थान और रूप इनकी सुश्रवणसे यह ज्वर दृढ़ जाता है ।

रुद्र सूक्तमें रुद्रका जो वर्णन है उसका विचार करनेसे पता लगता है कि यह ज्वर रुद्रका रूप है । रुद्रके दो प्रकारके रूप हैं, एक घोर (उष्ण) और एक शिव (शान्त) । इनके सम रहनेसे मनुष्यको आरोग्य प्राप्त होता है और विषम होनेसे रोग सताते हैं । इस प्रकार योजना द्वारा ज्वर दूर करनेका सपाय जाना जा सकता है । यह वैद्योंका विषय है, इसलिये वैद्य लोग इसका अधिक मनन करें ।

वृष्टि कैसी होती है ?

[सूक्त २२]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — आदित्यरश्मिः, मरुतः ।)

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो घसाना दिवमुत् पतन्ति ।

त आवृष्टन्सदनाद्दत्तस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूढुः ॥ १ ॥

पर्यस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेज्या मरुतो रुक्मवक्षसः ।

ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिबन्वत् यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

उद्ग्रुतो मरुत्स्तां ह्यर्तं वृष्टिर्या विश्वा निवर्तस्पृणाति ।

एजाति ग्लहा कन्येवि तुर्गैर् तुन्दाना पत्येष जाया ॥ ३ ॥

अर्थ— (अप घसाना) जलको अपने साथ लेते हुए (सु-पर्णाः हरयः) उत्तम गतिशाल 'सूर्य' किरण (कृष्णं नियानं दिव्य) सबका आकर्षण करनेवाले सबके यानरूप शुभोक्थ्य सूर्यके प्रति (उत् पतन्ति) चढ़ते हैं । (ते ऋतस्य सदनात्) वे जलके स्थानरूप अन्तरिक्षसे (आयवृन्न्) नीचे आते हैं (आत् इत् घृतेन पृथिवीं व्यूढुः) और जलसे पृथ्वीको मिगाते हैं ॥ १ ॥

हे (रुक्मवक्षसः मरुतः) चमकनेवाले हृदयवाले वायु देवो ! (यत् एजथ) जब तुम वेगसे चलते हो तब (अपः ओषधीः) जलों और औषधियोंको (पर्यस्वतीः शिवाः कृणुथ) रखवालों और हितकारिणी करते हो । हे (नरो मरुतः) नेता मरुतो ! (यत्र च मधु सिञ्चत) और जहाँ मधुर जल सींचते हो (तत्र ऊर्जं सुमतिं च पिबन्वत्) वहाँ जल देने-वाला अन्न और उत्तम बुद्धि स्थापित करते हो ॥ २ ॥

हे (मरुतः) मरुतो ! (तान् उद्ग्रुतः ह्यर्तं) उन चरकसे भरपूर करनेवाले मेघोंको मेघो ! (या वृष्टिः) अिनसे होनेवाली वृष्टि (विश्वाः निवर्तः स्पृणाति) सब निज स्थानोंको भर देती है । (ग्लहा) मेघोंका शब्द (एजाति) सबको केंपित करता रहे, (तुष्टा कन्या इव) जिस प्रकार दु खित कन्या पिताको केंपित कर देती है तथा वह शब्द (एरं तुन्दाना) मेघोंको शेरित करे, (पत्या जाया इव) जैसी पतिके साथ रहनेवाली धर्मपत्नी गृहस्थीके ससुरारमें प्रेरणा करती है ॥ ३ ॥

मेघ कैसे बनते हैं ?

सूर्यकिरण पृथ्वीके ऊपरका जल हरण करते हैं इस कारण उनको (हरिः, हरयः) ये नाम दिये हैं । वे सब स्थानको पूर्ण करते हैं, इसलिये सूर्यकिरणोंको (सु-पर्णाः सुपर्णाः) कहते हैं अथवा उनकी विशेष गतिके कारण उनको यह नाम मिला है । ये किरण (अपः घसानाः) जलको अपने साथ लेते हैं, मानो जलका वस्त्र पहनते हैं और (दिव्य उत्पतन्ति) शुभोक्थ्य— ऊपर आकाशमें— ऊपर आते हैं । अर्थात् पृथ्वीके ऊपरका जलाशय लेकर ये सूर्यकिरण ऊपर आते हैं और

(ऋतस्य सदने) जलके स्थान अन्तरिक्षमें रह कर वहाँ मेघ-रूपमें परिणत होकर उन मेघोंके पृथ्वीपर फिर वृष्टिरूपमें वहाँ जल आता है । अर्थात् जो जल सूर्यकिरणसे ऊपर खींचा जाता है वहाँ जल वृष्टिरूपसे फिर पृथ्वीपर आता है । यह कार्य सूर्य-किरणोंका है ।

यह सूर्यकिरणोंका कार्य सदा होता रहता है, वे समुद्रसे पानी ऊपर खींचते हैं, मेघ बनाते हैं और वृष्टि होती है, इस प्रकार जलकी गति होती है । पृथ्वीपरका जो जल ऊपर बाष्प रूपसे खींचा जाता है वह वहाँ शुद्ध बनकर वृष्टिरूपसे फिर

पृथ्वीपर गिरता है, मानो, वह (मधु सिंचय) भीठे शब्द-
दधी ही वृष्टि होती है । इस वृष्टिसे (ओषधीः शिवाः)
हितकारक औषधियां बनती हैं और (पयस्वीः) उत्तम
रसवाली भी बनती हैं ये औषधियां रोगियोंके शरीरोंमें
रहनेवाले लोगोंको (क्षोष-घोः) घोंती हैं और उनकी नारोग
बनाती हैं, इन औषधियों और विविध रसपूर्ण अन्नको खाये
मनुष्य (उज्जं सुमतिं च) बल और उत्तम बुद्धिको प्राप्त

करते हैं । यदि वृष्टि न हुई तो इन पदार्थोंकी उत्पत्ति नहीं होती
और अशुद्ध होता है, इसलिये मनुष्य निर्मल और मतिहीन
बनते हैं । इस प्रकार वृष्टिका महत्त्व कितना है यह देखिये ।

पानीसे भरे बालू वायुके द्वारा लये जाते हैं और उनसे
जो वृष्टि होती है वह पृथ्वीपरके तालाब, कुँवे, नदियां आदि-
को भर देती है और इस कारण सर्वत्र आनन्द फैलता है ।

सारांशसे यह इस सूक्तका धार है । पाठक इसका विचार
करके सृष्टिके विषयका विज्ञान जानें ।

जल ।

[सूक्त २३]

(श्राविः — शन्तातिः । देयता — आपः ।)

सुस्रुषीस्तदुपसो दिवा नक्तं च सुस्रुषीः । वरेण्यक्रतुरहमपो देवी रूपं ह्वये ॥ १ ॥
ओता आपः कर्मण्या सुश्रन्तिवतः प्रणीतये । सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥
देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः । शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वरेण्यक्रतुः अहं) प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म करनेवाला मैं (तत् सुस्रुषीः) उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं और
(दिवा नक्तं च अपसः सुस्रुषीः) दिन रात जलकी धाराओंके प्रवाहोंमें रहनेवाले (देवीः अपः) दिव्य जलको
(उपह्वये) पास बुलाता हूँ ॥ १ ॥

(ओताः कर्मण्याः आपः) धर्मों व्यापक और कर्म करनेवाले जल (प्रणीतये इतः सुश्रन्तु) उत्तम गतिको
प्राप्त करनेके लिये इस निष्कट अवस्थासे सुखे लुहावें और (सद्यः एतये कृण्वन्तु) शीघ्र ही प्रगतिको प्राप्त करवें ॥ २ ॥

(सवितुः देवस्य सवे) सबका उत्पत्ति करनेवाले ईश्वरकी इस सृष्टिमें (मानुषाः कर्म कृण्वन्तु) मनुष्य पुरुषार्थ
करें । और (अपः ओषधीः) जल और जलसे उत्पन्न हुई औषधियां (नः शं शिवाः च भवन्तु) हमारे लिये कल्याण
करनेवाली हों ॥ ३ ॥

वृष्टिसे प्राप्त होनेवाला और प्रवाहोंमें बहनेवाला जल सब मनुष्योंको सुखे और शान्ति देवे और उस जलसे दृष्ट-पुष्ट हुए
मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ करके उत्ततिको प्राप्त करें ।

[सूक्त २४]

हिमवतः प्रस्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः । आपो ह महं तद् देवीर्ददन् ह्यद्योत-मेवजम् ॥ १ ॥
यन्मे अक्षयोर्दीद्योत पाण्योः प्रपदोश्च यत् । आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिपजां सुमिपत्तमाः ॥ २ ॥

अर्थ— (आपः हिमवतः प्रस्रवन्ति) जलधारायें हिमालयसे बहती हैं । हे (स-मह) महिमाके साथ रहने-
वाले ! (सिन्धौ संगमः) उनका संगम समुद्रमें होता है । वह (देवीः) दिव्य जलधाराएं (महं तद् ह्यद्योत-मेवजं)
ददन्) सुखे वह हृदयकी जलनका औषध देती हैं ॥ १ ॥

(यत् यत् मे अक्षयोः पाण्योः प्रपदोश्च) जो जो मेरे दोनों आँखों, एर्कियों और पाशोंमें दुःख (आदिद्योत)
प्रकट होता है, (तत् सर्वं) उस सब दुःखको (भिपजां सुमिपत्तमाः आपः) वैद्योंसे भी उत्तम वैद्य रूपी जल (निष्क-
रन्) हटाता है ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नृषीत्यनं । दत्तं नृस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहे ॥ ३ ॥

अर्थ—(सिन्धुपत्नी सिन्धुराज्ञीः) समुद्रकी पत्नियाँ और सागरकी राजनियाँ (याः सर्वाः मद्याः स्थित) जो सब नदियाँ हैं, वे द्रुम (नः तस्य भेषजं दत्त) हमें उसकी औषधि दो (तेन च भुनजामहे) उससे तुम्हारा हम उपभोग करें ॥ ३ ॥

जलचिकित्सा ।

भी उत्तम वैद्य और औषधोंसे भी उत्तम औषधी है ।

इस सूक्ष्म जलका चिकित्सा धर्म लिखा है । यहाँ जिस जलका वर्णन है वह जल हिमालय जैसे बर्फीले पहाड़ोंसे बहने-वाला है, अन्य नहीं । यह हिमपर्वतोंसे बहनेवाले नद, नदी और अन्य झरने बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं । यह जल हृदयकी जलनको दूर करनेवाला है ।

आँख, पीठ, एड़ी, पाँव आदि स्थानकी पाँव भी इस जलसे दूर होती है । यह जल (भिषजां सुमिषत्तमाः) वैद्योंसे

ये सब नदियाँ महासागरकी झियाँ हैं, इनके जलप्रवाहोंमें औषध भरा पड़ा है, इसका उपयोग मनुष्योंको करना उचित है । यह नदीके जलप्रवाहका तथा सागरके जलका भी गुण हो सकता है ।

जलका उपयोग किस प्रकार करना चाहिये यह बात इसमें स्पष्ट नहीं हुई है । तथापि जलचिकित्साके विषयकी खोज करते समय इस सूक्तका बहुत उपयोग हो सकता है ।

कष्टोंको दूर करनेका उपाय ।

[सूक्त २५]

(आपिः — शुनःशेषः । देयता — मन्त्रोक्ताः ।)

पञ्च च या पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अमि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अमि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अमि । इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

अर्थ—(पञ्च च याः पञ्चाशच्च) पाँच और पचास जो पीड़ाएं (मन्याः अमि संयन्ति) गलेके मांसमें होती हैं, (सप्त च याः सप्ततिः च) सात और सत्तर जो पीड़ाएं (ग्रैव्या अमि संयन्ति) कण्ठके मांसमें होती हैं तथा (नव च याः नवतिः च) नौ और नव्वे जो पीड़ाएं (स्कन्ध्याः अमि संयन्ति) कन्धके ऊपर होती हैं (इतः ताः सर्वाः) यहसिं ये सब पीड़ाएं (नश्यन्तु) नष्ट हो जायें (अपचितामिव वाका इव) जिस प्रकार पूरनीय सज्जनोंके समुच्च साधारण लोकोंके बचन नष्ट होते हैं ॥ १-३ ॥

मनुष्य शुद्ध बनें और अपनी शुद्धतासे अपने कष्टों, आपत्तियों और दुःखोंको दूर करें । जिस प्रकार जानाके समुच्च मूर्खोंकी वक्तृता नहीं ठहरती, उसी प्रकार पवित्र मनुष्यके पास रोग और दुःख नहीं ठहरते ।

पापी विचारका त्याग करो ।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — ऋष्या । देवता — पाप्मा ।)

अवं मा पाप्मन्सृज वृशी सन् मृडयासि नः । आ मां भद्रस्य लोके पाप्मन् घेहर्विन्दुतम् ॥ १ ॥
 यो नः पाप्मन् न जहासि तमुं त्वा जहिमो वयम् । पथामन् व्यवर्तनेऽन्यं पाप्मान् पथताम् ॥ २ ॥
 अन्यत्रास्मन्न्युच्यत सहस्राक्षो अमर्त्यः । यं द्वेषाम तमृच्छतु यमुं द्विभस्वमिज्जहि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (पाप्मन्) पापी विचार । (मा अवसृज) मुझे छोड़ दे । (वृशी सन् नः मृडयासि) बधमें करता हुआ तू हमें सुख देता है, ऐसा प्रतीत होता है । हे (पाप्मन्) पापी विचार (भद्रस्य लोके) कल्याणके स्थानमें (मा मविन्दुतं आ घेहि) मुझे अकटिल अवस्थामें रख ॥ १ ॥

हे (पाप्मन्) हे पापी विचार । (यः नः न जहासि) जो तू हमें नहीं छोड़ता है, (तं त्वा उ घयं जहिम) उस दुष्टको हम छोड़ देते हैं । (यं पथाम अनु व्यावर्तने) मार्गके अनुकूल घुमान पर (पाप्मा अन्यं अनु पथतां) पापी विचार दूसरेके पास चला जावे ॥ २ ॥

(सहस्र-अक्षः अमर्त्यः) हजार आस्रवाला और न मरनेवाला यह पापी विचार (अस्मत् अन्यत्र नि उच्यतु) हमसे भिन्न दूसरे स्थानमें चला जावे । (यं द्वेषाम तं तमृच्छतु) जिससे हम द्वेष करते हैं, उसके पास जावे, (यं उ द्विभस्वः तं इत् जहि) जिससे हम द्वेष करते हैं उसका नाश कर ॥ ३ ॥

पापी मन ।

पापी मन होनेसे सब प्रकारके शारीरिक, इंद्रिय संबंधी तथा मानसिक आदि कष्ट होते हैं । इसलिये मनसे पापी संकल्प सबसे प्रथम दूर करने चाहिये । मन शुद्ध हुआ तो सब दुःख दूर हो सकते हैं ।

पापी विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मनुष्यको वशमें करते हैं और योड़े प्रयत्नसे अधिक सुख प्राप्त कर देनेके प्रलोभनसे, अर्थात् सुख देनेके प्रलोभनमें फँसते हैं । इस लिये इनसे बचना चाहिये ।

यदि पापी विचार मनसे खय दूर नहीं हुआ, तो उसको

प्रयत्नसे दूर करना चाहिये ऐसा करनेसे ही प्रगतिके मार्गको अनुकूलता हो सकती है । तात्पर्य पापी विचार दूर करके चित्तको शुद्ध करनेसे ही उन्नतिका सच्चा मार्ग खुला हो सकता है ।

पापी विचार हजार आस्रवाला है, इसलिये वह हमारी न्यूनता और कमजोरी सटपट जानता है और उस मार्गसे अन्दर प्रविष्ट होता है । शरीर क्षीण होनेपर भी वह पापी विचार क्षीण नहीं होता, इसलिये उसको प्रयत्नसे दूर करना चाहिये । पापी विचारको दूर करनेसे अन्दरकी पवित्रता होगी और पवित्रतासे सब कष्ट दूर होंगे । यह आत्मशुद्धि द्वारा उन्नति प्राप्त करनेका मार्ग है ।

कपोत-विद्या ।

[सूक्त २७]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — यमः, निर्ऋतिः ।)

देवाः कपोतं हपितो यद्विच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम ।

तस्मा अर्चाम कृण्वाम निर्ऋतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे

॥ १ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो । (हपितः निर्ऋत्याः दूतः कपोतः) मेरा हुआ दुर्गतिका दूत कपोत (यत् इच्छन् इदं आजगाम) जिसकी इच्छा करता हुआ इस स्थानके प्रति आया है । (तस्मै अर्चाम) उसकी हम पूजा करते हैं और

शिवः कपोतं श्वितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः ।

अभिर्हि विप्रो जुपतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणीं नो वृणक्तु ॥ २ ॥

हेतिः पक्षिणी न दमात्यस्मानाष्टी पदं कृणुते अग्निधाने ।

शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु । मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

उपशे (निष्कृति करवाम) दुःख निवारण हम करते हैं । (नः क्षिपये क्षतुप्पदे शं अस्तु) हमारे दो पाँखालों और चार पाँखालोंके लिये शान्ति होवे ॥ १ ॥

(श्वितः कपोतः नः शिवः अनागाः अस्तु) मेरा हुआ कपोत हमारे लिये कल्याणकारी और निष्पार होवे । हे (देवाः) देवो ! (नः गृहं शकुनः) हमारे घरेके प्रति वह शुभसूचक होवे । (विप्रः अग्निः हि नः हविः जुपतां) ज्ञानी, अग्नि हमारी हवि लेवे और (पक्षिणी हेतिः नः परि वृणक्तु) पंखवाला यह हवियार हमसे दूर होवे ॥ २ ॥

(पक्षिणी हेतिः अस्मान् न दमाति) पंखवाला यह हवियार हमें न दबावे । (आष्टी अग्निधाने पदं कृणुते) अर्माँठीके अभिके पास यह अपना पाँख रखता है । (नः गोभ्यः उत पुरुषेभ्यः शिवः अस्तु) हमारे गौओं और मनुष्योंके लिये यह कल्याणकारी होवे । हे (देवाः) देवो ! (कपोतः इह नः मा हिंसीत्) यह कपोत यहाँ हमारी हिंसा न करे ॥ ३ ॥

कवूर दूरदूर देशसे वार्ता लानेका कार्य करता है । यह हानिकारक वार्ता न लावे । शुभ वार्ता लावे, इस विषयमें यह प्रार्थना है । कवूरके अंदर यह गुण है कि वह सितानेपर कहींसे भी छोडा जाय तो सीधा घरपर आता है । प्रवासी लोग ऐसे शिक्षित कवूर अपने पास रखते हैं और जहाँ जाना होता है, वहाँ आकर उस कवूरके गलेमें चिट्ठी बांधकर उसको छोड देते हैं । वह छोडा हुआ कवूर घर आता है और घरवालोंको प्रवासीका संदेश पहुँचाता है ।

इस सूक्तके निर्देशोसे पता लगता है कि, इस कपोतविद्यामें और भी अधिक बातें हैं, जिनसे यह कवूर भुला और भला भी बन सकता है । परंतु इसका पता अर्माँतक नहीं लगा है । यह सूक्त कुछ पाठभेदसे स० १०१ १८५ । १-३ में है, परंतु वहाँ देखनेसे भी इसपर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है । अतः खोज करनेवाले पाठकोंके सन्निध है कि इस विषयकी खोज वे करें और इस विद्याका आविष्कार करें ।

इसी विषयका अगला सूक्त है वह अब देखिये—

[सूक्त २८]

(कपिः — शृगुः देवता — यमः, निर्झतिः ।)

अत्रा कपोतं सुदत प्रणोदमिपं मर्दन्तः परि गां नयामः ।

सं लोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जे प्र पंडात् पथिष्ठः ॥ १ ॥

परीमेक्षिर्मर्षत परीमे गामनेपत । देवेर्षक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

अर्थ— (अत्रा प्र-नोदं कपोतं सुदत) मंत्रके द्वारा भेजने योग्य कपोतको भेजे । हम तो (इपं मर्दन्तः) अजको प्राप्त करके आनंदित होते हुए (दुरिता पदानि संलोभयन्तः) और वापके बिन्दुरूपी इसके अग्रिम पादबिन्दुओं मिटाते हुए (गां परिनयामः) गौको चारों ओर ले जाते हैं । (ऊर्जे हिरवा) जलस्थानको छोडकर (पथिष्ठः प्र पदात्) मार्गमें स्थित प्रवासी आगे चला जावे ॥ १ ॥

(इमे अग्निं परि अर्षत) इन्होंने अग्निको प्राप्त किया है, (इमे गां परि अनेपत) इन्होंने गौको प्राप्त किया है । और (देवेषु श्रवः अकृत) देवोंमें यश संपादन किया है । अथ (कः इमान् आ दधर्षति) कौन इन लोगोंको मय दिखा सकता है ? ॥ २ ॥

यः प्रथमः प्रवर्तमाससादं बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।

गोडेस्पशे द्विपदो यथतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः प्रथमः) जो पहिला (बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानः) अनेकोंके लिये मार्गोंका नियम करता हुआ (प्रवर्तमाससादं) योग्य मार्ग प्राप्त करता है (यः अस्त्य द्विपदः) जो इसके दो पांववालों और (यः क्षतुष्पदः इंदो) जो चार पांववालोंके ऊपर खामित्व करता है, (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उधे मृत्यु देनेवाले यमको नमस्कार है ॥ ३ ॥

वार्ताहर कवृतरको मंत्रका पवित्र उच्चारणकरके और ईश्वरकी प्रार्थना करके पवित्र इच्छासे भेजो । कभी घातक इच्छासे न भेजो । हम गौओंको पालते हैं, उत्तम अन्नके सेवनसे आनंदित होते हैं और पापासनाओंकी दूर करते हैं । इस लिये हमारा प्रवाधी सुखपूर्वक आये बढता जायगा । इसमें संदेह नहीं है ।

औ प्रसिद्धिद्वय अग्निमें दहन करते हैं, गायका सत्कार करते हैं और यश बढानेवाला पुण्यकर्म करते हैं, उनको डरानेका सामर्थ्य किशोम भी नहीं होता है । इस लिये मनुष्य इस

उपायसे अपने आपको कष्टोंसे बचा सकता है ।

यमका अधिकार द्विपाद और क्षतुष्पाद सबपर समान है । वह सब लोगोंके मार्गको अर्थात् जीवनके मार्गोंकी यथावत जानता है । इसलिये उस यमकी सब मनुष्य नमस्कार करें ।

यह आशय इन तीनों मंत्रोंका है । इसमें बीचके मंत्रमें जो कहा है कि सारधर्म करनेवालोंको कोई डरा नहीं सकता, वह बात हरएककी विशेष लक्ष्यमें रखनी चाहिये । अगला सूक्त भी इसी विषयका है, वह अब देखिये—

[सूक्त २९]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — यमा, निर्ऋतिः ।)

अमून् हेतिः पंतत्रिणीन्येतु पदुलूको वदति मोघमेतत् । यद् वा कपोतः पदमग्रौ कृणोति ॥ १ ॥

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गूढं नः । कपोतोऽलूकाम्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥

अवैरहत्यायेदमा पंतप्यात् सुवीरताया इदमा संसघात् । पराङ्घ्रि परा वद पराचीमर्जु संवतम् ।

यथा यमस्य त्वा गूहेऽरसं प्रतिचाकंशान्भूर्कं प्रतिचाकंशान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पंतत्रिणी हेतिः अमून् नि एतु) पंखवाला हथियार इन शत्रुओंकी नाचि करे । (उलूकः यत् वदति मोघ पतत्) जो उल्लू बोलता है वह व्यर्थ है । (यत् वा कपोतः अग्रौ पदं कृणोति) अथवा जो कवृतर अग्रे पांव पांव रखता है वह भी व्यर्थ है, अर्थात् उससे कोई अश्रम नहीं होगा ॥ १ ॥

दे (निर्ऋते) दुर्गति । (यौ प्रहितौ अप्रहितौ ते दूतौ) जो भेजे हुए अपना न भेजे हुए तेरे दोनों दूत (नः इदं गूढं वा इतः) हमारे घरकी आते हैं; (कपोतोऽलूकाम्यां तत् अपदं अस्तु) कपोत और उल्लूके द्वारा वह पद रखने योग्य न होवे, अर्थात् कोई अश्रमकी सूचना देनेवाले प्राणी हमारे घरमें पांव न रखें ॥ २ ॥

(अ-वैरहत्याय इदं वा पंतप्यात्) हमारे वीरोंकी इत्या न होनेकी सूचना देनेवाला यह होवे । (सुवीरतायै इदं वा संसघात्) हमारे वीरोंके उत्साहके लिये यह सुचिन्ह होवे । (पराङ्घ्रि पराची अनु संवतं) नाचि भयोवदन करके अलूक वीरोंके (परा पक्ष चद्) दूसरे बोल । (यथा यमस्य गूहे) जिस प्रकार यमके घरमें (अरसं त्वा प्रतिचाक-शान्) निर्बल हुआ तुझे लोभ देखे । (आभूर्कं प्रतिचाकशान्) केवल आधा हुआ ही तुझे देखे अर्थात् तू शत्रुदल असमर्थ होकर यहाँ रह ॥ ३ ॥

ये सभी सूक्त बड़े दुर्बोध हैं । कवृतर, उल्लू आदिकोके किस प्रकार अनिष्ट सूचनाएं मिलती हैं यह कहना कठिन है । परंतु इन सूक्तोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि अपने वीर शत्रुवर हमला करनेकी जब आते हैं तब व अपने साथ कवृतर ले आते हैं और वहाँका संदेश अपने घरमें अथवा अपने राष्ट्रमें भेज देते हैं । यह शुभ संदेश प्राप्त होवे और अपने वीरोंके मृत्यु आदिका अथवा अपने पराजयका संदेश न प्राप्त हो । इस विषयकी प्रार्थनाएं इन मंत्रोंमें हैं । परंतु इन सूक्तोंका विषय खोबका ही विषय है । इसलिये इन सूक्तोंपर अधिक लिखना अर्थभव है ।

शमी औषधी ।

[सूक्त ३०]

(प्रायः — उपरिबध्नयः । देवता — शमी ।)

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्क्युः ।

इन्द्रं आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥

यस्ते मदीं स्वकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।

आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्गु वि रौह ॥ २ ॥

पृहस्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध क्रतावरि । मातेवं पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः 'मधुना संयुत इमं यव') देवोंने मधुरतासे युक्त इस यव धान्यको (सरस्वत्यां अधि मणी अचर्क्युः) सरस्वतीके तटपर मणि जैसी उत्तम भूमिमें बोनेके लिये बार बार हल चलाया । वहाँ (शतक्रतुः इन्द्रः सीरपतिः आसीत्) शतक्रतु इन्द्र हलवा स्वामी था और (सुदानवः मरुत कीनाशा आसन्) उत्तम दानो मरुत विधान थे ॥ १ ॥

दे (शमि) शमी औषधि । (यः ते मद्रः) जो तेरा आनन्ददायक रस (मधुकेशः विकेशः) विशेष केश बढानेवाला है (येन पुरुषं अभिहस्य कृणोषि) जिससे तू पुरुषको बड़ा हर्षित करती है । इस लिये (त्वत् अन्या वनानि आरात् वृक्षि) तेरेसे निज दूसरा जगल मैं तेरे समीपसे हटाता हूँ, (त्वं शतवल्गु विरौह) तू पैरों से शाखावाली होकर बहती रह ॥ २ ॥

दे (पृहस्पलाशे सुभगे वर्षवृद्धे शतावरि शमि) बड़े पर्वतवाली उत्तम तेजस्वी, वृष्टिसे बड़ी, शतावरि शमि । (माता पुत्रेभ्य इव) माता पुत्रोंके लिये प्यार करनेके समान (केशेभ्यः मृड) केशोंके लिये मुछ दे ॥ ३ ॥

सेती ।

प्रथम मन्त्रमें जो नामक धान्य बोनेके लिये भूमिमें उत्तम हल चलाकर तैयार करनेका विधान है । यह तो सर्वग्राधार सेतीके लिये ही उपदेश है ऐसा समझना चाहिये । जहाँ इस हल चलाता है और मरुत सेती करते हैं, वहाँ वह कार्य मनुष्योंको करनेमें कोई सकोच नहीं होना चाहिये । अर्थात् सेतीका कार्य दिव्य कार्य है वह मनुष्य अवश्य करे ।

द्वितीय मन्त्रमें कहा है कि शमीका रस आनन्द देता है और बालोंको बढाता है इसलिये इससे लोग बड़े हर्षित होते हैं ।

अतः शमी वृक्षके आसपास लगानेवाले अन्य वृक्ष इतने चाहिये जिससे शमीका वृक्ष अच्छी प्रकार बड़ जावे । यहाँ उपानका एक उल्लेख नियम कहा है । जो वृक्ष बढाना हो उसके आसपास कोई जगल बढाने नहीं देना चाहिये । इससे उसकी उत्तम वृद्धि होती है ।

तृतीय मन्त्रमें शतावरि और शमीकी प्रशंसा है । इससे केशोंकी बड़ा लाभ होता है । इस सूक्तका विचार वैद्य आवश्यक करें । इनसे बालोंकी रक्षा और वृद्धि विद्य प्रचार होती है इसी बातका विचार होना चाहिये ।

चन्द्र और पृथ्वीकी गति ।

[सूक्त ३१]

(प्रायः — उपरिबध्नयः । देवता — गौः ।)

आपं गौः पृथिरकमीदसेदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्तस्त्रुः ॥ १ ॥

अर्थ— (आपं गौः) यह गतितीव्र चन्द्रमा (मातरं पुरः मसङ्गत) अपनी माता भूमिमें आगे करता है और (पितरं च प्रयन्तः) अपने पिता स्वर्गके ब्रह्मा की ओर चलाता हुआ (पृथिव्या आ मकर्माम्) आकाशमें

अन्तर्धरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ २ ॥

त्रिशद् घामा वि राजति वाक् पतङ्गो अंशिभ्रियत् । प्रति वस्तोरहद्युभिः ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अस्य रोचना) इसकी पयोति (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अंदर संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अययत्) धके स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ २ ॥

(घस्तोः त्रिशत् घामा) गहिरात्रके तीस घाम अर्थात् मुहूर्त (अहं युभिः प्रति वि राजति) निखरके इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं । उसकी प्रकाशके लिये (वाक् पतङ्गः अंशिभ्रियत्) हमारी वाणी सूर्यका आधर्य करती है ॥ ३ ॥

यह भूमिक चारों ओर भ्रमण करता है और भूमिसे हित चन्द्र सूर्यकी चारों ओर घूमता है । इस प्रकार भूमिसे हित चन्द्र सूर्यकी प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है ।

इसके चिरण सब स्थावरजगत्के ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्यप्रकाशके महत्त्वको व्यक्त करते हैं ।
अहोरात्रके तीस मुहूर्तोंमें इधिका प्रकाश सबको तेजस्वी बनाता है । इसलिये इस सूर्यकी प्रकाश हमारी वाणीको करनी योग्य है ।

॥ यहाँ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

रोगक्रिमिनाशक हवन ।

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १, २ चातन, ३ अथर्व । देवता — अग्नि ।)

अन्तर्द्वि जुहुता स्वेक्षतद् यातुधानक्षयणं घृतेन ।

आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणाम्यप तीतपासि ॥ १ ॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृथीर्वोपि शृणातु यातुधानाः ।

वीरुत् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥ २ ॥

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोचिषातित्रणो नुदतं प्रतीचः ।

मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विज्ञाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पतत् यातुधानक्षयणं) यह पीडा देनेवालोंका नाश करनेवाली हविका (अन्तः द्वावे) अग्निही प्रदीप्त अवस्थामें (सु जुहुता) उत्तम प्रकार हवन करो । हे अग्ने ! (स्वे रक्षांसि आरात् प्रति दह) तू राक्षसोंको समीपसे और दूरसे जला दे । और (नः गृहाणा न उप तीतपासि) हमारे घरोंको न ताप दे ॥ १ ॥

हे (पिशाचाः) पिशाचों ! (रुद्रः यः ग्रीवा अशरैत्) रुद्रने तुम्हारी गर्दनको तोड़ डाला है । हे (यातु-धानाः) यातना देनेवाले ! (यः पृथी अपि शृणातु) वह तुम्हारी पसलियोंको भी तोड़ डाले । (विश्वतोवीर्या वीरुत्) अनंत बीजवाली औषधोंने (यः यमेन समजीगमत्) तुमको यमके साथ संयुक्त किया है ॥ २ ॥

हे (मित्रावरुणो) मित्र और वरुण ! (नः इदं अभयं अस्तु) हमारे लिये यहाँ अभय होवे । (अचिषा अग्निजः प्रतीच नुदतं) अपने तन्त्रसे भयक शत्रुओंको दूर हटा दो । (मा ज्ञातारं) ज्ञानोंको वे न प्राप्त करें । कहीं भी वे (मा प्रतिष्ठां विदन्त) स्थिरताको न प्राप्त हों । वे (मिथो विज्ञाना मृत्यु उप यन्तु) आपसमें एक दुसरेको मारते हुए वे सब शत्रुको प्राप्त हों ॥ ३ ॥

रोगनाशक हवन ।

रोगके कुमियोंका नाश करनेवाला हवन प्रदीप्त अग्निमें उत्तम विधिपूर्वक करनेका उपदेश इस सूक्तके प्रथम से प्रथम किया है । इससे, शरीरमल्लक सूक्ष्म रोगीकर्मि नाशको प्राप्त होते हैं । कर्मि ये हैं—

१ विशाचाः = मांसको क्षीणता करनेवाले, रक्तकी क्षीणता करनेवाले,

२ यातुधानाः = शरीरमें यातना, पीडा उत्पन्न करनेवाले,

३ राक्षसाः-क्षरासाः = क्षीणता करनेवाले और

४ अग्निषाः-वदन्ति इति = शरीर भक्षण करनेवाले ये रोगग्रन्थु अग्निमें किये हवनसे तथा—

५ विश्वतो घीर्या घीरुत् = अत्यंत गुणवाली वनस्पतीके प्रयोगसे क्षीण होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं ।

ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य ।

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — जाटिकायनः । देवता — इन्द्रः ।)

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वर्गः । इन्द्रस्य रन्त्यं युहत् ॥ १ ॥

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शर्वः । पुरा यथा व्यथिः श्व इन्द्रस्य नाधृषे शर्वः ॥ २ ॥

स नो ददातु तां रथिमुक्तं पिशङ्गसंदधम् । इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (जनाः) लोगो ! (अस्य तुजे) इस प्रभुके बलमें (इदं रजः) यह लोकलोकान्तर, (वनं स्वर्गः) यह वन अर्थात् पृथ्वी और यह स्वर्ग (आ युजः) संयुक्त हुआ है । इतना (इन्द्रस्य युहत् रन्त्यं) इस प्रभुका बड़ा रमणीय सामर्थ्य है ॥ १ ॥

(धृषितः) पराजित हुआ शत्रु (धृषाणः शयः न आधृषे) हरानेवालेके बलकी बराबरी नहीं कर सकता और न (आ दधृषे) सहकर हरा सकता है । (यथा पुरा व्यथिः) भिन्न प्रकार पहिले पाँचसे यथा हुआ शत्रु (इन्द्रस्य अश्वः शयः न आधृषे) प्रभुके प्रसन्ननाय बलकी गिरा नहीं सकता ॥ २ ॥

(इन्द्रः जनेषु तुविष्टमः पति आ) ईश्वर सब जन्म लेनेवालोंसे भी बड़ा समर्थ प्रभु है । (सः नः तां शर्वं पिशङ्गसदधम् रथि ददातु) वह हम सबको उस बड़े सुवर्णसदृश धनको देवे ॥ ३ ॥

इसके सामर्थ्यसे वह भूलोक, अन्तरिक्ष लोक और स्वर्ग लोक टूट हैं । ऐसा प्रचण्ड सामर्थ्य उस प्रभुका है । कोई शत्रु उस प्रभुका पराजय नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी शक्ति ही विजय प्रभावशाली है । सब उत्पत्ति हुए पदार्थोंसे वह प्रभु अधिक समर्थ है, इसलिये वह हमें उत्तम धन देवे ।

तेजस्वी ईश्वर ।

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — चातनः । देवता — अग्निः ।)

प्रापये वार्षमीरयं वृषभायं क्षितीनाम् । स नः पूर्वदति द्विषः ॥ १ ॥

अर्थ— (क्षितीनां वृषभाय अग्नये) पृथ्वी आदि सब लोकोंके महाबलवान् तेजस्वी ईश्वरके लिये (वार्षं प्र ईरय) स्तुतिरूप अपनी वाणीको प्रेरित करो । (यः अग्निः) जो तेजस्वी प्रभु (तिग्मेन शीघ्रिणा रक्षांसि निजृम्भति)

यो रक्षांसि निजूर्ध्वमिस्तिग्मेन शोचिषा । स नः पर्यदति द्विषः ॥ २ ॥

यः परस्याः परावर्तस्तिरो घन्वातिरोचते । स नः पर्यदति द्विषः ॥ ३ ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवनं सं च पश्यति । स नः पर्यदति द्विषः ॥ ४ ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अभिरजायत । स नः पर्यदति द्विषः ॥ ५ ॥

अपने तीक्ष्ण प्रकाशसे राक्षसोंको नष्ट करता है । (यः परस्याः परावर्त-घन्व) जो दूरसे दूरवाले स्थानको (तिरोः अति-रोचते) पार करके चमकता है । (यः विश्वा भुवनं अभि विपश्यति) जो सब भुवनोंको अलग अलग भी देखता है और (सं पश्यति) मिले जुले भी देखता है । (यः शुक्रः अभिः) जो तेजस्वी प्रकाशको देव (अस्य रजसः पारे अजायत) इस लोकलोकान्तरेके परे प्रकट रहता है । (स नः द्विषः अति पर्यद्) वह हमें सब शत्रुओंसे दूर करके परिपूर्ण बनावे ॥ १-५ ॥

ईश्वर सबसे महाबलवान् है, वह अपने तेजसे ही सब दुष्टोंको नष्टमष्ट कर देता है । वह जैसा पास है उसी प्रकार दूरसे दूरवाले स्थानपर भी है । वह सब पदार्थमात्रको अलग अलग और मिलीजुली अवस्थामें भी यथावत् जानता है । वह अत्यंत तेजस्वी है और इस दृश्य जगत्के परे विराजमान है । वह सब उपायोंको शत्रुओंसे बचाकर परिपूर्ण बनाता है ।

विश्वका सञ्चालक देव ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — वैश्वानरः ।)

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावर्तः । अभिनैः सुष्टुतीरुषं ॥ १ ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुषं । अभिरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

वैश्वानरोङ्गिरसां स्तोमंमुक्थं च चाकृपत् । ऐषुं युञ्जं स्वः आयमत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः) विश्वका नेता ईश्वर (ऊतये) हमारी रक्षा करनेके लिये (परावर्तः नः प्र आयातु) अपने श्रेष्ठ स्थानसे हमारे पास आवे और वह (अभिः नः सुष्टुतीः उप) प्रकाशका देव हमारी उत्तम स्तुतियों स्वीकार करे ॥ १ ॥

(उक्थेषु अहसु) स्तुति करनेके समयमें (अभिः सजूः वैश्वानरः) वह तेजस्वी विश्वका चालक प्रेमपूर्ण ईश्वर (हमें नः यज्ञं उप आगमत्) इस हमारे यज्ञके पास आवे ॥ २ ॥

(वैश्वानरः) विश्वका चालक देव (अंगिरसां स्तोमं उक्थं च) शान्ती ऋषियोंके स्तुतिस्तोत्रोंको (च चाकृपत्) समर्थ करता आया है । और वह (एषुं युञ्जं स्वः आयमत्) इनमें प्रकाशित होनेवाला आत्मतेज स्थिर करता है ॥ ३ ॥

विश्वका संचालक देव जो विश्वके संपूर्ण पदार्थोंका संचालन करता है, वह एक तेजस्वी, प्रेममय, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ देव है । वह उपायोंको श्रेष्ठ आरमतेज देता है ।

जगत्का एक सम्राट् ।

[सूक्त ३६]

(क्रतिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः । देवता — अग्निः ।)

ऋतावानं वैश्वानरमुतस्य ज्योतिषस्पतिम् । अजसं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

स विश्वा प्रति चाक्षुष ऋतूरुत्सृजते वशी । । यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥

अग्निः परेषु घामसु कामो भूतस्य भव्यस्य । सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अर्थ — (ऋतावानं) सत्ययुक्त, (ऋतस्य ज्योतिष पति) सत्यप्रकाशके स्वामी, और (अजसं घर्मं वैश्वानरं) निरंतर प्रकाशवाले सब विश्वके चालके ईश्वरकी (ईमहे) हम प्राप्ति करते हैं ॥ १ ॥

(सः विद्या प्रति चाक्षुषे) वह सबको समर्थ बनाता है । (वशी ऋतू उत् सृजते) और वह सबको अपने वशमें करनेवाला चरित आदि ऋतुओंको बनाता है । और (यज्ञस्य वयं उत्तिरन्) यज्ञके लिये उत्तम अन्न बनाता है ॥ २ ॥

(भूतस्य भव्यस्य कामः) भूतमीक्षणमें उत्पन्न होनेवाले जगत्की कामना पूर्ण करनेवाला (एकः सम्राट् अग्निः) एक सम्राट् प्रकाशमय देव (परेषु घामसु विराजति) दूरके स्थानोंमें भी विराजता है ॥ ३ ॥

सबका एक ईश्वर ।

ईश्वर संपूर्ण जगत्का 'एक सम्राट्' है यह बात इस सूक्तमें बड़ी उत्तमासे कही है । वह ईश्वर (परेषु घामसु विराजति) दूरसे दूर जो स्थान हैं उन स्थानोंमें भी विराजमान है । पास तो है ही परंतु अति दूर भी है । अर्थात् वह सर्वत्र है । सब (भूतस्य भव्यस्य) भूतकालमें उत्पन्न हुए पदार्थोंका जैसा वह सम्राट् था, उसी प्रकार इस वर्तमान समयमें दिखाई देनेवाले सब जगत्का वह स्वामी है, इतना ही नहीं अपितु भविष्य कालमें उत्पन्न होनेवाले जगत्का भी वह स्वामी रहेगा । अर्थात् संपूर्ण जगत्का सब कालोंमें वह स्वामी है । और इससे भिन्न दूसरा कोई स्वामी नहीं है ।

वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् है और इसीलिये वह

(विद्या चाक्षुषे) सबको शमर्थ्यवान् बनाता है । वह समर्थ है इसीलिये सबको (वशी) अपने वशमें रखता है, उसके शासनसे बाहर कोई नहीं है । वही सब प्रकारके अन्न और विविध ऋतुओंमें होनेवाले यत्रनीय पदार्थ और भोग्य पदार्थ उत्पन्न करता है ।

वह त्रिकालमें (ऋतावानं) सत्यस्वरूप है और (ऋतस्य पति) सत्य नियमोंका पालन करनेवाला है, वही सब (विद्या-नर) विद्याका संचालक, विश्वको चलानेवाला है, सबका वही उपास्य और प्राप्त करने योग्य है ।

इस सूक्तमें एकेश्वरकी उत्तम उपासना कही है, इसलिये उपासनाके लिये यह उत्तम सूक्त है ।

शापसे हानि ।

[सूक्त ३७]

(क्रतिः — अथर्वा स्वस्त्ययनकामः । देवता — चन्द्रमाः ।)

उप प्रागात् सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम् । शप्तारमन्विच्छन् मम वृकं इवाविमतो गृहम् ॥ १ ॥

अर्थ — (सहस्राक्षः शपथः) हजार आँखवाला शाप (रथं युक्त्वा) अपना रथ ओतकर (मम शप्तारमन्विच्छन्) मेरे शाप देनेवालेको दूँता हुआ (उप मम प्रागात्) उसके समीप आता है, (वृकः अवि-मतः गृहं इय) त्रिप प्रकार भेडिया भेडवालेके चारके प्रति आता है ॥ १ ॥

६ (अथर्व, भाष्य, काण्ड ९)

परि णो वृद्धि शपथ ऋदमभिरिवा दहन् । शतारमत्र नो जहि द्विवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥
यो नः शपादशपतः शपतो यथ नः शपात् । शुने पेष्टृमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (शपथ) दुष्ट भाषण ! (नः परिपृद्धि) हमें छोड़ दे (दहन् अग्निः हवं इव) जिस प्रकार जलनेवाला अग्नि जलस्थानको छोड़ देता है । (अत्र नः शतारं जहि) यहाँ हमारे शाप देनेवालेका नाश कर (द्विवो अशनिः घृष्टं इव) आकाशकी बिजुली जिस प्रकार वृक्षका नाश करती है ॥ २ ॥

(अशपतः नः यः शपात्) शाप न देनेवाले हमको जो शाप देवे, (यः च शपतः नः शपात्) और जो शाप देनेवाले हमको शाप देवे, (अवक्षामं तं मृत्यवे प्रति अस्यामि) उस हीनको मैं मृत्युके आधीन करता हूँ । (पेष्टृ शुने इव) जिस प्रकार दुकड़ा कुत्ते सामने फेंकते हैं ॥ ३ ॥

शापसे हानि ।

शाप देनेसे, दुष्टोंको कटु वचन कहनेसे जो हानि होती है, उसका वर्णन इस सूक्तमें किया है । शाप हजार ओषधाला अर्थात् महाक्रोधी अथवा महाक्रोधसे उत्पन्न होता है । जो शाप देता है, क्रोधके वचन कहता है, दुष्टोंको क्रोधसे बुरा कहता है, उसीका शाप उसको हजार गुना नाशक होकर उसको दूँडता हुआ उसीपर वापस आता है । देखिये—

सहस्राक्षः शपथः शतार अन्विच्छन् उपागात् ।
(मं० १)

‘ हजार गुना शाप वनकर शाप देनेवालेको दूँडता हुआ उसीके पास जाता है । ’ इसलिये शाप देनेवालेकी हानि हजार गुना होती है । अतः कोई किसीकी शाप न देवे ।

शपथः नः परिपृद्धि । (मं० २)

‘ शाप हमारे पास न आवे ’ अर्थात् हमारे मुखसे कभी बुरा वचन न निकले, और कोई दुष्टका हमारे उद्देश्यसे बुरा वचन न कहे । अर्थात् हम कभी बुरा वचन न कहें और कभी

हम घुरे शब्द भी न सुनें ।

शपथः शतारं जहि । (मं० २)

‘ शाप शाप देनेवालेका ही नाश करे । ’ अर्थात् जिसका जो कटु वचन होता है वह उसीका नाश करता है । इसलिये कोई कभी कटु वचन न बोले । कटु वचनसे अपना ही अधिक नाश होता है । इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आपको बड़ी सावधानीसे बचा लेवे ।

अवक्षामं मृत्यवे अस्यामि । (मं० ३)

‘ शाप देनेवाले हीन मनुष्यको मृत्युके प्रति भेजा जाता है । ’ अर्थात् शाप देनेसे आयुका नाश होता है इस कारण कोई किसीको शाप न देवे और बुरा वचन भी न कहे ।

‘ स्वस्त्ययन ’ अर्थात् (स्वस्ति-अयनं) ‘ उत्तम कल्याण प्राप्त करते हुए जीवन व्यतीत करना ’ इस सूक्तका उद्देश्य है । इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मनुष्यको उचित है कि वह कभी कटु वचन न बोले । इस नियमका पालन करता हुआ मनुष्य उन्नत होवे और अपना जीवन कल्याणयुक्त बनावे ।

तेजस्विताकी प्राप्ति ।

[सूक्त ३८]

(ऋषिः — अथर्वी वर्चस्कामः । देवता — त्विषिः, बृहस्पतिः ।)

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिर्मौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।

इन्द्रं या देवी सुमगा ज्ञानं सा न एतु वर्चसा संविदाना

॥ १ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (सिंहे, व्याघ्र, उत पृदाकी) विद, वाप, और सौर्यमें है और (या अग्नी, ब्राह्मणे, सूर्ये) जो तेज अग्नि, माह्वण, और सूर्यमें है, (या सुमगा देवी इन्द्रं ज्ञानं) जो माययुक्त देवी तेज इन्द्रको अर्थात् राजाको उत्पन्न करता है (वर्चसा संविदाना सा नः एतु) अन्न और बलसे युक्त होकर वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ १ ॥

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विर्षिप्सु गोषु या पुरुषेषु ।

इन्द्रं या देवी सुभगा ज्ञान सा न ऐतु वर्चसा संविद्वाना

॥ २ ॥

रथे अक्षेष्पृषभस्य वाजे वार्ते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे ।

इन्द्रं या देवी सुभगा ज्ञान सा न ऐतु वर्चसा संविद्वाना

॥ ३ ॥

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ ।

इन्द्रं या देवी सुभगा ज्ञान सा न ऐतु वर्चसा संविद्वाना

॥ ४ ॥

अर्थ— (या त्विषिः) जो तेज (हस्तिनि द्वीपिनि) हाथी और बाघमें है (या हिरण्ये, अप्सु, गोषु, पुरुषेषु) जो तेज, घोना, जल, गोवं और मनुष्योंमें होता है, जिस भाग्ययुक्त तेजसे राजा उत्पन्न होता है, वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ २ ॥

जो तेज (रथे अक्षेष्पृषभस्य वाजे) रथ, अश्व, और बैलके बलमें है, और (वार्ते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे) वायु, पर्जन्य और वरुणके सामर्थ्यमें है और जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज हमें प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

जो तेज (राजन्ये आयातायां दुन्दुभी) क्षत्रियमें और खेंची हुई दुन्दुभीमें होता है, और (अश्वस्य वाजे, पुरुषस्य मायौ) घोडेके बलमें और मनुष्यके पित्तमें जो बल होता है, जिससे राजा उत्पन्न होता है वह तेज मुझे प्राप्त हो ॥ ४ ॥

तेजके स्थान ।

इस सूक्तमें तेज कहाँ कहाँ रहता है, इसका सप्तम वर्णन है । मनुष्यको ये शुद्ध करने चाहिये और इनसे तेजका पाठ सीखना चाहिये । देखिये—

१ सिद्ध— सिद्धमें तेज है इसीलिये उसको बनराज कहते हैं । सिद्धके सामने उसकी उग्रता देखकर साधारण मनुष्य नहीं ठहर सकता ।

२ व्याघ्र— बाघ भी बड़ा तेजस्वी होता है, उसकी उग्रता प्रसिद्ध है ।

इसी कारण अधिक तेजस्वी मनुष्यको 'नरसिद्ध, नर-व्याघ्र' कहते हैं । क्योंकि ये पशु अन्य पशुओंसे बड़े तेजस्वी होते हैं ।

३ पृथाकु— साँप भी बड़ा तेजःपुञ्ज होता है, चपल और उग्र होता है ।

४ अग्नि— अग्निका तेज, उष्णत्व और प्रकाश सब जानते हैं ।

५ ब्राह्मण— ब्राह्मणमें ज्ञान और विज्ञानका बल रहता है ।

६ सूर्य— सूर्य तो सब तेजका केन्द्र है ही । इसके समान कोई तेजस्वी पदार्थ नहीं है ।

७ हस्ती— हाथीमें शरीरताका तेज होता है, उसकी शोभा महोत्सवोंमें दिखाई देती है, इसकी शक्ति भी बड़ी होती है ।

८ क्षीरी— यह नाम तरुण या व्याघ्रका है, यह बड़ा उग्र और तेजस्वी होता है ।

९ हिरण्य— सोनेका तेज सब जानते हैं ।

१० व्याघ्र— जल भी तेजस्वी होता है, 'सममें जीवन नहीं अवर्जित जल नहीं', ऐसा मायाका भी व्यवहार होता है । जलमें तेज होनेके कारण जीवनके लिये भी यह शब्द प्रयुक्त होता है ।

११ गौ— गौओंमें भी तेज है । पाठक भैरवा शैविय और गौओंकी चपलताका विचार करेंगे तो उनको गौओंके तेजका पता लग जायगा ।

१२ पुरुष— मनुष्यमें भी तेज होता है ।

१३ रथ, अश्व, घुष्य— इनके तेजका अनुभव सबको है । मनुष्योंमें जो श्रेष्ठ होता है उसको 'नरपद्म' अर्थात् 'मनुष्योंमें बैल' ऐसा कहते हैं । बैल बड़ा बलवान् और तेजस्वी होता है ।

१४ वायु, पर्जन्य— यद्यपि वायु अदृश्य है तथापि वह प्राणके द्वारा शरीरमें तेज स्थापित करता है, प्राणके बिना मनुष्य निरस्तैत्र बनता है । पर्जन्य जलके द्वारा सबको जीवन देता है ।

१५ क्षत्रिय— क्षत्रियमें अन्य मनुष्योंसे अधिक उग्रता और तेज होता है इसी कारण क्षत्रिय राज्यका शासन कर सकता है ।

१६ दुन्दुभी, अश्व— बोल बजते ही मनुष्योंमें बड़ा लज्जाह बहता है और घोडा भी बड़ा प्रभावशाली होता है ।

पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा कि इनमें

अलग अलग प्रकारका तेज है और ये सब प्रकारके तेज मनुष्यमें स्थिर होने चाहिये। भिन्न तेजोंकी कल्पना आनेके लिये देखिये—सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि इनमें तेज है, परंतु वह परस्पर भिन्न है। दृष्टक पदार्थके तेजमें भिन्नता है। बाघका तेज और गौका तेज परस्पर भिन्न है। मनुष्यको विचार करके इनके तेजोंको अपने अंदर धारण करना चाहिये। देखिये—

अग्निमें तेज है, उसकी गति उच्च दिशाकी ओर होती है, वह स्वयं जलकर दूसरोंको प्रकाशित करता है, वह सदा उग्र अवस्थामें रहता है, इसी प्रकार मनुष्यको अपनेमें तेज बढ़ाना चाहिये। अर्थात् मनुष्य तेजस्वी बने, उच्च अवस्थाकी ओर

अपनी प्रगति करे, स्वयं कष्ट सहन करके दूसरोंको प्रकाशित करे और सदा उग्र बना रहे। अग्निके तेजसे यह उपदेश मनुष्य ले सकता है। उसी प्रकार सब अन्य तेजोंके विषयमें जानना चाहिये। पाठक इस प्रकार विचार करके दृष्टककी तेजस्वितासे प्राप्त करने योग्य बोध लें और स्वयं तेजस्वी बनें।

इस अंगत्में दृष्टक पदार्थ मनुष्यको बोध देनेके लिये तैयार है, परंतु मनुष्य ही बोध लेनेके लिये तैयार होना चाहिये। यदि पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करेंगे तो उनको इस सूक्तसे बहुत बोध प्राप्त हो सकता है। बोध लेनेकी दृष्टिसे यह सूक्त बड़ा महत्वपूर्ण है।

यशस्वी होना ।

[सूक्त ३९]

(ऋषिः — अथर्वा घर्चस्कामः । देवता—स्वियिः, वृद्धस्पतिः ।)

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् ।

प्रसर्त्तान्मनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये

॥ १ ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्पशुस्विनं नमसाना विधेम ।

स नो राख राष्ट्रमिन्द्रजुतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम

॥ २ ॥

यश इन्द्रो यश अमिर्यशः सोमो अजायत । यश विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

अर्थ—(इन्द्रजुतं सहस्रवीर्यं सुभृतं) ईश्वरसे प्राप्त, सहस्रों वीर्योंसे युक्त, उत्तम माणूस, (सहस्कृतं हविः यशः चर्धतां) बलसे प्राप्त किया हुआ यशरूप मेरा यश बडे । इससे (दीर्घाय ज्येष्ठतातये) बड़ी श्रेष्ठताकी फैलानेवाली (चक्षसे) दृष्टि प्राप्त होनेके लिये (प्रसर्त्तान् हविष्मन्तं मा अनु वर्धय) प्रगति करनेवाले अन्नयुक्त मुझको अनुकूलतासे बढ़ा ॥ १ ॥

(यशोभिः यशसं यशस्विनं इन्द्रं) अनेक यशोंसे युक्त होनेके कारण यशस्वी प्रभुको (नमसाना नः अच्छ विधेम) नमस्कार करते हुए हमारे उदरके हेतुसे हम उत्तम प्रकार उरको पूजते हैं । (सः इन्द्रजुतं राष्ट्रं नः राख्य) यह तु प्रभुके द्वारा दिया हुआ राष्ट्र अथवा तेज हमें दे । (तस्य ते रातौ यशसः स्याम) उच्च तेरे दानमें हम यशस्वी होंगे ॥ २ ॥

(इन्द्रः यशः) प्रभु यशस्वी है, (अग्नि यशः) अग्नि यशस्वी है, (सोमः यशः अजायत) सोम भी यशस्वी हुआ है । (विश्वस्य भूतस्य यशः) संपूर्ण भूतमानके यशसे (अहं यशस्तमः अस्मि) मैं यशवाला हूँ ॥ ३ ॥

हजारों सामर्थ्य ।

मनुष्यको हजारों सामर्थ्य (सहस्रवीर्यं) प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि मनुष्यकी उन्नति सामर्थ्यसे ही होती है। सामर्थ्यहीन मनुष्य निकम्मा होता है। यह सामर्थ्य (सहस्कृतं) अपने बलसे ही प्राप्त करना चाहिये। दूसरेके बलसे प्राप्त हुई उच्च अवस्था उरका बल दूर होनेके पश्चात् स्वयं दूर

होगी, इस कारण अपना बल बढ़ाकर उससे अपने यशकी वृद्धि करनी चाहिये। यह यश (हविः यशः) इवनेके समान, यशस्वी यश है। अर्थात् सबकी मलाईके लिये आत्मसमर्पण करनेसे प्राप्त होनेवाला है। जब कोई मनुष्य सब जनताकी मलाईके लिये आत्मसर्वस्वका त्याग करता है, तब उसको (इन्द्रजुतं यशः) प्रभुसे यह यश प्राप्त होता है।

यशका स्वरूप ।

दीर्घाय ज्येष्ठतातये चक्षसे । (म० १)

‘ दीर्घ दृष्टि और ज्येष्ठताका विस्तार इस यशसे होता है । ’
संक्षिप्त दृष्टि यशकी हानि करनेवाली है और लघुता क्षीणत्वकी
चोख है । इस कारण यशके साथ दीर्घदृष्टि और ज्येष्ठता अवश्य
रहनी चाहिये अर्थात् वही यश प्राप्त करना चाहिये कि जिसके
साथ दीर्घदृष्टि और ज्येष्ठता रहती है ।

प्रभुकी भक्ति ।

यश प्राप्त होनेके लिये प्रभुकी भक्ति अवश्य करनी चाहिये—

यशस्थियं इन्द्रं नमसानां विधेम । (म० २)

‘ यशस्वी प्रभुकी नमस्कार करते हुए हम उसकी भक्ति
करें । ’ यह भक्ति जो करते हैं उनका अन्त करण शुद्ध और

प्रविष्ट होता है और वे यशके भागी होते हैं । सबसे प्रार्थना
करनी चाहिये कि—

नः राष्ट्रं राख्य । (म० २)

‘ हे प्रभो ! हमें राष्ट्र अथवा तेज दे । ’ हमें ऐसा राष्ट्र दे
कि जो हमारे यशवर्धन करनेमें सहायक होवे ।

इस जगत्में इन्द्र, अग्नि, सोम, भूतमात्र ये सब अपने अपने
यशसे यशस्वी हुए हैं उन सबका तेज प्राप्त होकर मैं यशस्वी
बनूँगा, यह इच्छा मनमें धारण करनी चाहिये । देखिये—

अहं यशस्तम अस्मि । (म० ३)

‘ मैं यशस्वी होऊँगा । ’ अर्थात् जिस प्रकार ये सब अपने
यशसे यशस्वी हुए हैं उस प्रकार मैं भी अपने तेजसे तेजस्वी
बनूँगा । इस प्रकारकी इच्छा हरएक मनुष्य अपने मनमें धारण
करे और अपने प्रयत्नसे उस अवस्था प्राप्त करे और चारों
पुरुषार्थ सिद्ध करे ।

निर्भयताके लिये प्रार्थना ।

[सूक्त ४०]

(ऋषिः — अथर्व । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोत ।

अभयं नोऽस्तुर्वृन्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषामयं नो अस्तु ॥ १ ॥

अस्मै ग्रामाय प्रदिशुधत्तं ऊर्जं सुभृतं स्वस्ति संविता नः कृणोत ।

अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मनुयः ॥ २ ॥

६४ अनमित्रं नो अघरादनमित्रं न उत्तरात् । इन्द्रानमित्रं नः पृश्नादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे द्यावापृथिवी । (इह नः अभयं अस्तु) यहाँ हमारे लिये अभय होवे । (सोमः सविता नः अभय
कृणोत) सोम और सविता हमारे लिये निर्भयता करे । (उर अन्तरिक्षं नः अभय अस्तु) यह तथा अन्तरिक्ष हमारे
लिये अभयदायी होवे । और (सप्त-ऋषीणां च हविषा नः अभयं अस्तु) सप्त ऋषियोंकी हविषे हमारे लिये अभय प्राप्त
होवे ॥ १ ॥

(सविता) सबकी उरपति करनेवाला देव (अस्मै नः ग्रामाय) इस हमारे नगर के लिये (चतस्रः प्रदिशः) चारों
दिशाओंमें (ऊर्जं सुभृतं स्वस्ति कृणोत) बल, ऐश्वर्य और कल्याण करे । (इन्द्रः नः अशत्रु अभयं कृणोत) प्रभु
हम सब के लिये शत्रु रहित निर्भयता करे । (राज्ञां मनुयः अन्यत्र अभियातु) राजाओंका कोप औरोंपर बल जावे ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) प्रभो ! (नः अघरात् अनमित्र) हमारे लिये नाचेसे शत्रु दूर होवे । (नः उत्तरात् अनमित्रं) हमारे
लिये उस भागसे निर्भयता होवे । (नः पृश्नात् अनमित्रं) हमारे लिये पीछेसे निर्भयता देवे और (नः पुरः अनमित्रं कृधि)
हमारे सामने निर्भयता कर ॥ ३ ॥

भूमि, अन्तरिक्ष, चुरोक, योग, सविता, सप्तऋषि, दिशा, इन्द्र, राजा, इन सबसे हम सब लोगोंको अमर्यता प्राप्त होवे । यह प्रार्थना इस सूक्तमें है । अमर्य प्रार्थना के लिये यह बड़ा उत्तम सूक्त है ।

ये सब देव अपने अन्दर भी हैं, सप्त इन्द्रियोंके रूपमें हमारे शरीरमें हैं, सूर्य आद्यमें है, चन्द्र मनम है, दिशाओंने कानोंमें स्थान लिया है, इन्द्र मनमें रह रहा है, भूमि स्थूल शरीरके घनभागमें है, अन्तरिक्षका अन्त करण बना है, चुरोकका

मस्त्रक बना है, इस प्रकार अपने शरीरमें अशरूपसे रहे ये देव हमारे शरीरके अन्दर निर्भयता स्थापित करें । अर्थात् शत्रुरूपी रोगों और दुविचारोंको दूर करके हमें अन्दरसे शत्रुहृत् करे । यह तब होगा जब कि हमारे अन्दरके ये देवताश शत्रुओंके वशमें न होंगे । अर्थात् सबके सब इन्द्रिय सत्कर्ममें प्रवृत्त हों और असन्मार्गसे निवृत्त हों । इस प्रकार विचार करनेसे निर्भय होनेका मार्ग ज्ञात हो सकता है । पाठक स्मरण रखें कि निर्भयता प्राप्त करनेके लिये आन्तरिक शुद्धता होनी चाहिये । निर्भयता अन्दरसे होनी है बाहरसे नहीं ।

अपनी शक्तिका विस्तार ।

[सूक्त ४१]

(ऋषिः — घृष्णा । देवता — चन्द्रमाः, षडुदैवतयम् ।)

मनसे चेतसे धिय आकृतय उत चित्तये । मत्स्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

अपानाय व्यानार्य प्राणाय भूरिघायसे । सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

मा नो हासिपुर्नर्षयो दैव्या ये तनुपा ये नस्तनुवस्तनुजाः ।

अमर्त्या मर्त्या अमि नः सचच्चमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मनसे, चेतसे, धिये) मन, चित्त, बुद्धि, (आकृतये चित्तये) संकल्प, स्मृति, (मत्स्यै, श्रुताय,) उत्त चक्षसे) मति, ध्वज और दर्शनशक्तिकी बुद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविषे यज्ञ करते हैं ॥ १ ॥

अपान, व्यान, (भूरि-घायसे प्राणाय) बहुत प्रकारसे धारण करनेवाले प्राण और (उरुव्यचे सरस्वत्यै) बहुत विस्तृत प्रभावशाली विद्यादेवीकी बुद्धिके लिये (वयं हविषा विधेम) हम हविषे यज्ञ करते हैं ॥ २ ॥

(ये तनुपाः) जो शरीरकी रक्षा करनेवाले हैं वे (ये नः तनवः तनु-जाः) जो हमारे शरीरमें उत्पन्न हुए हैं वे (दैव्याः आप्याः) वे दिव्य ऋषि (नः मा हासिपुः) हमें न छोड़ें । ये (अमर्त्या मर्त्या नः अमि सचच्च) अमर देव हम मरनेवालों से मिलकर रहें । (नः प्रतरं आयुः जीवसे घत्त) हमें अकृष्ट दीर्घ आयु जीवनके लिये धारण करें ॥ ३ ॥

अपनी शक्तियों ।

मन, चित्त, धारणावली बुद्धि, संकल्प शक्ति, स्मृति, मति, ध्वजशक्ति, दृष्टि, प्राण, अपान, व्यान, विद्या-ज्ञानविज्ञान इत्यादि अनेक शक्तियाँ मनुष्यके अन्दर हैं । इनका विकास करना चाहिये । मनुष्यका विकास तब ही होगा, जब इसकी इन शक्तियोंकी बुद्धि हो और वे शक्तियों प्रशस्ततम सत्कर्ममें लग सकें । प्रथम मन्त्रमें अन्त करणकी शक्तियाँ कहाँ हैं और ज्ञानेन्द्रियाका भी उल्लेख है । द्वितीय मन्त्रमें प्राणोंका वर्णन है प्राणोंका वर्णन है और विद्याका उल्लेख है । यद्यपि इन मन्त्रोंमें

कर्मदिव आदि अनेक शक्तियोंका उल्लेख नहीं है, तथापि उल्लिखित इन्द्रियशक्तियोंके अनुमचानसे अन्य इन्द्रियों, अवयवों और शक्तियोंका भी ग्रहण यहाँ करना उचित है । अर्थात् अपने अन्दरकी संपूर्ण शक्तियोंका उत्कर्ष करनेका यत्न करना चाहिये ।

ऋषि ।

इस सूक्तके तीसरे मन्त्रमें ऋषियोंका निधित पता दिया है । इससे ऋषियोंका आश्रय कहाँ है इसका ज्ञान पता लग सकता है । देखिये—

तनुजाः तनुयाः दैव्याः ऋषयः । (मं० ३)
' शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरकी रक्षा करनेवाले ये इन्द्रिय रूपी ऋषि यहाँ हैं । ' और यह शरीर ही उनका आश्रय है । इस आश्रयमें ये रहते हैं, और यहाँका सब कार्य करते हैं । ये इन्द्रिय शक्तियाँ—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः । (मं० ३)
' ये इन्द्रियरूपी ऋषि देवी शक्तिसे युक्त हैं और इनमें जो शक्ति है, वह अमर शक्ति है । ' ये देवी शक्तियाँ मनुष्यके शरीरमें विकसित हों और इन विकसित शक्तियोंके साथ मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त करे, इस विषयमें उपदेश देखिये—

अमर्त्याः दैव्याः ऋषयः नः मर्त्यान् अभि सचध्वम् । (मं० ३)

॥ यहाँ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

परस्परकी मित्रता करना ।

[सूक्त ४२]

(ऋषिः — भृगुर्गिरा- परस्परं चित्तैकीकरणकामः । देवता — मनुष्यः ।)

अव ज्यामिन् घन्वनो मनुं तनोमि ते हृदः । यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविव सचावहै ॥ १ ॥
सखायाविव सचावहृा अव मनुं तनोमि ते । अधस्ते अश्मनो मनुमुपास्यामसि यो गुरुः ॥ २ ॥
अभि तिष्ठामि ते मनुं पाण्यं प्रपदेन च । यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (घन्वनः ज्यां हव) घनुष्यसे डारीकी उतारनेके समान (ते हृदः मनुं अव तनोमि) तेरे हृदयसे क्रोधको हटाता हूँ । (यथा संमनसौ भूत्वा) जिससे एक मनवाले होकर (सखायाविव सचावहै) मित्रके समान हम परस्पर मिलकर रहें ॥ १ ॥

(सखायाविव सचावहै) हम दोनों मित्र बनकर रहें इसलिये (ते मनुं अव तनोमि) तेरा क्रोध हटाता हूँ । (यः गुरुः) जो बड़ा क्रोध है उस (ते मनुं) तेरे क्रोधको (अश्मनः अधः उप अस्यामसि) पत्थरके नीचे दबा देते हैं ॥ २ ॥

(ते मनु पाण्यं प्रपदेन च अभि तिष्ठामि) तेरे क्रोधको एड़ीसे और पाँवकी ठोकरों में दबाता हूँ । (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल हो और (अवशः न अचादिषः) तू परतंत्रताकी बात न बहे ॥ ३ ॥

क्रोध

क्रोध ऐसा है कि, वह दिलोकी फाट देता है, विरोध उत्पन्न करता है और द्वेष बढाता है । इस क्रोधको मनसे हटाना चाहिये । जिस समय क्रोध हट जाता है, उस समय दिल साफ हो जाता है और परस्पर मेल होनेकी सभावना होती है । इस लिये हर एक मनुष्यको उचित है कि, वह अपने मनसे क्रोधको इस प्रकार हटावे जिस प्रकार युद्धसमाप्तिके समय वीर पुरुष अपने घनुष्यसे रस्सीको हटा देते हैं । क्रोधको दूर करके उस-

' ये अमर शक्तिसे युक्त दिव्य ऋषि अर्थात् इन्द्रिय शक्तियाँ हम सब मर्त्य मनुष्योंको चारों ओरसे प्राप्त हो । और—

प्रतरं आयुः जीवसे नः घत्त । (मं० ३)

' उत्तम आयु दीर्घ जीवनके लिये हमें प्राप्त हो । अर्थात् हमारी इन्द्रियोंमें वह देवी शक्ति उत्तम प्रकार कार्य करनेमें समर्थ होवे ।

उस ऋषि शब्द मनुष्य शरीरके इन्द्रियोंका वाचक है, दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुख (चार्गान्द्रिय) ये सात ऋषि हैं अथवा—त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि ये भी सात ऋषि हैं । इनमें देवी शक्ति है यह जानकर इनको देवतारूप बनानेका यत्न मनुष्य करे और सब प्रकारसे समर्थ होकर कृतकृत्य बने ।

को दूर हाँ दबाकर रखें, जिससे वह फिर अपने मन पर चढ़ न सके । यदि क्रोध फिर पास आने लगा, तो उसको ऐसी ठोकर मारनी चाहिये कि जिससे वह फिर ऊपर न चढ़ने पावे । मनुष्यको उचित है कि वह कभी क्रोधके आधान न होवे और क्रोधी बचन न बोले ।

इस प्रकार क्रोधको दूर करके शान्ति धारण करनेसे परस्पर मिलाप होता है और संगठन होनेसे शक्ति बढ जाती है ।

क्रोधका शमन ।

[सूक्त ४३]

(आपि: — भृग्यंगिराः परस्परं चित्तैकौकरणकामः । देवता — मन्युशमनम् ।)

अयं दुर्मो विमन्युकः स्वाय चारणाय च । मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति । दुर्मो पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

वि ते हनव्यां शरणि वि ते मुख्यां नयामसि । यथावशो न वादिपो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं दुर्मोः स्वाय चारणाय च विमन्युकः) यह दुर्म अपने लिये और अन्यके लिये भी क्रोधको हटाने-वाला है, (अयं मन्योः विमन्युकस्य) यह क्रोधके क्रोधको दूर करनेवाला और (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ १ ॥

(यः अयं भूरिमूलः) जो यह बहुत जड़वाला (समुद्रं अवतिष्ठति) समुद्रके समीप होता है (पृथिव्याः उत्थितः दुर्मोः) भूमिसे उगा हुआ दुर्म (मन्युशमनः उच्यते) क्रोधको शान्त करनेवाला कहा जाता है ॥ २ ॥

(ते हनव्यां शरणि वि ते मुख्यां नयामसि) तेरे हनुके आश्रयसे रहनेवाला क्रोधका चिह्न दूर करते हैं, (मुखां वि नयामसि) तेरे मुखमें जो क्रोध है उसको भी हम दूर करते हैं (यथा मम चित्तं उपायसि) जिससे तू मेरे चित्तके अनुकूल होगा और (अपशः न अवादिषः) परवश होकर क्रोधी भाषण न करे ॥ ३ ॥

दुर्म ।

यहां इस सूक्तमें दुर्मको क्रोध शान्त करनेवाला कहा है । यह खोजका विषय है । वैद्यकर्मणोमें दुर्मका यह गुण नहीं लिखा है । यदि वैद्यलोग इसका अधिक विचार करेंगे, और समुद्र तीर पर उगनेवाले दुर्म नामक पासही जड़ोंके रसमें यह गुण है, या और किस वनस्पतिमें यह गुण है इसका निश्चय करेंगे, तो क्रोधी मनुष्योंको शान्त खमावी बनानेका उपाय ज्ञात हो सकता है ।

कौशातकी सूय (कौ० सू० ४।१२) में “ अयं दुर्म इत्यौपधिषत् ” ऐसा कहा है । इससे पता लगता है कि समुद्र तीरपर उगनेवाले दुर्मका मूल निकालकर उसको छिरपर अपना शरीरपर धारण करने अपना रसके सेवन करनेका विधान इस सूक्तमें है । संभव है दुर्मही जड़ोंमें मस्तिष्कको शान्त करनेके द्वारा क्रोधको हटानेमें सहायक होनेका गुणधर्म हो । यह सब विधिपूर्वक करके देखने योग्य बात है । जो कर सकते हैं वे वैद्यकी सलाहसे करके अनुभव लें और अपना अनुभव प्रकाशित करें ।

रक्तस्त्रावकी औषधी ।

[सूक्त ४४]

(आपि: — विश्वामित्रः । देवता — यनस्पतिः, मन्त्रोक्तदेवता ।)

अस्याद् यौरस्यात् पृथिव्यस्याद् विश्वमिदं जगत् । अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वमास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अर्थ— (सीः अस्यात्) पुलोक ठहरा है, (पृथिवी अस्यात्) यह सब जगत् ठहरा है, (ऊर्ध्व-स्वप्नाः वृक्षाः अस्थुः) सबे सबे सोनेवाले वृक्ष भी ठहरे हैं । इसी प्रकार (अयं तव रोगः तिष्ठात्) यह तेरा रोग ठहरा जावे ॥ १ ॥

शतं यो मेपजानि ते सहस्रं संगतानि च । श्रेष्ठमास्त्रावमेपजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥२॥
रुद्रस्य मूर्धमस्पृश्वत्स्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनार्शनी ॥३॥

अर्थ— (ते या शत मेपजानि) तेरी जो सौ औषधियाँ और (सहस्र संगतानि च) हजारों उनके मत हैं उनमें यह (श्रेष्ठ मास्त्रावमेपज) सबसे श्रेष्ठ रक्षावक्रा औषध है, यह (वसिष्ठ रोगनाशन) सबको बतानेवाला और रोगका नाश करनेवाला है ॥ २ ॥

(रुद्रस्य = रुद्र + रस्य = मूर्ध) शब्द करनेवाले मेपका मूत्र अर्थात् वृष्टिरूपी जल (अमृतस्य नाभिः असि) अमृत रक्षा केन्द्र है । तथा (विषाणका नाम वा असि) यह विषाणका औषधी है जो (यातीकृतनार्शनी) बात रोगको दूर करनेवाली है और (पितृणां मूलात् उत्थिता) पितरोंकी अबसे अथवा कारणसे उत्पन्न होनेवाले आनुवंशिक रोगको रसावने-वाली है ॥ ३ ॥

रक्तसाव और घातरोग ।

त्रिष प्रकार घृष्टी और आकाश यथास्थानमें ठहरे हैं, त्रिष प्रकार वृष्ट ठहरे हैं, इसी प्रकार मनुष्यके रोग दूर आकर ठहरे अर्थात् हमारे पास न आवें ।

वैद्यशास्त्रमें सैकड़ों औषधियाँ हैं और हजारों प्रकार के उनके अनुपान हैं । इन सबमें रक्तसाव को दूर करनेवाला और सुख पूर्वक मनुष्यको रक्षनेवाला जो औषध है वह सबमें श्रेष्ठ है ।

जो अमृतका केन्द्र है और जो मेघसे वृष्टिद्वारा आता है, वह जलरूपी अमृतरस है, वह सबसे श्रेष्ठ है । विषाणका नामक औषधी घातरोगको दूर करती है और विषाणकासे आनेवाले

आनुवंशिक रोगोंका हटाती है ।

इसमें जलचिकित्सा और विषाणका नामक औषधासे चिकित्सा कहा है । आनुवंशिक घातरोग और रक्तसावका रोग दूर करनेके लिये यह उपाय करना उचित है ।

वृक्षोंकी निद्रा ।

प्रथम मंत्रमें "ऊर्ध्व-इव-पन्नाः वृक्षाः" कहा है । खड़े खड़े होते हैं । वृक्ष खड़े खड़े होते हैं, अर्थात् त्रिष समय नहीं होते उस समय जागते हैं । यदि खाना और जागना वृक्षोंका धर्म है, तो करना और आनंदित होना भा उनके लिये धर्म ही होगा । वृक्षोंमें मनुष्यवत् जीवन रहनकी बात यहाँ वेदने कही है । पाठक इसका विचार करें ।

दुष्ट स्वप्न ।

[सूक्त ४५]

(ऋषिः—अंगिराः प्राचेतसो यमश्च । देवता—दुष्यमनाशनम् ।)

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्त्वानि शंससि ।

परेहि न त्वां कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोपु मे मनः ॥ १ ॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपासिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः ।

अग्निर्विद्वान्यप दुष्कृतान्यशुंशान्यपरे असदु दधातु ॥ २ ॥

अर्थ—हे (मनःपाप) मनके पाप ! (परा अप इहि) दूर हट जा । (किं मशस्त्वानि शंससि) क्या तू मुझे बतौ कहता है । (परा इहि) दूर जा । (मेवा न कामये) तुमको मैं नहीं चाहता । (वृक्षां वनानि सं चर) तूओं और वनोंमें घूमकर । (मे मनः गृहेषु गोपु) मेरा मन मेरे घरों और गोशेमें है ॥ १ ॥

(यत् अवशसा निःशसा पराशसा) जो पाप पापकी हिंसासे, निर्दयताकी हिंसासे और दूरीकी हिंसासे जपता

७ (अथर्व भाष्य, पाण्ड ९)



यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि । प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पार्त्वंहंसः ॥ ३ ॥

(यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम) जो जागते हुए और सोते हुए हमने किया है (अग्निः विश्वानि अजुष्टानि दुष्कृतानि) प्रकाशका देव सब अकर्णाय दुष्कर्मोंको (अस्मत् आरे अप दधातु) हम सबके दूर रखे ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते इन्द्र) ज्ञानी प्रभु ! (यत् अपि मृषा चरामसि) जो भी कुछ पाप अपत्याचरणसे हम करें, (अंगिरसः प्रचेताः) सबके अंगरसोंके समान व्यापक विशेष ज्ञानी देव (नः दुरितात् अंहसः पातु) हमें दुष्टाचारोंके पापसे बचावे ॥ ३ ॥

पापी विचार ।

पाप विचार मनसे इष्टानेका उपदेश इस सूक्तमें कहा है ।
गृहस्थाका मन—

गृहेषु गोषु मे मनः । (म. १)

“घरमें और अपने गौ आदिमें रहना चाहिये ।” अन्य बातोंमें और कुविचारोंमें मन जानेसे दुष्ट स्वप्न आते हैं और उससे कष्ट होते हैं । इस लिये मनुष्यको उचित है कि वह अपनेको शुभ संस्कारयुक्त बनावे और अपने परिवारके हितमें दक्ष रहे । यदि कुविचार मनमें आ जाये, तो उसको कहना चाहिये कि—

मनस्पाप । परा अपेहि, किं अशस्तानि शंससि ?
परेहि, न त्वा कामये । (म. १)

“हे पापी विचार । दूर हट, मुझे तू बुरी बातें कहता है, चला जा, मैं तेरी इच्छा नहीं करता ।”

इस प्रकार उस पापी विचारको कष्ट कर उसको दूर करना चाहिये । पापी विचार बार बार मनमें घुसने लगते हैं, परन्तु उनको घुसने देना उचित नहीं है । अपने अंदर कौनसा विचार

आवे और कौनसा न आवे इसका निश्चय स्वयं अपने आपको करना चाहिये । और यह शरीर अपना कार्यक्षेत्र है, यह जानकर उस कार्यक्षेत्रमें शुभ विचारोंकी परंपरा ही स्थिर रखनी चाहिये । सबको विचार करना चाहिये कि—

यत् जाग्रतः स्वपन्तः उपारिम । (म. २)

“जो जागते हुए और सोते हुए हम करते हैं” वही स्वप्नमें परिणत होता है, इस लिये जाग्रतिके हमारे सब व्यवहार उत्तम हुए, तो स्वप्न निर्विकल ठीक होंगे । और किसी प्रकार बुरे स्वप्न नहीं आवेंगे और मनमें कभी अशुभ संस्कार नहीं पड़ेंगे । इसी प्रकार—

मृषा चरामसि । (म. ३)

“असत्य व्यवहार करेंगे ।” तो उसका भी बुरा परिणाम होगा । सब कुसंस्कार असत्यके कारण उत्पन्न होते हैं । यदि मनुष्य असत्यको छोड़कर सत्यका आश्रय करे तो वे निःशङ्क सुरार्थसे बच सकते हैं ।

पाठक इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके बोध प्राप्त करें ।
अब इधो विषयका दूसरा सूक्त देखिये—

[सूक्त ४६]

यो न जीवोसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न । वरुणानी तै माता यमः पितारर्कुरामासि ॥ १ ॥

विश्व तै स्वप्न जनित्र देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तर्कोऽसि मृत्युरसि ॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विश्व स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

अर्थ—हे स्वप्न ! (य) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है, वह तू (देवानां अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है । (ते) तेरी (वरुणानी माता) वरुणानी माता हैं और (यमः पिता) यम पिता है । (अरकः नाम असि) तू अरक नामवाला है ॥ १ ॥

हे स्वप्न ! (ते जनित्र विश्वः) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू (देवजामीनां पुत्रोऽसि) देवोंकी परिणयिका पुत्र है । और (यमस्य करणः) यमके कार्योंका साधक है । तू (अन्तर्कः असि) अंत करनेवाला है । (मृत्युः असि) तू मारनेवाला है । हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस वृत्तको (तथा) वैसा उगरो जैसा (स विश्व) हम जानते हैं । (सः) वह तू हे स्वप्न ! (नः दुष्वप्न्यात्) बुरे स्वप्नसे हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

यथा कलां यथा शुफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुष्स्वप्नं सर्वं द्विषते सं नयामसि

॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा कलां यथा शुकं) जिस प्रकार कला अर्थात् सोलहवां भाग और जिस प्रकार शुक अर्थात् आठवां भाग (यथा ऋणं सं नयन्ति) ऋण के अनुसार देते हैं (एवा सर्वं दुष्स्वप्नं) इस प्रकार सब दुष्ट स्वप्न हम (द्विषते सं नयामसि) शत्रु के प्रति घृणाते हैं ॥ ३ ॥

दुष्ट स्वप्न यमका पुत्र ।

देवानां— यही देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है । स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है । क्योंकि आप्त अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वासनाओंसे उत्पन्न होता है । हमारे अन्दर वासनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वासनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यही अमृत गर्भसे कहा गया है ।

अरुहः— पीछा देनेवाला । हिंसक । ' ऋगतिर्हिंस-
नयोः ' से बना है । तै ब्रा ३।२।१४ के अनुसार अरुह नामवाला अक्षर ।

धृक्कास्त्री— वक्त्र अर्थात् अंधकारकी पत्नी ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है । अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है । अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाती है ।

दुष्ट स्वप्नका मृत्युसे संबंध है इसलिये पूर्व सूक्तमें कहा है कि दुष्ट स्वप्नसे बचनेके लिये विचारोंकी शुद्धता करनी चाहिये । पाठक इस बातका संबंध यही अवश्य देखें ।

इस मंत्रमें स्वप्नको देव पत्नियोंका पुत्र कहा गया है । पूर्व मंत्रकी टिप्पणीमें हमने स्मरकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वासनाओंसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्रमें ' देव जामीनां पुत्रः असि ' से की गई है । देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियां इन्द्रिय विषयजन्य वासनायें हैं । उनका स्वप्न पुत्र है । यहीवर विशेष बात कही गई यह यह कि स्वप्नकी यमका करण बताया गया है । पाणिनि मुनिने करणका लक्षण अष्टाध्यायीमें किया है कि— ' साधकतमं ' (अष्टा. १।४.४२) अर्थात् जो कार्य साधनेमें समीपतम साधन है वह करण है । कार्यसाधक सब साधनोंमें जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है । इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ, कि यमके मारनेके कार्यमें स्वप्न सबसे अधिक आवश्यक साधन है । पाठक स्वप्नके इस विशेषणसे सबकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं ।

इसी मंत्रके आशुकी ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दभेदसे कहा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भं यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।

स मम यः पापस्तद्विषते प्र हिष्मः ।

मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेमुत्तम ॥

अर्थ. १९।५।३

हे (देवानां पत्नीनां गर्भं) देवोंके पत्नियोंके गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न ! (यो भद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंश है (सः) वह अंश (मम) मेरा होवे । (यः पापः) और जो तेरा पापी अनिष्टकारी अंश है (तत्) उस अंशकी (द्विषते) द्वेष करनेवालेके प्रति (प्र हिष्मः) हम भेजते हैं । (तृष्टानां) तृप्ति—लोभियों—कूटोंके बीचमें तू (कृष्ण-शकुनेः) काले पक्षीके—कौएके (मुखं) मुखकी तरह (मा असि) हमारे लिये बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार लोभियोंकी वा कूटोंके लिए कौएका मुख अनिष्टकारी होता है उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो ।

विषय ते स्वप्न जनित्रं प्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य

करणः ।

अर्थ. १९।५।१

हे स्वप्न ! (ते जनित्रं विषय) तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू (प्राह्याः पुत्रः असि) प्राह्याका पुत्र है और (यमस्य करणः) यमके कार्यका साधक है ।

इस मंत्रमें स्वप्नको प्राह्याका बेटा कहा गया है । गठिया आदि शरीरके जकड़नेवाले रोग प्राह्या कहलाते हैं । उन रोगोंके कारण शरीरमें पीड़ा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नकीसे अवस्था बनी रहती है । अतएव स्वप्नको प्राह्याका पुत्र कहा है । यमस्य करणकी व्याख्या ऊपर कर आए हैं ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अर्थ. १९।५।२, १९।५।३

हे स्वप्न ! तू (अन्तःका असि) प्राणान्त करनेवाला है । तू (मृत्युः असि) मारनेवाला है ।

निद्रा बाधकर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वास्थ्य बिगड़कर अंतमें मृत्यु ही जाती है, अतएव स्वप्नकी यही अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्भृत्या-

पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ।

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्य स नः स्वप्न

दुष्पन्थात् पाहि ॥ अथर्व. १६।५।४

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । वहीपर ऐसा ही मंत्र आया है । इस मंत्रमें स्वप्नको निर्भृतिका पुत्र कहा गया है । निर्भृतिये स्वप्नकी उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि निर्भृति अर्थात् कष्ट, दुःख आदिसे मनुष्यको निद्रा नहीं आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्थामें कि गाढ़ निद्राका अभाव होता है । और कष्टादिकी दशामें मनुष्यको गाढ़ निद्रा नहीं आती । इसी अभिप्रायसे स्वप्नको निर्भृतिका पुत्र कहा है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रमभ्युत्थाः

पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।

अन्तकोऽसि० । अथर्व. १६।५।४ वत् ॥ अथर्व. १६।५।५

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको अभुति अर्थात् अनेश्वर्य-दारिद्र्यका पुत्र कहा है । दारिद्र्यताके परितापमें भी मनुष्यको निद्रा नहीं आती । इस प्रकार गरीबीमें भी स्वप्न (वास्तविक निद्राका भोग) की उत्पत्ति है । शेष व्याख्या पूर्ववत् ही समझनी चाहिए ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्भृत्याः

पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।

अन्तकोऽसि० ।

अथर्व. १६।५।६

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको निर्भृतिका पुत्र कहा गया है । निर्भृतिका अर्थ है ऐश्वर्य-सम्पत्तिका त्रिकल जाना-नष्ट हो जाना । सम्पत्तिशालीकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेसे उसे भी निद्रा नहीं आती । वह सुखही निद्रासे नहीं हो सकता । इस प्रकार संपत्तिविनाशका भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं पराभृत्याः

पुत्रोऽसि यमस्य करणः ।

अन्तकोऽसि ॥

अथर्व. १६।५।७

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको पराभृतिका पुत्र कहा गया है । पराभृतिका अर्थ है परामव अर्थात् द्वार जाना, तिरस्कारको प्राप्त होना । परामवसे वा तिरस्कारसे मनुष्यको इतना मानसिक कष्ट होता है कि उसके लिए निद्रा हराम हो आती है । और इस प्रकार पराभृतेसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं देवजार्मीनां

पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥

अथर्व. १६।५।८

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं । तू देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है । इस मंत्रका भाव हम पूर्व दर्शा चुके हैं । देवपत्नियोंका पुत्र स्वप्न जिस प्रकार है वह वही विद्यारूपसे दर्शाया है ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १९ वें काण्डका ५ वा सूक्त संपूर्ण यम व स्वप्न विषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है । इस सूक्ते व इससे व दिए गए पाइलेके मंत्रोंसे यम व स्वप्न-का संबन्ध स्पष्ट होता है ।

वह अपने पिता यमके कार्योंका निकटतम साधक है । इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तविक निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है, तथा उससे क्या हानियाँ होती हैं, स्वप्न-यमका करण किस प्रकार है, इत्यादि बातोंका संक्षेप इस सूक्ते स्पष्ट रूपसे हमें देखनेको मिलता है ।

यह सूक्त बहुतसा दुर्बोध है, तथापि अथर्ववेदके अन्य सूक्तोंके साथे इसका विचार यही करनेसे इसकी दुर्बोधता किंचित् कम हुई है । तथापि यह खोजका विषय है । जो पाठक स्वप्न-का विचार करनेवाले हैं और मनकी शक्तिका मनन करते हैं, वे इस सूक्ते विषयकी अधिक खोज करें ।

अपनी रक्षाकी प्रार्थना ।

[सूक्त ४७]

ऋषिः — अंगिराः प्राचेतसः । देवता — १ आग्निः, २ विश्वेदेवा, ३ सुधन्वा ।)

आग्निः प्रातःसवने पात्वसान् वैश्वानरो विश्वकृत् विश्वशंभूः ।

स नः पावुका द्रविणे दधात्वापुष्मन्तः सहमक्षाः स्याम

॥ १ ॥

अर्थ — (वैश्वानरः) विश्वका चालक, (विश्वकृत्) विश्वका निर्माण कर्ता, (विश्वशंभूः) विश्वको धारित देनेवाला, (आग्निः) प्रकाश देव (प्रातःसवने अस्मान् पातु) प्रातःकालके यज्ञमें हमारी रक्षा करे । (सः पावुकः नः द्रविणे दधातु) वह पवित्र करनेवाला हम सबको घनके बीच रखे । और इससे हम (आयुष्मन्तः सहमक्षाः स्याम) दीर्घ आयु-वाले और साथ भोजन करनेवाले होंगे ॥ १ ॥

विश्वे देवा मरुत इन्द्रो अस्मान्स्मिन् द्वितीये सर्वे न जेह्युः ।

आयुष्मन्तः प्रियमैषां वदन्तो व्यं देवानां सुमती स्याम

॥ २ ॥

इदं तृतीयं सर्वं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।

ते सौधन्वनाः स्वस्तिनश्चानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ—(विश्वे देवाः मरुतः इन्द्रः) सब देव, मरुत और इन्द्र ये सब (अस्मान् अस्मिन् द्वितीये सप्तमे न जेह्युः) हमको इस द्वितीय यज्ञमें न बुर करें । (आयुष्मन्तः) दीर्घ आयुवाने और (प्रियं घृन्तः) प्रिय बोलनेवाले होकर, (व्यं देवानां सुमती स्याम) हम इन देवोंकी सुमतिमें रहें अर्थात् उनका उत्तम आशीर्वाद हमें मिले ॥ २ ॥

(ये चमसं परयन्त) जो चमसाहो हवनके लिये प्रेरित करते हैं (कवीनां अृतेन) उन कवियोंके शालपालनसे (इदं तृतीयं सर्वं) यह तृतीय यज्ञ भाग होता है । (ते सौधन्वना स्वस्तिनश्चानाः) वे उत्तम धनुष्य धारण करनेवाले वीर आमाका तेज प्राप्त करते हुए (नः स्विष्टिं घस्य अभि नयन्तु) हमारे उत्तम फलके प्रति लें जावें ॥ ३ ॥

ईश्वरके गुण ।

४ अग्निः = प्रकाश देनेवाला, चेतना देनेवाला देव ।

इस सूक्तके प्रथम मन्त्रमें ईश्वरके गुणबोधक शब्द हैं जो विचार करने योग्य हैं—

१ विश्वानरः = सब विश्वका बालक जो सब विश्वमें रहकर विश्वका आगे बढ़ाता है ।

२ विश्वकृत् = सब विश्वका बनानेवाला, जगत्का निर्माणकर्ता,

३ विश्व-शंभूः = जिससे विश्वको सुख और शान्ति मिलती है,

ये सब शब्द और विशेषत पहिले तीन शब्द सबके निर्माता एक प्रभुके चोतक हैं । यह ईश्वर हम सबको रक्षा करे, उसकी कृपासे हमारी आयु बढ़े और हमारी मंगलछाया सिद्ध होवे । हम आपसमें (प्रिय घृन्त) प्रिय भाषण करें और ऐसा आचरण करें, कि जिससे (व्यं देवानां सुमती स्याम) हम देवोंके उत्तम आशीर्वाद प्राप्त करें, हमारे विषयमें देवोंकी उत्तम सुधि स्थिर होवे और (स्वस्तिनश्चानाः) हमारी आरामा प्रकाशित होवे ।

इस सूक्तका यह उत्तम उपदेश पाठक नित्य स्मरणमें रखें ।

कल्याण प्राप्तिकी प्रार्थना ।

[सूक्त ४८]

(कृषि — अंगिराः प्राचेतसः । देवता — मन्योन्ताः ।)

इयेनोसि गायत्र्यच्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योद्यच्चि स्वाहा ॥ १ ॥

असुरोसि जगच्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योद्यच्चि स्वाहा ॥ २ ॥

पृषासि त्रिष्टुप्छन्दा अनु त्वा रमे । स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योद्यच्चि स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—दे देव । (गायत्रे-छन्दा इयेनः अस्ति) सबकी प्राण रक्षाका लेख धारण करनेवाला इयेनके समान गति-शील तू है । इसलिये (रम्य अनु त्वा रमे) तेरे लिये हम सत्कारका प्रारम्भ करते हैं । (जगत्-छन्दा असुरो अस्ति) तू जगत्की मज्जाका छद्म धारण करनेवाला बड़ा कर्मकृत् तू है इसलिये (अनु) तेरे लिये हम इस कृष्ण प्रारम्भ करते हैं । (त्रिष्टुप्-छन्दाः पृषा अस्ति) तीनों-अक्षरम, अधिभूत और अधिदेवत सबकी-सायब्राह्मणका छन्द धारण करनेवाला तू महाबलवान् बलके समान सामर्थ्यशाली है । इसलिये (अस्य यज्ञस्य उद्यच्चि) इस कृष्ण उत्तम यज्ञ में तू (मां वयस्ति सं वहा) मुझे ऐश्वर्यके भजन, (स्व-आ-हा) मैं अपनी शक्ति सबकी मज्जारके लिये लागू करता हूँ ॥ १-३ ॥

मेघोंका संचार ।

[सूक्त ४९]

(श्रुति: — मार्ग्य । देवता — अग्निः)

नहि ते अग्ने तन्वः क्रूरमानंश्च मर्त्यः ।

कपिर्बभस्ति तेजं स्वं जरायु गौरिव

॥ १ ॥

मेघ इव वै सं च वि चोर्बग्यसे यदुत्तरद्रागुपरश्च खादतः ।

शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्क्षून् बभस्ति हरितेभिरासभिः

॥ २ ॥

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इपिरा अनर्तिषुः ।

नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरु रेतो दधिरे सूर्यश्रितः

॥ ३ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) प्रकाश स्वरूप देव ! (मर्त्यः ते तन्वः क्रूरं नहि आनंश्च) कोई मनुष्य तेरे शरीर की कूरता को नहीं स्वीकार कर सकता । जिस प्रकार (कपिः तेजं स्वं बभस्ति) क नाम उदकका पान करनेवाला मेघ प्रकाशको धारण करता है और (गौः स्वं जरायु इव) जिस प्रकार अपनी जरायुको गौ धारण करती है ॥ १ ॥

(मेघ इव वै) निश्चयपूर्वक मेघोंके समान तू (स अच्यसे) इच्छा होता है और (च वि अच्यसे) फैलता है । (यत् उत्तरद्रौ खादतः उपरः च) और उत्तम वनमें घास खाते हुए ठहरता है । (शीर्ष्णा शिरः अप्ससा अप्सः अर्दयन्) शिरसे शिरको और रूपसे रूपको दबाता हुआ (हरितेभिः आसभिः अंशून् बभस्ति) हरिद्वर्णके सुबोधि किरणोंका धारण करता है ॥ २ ॥

(सुपर्णाः आखरे द्यवि वाचं उप अक्रत) अनेक किरण इस खोखले आकाशमें शब्द करते हैं और (कृष्णाः इपिरा अनर्तिषुः) जलका आकर्षण करनेवाले गतिमान किरण यहाँ नाच रहे हैं । (यत् उपरस्य निष्कृतिं नि नियन्ति) जब ठहरनेवाले मेघकी निष्कृति अर्थात् दृष्टिपूर्ण परिणामको नियंत्रित करते हैं, जब वे (पुरु रेतः दधिरे) बहुत जल धारण करते हैं ॥ ३ ॥

यह सूक्त अत्यंत दुर्बोध है, परंतु निम्नलिखित भावार्थके अनुसंधानसे कुछ भाव पाठक जान सकते हैं—

‘हे ईश्वर ! जिस समय तू क्रूर होता है, उस समय तेरे समुच्च कोई भी मनुष्य ठहर नहीं सकता, तेरा क्रोध इतना असह्य है । काला मेघ भी प्रकाशको धारण कर सकेगा, अथवा गौ भी अपनी जरायुको खा जायगी, परंतु मनुष्य ईश्वरका कोप होनेपर क्षणमात्र भी ठहर नहीं सकता ॥ १ ॥

जिस प्रकार मेघ या बंदरे किसी समय इच्छु होकर और किसी किसी समय अलग अलग होकर उपत्राक भूमिपरका घास खाते हैं, और किसी किसी समय अपने शिरसे दूसरेके शिरको

टकराते हैं और अपने शरीरसे दूसरेको घर्षण भी करते हैं और इस प्रकारकी लीला करते हुए घास खाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी आपसमें मिलते और कभी लड़ते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, तथापि ईश्वरके क्रोधके समुच्च कोई ठहर नहीं सकता ॥ २ ॥

ईश्वरकी कृपासे ही सूर्यकिरण सब जगत्तमें नाच रहे हैं और जलका आकर्षण करते हुए वेगसे आ रहे हैं, यही मेघोंको बनाते हैं और उनसे वृष्टि करते हैं तब सब जगत्को शान्त करनेवाला जल पर्याप्त प्रमाणमें सबको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार परमेश्वरके सामर्थ्यका ध्यान करना योग्य है ।

धान्यकी सुरक्षा ।

[सूक्त ५०]

(ऋषिः — अथर्वा अमयकाम । देवता — अग्निवै ।)

हृतं तर्दं समृद्धमासुमर्षिना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् ।

यवान्नेददानपि नष्टं सुप्रमथामपं कणुतं धान्यापि ॥ १ ॥

तर्दं है पतङ्गं है जम्बु हा उपकस ।

प्रमेवासांस्थितं हविरनन्दन्त इमान् यवानर्हिसन्तो अपोदित ॥ २ ॥

तर्दापते वषापते तर्दजम्भा आ शृणोत मे ।

य आरण्या व्यद्विरा ये के च स्थ व्यद्विरास्तान्त्वर्नान् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अग्निवै) ऋषिदेवो ! (तर्दं समक आसु हत) नाश करनेवाले और भूमिमें बिल करके रहनेवाले चूहेको मारो । उसका (शिरोःछिन्तं) सिर काटो । (पृष्टी अपि शृणीत) उसकी पीठ तोड़ो । वे चूहे (यवान् न इत् अदान्) जो की कमी न खावें, (मुख अपि नष्ट) उनका मुख बंद करो, (अथ धान्याय अमय कणुतं) और धान्यके लिये निर्भयता करो ॥ १ ॥

(हे तर्दं) हे हिंसक ! (हे पतंग) हे शलम ! (हा जम्बु, उपकस) हे वध और दुष्ट ! (प्रमेवा इव असंस्थित हविः) मद्या जिस प्रकार असंस्कृत हविको छोड़ता है, उस प्रकार (इमान् यवान् अनन्त अर्हिसन्ताः) इन जोको न खाते हुए और न नष्ट करते हुए (अपोदित) हम दूर हट जाओ अर्थात् इसको छोड़ दो ॥ २ ॥

हे (तर्दापते) मद्या हिंसक ! हे (वषापते) शलमा ! हे (तर्दजम्भा) तोक्ष्ण दाववाले ! (मे आशृणोत) मेरा माधन सुनो । (ये आरण्याः व्यद्विरा) जो जगली और विशेष खानेवाले हैं और (ये के च व्यद्विरा स्थ) जो कोई मक्षक हैं, हम (तान् सर्वान् जम्भयामसि) उन सबका नाश करते हैं ॥ ३ ॥

"धान्यके नाशक जीव ।

चूहे, पतङ्ग, शलम आदि जन्तु ऐसे हैं कि जा धान्यका नाश करते हैं, पीछोंको नष्ट करते हैं और शलम तो ऐसे हैं कि जो करोड़ोंकी संख्यामें इकट्ठे मिलकर आते हैं, धान्यों और शर्षप पर घावा करते हैं और उसका नाश करते हैं । इनसे धान्यादिका बचाव करना चाहिये । इसलिये चूहों और शलमोंको मारना चाहिये ऐसा प्रथम मन्त्रमें कहा है ।

इस सूक्तमें इनका नाश करनेकी विधि नहीं कही है, केवल नाश करना चाहिये और धान्यका बचाव करना चाहिये इतना ही कहा है । यदि किसी स्थानपर इनके नाश करनेकी विधि मिल जाय, तो किसानोंका बहुत लाभ होगा । चूहे भी हजारोंकी संख्यामें आकर खेतोंका नाश करते हैं और शलम तो करोड़ोंकी संख्यामें आते हैं । यदि कोई शोधक इनके नाशका उपाय निकाल, तो जगत् पर बड़ा उपकार हो सकता है ।

अन्तर्वाह्य शुद्धता ।

[सूक्त ५१]

(ऋषिः — शन्ताति । देवता — आप, ३ चरणः ।)

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यह् सोमो अति द्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

अर्थ— (वायोः पवित्रेण पूतः) वायुके पवित्रांशके साधनद्वारा शुद्ध हुआ (प्रत्यह् अति द्रुतः सोमः) प्रत्यक्षाना हुआ सोम (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्र शक्तिका योग्य मित्र है ॥ १ ॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतम्भिः पुनन्तु ।

विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाम्यः शुचिरा पूत एमि ॥ २ ॥

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याः क्षरन्ति ।

अचिरया चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिपः ॥ ३ ॥

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— (मातरः आपः अस्मान् सूदयन्तु) माताके समान हितकारी जल हमें शुद्ध करे । (घृतम्भिः नः घृतेन पुनन्तु) पवित्र करनेवाला जल हमें जलके द्वारा पवित्र करे । (देवीः हि विश्वं रिप्रं प्रवहन्ति) दिव्य जल सब दोष बहा देता है, (आभ्यः उत् इत् शुचिः पूतः मा एमि) इनसे ही शुद्ध और पवित्र होकर मैं भागे चलता हूँ ॥ २ ॥

हे वरुण ! (मनुष्याः यत् किंच इदं अभिद्रोहं) साधारण मनुष्य जो कुल भी दुराचार (दैव्ये जने क्षरन्ति) दिव्यजनोंके विषयमें करते हैं, (च इत् अचिरया तव धर्मे युयोपिम) और जो बिना जानते हुए तेरे बताये धर्मको तोड़ते हैं, हे देव ! (नः तस्मात् एनसः मा रीरिपः) हम सबको उस पापसे नष्ट मत कर ॥ ३ ॥

सोमका महात्म्य ।

द्रोह न करना ।

सोमका वर्णन प्रथम मन्त्रमें है । यह सोम प्रथमतः छाना जाता है, पश्चात् उसको हवा देनेके लिये एक बर्तनमें दूसरे बर्तनमें किया जाता है; जब इस प्रकार यह छिद्य होता है, तब यह अपने अन्दर रहनेवाली इन्द्र शक्ति को बढानेवाला होता है । अर्थात् इसके पीनेसे शरीरकी इन्द्रशक्ति बढती है ।

जलका महात्म्य ।

द्वितीय मन्त्रमें जलका महात्म्य कहा है । जल प्राणियोंको शान्ति देता है, पवित्र करता है, शरीरके सब दोषोंको दूर करता है और अन्तर्भाग शुद्ध करनेके द्वारा बड़ा आरोग्य देता है ।

तृतीय मन्त्रमें कहा है, कि कोई मनुष्य किसीका द्रोह और अपराध न करे । न जानते हुए भी जो द्रोह हुआ हो, उसके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करके क्षमा मागनी चाहिये ।

इन तीन मंत्रोंमें शुद्धि द्वारा शक्तिवृद्धि करनेका उपदेश है । सोम शुद्ध होनेसे वह इन्द्रशक्ति को सहायता करता है, जल शुद्धता करके आरोग्य देता है और अहिंसा दृष्टिसे आत्मशुद्धि होकर आत्मिक बल बढ जाता है । तीनों मंत्रोंका यह आशय देखने योग्य है । शुद्धि द्वारा बलकी वृद्धि होती है यह सबका तात्पर्य है ।

॥ यहाँ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

सूर्य-किरण-चिकित्सा ।

[सूक्त ५२]

(ऋषिः — भागलिः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् । आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

अर्थ— (आदित्यः विश्वदृष्टः) सबका आदान करनेवाला, सब त्रिषको देखते हैं और ओ (अ-दृष्ट-हा सूर्यः) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला सूर्य (रक्षांसि निजूर्वन्) राक्षसोंका नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः पुरः) पर्वतोंसे आगे (दिवः उत् पति) गुलोकमें उभर आता है, अपत्ति उदित होता है ॥ १ ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मुगासो अविक्षत ।

न्यूष्टमयो नदीनां न्यूष्टां अलिप्सत

॥ २ ॥

आयुर्देद विपश्चित् भुतां कर्णस्य वीरुषम् ।

आभारिपं विश्वमेपजीमुस्यादृष्टान् नि शमयत्

॥ ३ ॥

अर्थ— (गावः गोष्ठे नि असदन्) गौवं गोशालामें ठहरी हैं । (मुगासः नि-अविक्षत) मृग अपने स्थानमें प्रविष्ट हुए हैं । (नदीनां ऊर्मयः नि) नदियोंकी लहरें चली गई और अब वे (अदृष्टाः नि अलिप्सत) अदृष्ट होनेके कारण उनकी प्राप्तिकी इच्छा की जाती है ॥ २ ॥

(कर्णस्य आयुः-दद) रोगीको आयु देनेवाली, (विपश्चित् भुतां वीरुषं) यदि बढ़ानेवाली षडिध औषधि (विश्वमेपजीं आ आभारिपं) सब रोगोंकी औषधियोंमें मिले प्राप्त किया है और (अस्य अदृष्टान् नि शमयत्) इसके अदृष्ट दोषोंको दूर करते हैं ॥ ३ ॥

सूर्यका महत्त्व ।

इस सूक्ते प्रथम मंत्रमें सूर्यका महत्त्व वर्णन किया है । 'सूर्ये' सब जलरसोंका आदान करता है, इसलिये वह 'आविश्य' कहलाता है । (विश्व-दृष्टः) उसको सब देखते हैं, वह आँखोंसे प्रत्यक्ष दिखाई देता है । वह सूर्य (अ-दृष्ट-दृष्ट) अदृष्ट दोषोंका नाश करनेवाला है । शरीरमें अथवा जगत्में जो रोग-बीज, दोष और हानिकारक रोगमूल हैं, उनको सूर्यके किरण नाश करते हैं । (रक्षांसि-क्षरांसि-निजृघ्नन्) राक्षसों अर्थात् क्षीणता करनेवाले रोगजन्तुओंका नाश करता है । इस प्रकारका यह सूर्य प्रतिदिन सबको प्राप्त होता है । सूर्यके ये गुण सौर चिकित्सा करनेवालोंको स्मरणमें रखने चाहिये ।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि दिनमें गौवं प्रपण करती हैं और रात्रीमें गोशालामें आकर निवास करती हैं । मृग भी इसी प्रकार विधामें लिये अपने स्थानमें आते हैं । नदीकी लहरें भी कभी बेगमें चरती हैं, तो दूसरे क्षणमें चली जाती हैं । अर्थात् इस जगत्में कोई अवस्था स्थिर नहीं है । रोग भी इसी कारण नाश होनेवाले हैं । रोगी यह मनमें ठीक प्रकार समझे कि इस नश्वर जगत्में रोग भी नष्ट होनेवाले हैं, स्थिर रूपसे रहनेवाले नहीं हैं । अतः रोग दूर होये और आरोग्य मिलेगा, यह निश्चय रखना चाहिये ।

रोगीकी अवस्था इस सूक्त्में 'कर्ण' शब्दसे बड़ी है ।

शरीरकी पीड़ित अवस्थामें रोगी विलक्षण शब्द करता रहता है । इसकी कल्प कहते हैं । ऐसी अवस्था रोगी यदि सुप्रसिद्ध (विश्व-मेपजी) सब रोगोंकी औषधिका चिकन करेगा, तो वह नि संदेह रोगमुक्त होगा । इस मंत्रमें जो सब रोगोंकी शमन करनेवाली औषधि कही है, वह प्रथम मंत्रोक्त सूर्यप्रकाश ही है । सूर्यकिरणें ही वह बलीके रूपमें हमारे पास आती हैं । इस सूर्यप्रकाशमें ऐसा सामर्थ्य है, कि वे दृष्ट और अदृष्ट सब प्रकारके रोगबीजोंका नाश करते हैं । जहाँ सूर्यप्रकाश होता है, वहाँ कोई रोगबीज नहीं रह सकता । इतना प्रभाव सूर्यकिरणोंमें है । इस विज्ञानका विचार करनेसे मनुष्य अपना रहन सहन योग्य प्रकार करके सूर्य देवसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । अर्थात् मंग शरीर सूर्यप्रकाशमें रखनेसे शरीरके रोगकिमी दूर होंगे, परमें सूर्यप्रकाश आनेसे परके रोग दूर होंगे, नगरमें सूर्यप्रकाश गलीगलीमें पहुँचनेसे सब नगर आरोग्यपूर्ण हो सकता है । इस प्रकार सब मनुष्य इस सूर्यके प्रकाशसे आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । सूर्य किरण त्रिजगत् भरते हैं, ऐसी जनरूपतिथी आनेसे भी यही लाभ होता है । सूर्यकिरणोंमें प्रपण करनेवाली गौका दूध पीनेसे भी लाभ होता है । इस प्रकार योग्यतापूर्वक जानकर सूर्यकिरण चिकित्साका विषय सबको समझना चाहिये ।



अपनी रक्षा ।

[सूक्त ५३] .

(श्रुतिः — गृह्यसूक्तः । देवता — नानादेवताः ।)

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिण्या पिपर्तु ।

अनु स्वधा चिकित्ता सोमो अग्निवापुर्नः पातु सविता भगध्व ॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु ।

वैश्वानरो नो अदन्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥

सं वर्चसा पर्यसा सं तनुभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वन्तु नो माष्टु तन्वोऽङ्गं यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (प्र-चेतसौ द्यौः च पृथिवी च) उत्तम ज्ञानवालि धुलोक और भूलोक और (गृहन् शुक्रः दक्षिण्या) बड़ा सामर्थ्यवान् सूर्य दक्षताके साथ (मे इदं पिपर्तु) मेरे इस सबकी रक्षा करे । (सोमः अग्निः) सोमादि वनस्पति और अग्नि ये (स्वधा अनु चिकित्ता) अपनी भारणशक्तिका ज्ञान अनुकूलताके साथ देवे । (वायुः सविता भगः च न पातु) वायु सविता और भग ये हम सबकी रक्षा करें ॥ १ ॥

(प्राणः नः पुनः एतु) प्राण हमारे पास फिर आवे, (आत्मा नः पुनः एतु) आत्मा हमारे पास पुनः आवे । (पुनः चक्षुः पुनः असुः नः एतु) फिर आँख और फिर प्राण हमारे पास आवें । (अ-दन्धः तनू-पाः वैश्वानरः) न दबाया आनेवाला शरीरका रक्षक सबका नेता आत्मा (नः विद्वा दुरितानि) हमारे सब पापोंकी जानता हुआ (अन्तः तिष्ठति) अन्दर रहता है ॥ २ ॥

(वर्चसा पर्यसा सं) तेज और पुष्टिकारक दूधसे हम युक्त हों । (तनुभिः शो) उत्तम शरीरोंके साथ हम युक्त हों । (शिवेन मनसा सं अगन्महि) कल्याणमय विचारयुक्त मनसे हम युक्त हों । (त्वष्टा नः अत्र वरीयः कृणोतु) श्रेष्ठ कारीगर परमात्मा हमें यहाँ उत्तम बनावे । (यद् नः तन्वः विरिष्टं) जो हमारे शरीरोंमें कष्ट देनेवाला भाग हो (अनु माष्टुं) उसको अनुकूलतासे शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— धुलोकका बड़ा शक्तिशाली मायवान् सूर्य, अन्तरिक्ष लोकका वायु, और भूलोकका अग्नि, सोम आदि हमारी रक्षा करें और हमारे अनुकूल हों ॥ १ ॥

हमारी आत्मा, प्राण, चक्षु आदि सब शक्तियों पूर्वोक्त प्रकार हमें पुनः प्राप्त हों । हम पापोंको छिपकर कर नहीं सकते, क्योंकि ज्ञानी रक्षक आत्मा हमारे अंदर जागता रहता है ॥ २ ॥

हमें पुष्टिकारक अन्न, तेज, उत्तम शरीर, उत्तम कल्याणका विचार करनेवाला मन प्राप्त होवे । हमारे शरीरमें जो कुछ हानिकारक पदार्थ घुसा हो, वह परमेश्वरकी योजनासे दूर होवे और हमारी शुद्धि होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें अपनी सब प्रकारसे रक्षा हो इस विषयकी उत्तम प्रार्थना है । द्वितीय मंत्रमें कहा है कि—

आत्मा, प्राणः अक्षुः, चक्षुः नः पुनः एतु । (म. २)

' आत्मा, प्राण, आँख आदि सब शक्तियों हमारे पास पुनः आवें । ' अर्थात् रोगादिके कारण शरीरपर जो विविध आपत्तियाँ आती हैं, उनसे चक्षु आदि सब इंद्रिय रोगी और विकल

हो जाते हैं, किसी किसी समय ये इन्द्रिय नामशेष भी हो जाते हैं, आत्मा और प्राण चले भी जाते हैं अर्थात् यह मनुष्य मर भी जाता है । अर्थात् जब शरीर ऐसा रोगी हो जाता है, कि मनुष्य मर भी जाता है । इतना रोगी होनेपर भी आत्मा, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब शक्तियों पुनः हमारे शरीरमें पूर्ववत् उत्तम अवस्थामें बसें । अर्थात् रोग आदि आपत्तियाँ आनेप

भी पूर्ववत् आरोग्य प्राप्त हो । यह आरोग्य किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इसका विचार पहिले मंत्रने बताया है—

(द्यौः शुद्धं शुक्रः भगः सविता) धुलोकका बडा धामर्ष्यशाली शुद्धता करनेवाला सूर्य, (वायुः) अन्तरिक्षका वायु और (पृथिवी अग्निः सोमः) पृथ्वीके ऊपरका अग्नि और सोमादि वनस्पतियाँ (अनु स्वधा चिकित्तां, पातु, पिपतुं) अनुकूलतासे अपनी धारक शक्ति देवें, हमारी रक्षा करें, और पूर्णता करें । (मं. १)

धुलोकमें सूर्य है जो अपने प्रकाशमान किरणोंसे सबकी शुद्धता करता है, सबमें बल लाता है और सबको बढाकर पूर्ण करता है । अन्तरिक्षमें जो वायु है वह सबका प्राण होकर सबको जीवन देता है, पवित्र और पुष्ट करता है और दीर्घ आयु देता है पृथ्वीपरकी सोम आदि वनस्पतियाँ रोग दूर करने द्वारा सबका आरोग्य बढाती हैं और सबकी दीर्घायु करती हैं । अर्थात् आत्मा, प्राण और चक्षु पुनः शरीरमें स्थिर करनेके साथ (१) सूर्यप्रकाश, (२) वायु और (३) वनस्पतियोंके यथायोग्य सेवनसे आसन्नमरण हुआ मनुष्य भी पुनः स्वस्थ हो सकता है । इससे—

ययसा, चर्चसा, शिवेन मनसा सं अगम्महि ।

(मं ३)

'हुम्मादि अक्षपान, तेजस्विता और शुभ विचारवाला मन प्राप्त हो सकता है ।' आरोग्य चाहनेवाले मनुष्यको उचित है कि वह अपने मनको शुभमङ्गल विचारोंसे युक्त करे, क्योंकि विचार शुद्ध रहे तो साराई पास नहीं आ सकती । स्वभाव तेजस्वी

बनवि और शुद्ध दुःखाहार करके उत्तम आरोग्यका साधन करे । इतना प्रयत्न करनेपर भी जो कुछ रोगबीज या दोष शरीरमें धुस गया हो, उसे दूर करनेके लिये ऐसी प्रार्थना करे—

त्वष्टा नः तन्वः यत् विरिष्टं माष्टुं । (मं. ३)

'ईश्वर हमारे शरीरके रोगादिको दूर करके हमारी शुद्धता करे ।' क्योंकि मनुष्यका प्रयत्न होनेपर भी कुछ अशुद्धियाँ हो जाती हैं और दोष धुसते हैं । ईश्वरकी प्रार्थना करनेसे वह सब दोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि परमेश्वरप्रार्थना करनेसे मनमें एक प्रकारका अद्भुत दैवी बल प्राप्त हो जाता है जिससे सब दोष और रोगबीज तथा अन्य विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं और मनुष्य निर्दोष हो जाता है । कोई यहाँ यह न समझे कि ईश्वरसे छिपाकर मनुष्य कुछ भी दोष या पाप कर सकता है । यह कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि—

वैप्रवानरः, अदृग्धः, तनुषाः, विद्वः दुरितानि

अन्तः तिष्ठति । (मं २)

'सब जगत्का नेता, कभी न दृश्येवाला, शरीरकी रक्षा करता हुआ और हमारे सब पापोंका निरीक्षण करता हुआ हमारे अन्दर रहता है ।' जब वह आप्त रहता हुआ अंदर रहता है तब उसे छिपकर कोई कैसे पाप कर सकता है? अर्थात् यह सर्वथा असंभव है । हमारे सब घुसे और मले कर्मोंको वह जानता है, इसलिए उसीकी प्रार्थना करनी चाहिये और उसीसे आत्मिक बल प्राप्त करना चाहिये ।

यह रीति है जिससे मनुष्य नीरोग हो सकता है और अपनी उन्नतिकी साधन कर सकता है ।

राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि ।

[सूक्त ५४]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्नीषोमी ।)

इदं तद् युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये । अस्य क्षत्रं धियं महीं वृष्टिरिव वर्षया वर्णम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इदं तत् उत्तरं युजे) मैं इसके साथ उस अष्टकेके सयुक्त करता हूँ । (अष्टये इदं शुम्भामि) फलमोगके लिये प्रसूरी प्रार्थना करता हूँ । हे देव । (अस्य क्षत्रं महीं धियं वर्षय) इस राजाके राज्यको तथा महती संपत्तिकी बचा, (वृष्टिर्नृणं इव) जैसे वृष्टि घासको बढाती है ॥ १ ॥

भाषार्थ— मैं अष्टकेके साथ संबंध करता हूँ, अपनी उन्नतिके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करता हूँ । हे ईश्वर । हमारे राजाका राज्य बडे और घन भी ऐसा बडे कि जैसी घास वृष्टिसे बढ जाती है ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रमभीषोमावस्मै धारयतं रयिम् । इमं राष्ट्रस्वामीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥
 सर्वन्धुश्चासंवन्धुश्च यो अस्मो अभिदासति । सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अभिषोमो ! (अस्मै क्षत्रं धारयतं) इसके लिये राज्यको धारण करो, (अस्मै रयिं) इसके लिये धन धारण करो । (इमं राष्ट्रस्य अभीषर्गे कृणुतं) इसको राष्ट्री मुख्य मंडलीमें स्थिर करो । तथा (उत्तरं युजे) मैं इसके अधिक उच्च अवस्थामें नियुक्त करता हूँ ॥ २ ॥

(संवन्धुः च असंवन्धुश्च) माइयों समेत या माइयोंसे रहित (य अस्मान् अभिदासति) जो शत्रु हमारा विनाश करना चाहता है, (मे सुन्वते यजमानाय) मेरे राजक यजमानके लिये (तं सर्वं रन्धयासि) उस शत्रुका नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— हमारे राजाका राज्य स्थिर होवे, धन भी स्थिर रहे । राष्ट्रीके हित करनेवाले लोगोंमें यह प्रमुख होवे और अष्टके साथ बढता रहे ॥ २ ॥

कोई शत्रु जो अकेला या अपने माइयों समेत हमारा नाश करना चाहे उसका नाश कर ॥ ३ ॥

यह सूक्त स्पष्ट है । राष्ट्रीय उन्नतिकी प्रार्थना है । अपना अछिछे संबंध जोड़ना और (यजमान) यज्ञमय जीवन बनाना यह मनुष्यका कर्तव्य यही बताया है । इसके अनंतर परमेश्वरकी प्रार्थना की जाय, तो वह निश्चिंद सफल होगी । अपना राज्य बड़े, धन बड़े, स्वराज्य न हो तो वह प्राप्त होवे, शत्रु दूर हो जावे और सब प्रकारकी उन्नति भी होवे । यह इस प्रार्थनाका आशय है ।

उत्तम मार्गसे जाना ।

[सूक्त ५५]

(अथिः — प्रश्ना । देवता — १ विश्वेदेवाः, २-३ रुद्रः ।)

ये पन्थानो बृहवो देव्यानां अन्तरा धावापृथिवी संचरन्ति ।

तेषामज्यानि यतमो ब्रूहि तस्मै मा देवाः परि घत्तेह सर्वं ॥ १ ॥

ग्रीष्मो ह्यमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात ।

आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वीः शरणे स्याम ॥ २ ॥

अर्थ— (ये देव्यानाः बृहवः पन्थानः) जो देवोंके आनेजानेके बहुतसे मार्ग (धावापृथिवी अन्तरा संचरन्ति) शुलोक और भूलोकके बीचमें चलते रहते हैं । (तेषां यतम अज्यानि ब्रूहि) उनमेंसे जो मार्ग सगृहीत जाता है । हे (सर्वे देवाः) सब देवो ! (इह तस्मै मा-परि घत्त) यहाँ उस मार्गके लिये मुझे सब प्रकार धारण करो ॥ १ ॥

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त और शिशिर ये सब ऋतु (न स्विते दधात) हमें उत्तम अवस्थामें धारण करें । (नः गोषु प्रजायां आ भजत) हमें गौओं और प्रजाओंमें सुखका भागी करें । (वः इद् निवाते शरणे स्याम) तुम्हारे साथ निश्चयसे हम वातादिके उपद्रवरहित घरमें रहें ॥ २ ॥

भावार्थ— उत्तम विद्वान् धर्मियोंके आने आनेके अथवा व्यवहार करनेके जो अनेक मार्ग हैं, उनमें जो निर्दोष मार्ग हो, उसीपरसे चलना उचित है ॥ १ ॥

ऐसा आचरण करना चाहिये कि जिससे छद्मों ऋतुओंमें उत्तम सुख लाभ हो, गौओं और प्रजाओंसे हितका साधन हो और घरमें कोई दोष न हो ॥ २ ॥

इदावत्सरायं परिवत्सरायं संवत्सरायं कृणुता बुद्धममः ।

तेषां वयं सुमती यज्ञियानामपि भूदे सौमनुसे स्याम

॥ ३ ॥

अर्थ—(इदावत्सराय, परिवत्सराय, संवत्सराय) प्रथम प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्षों लिये (कृणुता नमः कृणुत) बहुत अन्न उत्पन्न करो । (तेषा यज्ञियानां सुमती) उन यज्ञकर्त्ताओंको उत्तम बुद्धिमें तथा (सौमनुसे भूदे अपि स्याम) उत्तम मनमें तथा कल्याणमें हम यहां रहें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हर एक वर्ष उत्तम अन्न पर्वत प्रमाणमें उत्पन्न कर, और जिन-होंने अपना जीवन यशमय बनाया है उनके उत्तम शुभ संस्कारयुक्त मन और बुद्धिमें रह अर्थात् तो विषयमें उनकी समीति उत्तम रहे ऐसा आचरण कर ॥ ३ ॥

‘संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, अनुवत्सर, और इदावत्सर’ ये संवत्सरोंके पांच नाम प्रथम प्रभवसे लेकर हर एक पंचयुगीके हैं । इसी प्रकार ‘वृत्, प्रता, द्वापर और काल’ ये चतुर्युगीके नाम हैं ।

श्रेष्ठ हैं उन पर चलना चाहिये । अपने आचरण उत्तम रहा तो सब कृत्योंमें लाभ होता है और अपने अंदर दोष हुआ तो हानि होती है । हर एकको ऐसा उत्तम आचरण करना चाहिये कि जिससे सज्जन प्रसन्न हों । हर वर्ष खेतीमें इतना धान्य उत्पन्न करना चाहिये कि जो अपने लिये परोक्ष हो सके ।

सज्जनोंके व्यवहार करनेके शुभभागोंमें भी जो मार्ग सब

सर्पसे वचना ।

[सूक्त ५६]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — १ विश्वेदेवा, २-३ रुद्रः ।)

मा नो देवा अहिर्वृक्षीत् सतीकान्तसहपूरुषान् ।

संपतं न वि स्पर्द व्याचं न सं यमन्नमो देवजनेभ्यः

॥ १ ॥

नमोऽस्त्वसिताय नमस्तिराशिराजये । स्वजायं पुत्रये नमो नमो देवजनेभ्यः

॥ २ ॥

सं ते हन्मि दता दतः सम् ते हन्वा हन् । सं ते जिह्वायां जिह्वां सम्भ्राह्वा आस्पृम् ॥ ३ ॥

अर्थ—दे (देवाः) देवो । (अहिः सतीकान् सहपूरुषान्) सांप सतानों और पुरषोंके समेत (नः मा घधीत्) हमें न मारे (देवजनेभ्य नमः) दिव्यजनों अर्थात् वैश्वोंके लिये नमस्कार दे । (संपतं न वि स्पर्द) बद हुआ न छुल सकता है और (व्याचं न सं यमत्) कुछ हुआ बद नहीं हो सकता है ॥ १ ॥

(अस्तिताय नमः अस्तु) बाले सर्पोंके लिये नमस्कार हो, (तिराशिराजये नमः) तिरछा सजीरोबाले सर्पोंके नमस्कार, (स्वजायं पुत्रये नमः) लिपटनेवाले और भूरे रंगवाले सर्पोंके लिये नमस्कार हो । तथा (देवजनेभ्यः नमः) दिव्यजनोंके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥

हे (अहे) सर्प ! (ते दताः दताः स हन्मि) तारे दातोंको दातोंमें मैं तोड़ता हूँ । (ते हन्वा हन्वा सम् उ) तेरे ठोड़ीको ठोड़ीमें घटा देता हूँ । (ते जिह्वां जिह्वां सं) तेरा जिह्वाको जिह्वामें तोड़ता हूँ । (ते आस्पृम् आस्पृम् सं हन्मि) तेरे मुखको मुखमें काटता हूँ ॥ ३ ॥

मनुष्योंको अपने निवासस्थानमें ऐसा सुव्यव करना चाहिये, कि जिससे सर्पदण्डसे मनुष्य या पशु बचापि न मरे । तृतीय मंत्रके सर्पोंके मारना चाहिये ऐसा भी पता लगता है ।

मंत्रोंका अन्व भाव दुर्बोध है और बड़ी कोशची अपेक्षा रहता है ।

शर्मं यच्छत्वोर्षधिः सह देवीररुन्धती । कर्तुं पर्यस्वन्तं गोष्ठमयस्मौ उत् पूरुषान् ॥ २ ॥
 विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् । सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

अर्थ— (अरुन्धती औषधि देवीः सह) अरुन्धती नामक औषधी सुष अन्य दिव्य औषधियोंके साथ (शर्मं यच्छतु) सुख देवे । तथा (गोष्ठं पर्यस्वन्तं) गोशालाके बहुत दुग्धयुक्त (उत्तं पूरुषान् अयस्मान् कर्तुं) और मनुष्योंको रोग रहित करे ॥ २ ॥

(विश्वरूपां सुभगाम् जीवलां अच्छ-आषदामि) नानारूपवाली, मायशालिनी जीवला औषधिके विषयमें उत्तम वचन कहते हैं, स्तुति करते हैं । (रुद्रस्य अस्तां हेति) रुद्रके केंके रोगादि शत्रुको (नः गोभ्यः दूरं नयतु) हमारे पशुओंके दूर ले आवे, उनको नरोग बनावे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— अरुन्धती तथा अन्य औषधियां सुख देनेवाली हैं, इनसे गोवं अधिक दूध देनेवाली बनती हैं । और सुष प्राणी नरोग होते हैं ॥ २ ॥

अनेक स्वरूपवाली, यह जीवन देनेवाली जीवला औषधि स्तुति करने योग्य है । पशुपक्षियों और मनुष्योंको होनेवाले रोग इससे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

अरुन्धती ।

‘ अरु ’ का अर्थ घृषिस्थान, जोड़, इस स्थानके रोग ठीक करनेवाली औषधि ‘ अरुन्धती ’ है । इसका व्याजकलका नाम क्या है इसका पता नहीं चलता । खोज करके मिश्रण करना चाहिये । यह गोओंको छिलानेसे गोएं अधिक दूध देने लगती हैं । इसका सेवन मनुष्य करेंगे तो यक्ष्मा जैसे रोग दूर होते हैं । ‘ जीवला ’ औषधि भी इसी प्रकार उपयोगी है, संभव है कि जीवला, अरुन्धती ये नाम एक ही औषधिके हों । यह खोजका विषय है ।

विवाह ।

[सूक्त ६०]

(श्रुतिः — अथर्वी । देयता — अयंमा ।)

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विपितस्तुपः । अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥
 अथ्रमदियर्मयमन्नस्यास्तां समनं यती । अहो न्वर्यिमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं विपितस्तुपः अयंमा) यह प्रपञ्चनीय सूर्य (अस्मै अग्रुवै) इस कन्याके लिये (पतिं इच्छन्) पतिको इच्छा करता हुआ (उत्तं अजानये जायां) और औरहित पुरुषके लिये जोको इच्छा करता हुआ (पुरस्तात् आयाति) सन्मुख्ये जाता है ॥ १ ॥

हे (अयंमन्) सूर्य ! (अन्यास्तां समनं यती) अन्य कन्याओंके समानको अर्थात् विवाहरूपसे होनेवाले समान उत्सवको जानेवाली (इयं अथ्रमन्) यह बहुत यत्न गई है । हे (अयं अयंमन्) सूर्य ! इसलिये (अस्याः समनं अन्याः नु आयाति) इसके विवाहसमानमें दूसरी कन्याएं भी आजायें ॥ २ ॥

भाषार्थ— सूर्य उदयको प्राप्त होकर अस्तको जाता है । इस कारण कन्या और पुत्रको आयु बढ़ती है । और ऐसी ऐसी आयु बढ़ती है उसीके अनुसार औपुरुषमें पतिपत्निकां प्राप्ति करनेकी इच्छा भी प्रदीप्त होती है ॥ १ ॥

कन्याएं जिस समय दूसरी कन्याके विवाहसंस्कारमें जाती हैं, उस समय उनके मनमें अपने विवाहका विचार उत्पन्न होता है और उनको एक प्रकारका कष्ट होता है । इसलिये यह विचार कन्याके मनमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उस कन्याका विवाह करना चाहिये ॥ २ ॥

घाता दाधार पृथिवीं घाता धामुत सूर्यम् । घातासा अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (घाता पृथिवीं दाधार) परमेश्वरने पृथ्वीको धारण किया है (उत घाता सूर्य धां) और सदा ईश्वरने सूर्यको और धुलोकको धारण किया है। इसलिये वह। (घाता) देव (अस्यै अमुचे) इस कन्याके लिये (प्रतिकाम्यं पतिं दधानु) इच्छा करनेवाले पतिका धारण करे अर्थात् इसको ऐसा पति देवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ईश्वरने पृथ्वी, सूर्य और धुलोकको यथास्थान धारण किया है, इसलिये वह नि सदेह इस कन्याके लिये अनु रूप पति भी दे सकता है ॥ ३ ॥

इस सूक्तमें निम्नलिखित बातें कही हैं—

विवाहका है ।

(१) विशिष्ट आयुमें पुरुषमें स्त्रीकी, और स्त्रीमें पुरुषकी इच्छा होती है। इसके पश्चात् विवाहका समय होता है।

(२) परनी पतिकी इच्छा करनेवाली और पति (अनु-कामः) परनीको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला होनेपर विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें विवाह विषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके

विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें विवाह विषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके

विवाह हो। विपरीत अवस्था कदापि न हो। इस विषयमें विवाह विषयक आतुरता उत्पन्न होती है। यह समय कन्याके

परमेश्वरकी महिमा ।

[सूक्त ६१]

(प्राणिः — अथर्था । देयता — रुद्रः ।)

महामापो मधुमदेर्यन्तां मधुं सूर्यो अभरज्ज्योतिषि कम् ।

मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः संविता व्यचो घात् ॥ १ ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत धाम्भूमूर्तरं जनयं सप्त साकम् ।

अहं सत्यमनृतं यद् यदाम्यहं देवीं परि वाचं विश्वम् ॥ २ ॥

अर्थ— (आपः महा मधुमत् आ ईरयन्तां) जल मेरे लिये मधुररसके युक्त होकर बहे। (सूर्यः मह्यं ज्योतिषि कं अभरत्) सूर्यने मेरे कारण प्रकाशके लिये किण्व चारों ओर सर दिये हैं। (उत विदधे तपोजाः देवाः) और सब प्रकाश देनेवाले देव (सविता देवः च सप्त व्यच घात्) और सूर्य देव भी मेरे लिये विस्तारको धारण करते हैं ॥ १ ॥

(अहं पृथिवीं उत धा विवेच) मैंने पृथ्वी और धुलोकको अलग अलग किया है। (अहं सप्त ज्ञातृ साकं अजनयं) मैंने सात ज्ञानियोंको साथ साथ बनाया है। (अहं सत्यं अनृत यत्) मेरी सत्य और अनृत भी मेरी वाणी बोली जाती है वह (विश्वः देवीं वाचं अहं परि यदामि) मनुष्योंकी देवी वाणी मैं ही सब प्रकारके बोलना हूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— जल परमेश्वरकी प्रेरणासे मधुररसके साथ बह रहा है, सूर्य तपकी लिये प्रकाशता है। सब अन्य देव तपकी महिमाका विस्तार कर रहे हैं ॥ १ ॥

पृथ्वी, धुलोक तभी ईश्वरने बनाये हैं, छः तप और अधिक मात्र मिलकर सात तपी द्वारा बनाये गये हैं। मनुष्योंकी वाणी तपकी प्रेरणासे बोलू जाती है ॥ २ ॥

अहं जंजान पृथिवीमुत घामहमूर्तरंजनयं सप्त सिन्धून् ।

अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्नीपोमावजुषे सखाया

॥ ३ ॥

॥ इति पद्योऽनुवाकः ॥

अर्थ— (अहं पृथिवीं उत यां जंजान) मैंने पृथ्वी और गुलोकको उत्पन्न किया है । (अहं सप्त घातून् सिन्धून् अजनयम्) मैंने सात झरुओं और सिंधुओंको बनाया है । (अहं सत्यं अनृतं यद् वदामि) मैं सत्य या अनृत जो भी बोलनेका है वह बोलता हूँ । और (सखाया अग्नीपोमौ अजुषे) मित्र, अग्नि और सोमको एक दूधरेके साथ मिलाता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— सप्त समुद्र और सात नदियाँ उसीकी आज्ञासे हुई हैं, अंदरकी प्रेरणा वही करता है और अग्निसे साथ सोमशक्ति उन्होंने ही जोड़ी है ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना परमेश्वर करता है यह बात स्वयं परमेश्वरने इस सूक्तमें कही है ।

॥ यहाँ पद्य अनुवाक समाप्त ॥

अपनी पवित्रता ।

[सूक्त ६२]

(ऋषिः — अथर्वः । देवता — इन्द्रः । मन्त्रोक्ताः ।)

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वारतः प्राणेनैपिरो नमोभिः ।

घावापृथिवी पर्यसा पर्यस्वती क्रतावरी यज्ञिये नः पुनीताम् ॥ १ ॥

वैश्वानरीं सनुतामा रभश्च यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः

तया गुणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २ ॥

अर्थ— (वैश्वानरः रश्मिभिः नः पुनातु) सब मनुष्योंमें रहनेवाला अग्नि अपनी किरणोंसे हमारी शुद्धि करे । (घातः प्राणेन) वायु प्राणरूपसे हमारी पवित्रता करे । (हरिः नमोभिः) जल अपने विविध रसोंसे हमारी शुद्धता करे । (पर्यस्वती क्रतावरी) रसवाले, जलयुक्त, (यज्ञिये घावापृथिवी) पूजनीय गुलोक और भूलोक (पर्यसा नः पुनीतां) अपने योग्य रससे हमें पवित्र करे ॥ १ ॥

(सनुतां वैश्वानरीं आ रभश्च) सब और सब मनुष्यों द्वारा प्रेरित ईशसत्त्विको प्रारंभ करो । (वीतपृष्ठाः आशाः यस्याः तन्वः) जिनका पृष्ठ भाग नहीं है ऐसी दिशायें जिन वाणियोंके शरीर हैं । (सध-मादेषु) सब मिलकर आर्नादित होनेके अवसरमें (तया गुणन्तः वयं) उससे बोलते हुए हम सब (रयीणां पतयः स्याम) घनोंके स्वामी हों ॥ २ ॥

भाषार्थ— अग्नि वाणीके रूपसे, वायु प्राणके रूपसे, जल विविध रसके रूपसे, तथा गुलोक व पृथ्वीलोक अपनी अपनी शक्तियोंसे हमारी शुद्धता करे । अर्थात् ये देवताएँ हमारे शरीरमें आकर रह रही हैं और उन्होंने यहाँ ये रूप लिये हैं, इनसे हमारी पवित्रता होवे ॥ १ ॥

सब मनुष्य सब भाषण करें और ईश्वरके गुणगान करें । इस प्रकारकी वाणीके लिये अमर्षाद स्थान हैं । हम ठक प्रकारके बचन कहते हुए घन प्राप्त करें ॥ २ ॥

वैश्वानरीं वर्चसे आ रमष्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।

इहेडया सध्मादं मदन्तो ज्योक् पश्येम सूर्यमुचरन्तम्

॥ ३ ॥

अर्थ—(शुचयः शुद्धाः पावकाः भवन्तः) शुद्ध, पवित्र और दमर्गको पवित्र करनेवाले होकर (वैश्वानरीं वर्चसे आ रमष्वं) सब मनुष्योंकी ईश्वरपुत्रिक पानीकी तेजस्वित्ताके लिये कोलना आरंभ करो । (इह इहया सध्मादं मदन्तः) यहाँ स्तुतिरूप पानीसे घाय घाय मानदित होते हुए हम (ज्योक् उचरन्तः सूर्यं पश्येम) चिरकालतक ऊपर उठे हुए सूर्यको देखते रहेंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हम अन्तर्बाह्य शुद्ध हों, साधवालोंकी पवित्र बनावें, शुभ वाणी बोल और सब मिलकर आनन्दित होते हुए दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपने शरीरमें सब देवताएं अंशरूपसे रहती हैं । यहाँ अग्नि ने वाणीका रूप लिया है, वायुने प्राणका रूप लिया है, जलने रसका रूप लिया है, गुणोक्त सिरके स्थानमें है, पाँवके स्थानमें पुषिवाँ है, इसी प्रकार अन्य अवयवोंमें अन्य देवताएं रह रही हैं । ये सब देवताएं अमृतके युक्त न हों, सदा सत्यमें स्थिर रहें और हमारी पवित्रता करें । सत्य वाणी, सत्य विचार और सत्य आचार के छिये जितना चाहिये उतना विस्तृत कार्यक्षेत्र है । इस सत्यमें स्थिर रहनेवाले मिलकर आपसमें सहकार्य करते हुए, सत्यके पवित्र बनकर धर्ममार्गसे चल करवाँ और धनी बनें । शरीरकी शुद्धि करें, अन्तःकरणको पवित्र करें और अपने विचार, व्यवहार और आचारेसे दूसरोंको शुद्ध बनाते हुए अपने उद्धारका मार्ग आक्रमण करें । सत्यसे निर्मय होनेवाले और सत्यनिष्ठ तथा ईश्वरके गुणोंका चिन्तन करते हुए अपनेको पवित्र बननेवाले लोग निरुपेक्ष दीर्घ आयु प्राप्त करते हैं और पूर्ण आयुकी समाप्ति तक आनन्दके घास रहते हैं । इस लिये मनुष्य अपनी पवित्रताका साधन करे और कृतकृत्य बने ।

बंधनसे मुक्त होना ।

[सूक्त ६३]

(प्रायिः — द्रुहणः । देवता — निर्ऋतिः, अग्निः, यमः ।)

यत् ते देवी निर्ऋतिरायुचन्ध दामं ग्रीवास्वविमोक्तयं यत् ।

तत् ते विष्णाम्यायुषे वर्चसे चलायादोमुदमर्ममद्वि प्रध्वतः ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिमतेजोऽयस्ययान् वि चृता यन्धप्राधान् ।

यमो मयं पुनरिवा दंदाति तस्मै यमाय नमोऽस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

अर्थ—(देवी निर्ऋतिः) दुर्गते (यत् यत् अविमोक्तयं दाम ते प्रीयास्तु मायवन्ध) को को सहजद्विषे न मृतेवाला बंधन तेरी गर्दनमें बांधा है, वर (ते मायुषे चलाय वर्चसे विष्णामि) तेरी आयु, शक्ति और तेजस्विनीके लिये मैं कोलता हूँ । अब तू (प्रध्वतः मयो-मयं मयं मद्वि) आगे बढ़कर दीर्घायक अन्नदा मोच कर ॥ १ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गाति ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । हे (तिमतेजः) तप तेजवाले ! (अयस्ययान् यन्धप्राधान् विचृत) लोहमय वाशोंकी लोह बान । (यमः तया पुनः इत् मयं दंदाति) यम तुमको पुनः मेरे लिये देता है । (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) सब निषामक मायुषी नमस्कार होवे ॥ २ ॥

भाषार्थ— साधारण मनुष्यके गलेमें दुर्गति, अन्नक्षीरे पाश घटा बंधे रहते हैं । बिना प्रयत्न दिने के पाश एट नहीं सकते । और जबक ये पाश गलेमें अटके रहते हैं तब तक दीर्घ आयु, बलकी इच्छा और तेजस्विता कभी प्राप्त नहीं हो सकती । इसलिये ईश्वक मनुष्य ये पाश तोड़ जाने और आनन्द देनेवाला अन्न मोच मोचे ॥ १ ॥

अयस्सये द्रुपदे वैधिष इहामिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकुमर्षि रोहयेमम् ॥ ३ ॥

संसमिध्वसे वृषन्म्रे विश्वान्युर्य आ । इहस्पदे समिध्वसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

अर्थ— जब तू (अयस्सये द्रुपदे वैधिषे) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीकी बांधती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख हैं उन (मृत्युभिः इह अभिहितः) मृत्युओंसे यही बांधा जाता है । (यं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और यमसे मिलता हुआ (यं इमं उत्तमं नाकं अघि रोहय) इसको उत्तम स्वर्गमें चढ़ा ॥ ३ ॥

हे (वृषन् अग्ने) बलवान् तेजस्वी देव । आप (अयः) सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये आप (विश्वानि इत् सं सं आयुवसे) सबको नियमसे मिला देते हैं और (इहः पदे समिध्वसे) वाणोंके और भूमिके स्थानमें प्रकाशित होते हैं (सः नः वसूनि या भर) वह आप हमें धन प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भाषार्थ— कोई जैसे ये दूटनेके लिये कठिन दुर्गतिके पाश तोड़ दे। इस कार्यके लिये तम तेजवाले देवका आश्रय करो । यह सामर्थ्य सबका निवामक देव तुमको देगा, इसलिये उसको प्रणाम कर ॥ २ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उसको हजारों दुःख और सैकड़ों विनाश सदा सताते हैं । इन रक्षकोंके और निवामकके साथ संमेलन करके, इस मनुष्यको बंधमुक्त करते हुए, इसको सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुंचाओ ॥ ३ ॥

बलवान् ईश्वर सबके ऊपरका शासक है । वह सबकी संघटना करता है और सब पदार्थ मात्रोंके बीचमें प्रकाशित होता है और वही वाणोंका प्रेरक भी है । वह ईश्वर हमें भनादि पदार्थ देवे ॥ ४ ॥

पारतंत्र्यका घोर परिणाम ।

सबते रहनेसे क्या हानि होगी इसका विवरण यह मंत्रभाग करता है—

ते तत् अविमोक्ष्य दाम आयुषे वर्चसे बलाय विष्यामि । प्रभूतः अदोमर्दं अक्षं अक्षि ॥ (मं. १)

‘तेरा न दूटनेवाला पाश तोड़ता हूं । पाश दूटनेसे और तुझे स्वातंत्र्य मिलनेसे तुझे दीर्घ आयु, तेज और बल प्राप्त होगा और अक्ष योग पर्याप्त प्राप्त होगा ।’ पारतंत्र्यके बंध कितने भी अटूट हों, उनको तोड़नेसे, ये चार लाभ प्राप्त होंगे, लोग दीर्घायु होंगे, जनताका तेज बढ़ेगा, लोग बलवान् होंगे और अक्ष आदि योग्य पदार्थ पर्याप्त परिमाणमें मिलेंगे । स्वातंत्र्यके ये लाभ हैं ।

पारतंत्र्यमें रहनेसे जो हानियां हैं उनका भी ज्ञान इधरे हो सकता है, देखिये— लोगोंकी आयु क्षीण होगी, जनतामें बल नहीं रहेगा, उनमें तेजस्विता न होगी और किसीको खानेके लिये अक्ष भी नहीं मिलेगा । हरएक परतंत्र मनुष्यको ये आपत्तियां भोगनी पड़ती हैं, इसलिये हरएकको उचित है कि वह पारतंत्र्यका बंधन तोड़ दे और बंधनसे मुक्ति प्राप्त करे । और अपने आपको स्वर्गधामका अधिकारी बनवे ।

पाठक इस रीतिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनके पारतंत्र्यके पाश तोड़नेका उपदेश वेद कितनी हठतासे कर रहा है, इसकी कल्पना हो सकती है । आशा है कि पाठक ऐसे वैदिक उपदेशोंसे उचित लाभ प्राप्त करेंगे ।

पारतंत्र्यका, बंधनमें रहनेका घोर परिणाम इस सूक्ते इस प्रकार बताया है—

अविमोक्ष्य दाम । (मं. १)

अयस्मयाः पाशाः । (मं. २)

अयस्सये द्रुपदे वैधिषे, इह सहस्रं मृत्युभिः अभिहितः । (मं. ३)

‘पारतंत्र्यके पाश सहस्रहोमें दूटनेवाले नहीं हैं । जिस प्रकार कोईकी अंजोर तोड़नेके लिये कठिन होती है । उधे प्रकार ये पारतंत्र्यके पाश तोड़नेके लिये कठिन होते हैं । जो मनुष्य इन लोहमय पाशोंसे स्तंभसे बांधा जाता है उस पर हजारों दुःख और मृत्यु आती हैं, और उनसे मानो वह बांधा जाता है ।’

पारतंत्र्यके बंधनमें पड़ा मनुष्य सैकड़ों आपत्तियोंसे विर जाता है, और उसको मुक्त करनेका मार्ग भी नहीं दीखता, ऐसा वह दिग्मूढता हो जाता है । यह सब ठीक है, तथापि मनुष्यको बंधनसे अपना छुटकारा पाना आवश्यक ही है, क्योंकि पारतंत्र्यमें किसी प्रकारकी भी सजति नहीं हो सकती । इसलिये कहा है कि—

अयस्मयान् वन्धपाशान् विधूत । (मं. २)

‘लोहमय बंधनोंका तोड़ दो ।’ क्योंकि अकतक ये पाश नहीं दूटते अकतक तुम्हारी सजति हीन । किसी प्रकार भी शक्य नहीं है ।

पाश तोड़नेसे लाभ ।

पारतंत्र्यके पाश तोड़नेसे क्या लाभ होगा और बंधनमें

संघटनाका उपदेश ।

[सूक्त ६४]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — सामनस्यम्)

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनोसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥ १ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं वृतं सह चित्तमेवाम् ।

समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविश्वम्

॥ २ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः । समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसुहासति ॥ ३ ॥

अर्थ— (सं जानीध्वं) समान ज्ञान प्राप्त करो, (सं पृच्यध्वं) समानतासे एक दूसरेसे सबब जाओ, (वः मनोसि सं जानतां) तुम्हारे मन समान सरकारसे युक्त करो । (यथा पूर्वं संजानाना देवाः भागं उपासते) जिस प्रकार पूर्व समयके ज्ञानी लोग अपने कर्तव्यमागकी उपासना करते रहे, वैसे तुम भी करो ॥ १ ॥

(मन्त्र समानः) तुम्हारा विचार समान हो, (समितिः समानी) तुम्हारी समा सबके लिये समान हो, (वृतं समान) तुम सबका मत समान हो, (यथा चित्त समान) इन समस्त जनोंका— तुम्हारा— चित्त समान— एक विचारवाला होवे । (समानं चेत अभिः सं विश्वं) समान चित्तवाले होकर सब प्रकार कार्यमें प्रविष्ट हो, इसलिये (व समानेन हविषा जुहोमि) तुम सबको समान दक्षिके साथ युक्त करता हूँ ॥ २ ॥

(वः आकूतिः समानी) तुम सबका संकल्प एक जैसा हो, (वः हृदयानि समाना) तुम्हारे हृदय समान हों, (वः मनः समानं अस्तु) तुम्हारा मन समान हो (यथा वः सह सु असति) जिससे तुम सब मिलजुलकर उत्तम रीतिसे रहोगे ॥ ३ ॥

यदि अपनी संघटना इष्ट है तो तुम सबका ज्ञान एक जैसा हो, तुम समान भावसे एक दूसरेके साथ मिल जाओ, कभी एक दूसरेके साथ होनताका भाव न धरो, सबके मन शुभ संस्कारसे युक्त करो, अपने प्राचीन श्रेष्ठ लोक समय समयपर जिस प्रकार अपना कर्तव्यमाग करते रहे, उस प्रकार तुम भी कर्तव्य करो । तुम सब एक विचारसे रहो, तुम्हारी समामें सबका समान अधिकार हो, तुम्हारे नियम सबके लिये समान हों, तुम्हारा चित्त एक भावसे भरा हो, एक विचार होकर किसी एक कार्यमें एक दिलसे लगे, इसी कारण तुम सबको समान शक्तिवा मिली है । तुम सबके संकल्प समान हों, परस्पर विरोधी न हों, तुम्हारे

अन्त करणके भाव सबके साथ समान हों, एक दूसरेसे विरोधी न हों, तुम्हारे मनके विचार भी समतायुक्त हों । इस प्रकार तुमने अपनी एकता और अपनी संघटना की, तो तुम यहाँ उत्तम रीतिसे आनन्दपूर्वक रह सकते हो । अर्थात् तुम्हारे ऊपर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता । तुम्हारी इस संघटनासे ऐसा बल बढेगा कि तुम कभी किसी शत्रुसे न दबोगे । और अपना उद्धार अपनी शक्तिसे कर सकोगे ।

संघटना करनेवाले पाठक इस सूक्तका बहुत विचार करें और अपना बल बढावें ।

शत्रुपर विजय ।

[सूक्त ६५]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रः, इन्द्रः, पराशरः ।)

अव मन्थुरवायुतावं बाहू मनोयुजा । पराशर त्वं तेषां पराश्रं शुभ्रमर्दयार्था नो रुयिमा कृषि ॥ १ ॥

अर्थ— (मन्थुः अथ) कोप दूर हो, (आयता अथ) शत्रु दूर हो, (मनोयुजा याद्व अथ) मनसे प्रेरित बाहु पड़ हों । हे (पराशर) दूरसे शासकमान करनेवाले वीर ! (त्वं तेषां शुभ्र पराश्रं मर्दय) उन शत्रुओंका बल दूर करके नाश कर । (अथ नः रुयि आ कृषि) और हमें धन प्राप्त करा ॥ १ ॥

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ । वृथाभि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥
इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः । जयन्तु सत्त्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाः) देवो ! (निर्हस्तेभ्यः यं निर्हस्तं शरुं मस्यथ) निहस्ते जैसे निर्बल शत्रुपर जो हस्तरहित करनेवाला शत्रु तुम पैके हो, (अनेन हविषा अहं) इस हविसे मैं (शत्रूणां बाहून् वृथामि) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

(इन्द्रः प्रथमं असुरेभ्यः नैर्हस्तं चकार) इन्द्रे पहिले असुरोंको निहत्वा अर्थात् निर्बल किया । अतः (स्थिरेण मेदिना इन्द्रेण) स्थिर मित्र इन्द्रकी सहायतासे (मम सत्त्वानः जयन्तु) मेरे सत्त्वान् वीर लोग विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

अपना बल इतना रखना कि उसके सम्मुख शत्रु निर्बल सिद्ध होवे, इस प्रकार अपना बल बढ़ानेसे और योजनापूर्वक शत्रु-को कमजोर करनेसे विजय प्राप्त होगी ।

[सूक्त ६६]

(ऋषिः — अथर्वी । देवता — चन्द्रा, इन्द्रः ।)

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।

समर्पयेन्द्र महता वृधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥ १ ॥

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ । निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोध पराशरीत् ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैर्षा म्लापयामसि । अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहे ॥ ३ ॥

अर्थ— (नः अभिदासन् शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हम पर हमला करनेवाला शत्रु निहत्वा अर्थात् निर्बल होवे । (ये सेनाभिः अस्मान् युयं आयन्ति) जो सैन्य लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (महता वृधेन समर्पय) उनको बड़े वधके साथ मार डाल । (एषां अघहारः विविद्धः द्रातु) इनका विशेष घात करनेवाला वीर विद्ध होता हुआ भाग आवे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओ ! (ये आतन्वानाः) जो तुम धनुष्य तानते हुए (आयच्छन्तः अस्यन्तः च धावथ) खौबते हुए और बाण छोडते हुए दौडते चले आते हो, तुम (निर्हस्ताः स्थन) हस्तरहित हो जाओ । (इन्द्रः अघ घाः पराशरीत्) इन्द्र आज तुमको मार डालेगा ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) सब शत्रु हस्तरहित हों, (एषां अंग म्लापयामसि) इनके अंगोंको हम निर्बल कर देते हैं । और (एषां वेदांसि शतशः वि भजामहे) इनके धर्मोंको हम सैकड़ों प्रकारसे आपसमें बाँट देते हैं ॥ ३ ॥

[सूक्त ६७]

(ऋषिः — अथर्वी । देवता — चन्द्रा, इन्द्रः ।)

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्रतुः । मुह्यन्वधामूः सेना अमित्राणां परस्तराम् ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः पूषा च) इन्द्र और पूषा (सर्वतः वर्त्मानि परि सस्रतुः) सब मागोंमें भ्रमण करें, जिससे (अमित्राणां सेनाः परस्तरां मुह्यन्तु) शत्रुसेनाएँ धूरतक भ्रमण आवें ॥ १ ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहंयः । तेषां वो अमिमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥
 ऐषु नष्ट वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि । पराङ्मित्र एषेत्तर्वाची गौरुपेपतु ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (अमित्रः) शत्रुओ ! तुम (मूढाः) भ्रान्त होकर (अशीर्षाणः अहंयः इव चरत) बिर दूटे हुए सपोंके समान चले । (अमिमूढानां तेषां चः) हमारे आमेयाजसे मोहित हुए तुम सबके (चरेवरं इन्द्रः हन्तु) बरिष्ठ बरिष्ठ बीरको इन्द्र मार जाले ॥ २ ॥

(एषु वृषा हरिणस्य अजिनं आनष्ट) इन हमारे वीरोंमें जलके साथ हरिणका चर्म पहिना दो । हमारे सैन्यसे शत्रुसैन्यमें (भियं कृधि) भय उत्पन्न कर । (अमित्रः पराङ्मित्र एषु) शत्रु परे भाग आवे और (गौः अर्वाची उपपतु) उसकी भूमि या गीरे हमारे पास आजावें ॥ ३ ॥

ये तीन सूक्त शत्रुपराजय करनेके हैं । शत्रुको मोहित करके और घबराकर उन्हें ऐसे भगा देना चाहिये कि उनमेंसे कोई भी न बचे । उनमें जो शूर हों उनको मार डालना चाहिये और ऐसा पराक्रम करना चाहिये कि, जिससे शत्रुके मनमें डर पैदा हो आवे । ये तीनों सूक्त सरल हैं इसलिये अधिक विवरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

मुंडन ।

[सूक्त ६८]

(श्रविः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ता ।)

आयमगन्तसविता धुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि ।

आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत् प्रचेतसः ॥ १ ॥

अदितिः इमंश्च वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा ।

चिकित्सतु प्रचारपतिर्दीर्घायुत्वाय चर्षसे ॥ २ ॥

येनार्वपत् सविता धुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान् ।

तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्चवानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं सविता धुरेण आ अगन्) वह सविता अपने धुरेके साथ आया है । हे (वायो) वायु ! (उष्णेन उदकेन आ इहि) तूण जलके साथ आ । (आदित्याः रुद्राः वसवः सचेतसः उन्दन्तु) आदित्य, रुद्र और वसुदेव एकचित्तसे इसके बालोंको भिगावें । हे (प्रचेतसः) शानी जनो ! तुम (सोमस्य राज्ञः वपत्) इस सोम राजका मुण्डन करो ॥ १ ॥

(अदितिः इमंश्च वपत्) अदिति बालोंका वपन करे, (आपः चर्षसा उन्दन्तु) जल तेजके साथ बालोंको गीला करे । (दीर्घायुत्वाय चर्षसे) दीर्घायु और उत्तम दृष्टिके लिये (प्रजापतिः चिकित्सतु) प्रजापालक इसकी चिकित्सा करे ॥ २ ॥

(विद्वान् सविता) शानी सविता (येन धुरेण) जिस धुरेसे (वरुणस्य राज्ञः सोमस्य अयवपत्) भेष्ट राजा सोमका वपन करता रहा, हे (ब्रह्माणो) ब्राह्मणो ! (तेन अस्य इदं वपत्) उससे इसका यह बिर मुंडाओ । (अयं गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान् अस्तु) यह गौबाला, घोडबाला और धन्तानवाला होवे ॥ ३ ॥

बालोंको बपन करना अर्थात् हजामत बनवाना हो तो पहिले उक्त जलसे बालोंको अच्छी प्रकार मिश्रीना चाहिये । मिश्रीना-बाला विशेष स्यालसे बाल मिश्रीये । उक्त स्यालबाला निरौष उक्त स्याल ले आवे, उक्तको तीक्ष्ण करे । अतः स्यालसे राजाके शिरका बपन करते हैं वतनी हो स्यालबालीसे बालकका भी शिर मुखाया जाय । किसी प्रकार असावधानी न हो । जिसका

बपन करना हो उक्तकी आयु बडे और दृष्टि उत्तम हो ऐसी रीतिसे बपन करना चाहिये । बेष उक्तेर और जलकी परीक्षा करे और जिसकी हजामत होनी है उक्तकी भी परीक्षा करे । बपनके समय मनका भाव ऐसा रखे कि जिसकी हजामत की जा रही है वह दीर्घायु, स्वस्थ, गौर्वा और घोर्वाका पालने-बाला तथा उत्तम संतानसे युक्त हो । इसके विपरीत भाव मनमें न रहे ।



यशकी प्रार्थना ।

[सूक्त ६९]

(ऋषिः — अथर्व । देवता — षडस्पतिः, अश्विनौ ।)

गिरावरगराटेपु हिरण्ये गोषु यद् यशः ।

सुरायां सिच्यमानायां क्रीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

अश्विना सारथेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।

यथा मर्गस्वर्तो वार्चमावदानि जनों अन्तु ॥ २ ॥

मयि वर्चो अयो यशोयो यद्गस्य यत् पर्यः ।

तन्मयि प्रजापतिर्दिवि धामिव दृढतु ॥ ३ ॥

अर्थ— (गिरा) वर्षावर, (अरगराटेपु) बकवन्ने (हिरण्ये, गोषु यद् यशः) सुवर्ण और गोर्वामें जो यश है, तथा (सिच्यमानायां सुरायां) बहनेवाली पञ्चम्यधारामें तथा (क्रीलाले मधु) जो अश्वमें मधुरता है (तत् मयि) वह मुझमें हो ॥ १ ॥

(शुभस्पति अश्विनौ) बकवन्ने देनेवाले दोनों अश्विन (सारथेण मधुना मा अङ्क्तं) सारथीकी मधुरतासे मुझे युक्त करे । (यथा मर्गस्वर्तो वार्चं) जिससे आभ्युदय की भाँति (जनान् अन्तु आघदानि) लोगोंके प्रति मैं बोद्ध ॥ २ ॥

(मयि वर्चः) मुझमें तेज हो, (अयो यशः) और मुझमें अय, (अयो यद्गस्य यत् पर्यः) और यशका जो धार है (प्रजापतिः तत् मयि दृढतु) प्रजापालक देव वह मुझमें दृढ करे (दिवि धामिव) अथ सुलोकमें प्रकाश होता है ॥ ३ ॥

यहा पर उपरका करनेके सुनिश्चये, अकर्म अतःनेवाले अथवा उपर करनेके भीरीका जो दश है, उक्त दृष्टि अज और येन मुक्त अथके विरुद्धों को प्रकट होती है, उक्त प्रकारकी प्रकटा मेरे विरुद्धों होती रहे । अर्थात् मैं भी उक्तकी तरह दृढीके उपरने के कारणों अपने आपकी समर्थन बडे और बढनी होके । मेरे अज और अज उक्त प्रकार येन कार्यमें

समर्थन हो । मेरी बाणी ऐसी हो कि जिससे जनताका भय बडे । इस प्रकार आत्मबल करनेसे मुझमें तेजस्विता और दश बडे और आकाशमें स्थित सूर्यके समान मेरा यश बडे ।

इस सूक्तमें आत्मबलद्वारा यश और तेज प्राप्त करनेका उपदेश है ।

गौ सुधार ।

[सूक्त ७०]

(ऋषिः — काङ्कायनः । देवता — अघ्न्या ।)

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥

एवा तै अघ्न्ये मनोधि वृत्से निहन्यताम् ॥ १ ॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्धुजे । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥

एवा तै अघ्न्ये मनोधि वृत्से निहन्यताम् ॥ २ ॥

यथा प्रधिर्यथोधिर्यथा नम्यै प्रभावाधि । यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥

एवा तै अघ्न्ये मनोधि वृत्से निहन्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा मांसं) जिस प्रकार मांसमें, (यथा सुरा) जैसे सुरामें (यथा अधिदेवने अक्षाः) जैसे जुएके पाछोंमें (यथा वृषण्यतः पुंसः) जैसे बलवान् पुरुषका (मनः स्त्रियां निहन्यते) मन स्त्रीमें रत होता है । हे (अघ्न्ये) गौ । (एवा ते मनः वृत्से अधि निहन्यतां) इस प्रकार तेरा मन बछड़ेमें लगा रहे ॥ १ ॥

(यथा हस्ती पदेन) जैसे हाथी अपने पांवके (हस्तिन्याः पदं उद्धुजे) हाथीनीके पांवके साथ जोड़ता है, और जैसा बलवान् पुरुषका मन स्त्री पर रत होता है, इस प्रकार गौका मन बछड़े पर स्थिर रहे ॥ २ ॥

(यथा प्रधिः) जैसे लोहिका हाल चकरा रहता है, (यथा उपाधि) जैसे चक्र आरोपर रहता है और (यथा नम्यै प्रधौ अधि) जैसे चक्रनाभी आरोके बीच होती है, जैसे बलवान् पुरुषका मन स्त्रीमें रत होता है, इस प्रकार गौका मन बछड़े बछड़ेमें स्थिर रहे ॥ ३ ॥

जिस प्रकार मद्यमांस, जूआ, स्त्रीव्यसन आदिमें साधारण मनुष्यका मन रमता है, उसी प्रकार अच्छे मनुष्यका मन श्रेष्ठ कर्मोंमें रमे । गौका मन अपने बछड़ेमें रमे । गौ नाम इदिव माना जाय तो हरएक इदिवका बछड़ा उसका कर्म है । उस शुभ कर्ममें रमे ।

यह सूक्त ठीक प्रकार समझमें नहीं आता है । अत इसकी अधिक खोज करना चाहिये ।

अन्न ।

[सूक्त ७१]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः । ३ विश्वेदेवा ।)

यदन्नमार्धि बहुधा विरूपं हिरण्यमर्धमुत गामजामर्विम् ।

यदेव किं च प्रविजग्रहाहमग्निष्टोता सुहृवं कृणोत ॥ १ ॥

अर्थ— (यदुधामार्धि बहुधा विरूपं) बहुत करके विविध रूपवाला जो अन्न मैं जाता है, तथा (हिरण्यं अन्नं गां अर्जा उत अर्धि) घोना, घोडा, गौ, बकरा, भेड़ (यत् एव किं च अहं प्राति जग्रहाह) जो कुछ मैंने ग्रहण किया है, (ष्टोता अग्निः तत् सुहृत कृणोत) होता अग्नि उसकी तपस इवन किया हुआ करे ॥ १ ॥

१० (अथर्व भाष्य, काण्ड ६)

यन्मां हुतमहुतमाजगामं दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः ।

यस्मान्मे मनु उर्दिव रारजीत्यभिष्टोता सुहृतं कृणोतु

॥ २ ॥

यदक्षमन्नयन्तेन देवा द्रास्यन्नदास्पन्नतु संगृणामि ।

वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्

॥ ३ ॥

अर्थ— (यत् हुतं अहुत) जो दिया हुआ या न दिया हुआ (पितृभिः दत्तं) पितरोंसे दिया हुआ, (मनुष्यैः अनुमतं) मनुष्योंसे अनुमोदित हुआ । मां आजगाम) मेरे पास आया है, (यस्मात् मे मनः उत् रारजीति इष) जिससे मेरा मन उत्तम रीतिसे प्रसन्न होता है, (होता अस्ति तत् सुहृतं कृणोतु) होता अस्ति उसे उत्तम स्वीकारा हुआ करे ॥ २ ॥

हे (देवा) देवो । (यत् अन्नं अन्तेन अक्षि) जो अन्न मैं अक्षय्य व्यवहारसे खाता हूँ, (दास्यन् अदास्यन् उत् संगृणामि) दान करता हुआ, अथवा न दान करता हुआ जो मैं संग्रह करता हूँ; वह (अन्नं) अन्न (महता वैश्वानरस्य महिम्ना) बड़े वैश्वानरकी— परमात्माकी— महिमासे (मह्यं शिवं मधुमत् अस्तु) मेरे लिये कल्याणकारी और मीठा होवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— मैं जो अनेक प्रकारका अन्न खाता हूँ, और सोना, चांदी, घोड़ा, गौ, बकरी आदि पदार्थ स्वीकार करता हूँ, वह ठीक प्रकार यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ १ ॥

यज्ञमें समर्पित अथवा असमर्पित, पितृपितामहोंसे प्राप्त, मनुष्योंसे मिला हुआ, जो भी मेरे पास आया है, जिसके ऊपर मेरा मन लगता है, वह उत्तम रीतिसे यज्ञमें समर्पित हुआ हो ॥ २ ॥

जो अन्न या भोग मैं लेता हूँ, वे खल्वे प्राप्त हों वा असल्वे, उनका मैं यज्ञमें दान करता हूँ, वे सब यज्ञमें दिये हों वा न दिये हों, परमात्माकी कृपासे वे सब सुझे मज्जुरता देनेवाले हों ॥ ३ ॥

अनेक प्रकारका अन्न ।

मनुष्य जो अन्न खाता है वह 'चि-रूप' अर्थात् विविध रंगरूपवाला होता है । दाल, चावल, रोटी, खीर आदिके रंग भी अलग और रूप भी अलग अलग होते हैं । इन अन्नोंके सिवाय दूधरे उपयोगके पदार्थ सोना, चांदी, पाय, घोड़े, बैल, बकरी, भेड़ आदि बहुत हैं । सोना, चांदी, जेवर आदिसे शरीरकी सजावट होती है, घोड़े दूर गमनके काम आते हैं, बैल खेतीके काम करते हैं । पाय, बकरी दूध देती है । इस प्रकार अनेकानेक पदार्थ मनुष्यके उपयोगमें आते हैं । ये सब यज्ञमें समर्पित हों, अर्थात् मेरे अकेलेके स्वार्थोपयोगमें ही समाप्त न हों, प्रत्युत सब जनताके कार्यमें समर्पित हों ।

धनके चार भाग ।

मनुष्यके पास जो धन आता है उसके कमसे कम चार भाग होते हैं, इनका विवरण देखिये—

१ पितृभिः दत्तं— मातापितासे प्राप्त । जन्मके संस्कारसे जो आता है ।

२ मनुष्यैः अनुमतं— मनुष्यों द्वारा अनुमोदित अर्थात् अपने वशसे भिन्न अन्य मनुष्योंकी संमतिसे प्राप्त हुआ धन ।

३ हुतं आजगाम— किसीके द्वारा दानसे प्राप्त हुआ धन ।

४ अहुतं आजगाम— किसीके द्वारा दान न देते हुए अन्य रीतिसे प्राप्त ।

धन प्राप्त होनेके ये चार प्रकार हैं । इनमेंसे किसी भी रीतिसे प्राप्त हुआ धन हो, और उसपर अपना मन भी रत हुआ हो, वह धन यज्ञमें समर्पित होना चाहिये ।

जो अन्न खाया जाता है, दान दिया जाता है और संग्रह किया जाता है, वह सब ईश्वरार्पण हो और हमारा उत्तम कल्याण करनेवाला हो ।

इस प्रकार इस सूक्तका आशय है । पाठक इसका मनन करके लाभ उठावे ।

वाजीकरण ।

[सूक्त ७२]

(ऋषिः — अथर्वान्हिराः । देवता — शेषोऽर्कः ।)

यथासितः प्रथयते वशो अनु वर्षपि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।

एवा ते शेषः सहस्रायमर्कान्नाङ्गं संसमकं कृणोत

॥ १ ॥

यथा परस्तायादुरं वार्तेन स्पृष्टमं कृतम् । यावत्परस्वतः पसस्तावत् ते वर्षतां पसः ॥ २ ॥

यावद्दङ्गीर्णं पारस्वतं हास्तीर्णं गार्दभं च यत् । यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्षतां पसः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अर्थ — (यथा असितः) जिस प्रकार बंधनरहित मनुष्य (असुरस्य मायया वर्षपि कृण्वन्) आसुरी मायाधि देहोंकी बनाता हुआ (यशान् अनु प्रथयते) अपने पुष्टोंको वशमें करता हुआ उनको फैलाता है, (एवा ते अयं शेषः) इस प्रकार तेरे इस शरीरांगको (सहस्रा अमेन अङ्गं सं समकं अर्कः कृणोत) बलके साथ एक अवयवस दूसरे अवयवके सम होनेके समान यह अर्चनीय आत्मा पुष्ट करे ॥ १ ॥

(यथा पसः यातेन तायादुरं स्पृष्टमं कृतं) जिस प्रकार शरीरांग बातसे सन्तानोत्पत्ति योग्य पुष्ट किया होता है और (यावत् परस्वतः पसः) जैसा पूर्ण पुरुषका शरीरांग होता है (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढ़े ॥ २ ॥

(यावत् अङ्गीर्णं पारस्वतं) जैसा सुदृढ अंगवाले पूर्ण पुरुषका तथा जैसा (यावत् हास्तीर्णं गार्दभं अश्वस्य वाजिनः) हाथी, गधे और घोड़ेका होता है, (तावत् ते पसः वर्धतां) वैसा तेरा शरीरांग बढ़े ॥ ३ ॥

शरीरांग सुदृढ और संतानोत्पत्तिके कार्यके लिये योग्य बने । पुरुष हीनांग न हो, रूढांग हो । इस सूक्तका अधिक स्पष्टीकरण आवश्यक नहीं है ।

॥ यहाँ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

एक विचारसे रहना ।

[सूक्त ७३]

(ऋषिः — अथर्वान्हिराः । देवता — सामनस्यं, नानादेवताः ।)

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु ।

अस्य धियमपसंयातु सर्वे उग्रस्य चेतुः संमनसः सजाताः

॥ १ ॥

अर्थ — वरुण, सोम, अग्नि, बृहस्पति (एह मा यातु) यहाँ आवें और वसुओंके साथ यहाँ आवें । हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषों ! (सर्वे संमनसः) सब एक मनवाले शेरक (अस्य उग्रस्य चेतुः धियं उपसंयातु) इस घर चेतना देनेवालेकी सोमाकी बढाओ ॥ १ ॥

भावार्थ — सब ज्ञानी एक स्थानपर आवें । सब मनुष्य एक विचारसे रहकर अपने नायकका बल बढ़ावें ॥ १ ॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकृतिर्यो वो मनसि प्रविष्टा ।

तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ २ ॥

इहैव स्तु मापं याताध्यस्मत् पूषा परस्तादर्पथं वः कृणोत ।

वास्तोस्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

अर्थ—(य शुष्म वः हृदयेषु अन्त) ओ बल तुम्हारे हृदयोंमें है, (या आकृति य मनसि प्रविष्टा) ओ सकल तुम्हारे मनमें प्रविष्ट हुआ है । (तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन स्वीकृत्यामि) उनको अन्न और घृते में जोड़ देता हूँ । हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुषा ! (य रमति मयि अस्तु) तुम्हारी प्रसन्नता मुझ नायक पर रहे ॥ २ ॥

(इह एव स्तु) यहाँ ही रहे, (अस्मत् अधि मा अप यात) हमसे दूर मत जाओ । (पूषा य परस्तात् अपथ कृणोत) पूषा तुम्हारे लिये आगे अनिका मार्ग बंद करे । (वास्तोस्पतिः य अनु जोहवीतु) वास्तुपति तुम्हें अनुकूलतासे सुलावे । हे (सजाताः) उत्तम कुलमें उत्पन्न मनुष्यों ! (य रमति मयि अस्तु) आपका प्रेम मुझपर रहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ओ लोगोंमें बल और विचार है, उसका पोषण योग्य उपायसे करना चाहिये । सब मनुष्य अपने नामकपर प्रसन्न रहें ॥ २ ॥

सब लोग एक स्थानपर स्थिर रहें । इधर सधर न भागें । भागनेका मार्ग उनको खुला न रहे । इधर उनको अनुकूलतासे एक कार्यमें रखे । इस प्रकार सब लोग प्रेमसे एक नायकके नीचे रहें ॥ ३ ॥

संघटना ।

आधान प्रेमसे रहें । अपना संकल्प एक रखें और अपना हृदय एक इच्छासे ही भर दें । किसी कारण आपसमें कलह न करें और विभक्त न हों । अपने सघका यथा बढानेके लिये सब मिल कर प्रयत्न करें । इस प्रकार करनेसे उनका सघबल बढ सकता है ।



[सूक्त ७४]

(ऋषि — अथर्वा । देवता — सांमनस्य, नानादेवताः, त्रिणामा ।)

सं वः पृच्यन्तां त्वन्वः सं मनांसि स्रष्टुं व्रता । सं घोयं ब्रह्मणस्पतिर्मगुः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

अर्थ—(यः तस्य स पृच्यन्तां) तुम्हारे शरीर मिले, (मनांसि स) तुम्हारे मन मिले और (उ व्रता सं) तुम्हारे कर्म भी मिलजुल कर हों । (अयं ब्रह्मणस्पतिः य स) यह ज्ञानपति तुम्हें मिलाकर रखे । (भग यः स अजीगमत्) भाग्य देनेवाला भी तुम सबको मिलाने रखे ॥ १ ॥

भाषार्थ— तुम्हारे शरीर, मन और कर्म सबके साथ एकसे अर्थात् समतासे युक्त हों । तुम्हें ज्ञान देनेवाला एकताका ज्ञान तुम्हें दे, तथा तुम्हारा भाग्य बढानेवाला तुम्हें मिलाने रखे ॥ १ ॥

तुम्हारे मन और हृदय एक हों । भाग्य प्राप्त करनेके लिये जो परिश्रम करने पड़ते हैं, उन श्रमोंको करते हुए तुम आपसमें मिलकर रहो ॥ २ ॥

संज्ञपनं चो मनसोयो संज्ञपनं हृदः । अथो भग्नस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

यथादित्या वसुभिः संवभूतुर्मरुद्भिर्ग्रा अह्णीयमानाः ।

एवा त्रिणामह्णीयमान इमान् जनान्त्समनसस्तुष्टीह ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः मनसः संज्ञपनं) तुम्हारे मनको मिलकर रहनेका अभ्यास हो, (अथो हृदः संज्ञपनं) और हृदयको भी मिलनेका अभ्यास हो । (अथो भग्नस्य यत् श्रान्त) और भग्नावस्था जो परिधम है (तेन वः संज्ञपयामि) उससे तुम सबको मिलकर रहनेका अभ्यास हो ॥ २ ॥

(यथा अह्णीयमानाः उग्राः आदित्याः) जैसे किशोरे न दबनेवाले सम आदित्य (वसुभिः मरुद्भिः संवभूतुः) वसुओं और मरुतोंसे मिलकर रहें (एवा) इसी प्रकार (त्रिणामन्) तीन नामवाले । तू (अह्णीयमानः) न दबता हुआ (इह इमान् जनान् सं मनसः कृधि) वहाँ इन लोगोंको एक विचारसे युक्त कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जिस प्रकार शूर आदित्य, वसुओं और मरुतोंसे मिलकर रहते हैं, उसी प्रकार तू भी सब मिलकर रह और इन सब जनोंको मिलाकर रख ॥ ३ ॥

एकताका बल ।

इस सूक्ष्ममें मिलजुल कर रहने और अपनी एकतासे अपनी शक्ति साधन करनेका उपदेश है। हृदय, मन, विचार, संकल्प और कर्म आदि सबमें समता और एकता चाहिये।

किशोमें विपरीत भाव हुआ तो मित्रता होगी और संघभाव नष्ट

होगा। देखो इस जगत्में आदित्य, वसु और रुद्र वस्तुतः मित्र होनेपर भी जगत्के कार्यमें मिलजुलकर लगे रहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य रंगरूप और जगत्की मित्रता रहनेपर भी राष्ट्रकार्य करनेके लिये सब मिल जायें और एक होकर राष्ट्रकार्य करें।

शत्रुको दूर करना ।

[पृष्ठ ७५]

(ऋषिः — कव्यन्धः । देवता — इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः ।)

निरुद्धं सुदु ओकंसः सपत्नो यः पृतन्यति । नैर्वाध्येनि हविषेन्द्र एनं पराशरीत् ॥ १ ॥

परमां वं परावतमिन्द्रो नुदत्त वृत्रहा । यतो न पुनरायति शस्त्रवीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥

अर्थ— (यः सपत्नः पृतन्यति) जो शत्रु अपनी सेनाद्वारा आक्रमण करता है, (अमु ओकंसः निः सुदु) उस शत्रुको घरे निकाल डाल । (एन नैर्वाध्येनि हविषा) इस शत्रुको बाधाराहित समर्पणसे (इन्द्रः पराशरीत्) प्रभु या राजा मार डाले ॥ १ ॥

(वृत्रहा इन्द्रः) शत्रुका नाश करनेवाला इन्द्र (तं परमां परावतं नुदत्त) उस शत्रुको दूरसे दूरके स्थानको भगा देवे । (यतः शस्त्रवीभ्यः समाभ्यः पुनः न आयति) जहाँसे हमेशाके लिये फिर न आ सके ॥ २ ॥

भाषार्थ— जो शत्रु हमारे ऊपर हमलये हमला करता है अथवा अन्य प्रकार शत्रुत्व करता है, उसको अपने स्थानसे दूँधा भगाओ कि वह फिर कदापि सपदव देनेके लिये लौटकर न आ सके ॥ १ ॥

शूर लोग आपसमें मिलकर शत्रुको दूरसे दूर इस प्रकार भगा दें कि वह कभी भी फिर लौटकर न आ सके ॥ २ ॥

एतुं तिस्रः परावत् एतु पञ्च जनाँ अति । एतुं तिस्रोति रोचना यतो न पुनरापंति ॥

शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि

॥ ३ ॥

अर्थ—शत्रु (तिस्रः परावत् एतु) तीन दूरे स्थानोंसे भी दूर चला जावे । वह शत्रु (पञ्च जनान् अति एतु) पाँचों प्रकारके जनोंसे दूर चला जावे । (तिस्र रोचना अति एतु) तीन ज्योतिषोंसे दूर भाग जावे, (यतः पुनः न आयति) जहाँसे वह शत्रु वापस न आ सके । (शश्वतीभ्यः समाभ्यः) शाश्वत कालतक अर्थात् हमेशाके लिये वह वापस न आ सके । (यावत् सूर्यः दिवि असत्) जबतक सूर्य आकाशमें हो तबतक वह शत्रु वापस न आ सके ॥ ३ ॥

भाषार्थ— शत्रु सब स्थानोंसे, सब ओरोंसे, और सब ऐश्वर्योंसे दूर हो जावे और हमेशाके लिये वह ऐसी अवस्था में रहे कि, कभी वह लौटकर उपश्रव देनेके लिये वापस न आ सके ॥ ३ ॥

शत्रुको मगाना ।

आफिने, प्रामके और राष्ट्रके शत्रुको इस प्रकार दूर करना चाहिये कि वह कभी फिर लौटकर वापस न आ सके । हरएक मनुष्यका यह कार्य है । शत्रुको अपने अंदर रहने देना योग्य नहीं है । उसको अपने देहमें, अपने घरमें, अपने स्थानमें अथवा अपने राष्ट्रमें दृढमूल होने देना कदापि योग्य नहीं है । शत्रु जब आ जावे, तब उसको ऐसा मगाना चाहिये कि वह किसी प्रकार लौटकर फिर न आ सके ।

हृदयमें अग्निकी ज्योति ।

[सूक्त ७६]

(ऋषिः — कवग्रथः । देवता — सान्तपनाग्निः ।)

य एनं परिपीदन्ति समादधति चक्षसे । संप्रेद्धो अग्निजिह्वाभिरुदेत्तु हृदयादधि ॥ १ ॥

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रमे । अद्वातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः ॥ २ ॥

यो अस्य समिधं वेदं स्रित्र्येण समाहिताम् । नाभिहारे पदं निदधाति स मृत्यवे ॥ ३ ॥

अर्थ— (ये एनं परिपीदन्ति) जो इसके चारों ओर बैठते हैं, इसकी उपासना करते हैं और (चक्षसे सं आ-दधति) दिव्य दृष्टिके लिये इसका आधान करते हैं, उनके (हृदयात् अधि) हृदयके ऊपर (संप्रेद्धः अग्निः जिह्वाभिः उदेत्तु) प्रदीप्त हुआ अग्नि अपनी ज्वालाओंसे उदय होवे ॥ १ ॥

(सांतपनस्य अग्नेः पदं) तपनेवाला अग्निके पदको मैं (आयुषे मा रमे) आयुष्यके लिये प्राप्त करता हूँ । (यस्य आस्यतः) जिसके मुखसे (उद्यन्तं धूमं अद्वातिः पश्यति) निकलनेवाले धूँको सत्यज्ञानी देखता है ॥ २ ॥

(य स्रित्र्येण समाहिताम्) जो स्रित्रियद्वारा समर्पित हुई (अस्य समिधं वेदं) इसकी समिधाको जानता है (सः नाभिहारे मृत्युवे) वह कुटिल स्थानमें भी मृत्युके लिये (पदं न निदधाति) पैर नहीं रखता है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जो इस अग्निके चारों ओर बैठकर इतनादि करते हैं, जो दृष्टिको शुद्धताके लिये अग्निघ्रा आधान करते हैं, उनके हृदयमें प्रज्वलित होकर धूँरा ही आत्माभी प्रकाशित होता है ॥ १ ॥

इस हृदयस्थानीय प्रदीप्त आत्माभिके रसानको दीर्घायुके लिये प्राप्त करते हैं, इस आत्माभिका मुखसे वाणीद्वारा निकला हुआ धूँवा अर्थात् उसका चिन्ह हमी लोग ही देखते हैं ॥ २ ॥

जो स्रित्रिय आत्मसमर्पणद्वारा इसके मूलस्थानको जानता है, वह कठिन प्रसंगमें भी मृत्युके लिये अपना पैर तक नहीं देता, अर्थात् वह अत्राराम होता है ॥ ३ ॥

नेन प्रन्ति पर्यायिणो न सन्नो अवं गच्छति । अमेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

अर्थ— (पर्यायिण एव न प्रन्ति) घरनेवाले इसका पात नहीं करते और (सन्नान् न अयं गच्छति) समीप बैठनेवाले इसको जानते भी नहीं । (यः विद्वान् क्षत्रियः) जो ज्ञानी क्षत्रिय (अमेर्यः नाम आयुषे गृह्णाति) अमिका नाम आयुषे लिये लेता है ॥ ४ ॥

भाषार्थ— जो घेरनेवाले सन्नु हैं वे इस आरामिका पात नहीं करते और समीप रहनेवाले भी इसको जाननेमें समर्थ नहीं होते । जो ज्ञानी क्षत्रिय इस आरामिका नाम लेता है वह दीर्घायु प्राप्त करता है ॥ ४ ॥

अग्निसे दिव्य दृष्टि ।

अमितायसे दृष्टिकी सुदृढता होनेका कथक इस सूक्तक अथम मन्त्रमें है, देखिये—

क्षक्षसे स आ दधति । (म० १)

‘ दृष्टिके लिये अमिका आधान करता है । ’ अर्थात् यज्ञ कुण्डमें अमिकी स्थापना करके यज्ञ करता है और अग्निमें हवन करता है । अमिके समीप बैठकर हवन करनेसे दृष्टि सुधरती है यह इस मंत्रका तात्पर्य है ।

और रियासतमें कराइ स्टेशनके समीप ओगलेवाली नामक ग्राममें एक काष्ठ बनाईका बड़ा भारी कारखाना है । उसमें हर एक प्रकारके लोहेके पदार्थ बनते हैं । शीशा बनानेके लिये जो मशी होती है, उसके पास इतनी सज्जता होती है कि साधारण मनुष्य क्षणमात्र भी उसके पास सदा नहीं रह सकता । परन्तु जो मनुष्य वही काम करते हैं वे मशीके पास ही रहते हैं । मत पड़ह बघोंके अनुभवसे वहीके प्रवचकतनिका कहा कि, जो आँसुके रोगी, या दृष्टिदोषसे कमजोर आँखवाले मनुष्य आये और उक्त काम करने लगे, उनके आँख सुधर गये । और ऐसा एक भी उदाहरण नहीं हुआ कि अमिके समीप इतनी सज्जतामें काम करनेके कारण एकके भी आँख बिगड़े हो । यह अनुभव विचार करने योग्य है ।

इसके भी अनुमान हो सकता है कि प्रतिदिन सवेरे और शामकी, तथा वैदिक रीतिसे देखा जाय तो प्रातः, मध्यदिनमें और सायंकालकी नियमपूर्वक अध्ययन करके नियमपूर्वक हवन करनेवालोंको नेत्रदोषकी बाधा नहीं हो सकती । तथा यदि उस हवनमें नेत्रदोष दूर करनेवाले हवनपदार्थ डाले जाय, तो अधिक लाभ होगा । इसमें संदेह नहीं ।

यहसे नेत्रदोष इस कारण दूर हो सकते हैं । पाठक इसका विचार करें और इसकी अधिक खोज करें ।

हृदयका अग्नि ।

यज्ञक काष्ठ अग्निके प्रदीप्त होनेके पश्चात् और यज्ञाग्निकी हवनद्वारा उपासना करनेके अनन्तर दूसरा ही एक अग्नि हृदयमें प्रदीप्त होता है, जिसका वर्णन देखिये—

हृदयात् अधि अग्नि उदेत् । (म० १)

‘ हृदयकी वेदांतर एक अग्नि प्रदीप्त होता है ’ अर्थात् यह अग्नि कवल भौतिक अग्नि नहीं है । यह अमौलिक आरामरूप अग्नि है । हृदयमें बुद्धिके परे आरामाकी उपस्थिति है यह बात सब जानते हैं । इसीका नाम ‘ घातपनामि ’ है जिसने अतः कारणमें प्रसन्नता और उत्साह रहता है, इसको हृदयकी गर्मी अथवा मनका उत्साह कहते हैं । इस अग्निके प्रज्वलित होनेका ज्ञान शार्वाङ्गो ही होता है, कोई अन्य इसको नहीं जान सकता—

अस्य धूम अज्जातिः पश्यति ॥ (म० २)

‘ इसके धूँवको ज्ञानी देखता है । ’ धूँवसे ही अमिका ज्ञान होता है । जहाँ धूँव है वहाँ अग्नि होता है, यह न्याय सर्वमान्य है । अर्थात् धूँवाँ देखनेका अपूर्व धूँवके मावे रहनेवाले अमिका अनुभव करना है । अग्निहोत्र करनेसे इस हृदयस्थानाय आरामाग्निकी आपत्ति होती है ।

क्षत्रिय आरामसम्पन्नसे इस अग्निको जानता है, और जो स्वार्थ छोड़ता है उसके भी इसका ज्ञान होता है । रुद्रगर्भ अर्थात् केवल स्वार्थी जो मनुष्य होता है वह इसकी शक्तिसे अनभिज्ञ होता है ।

इस आरामशक्तिके प्रकट होनेसे सन्नु उसका कुछ भी नहीं कर सकता अर्थात् किसीके भी दबावसे वह दबता नहीं । विद्वान् क्षत्रिय इसीके बलसे दीर्घायु प्राप्त करता है, और अमर होता है ।

भौतिक अमिकी सहायतासे अमौलिक आरामाग्निका ज्ञान इस सूक्तने किया है । इस दृष्टिसे इस सूक्तका महत्त्व विशेष है ।

सबकी स्थिरता ।

[सूक्त ७७]

(ऋषिः — कथम्घः । देवता — जातवेदाः ।)

अस्याद् घोरस्थात् पृथिव्यस्याद् विश्वमिदं जगत् ।

आस्थाने पर्वता अस्यु स्याम्यश्वो अतिष्ठिषु ॥ १ ॥

य उदानद् परार्यणं य उदानुण्यार्यनम् । आवर्तेन निवर्तेन यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

जातवेदो नि वर्तेय शतं ते सन्त्वावृतः । सहस्रं व उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (घीः अस्यात्) सुलोक स्थिर हुआ है । (पृथिवी अस्यात्) पृथ्वी स्थिर है । (इदं विश्वं जगत् अस्यात्) यह सब जगत् स्थिर है । (आस्थाने पर्वता अस्थुः) अपने स्थानपर पर्वत भी स्थिर हुए हैं । अतः मैंने भी अपने (अश्वान् स्थासि अतिष्ठिषु) घोड़ोंको यथास्थानमें ठहराया है ॥ १ ॥

(यः गोपाः परार्यणं उदानद्) जिस पृथ्वीपालक राजाने श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया, (यः न्यायनं उदानद्) जिसने निम्न स्थान प्राप्त किया है, (आवर्तेन निवर्तेन) जिसमें आने और जानेका सामर्थ्य है (ते अपि हुवे) उसीकी मैं प्रार्थना करता हूँ ॥ २ ॥

हे (जातवेदः) ज्ञानी ! (निवर्तेय) लौट जा, (ते अवृताः शतं) तेरे आवरण सैकड़ों हैं । और (ते उपावृताः सहस्रं) तेरे समीप अनेक मार्ग हैं । (ताभिः पुनः नः आ कृधिः) उनसे हमें फिर समर्थ कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— पृथ्वी, सुलोक तथा सब जगत् यथास्थानमें स्थित हैं । पर्वत भी अपने स्थानमें स्थिर हैं । इसी प्रकार मनुष्य, घोड़े आदि यथास्थानमें स्थिर रहें ॥ १ ॥

जिस भूगति राजाने सब और निम्न स्थान प्राप्त किये हैं, जो योग्य स्थानमें आता जाता रहता है, उसकी प्रशंसा करना योग्य है ॥ २ ॥

ज्ञानी पुरुष अपने स्थानमें लौट आवे, उसकी आवरण और उपावरणकी शक्तियाँ अनेक हैं, उनसे वह हमें समर्थ करे ॥ ३ ॥

स्थिरता ।

सब जगत् अपने स्थानमें स्थिर है । सूर्यादि गोलक भ्रमण करते हैं, तथापि कोई भी अपनी मर्यादा उल्लंघन नहीं करता है । और सब अपनी मर्यादामें रहनेके कारण सब जगत्के अवयव स्थिर हैं । इसी प्रकार सब मनुष्य अपने धर्मकी मर्यादामें रहकर स्थिर हो जायें । इस प्रकार रहनेसे सबका सामर्थ्य बढ़ता है ।

स्त्रीपुरुषकी वृद्धि ।

[सूक्त]

(ऋषिः — अथर्वः । देवता — १-२ चन्द्रमा, ३ रवश्चा)

तेन भूतेन हविषामा प्यायतां पुनः । जायां यामस्मा आवाधुस्तां रसेनामि वर्धनाम् ॥ १ ॥

अर्थ— (तेन भूतेन हविषा) तब किये हुए हविषे (अयं पुनः आप्यायतां) यह बार बार पुष्ट हो । (जायां आसौ अवाधुः) जिस स्त्रीका इसके साथ विवाह किया है, (तां रसेन अमि वर्धेत) उसकी भी रखे पुष्ट करे ॥ १ ॥

अभि वर्धतां पर्यसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् । रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ ॥ २ ॥
त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम् । त्वष्टा सहस्रमार्युषि द्विर्धमायुः कृणोत वाम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पर्यसाभि वर्धतां) दूध पीकर पुष्ट होवे, (राष्ट्रेण अभि वर्धतां) राष्ट्रके साथ बड़े, (सहस्रवर्चसा रय्या) सहस्र तेजोवाले धनसे (हमौ अनुपक्षितौ स्तां) ये दोनों पतिपत्नी सदा भरपूर हों ॥ २ ॥

(त्वष्टा जायाम् अजनयत्) अगद्वचयिता देवने स्त्रीको उत्पन्न किया है । और (त्वष्टा अस्यै त्वां पतिं) उसी ईश्वरने इसके लिये तुझ पतिको उत्पन्न किया है । (त्वष्टा वां सहस्रं आर्युषि) रचयिता ईश्वर तुम दोनोंको हजारों वर्षोंतक रहनेवाला (दीर्घ आयुः कृणोत) दीर्घ आयु करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इस वैवाहिक यज्ञसे यह पति बड़े और जिस कारण यह स्त्री विवाहमें इसे दी गई है, इस कारण विविध रसोंसे यह पति इसकी पुष्टि करे ॥ १ ॥

दोनों पतिपत्नी दूध पीकर पुष्ट हों, अपने राष्ट्रकी उन्नतिके साथ उन्नत हों, और इनके पास सदा हजारों तेजोवाला धन भरपूर रहे ॥ २ ॥

ईश्वरने जिस प्रकार स्त्रीको उत्पत्ति की है, उसी प्रकार स्त्रीके लिये पतिको भी उत्पन्न किया है । यह ईश्वर इनके लिये उत्तम दीर्घ आयु देवे ॥ ३ ॥

गृहस्थीकी पुष्टि ।

पति और पत्नी घरमें रहकर एक दूसरेकी पुष्टि और सन्तानका विचार करें । कभी परस्परके नाशका विचार न करें । विशिष्ट गुणधर्मोंसे ईश्वरने जैसा स्त्रियोंको बसा ही पुरुषोंको उत्पन्न किया है । इसलिये दोनोंको उचित है कि वे परस्परकी सहायता करके परस्परकी उन्नति करनेमें प्रवृत्त हों ।

बहान, काकी, लमाहू, मय आदि न पीवें, परन्तु गोदूध ही आवश्यकतानुसार पीवें, दोनों दूध पीकर पुष्ट हों । अर्थात् उनके शरीरकी पुष्टि दूधसे होवे । इसी प्रकार दोनों स्त्रीपुरुष धनानादि पदार्थोंका उपार्जन करें । और सुखसाधनोंसे भरपूर हों ।

दोनों स्त्रीपुरुष एक दूसरेकी पूर्णता करते हुए दीर्घायु प्राप्त करें और सुखी हों ॥

हमारी रक्षा ।

[सूक्त ७९]

(आपिः — अथर्थाः । देयता — संस्फातः ।)

अयं नो नमस्तस्पतिः संस्फातो अमि रक्षत । अस्माति गृहेषु नः ॥ १ ॥

त्वं नो नमस्तस्पत ऊर्जे गृहेषु धारय । आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

अर्थ— (अयं संस्फातः नमस्तः पतिः) यह बढनेवाला आकाशका पालक देव (नः अमि रक्षतु) हमारी रक्षा करे । तथा (नः गृहेषु अस्माति) हमारे घरोंमें अद्यमान्य धन रहे ॥ १ ॥

हे (नमस्तः पते) आकाशके स्वामी देव । तू (त्वं नः गृहेषु) हमारे घरोंमें (न ऊर्जे धारय) हमें प्रभूत अन्न दे । और (पुष्टं वसु आ वसु) पुष्टिकारक धन भी हमारे पास आवे ॥ २ ॥

भाषार्थ— हे शक्ति करनेवाले ईश्वर । हमारी रक्षा कर और हमारे घरोंमें बहुत धनसमृद्धि प्रदान कर ॥ १ ॥

हे ईश्वर । तू हमारे घरोंमें धन, वस्त्र और पुष्टि दे ॥ २ ॥

११ (अथर्थाः । आपिः, काण्ड ६)

देवं संस्फान सहस्रापोपस्यैशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिर्वांसः स्याम ॥३॥

अर्थ—हे (देव संस्फान) वृद्धि करनेवाले देव ! तू (सहस्रपोपस्य ईशिषे) हजारों पुष्टियोंका स्वामी है । इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंकी हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिर्वांसः स्याम) उस तेरे हम मार्गों होंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे वृद्धि करनेवाले देव ! तुम्हारे पास हजारों पोषक शक्तियाँ हैं । उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके मार्गी हम बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त ।

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है । इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब दृष्ट, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों ।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा ।

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमा ।)

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् । शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

ये त्रयः कालकाक्षा द्विवि देवा इव श्रिताः । तान्सर्वानह ऊव्येस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्यं समुद्रे अन्तर्महिमा तं पृथिव्याम् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

अर्थ— जो (विश्व भूता अवचाकशत्) सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) ध्रुवोक्तमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविषे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

(ये त्रयः कालकाक्षाः) जो तीन कालकक्ष (द्विवि देवाः इव श्रिताः) ध्रुवोक्तमें देवोंके समान रह रहे हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसका रखके लिये और (अरिष्टतातये अहम्) करुणाले लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरी उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्यं) ध्रुवोक्तमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः) श्रुतिधर्माँ ते आहिमर) समुद्रके बीच और पुनर्नर तेरी आहिमा है । उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) ध्रुवोक्तमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ— सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है । उषका महत्त्व और तेज विशेष है । वह तेज हमारे अन्दर भितना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

देवताओंके समान तीन काल—अर्धांश उषणकाल, श्रुतिकाल और शतकाल ये तीन काल कुक्ष-ध्रुवोक्तमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं । इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और करुणासाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्राकृतिक जलवत्प्राये सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह ध्रुवोक्तमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है । इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, उसे परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूँ ॥ ३ ॥

सूर्यादिद्योके अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है । इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उन शक्तियोंका समर्पण जगत्की मलाईके लिये करके उक्त समर्पण द्वारा परमेश्वरकी पूजा करे ।

कङ्कणका धारण ।

[सूक्त ८१]

(कृषिः — अथर्वा । देयता — आदित्यः, मन्त्रोक्ताः ।)

यन्तासि यच्छसे हस्तावय रक्षोसि सेधसि । प्रजां धनं च गृह्णानः परिहृस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥
परिहृस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे । मर्यादे पुत्रमा घेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥
यं परिहृस्तमर्विभरदितिः पुत्रकाम्या । त्वष्टा तमस्या आ वचनाद् यथा पुत्रं जनादिदि ॥ ३ ॥

अर्थ— (यन्ता असि) तू नियामक है, (हस्तो यच्छसे) दानों हाथोंका तू नियमन करता है और उनसे (रक्षोसि सेधसि) विघ्नकारियोंको हटाता है । (अयं परिहृस्तः) यह कण (प्रजा धन च गृह्णान) प्रजा और धन का ग्रहण करनेवाला (अभूत्) है ॥ १ ॥

हे (परिहृस्त) कण ! (गर्भाय धातवे) गर्भके धारणके लिये (योनिं वि धारय) योनिका धारण कर । हे (मर्यादे) मर्यादे ! (पुत्र आ घेहि) पुत्रको धारण कर । (त रय आगमे आ गमय) उसको तू आगमनके समय बाहर आनेके लिये प्रेरणा कर ॥ २ ॥

(पुत्रकाम्या अदितिः) पुत्रकी इच्छा करनेवाली अदितिने (यं परिहृस्त अभिभ) जिस कङ्कणका धारण किया था, (यथा पुत्रं जनात् इति) जिते पुत्रकी उत्पत्ति हो इस लिये (त्वष्टा तं अस्यै आ यध्नात्) त्वष्टाने उसको इस ओरके लिये बोधा है ॥ ३ ॥

माधार्थ— कण नियममें रक्षता है, उसे हाथोंमें कालनेसे हाथोंका नियमन होता है और विघ्न दूर होते हैं । इसलिये इसको सत्तामका धारण करनेवाला कहते हैं । तथा यह धनका भी धारक है ॥ १ ॥

गर्भधारणके योग्य गर्भाशयकी अवस्था यह बनता है । इसके धारण करनेसे गर्भ धारण होता है और योग्य समयमें प्रसूति भी होती है ॥ २ ॥

पुत्रकी इच्छा करनेवाला अदितिने इसको प्रथम धारण किया था । कारीगर इसका निर्माण करे और पुत्रोत्पत्ति होनेकी इच्छासे क्रियोंके दोनों हाथोंमें कङ्कण धारण कराये ॥ ३ ॥

कङ्कण धारण ।

स्त्रियां हाथोंमें कङ्कण धारण करती हैं । इसका संबंध गर्भाशय ठीक रहने, उत्तम धतन उत्पन्न होने और सुलभ प्रसूति होनेके साथ है । वेद लोग इसका विचार शरीरशास्त्रकी दृष्टिसे करें और नियम करें कि, किस प्रकारका कङ्कण कौनसी स्त्रीको किस विधिसे धारण करना चाहिये । यह शास्त्रदृष्टिसे विचारने योग्य बात है ।

कन्याके लिये वर ।

[सूक्त ८२]

(कृषिः — मगः । देयता — इन्द्रः ।)

आगच्छतु आगतस्य नाम गृह्णाम्यायुतः । इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

अर्थ— (आगच्छतुः) आनेवाले (आगतस्य) भाये हुए और (आयत) अति समीप आनेवाले (वृत्रघ्नः) वासवस्य शतक्रतो इन्द्रस्य) शत्रुका नाश करनेवाले, धनवाले और वैदिकों के करनेवाले इन्द्र (नाम गृह्णामि) नाम मैं लेता हूँ और (वन्वे) पकड़ करता हूँ ॥ १ ॥

माधार्थ— आगमनके पहिलेसे इच्छा करके अब मेरे पास आया हुआ वो शत्रुपर विजय करनेवाला, धनवान्, वैदिकों उत्तम कर्म करनेवाला शूरवीर है, उसीको मैं अपनी पुत्रीके लिये बरके रूपमें पकड़ करता हूँ ॥ १ ॥

देवं संस्फान सहस्राणोपस्येतिथिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिर्वासः स्याम ॥३॥

अर्थ—हे (देव संस्फान) इन्द्र करनेवाले देव ! तू (सहस्ररूपोपस्य ईतिथिषे) हजारों पुष्टियोंका स्वामी है । इसलिये (तस्य नः रास्व) उन पुष्टियोंकी हमें दे, (तस्य नो धेहि) वही हमें दे, (तस्य ते भक्तिर्वासः स्याम) उस तेरे हम भागी होंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे इन्द्र करनेवाले देव ! तुम्हारे पास हजारों पोषक शक्तियाँ हैं । उनमेंसे कुछ हमें दे, तेरे पोषक सामर्थ्यके भागी हम बनें ॥ ३ ॥

ईश्वरके भक्त ।

परमेश्वर सबका पोषणकर्ता है, वह सबको धन, ऐश्वर्य, अन्न, तेज और पुष्टि देता है । इसलिये वह देव हमें पोषणके साधन देवे और उनका योग्य उपयोग करके हम सब हृष्ट, पुष्ट और धनधान्यसंपन्न हों ।

आत्मसमर्पणसे ईश्वरकी पूजा ।

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — अथर्व । देवता — चन्द्रमा ।)

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत् । शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेनां ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

ये त्रयः कालकाक्षा दिवि देवा इव ध्रिताः । तान्सर्वानह ऊतयेस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्य समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम् ।

शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेनां ते हविषा विधेम ॥ ३ ॥

अर्थ— जो (विश्वा भूता अथवाकशत्) सब भूलोकों प्रकाशित करता हुआ (अन्तरिक्षेण पतति) आकाशसे चलता है उस (दिव्यस्य शुनः) गुलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन हविषा ते विधेम) उस हविषे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ १ ॥

(ये त्रयः कालकाक्षाः) जो तीन कालकक्ष (दिवि देवाः इव ध्रिताः) गुलोकमें देवोंके समान रह रहे हैं, (तान् सर्वान्) उन सबको (अस्मै ऊतये) इसकाँ रक्षाके लिये और (अरिष्टतातये अहम्) कल्याणके लिये बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अप्सु ते जन्म) जलमें तेरा उत्पत्ति है, (दिवि ते सधस्य) गुलोकमें तेरा स्थान है, तथा (समुद्रे अन्तः पृथिव्यां ते महिमा) समुद्रे भी और पृथ्वीपर तेरी महिमा है । उस तेरे (दिव्यस्य शुनः) गुलोकमें गमन करनेवाले सूर्यका (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन ते हविषा विधेम) उस महत्त्वसे तेरी पूजा हम करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ— सब जगत्को प्रकाशित करनेवाला सूर्य आकाशमें संचार करता है । उसका महत्त्व और तेज विशेष है । वह तेज हमारे अन्दर भित्तिना है उसका समर्पण करके हम ईश्वरकी उपासना करते हैं ॥ १ ॥

देवताओंके समान तीन काल— अर्वाह उष्णकाल, इष्टिकाल और शीतकाल ये तीन काल कुत्र—गुलोकमें स्थित सूर्यसे सम्बन्धित हैं । इन तीनों कालोंसे मनुष्य अपनी रक्षा करे और कल्याणसाधन करे ॥ २ ॥

प्रकृतिके प्रारम्भिक अलावस्थासे सूर्यकी उत्पत्ति हुई है, वह गुलोकमें रहता है, पृथ्वी और समुद्रमें उसका महत्त्व प्रकट होता है । इस सूर्यकी जो शक्ति मेरे अन्दर है, उसे परमेश्वरका पूजाकार्य करनेके लिये समर्पित करता हूँ ॥ ३ ॥

सूर्यादिद्वारे अंश मनुष्यमें हैं, उन शक्तियोंसे मनुष्य सामर्थ्यशाली बना है । इस लिये मनुष्यको उचित है कि, वह उस शक्तियोंका समर्पण जगत्की अलावके लिये करके उस समर्पण द्वारा परमेश्वरकी पूजा करे ।

कङ्कणका धारण ।

[सूक्त ८१]

(ऋषि — अथर्व । देवता — आदित्यः, मन्त्रोक्तः ।)

यन्तासि यच्छसे हस्तावपु रक्षीसि सेषसि । प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम् ॥ १ ॥

परिहस्तु वि धारय योनिं गर्भाय धातवे । मर्यादे पुत्रमा घेहि तं त्वमा रमयागमे ॥ २ ॥

यं परिहस्तमर्विभुरर्दितिः पुत्रकाम्या । त्वष्टा तमस्या आ वचनाद् यथा पुत्रं जनादिदि ॥ ३ ॥

अर्थ— (यन्ता असि) तू नियामक है (हस्तो यच्छसे) दानों हाथोंका तू नियमन करता है और उनसे (रक्षासि सेषसि) विघ्नकारियोंको हटाता है । (अय परिहस्त) यह कङ्कण (प्रजा धन च गृह्णानः) प्रजा और धन का भक्षण करनेवाला (अभूत्) है ॥ १ ॥

हे (परिहस्त) कङ्कण । (गर्भाय धातवे) गर्भके धारणके लिये (योनिं वि धारय) योनिका धारण कर । हे (मर्यादे) मर्यादे । (पुत्र आ घेहि) पुत्रको धारण कर । (त त्व आगमे आगमय) उसको तू आगमनके समय बादर आनेके लिये प्रेरणा कर ॥ २ ॥

(पुत्रकाम्या अदिति) पुत्रकी इच्छा करनेवाला अदितिने (य परिहस्त अविमः) जिस कङ्कणका धारण किया था (यथा पुत्र जनात् इति) जिससे पुत्रका उत्पत्ति हो इस लिय (त्वष्टा त अस्य आ वचनात्) स्वष्टाने उसको इस ओरके लिये बोधा है ॥ ३ ॥

भाषार्थ— कङ्कण नियममें रक्षता है उसे हाथोंमें बालनेसे हाथोंका नियमन होता है और विघ्न दूर होते हैं । इसलिये इसको सतानका धारण करनेवाला कहते हैं । तथा यह धनका भी धारक है ॥ १ ॥

गर्भधारणके योग्य गर्भाशयकी अवस्था यह बनाता है । इसके धारण करनेसे गर्भ धारण होता है और योग्य समयमें प्रसूति भी होती है ॥ २ ॥

पुत्रकी इच्छा करनेवाला अदितिने इसको प्रथम धारण किया था । कारीगर इसका निर्माण को और पुत्रोत्पत्ति होनेकी इच्छासे जिनके दोनों हाथोंमें कङ्कण धारण करावे ॥ ३ ॥

कङ्कण धारण ।

स्त्रियां हाथमें कङ्कण धारण करती हैं । इसका संघर्ष गर्भाशय ठक रहने, उत्तम धतन उत्पन्न होने और शुभसे प्रसूति होनेके साथ है । वेद लोग इसका विचार शरीरशास्त्री दृष्टि करें और नियम करें कि किस प्रकारका कङ्कण कीनयी औका किस विधिसे धारण करना चाहिये । यह शास्त्रदृष्टिसे विचारने योग्य बात है ।

कन्याके लिये वर ।

[सूक्त ८२]

(ऋषिः — भग । देवता — इन्द्रः ।)

आगच्छतु आगतस्य नामे गृह्णाम्यायुतः । इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्ने वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

अर्थ— (आगच्छतु) आनेवाले (आगतस्य) आये हुए और (आयत) अति धनीय आनन्द उ (वृत्रघ्न वासवस्य शतक्रतोः इन्द्रस्य) शत्रुका नाश करनेवाले, धनवाला और सैकड़ों कर्म करनेवाले इन्द्राय (नाम गृह्णामि) नाम मैं लेता हूँ और (यन्ने) पसंद करता हूँ ॥ १ ॥

भाषार्थ— आगमनके पहिलेसे इच्छा करके जब मरे पाप भागा हुआ जा राघुवर विजय करनेवाला, धनवान् सैकड़ों उत्तम कर्म करनेवाला शरीर है, वहीको मैं अपनी पुत्रीके लिये वरके रूपमें पसंद करता हूँ ॥ १ ॥

येन सूर्या सावित्रीमश्विनोदहृतः पथा । तेन मार्गश्रीद् भगो जायामा बहतादिति ॥ २ ॥

यस्तैऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः । तेनो जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ॥ ३ ॥

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(येन पथा) जिस मार्गसे (अश्विना) अधिवेगाने (सूर्या सावित्रीं ऊहृतः) सूर्यप्रभा सावित्रीका विवाह किया, (तेन) उसी मार्गसे (जायां वा बहतात् इति) मार्गको प्राप्त कर ऐसा (भगः मां अश्वधीव) भगने मुझे कदा है ॥ २ ॥

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (य ते हिरण्ययः वसुदानः बृहन् अङ्कुशः) जो तेरा सुवर्णका धन देनेवाला बड़ा अङ्कुश है, हे (शचीपते) इन्द्र ! (तेन जनीयते मह्यं) उसके लीकी इच्छा करनेवाले मुझे (जायां धेहि) भार्या दे ॥ ३ ॥

भाष्यार्थ— जिस प्रकार अधिवेगाने सूर्यप्रभाका विवाह किया, उसी प्रकार धनवान् बहुला पिता ' इस कन्याका स्वोक्त कोजिये ' ऐसा कहकर मुझे विवाहके लिये कहता है ॥ २ ॥

हे प्रभो ! तेरे पास जो धनको प्राप्ति करनेवाला जो उत्तम शल है उसके बलसे परनीकी इच्छा करनेवाले मुझ वरको भार्या प्राप्त हो ॥ ३ ॥

कन्याके लिये वर ।

कन्याके लिये जो वर पसंद करना है वह निम्नलिखित गुणोंका विचार करके पसंद किया जावे—

(१) जनीयते— वर ऐसा हो कि जिसके मनमें धर्म-पत्नीकी प्राप्ति करनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई हो । (मं० ३)

(२) आगच्छतः— कन्याके पिताके पास जानेकी इच्छा करनेवाला । (मं० १)

(३) आगतस्य— कन्याके पिताके पास पहुंचनेवाला । (मं० १)

(४) आयतः— कन्याके पिताके पास पहुंचा हुआ । (मं० १)

ये तीनों शब्द वरकी उत्कृष्ट इच्छा बताते हैं । आजकल कन्याका पिता वरकी दृढता हुआ वरके शोधार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानके प्रति घूमता रहता है । यह प्रथा अवैदिक प्रतीत होती है । बहुला पिता अपना वधू वरकी खोजके लिये प्रयत्न न करे अपितु वर अपनी योग्यता सिद्ध करे और बहुली मांग करनेके लिये बहुल पिताके पास जावे । यह बात इन चार शब्दोंसे व्यक्त होती है । अब वरमें कौनसे गुण होने चाहिये, इसका विचार यह है—

(५) धास्यः— वधू अर्थात् धन पास रखनेवाला । (मं० १)

(६) शतकतु— सैकड़ों उत्तम पुरुषार्थ करनेवाला । (मं० १)

(७) वृत्रघ्नः— शत्रुका नाश करके विजय प्राप्त करनेमें समर्थ । (मं० १)

(८) इन्द्रः— शत्रुका नाश करनेवाला शूर वीर । (मं० १)
ये चार शब्द वरके गुणोंका वर्णन करते हैं । विवाहके पूर्व वरने धन कमाया हुआ हो और शौर्य भी प्रकट किया हुआ हो । अपरीक्षित वर न हो ।

बहुला पिता ऐसे वरका आदर करे और उसे कहे कि, (जायां आवहतात्) इस मेरी कन्याको स्वीकार कीजिये । आप स्वीकार करेंगे तो मैं बड़ा अनुगृहीत हूंगा । इत्यादि वचनोंसे वरके साथ बोले और कन्या देनेकी इच्छा प्रकट करे । कन्याका दान भी ऐसा ही हो कि जिस प्रकार प्रभाका सूर्यके साथ होता है, अर्थात् कन्याका मोल लेना या पतिके लिये धन देना आदि शर्तें न हों, वरके गुणोंका विचार मुख्य हो ।

(मं० २)
वर भी मनमें यही समझे कि मेरे पास शौर्य और वीर्य रहनेसे मैं धन कमाऊंगा और जब मैं धन कमाऊँ और मेरा शौर्य प्रकट हो तब मेरा विवाह हो ही जायगा ।

इस सूक्तमें जो वरकी पसंदके और विवाह विषयके अन्य विचार कहे हैं वे बड़े उत्तम हैं । वरका पिता और वर ये दोनों इस सूक्तका बहुत विचार करें ।

बिना शौर्यवीर्यके वैदिक विवाह होना असंभव है, ऐसा इस सूक्तके विचारसे स्वयं सिद्ध होता है । वरको उचित है कि वह अपने विवाहका विचार करनेके पूर्व धन कमावे । ' धीः श्रीः स्त्री ' यह नियम ध्यानमें रखना चाहिये, मुद्रिका विवाह करके धनको प्राप्त करनेके पश्चात् लीकी प्राप्तिका विचार मनमें लाना चाहिये । आजकल जो बालविवाह करते हैं वे इस सूक्तका मनन विशेष करें ।

॥ यदा अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

गण्डमालाका निवारण ।

[सूक्त ८३]

(क्रयिः — अङ्गिराः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसुतेरिव ।	
सूर्यः कृणोतु मेपजं चन्द्रमा वोषोच्छतु	॥ १ ॥
एन्येका श्येन्येका कृष्णेका रोहिणी द्वे ।	
सर्वासामग्रभं नामावीरक्षीरपेतन	॥ २ ॥
असूतिका रामायण्यपिचित् प्र पतिष्यति ।	
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति	॥ ३ ॥
वीहि स्वामाहुति जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि	॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्यतेः सुपर्णः इव) अपने निवासस्थानसे जैसा गण्ड दोबता है उस प्रकार, हे (अपचितः) गण्ड-माला नाम रोगों ! (प्र पतत) माग जाओ । (सूर्यः मेपजं कृणोतु) इसका औषध सूर्य बनावे और (चन्द्रमा वा छप उच्छतु) चन्द्र रोगको दूर करे ॥ १ ॥

(एका पत्नी) एक चितकबरी, (एका श्येनी) एक खेत, (एका कृष्णा) एक काली, (द्वे रोहिणी) और लाल रंगवाले दो इतने इनमें भेद है । (सर्वासाम् नाम अग्रभं) सबका नाम मैंने लिया है, अतः (अवीरक्षीः अपेतन) मनुष्यकी हिंसा न करती हुई तुम यहासे दूर भाग जाओ ॥ २ ॥

(रामायणी असूतिका) नार्जुनमें छिपी रहनेवाली यह रोगकी जब रोगकी उत्पत्ति न करती हुई (अपचित् प्र पतिष्यति) यह गण्डमाला दूर होगी । (इतः ग्लौरितः प्र पतिष्यति) यहासे यह गलनेवाली दूर होगी, तथा (सः गलुन्तो नशिष्यति) वह खड्गनेवाला रोग नाशको प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

(स्वां आहुति जुषाणः वीहि) अपने हवनकी आहुतिका सेवन करता हुआ माग जा, (यत् इदं मनसा जुहोमि स्वाहा) जो यह मैं मनसे हवन करता हूँ वह उत्तम हवन होवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— गण्डमालाका औषध सूर्य किरणोंमें है, और चन्द्रमाके प्रकाशसे भी होता है । इससे गण्डमाला वीध दूर हो जाती है ॥ १ ॥

काली, खेत, चितकबरी, साधारण लाल और अधिक लाल ये पाँच प्रकारकी गण्डमाला होती है । इनसे मनुष्यकी हानि न हो और ये सब रोग दूर हों ॥ २ ॥

इसका बीज धमनिमें रहता है तथा इनमें फोडेवाली, गलनेवाली और खड्गनेवाली ऐसे भेद होते हैं । ये सब प्रकारके रोग पूर्वोक्त उपचारसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥

मन लगाकर उत्तम हवन करनेसे भी यह रोग दूर होता है ॥ ४ ॥

गण्डमाला ।

सूर्यकिरण, चन्द्रप्रभा और मन लगाकर किया हुआ हवन इन तीन उपचारोंसे गण्डमाला दूर होती है । इसकी उपचार पद्धतिके विषयमें वैद्योंको विचार करना उचित है ।

दुर्गतिसे वचना ।

[सूक्त ८४]

(ऋषिः — अङ्गिराः । देवता — निर्ऋतिः ।)

यस्यास्त आसनिं घोरे जुहोम्येषां बुद्धानामवसर्जनाय कम् ।

भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मास्तु । मुञ्चेमानभूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

एवो प्वृसाभिर्ऋतेनेहा त्वमयस्सयान् वि चृता वन्धपाशान् ।

यमो मह्यं पुनरित् त्वा दंदाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

अयस्मये द्रुपदे वैधिषि इहामिहितो मृत्युभिर्मे सहस्रम् ।

यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

अर्थ— (यस्याः ते घोरे आसनि) जिस तेरे क्रूर मुखमें (एषां बुद्धानां अवसर्जनाय) इन बद्ध हुआओं की मुक्त-
ताके लिये (कं जुहोमि) अपने मुखकी आहुति देता हूँ । (त्वा जनाः भूमिः इति अभिप्रमन्वते) तुमकी लोक अपनी
जन्मभूमि करके मानते हैं । और (अहं त्वा सर्वतः निर्ऋतिः परि वेद) मैं तुमको सब प्रकारके कष्टोंकी जड़ करके
मानता हूँ ॥ १ ॥

हे (भूते) उत्पन्न हुई । (हविष्मती भव) हवन करनेवाली हो (एषः ते भागः यो अस्मास्तु) यह तेरा भाग है
जो हममें है । (इमान् अमृन् एनसः मुञ्चः) इनको पापसे छुड़ाओ, (स्वाहा-स्तु आह) मैं सब कहता हूँ ॥ २ ॥

हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (अनेहा एव उ त्वं) अविनाशिका होकर तू (एवो) निश्चयसे (अयस्सयान् वन्धपाशान्
अस्सत् सु वि घृत) लोहेके बने बंधनोंके पाशोंकी हमसे खोल दे । (यमः मह्यं त्वा पुनः इत् दंदाति) यम मेरे लिये
तुमको पुनः पुनः देता है । (तस्मै यमाय मृत्यवे नमः अस्तु) उस यम मृत्युके लिये नमस्कार हो ॥ ३ ॥ (अथर्व. ६।१।२)

अब तू (अयस्मये द्रुपदे वैधिषि) लोहमय काष्ठस्तंभमें किसीकी बाँध देती है तब वह (ये सहस्रं) जो हजारों दुःख
हैं उन (मृत्युभिः इह अमिहितः) मृत्युभोंसे यहाँ बाँधा जाता है । (त्वं पितृभिः यमेन संविदानः) तू पितरों और
यमसे मिलता हुआ (त्वं इमे उत्तमं नाकं अधि रोहय) तू इसकी उत्तम स्वर्गमें बन्धा दे ॥ ४ ॥ (अथर्व. ६।१।३)

भाषार्थ— दुर्बस्था बड़ी कठिन है, उसमें बंधे अतएव जो पराधीन हुए हैं, उनकी मुक्तता होनी चाहिये । इस कार्यके
लिये अपने मुखको लागके प्रयत्न करना चाहिये । कई लोग तो इसी पराधीनताको अपना आश्रय मानते हैं और उसके निवारणके
लिये प्रयत्न तक नहीं करते । परंतु यह दुर्बस्था सबसे भयानक है ॥ १ ॥

जो दुर्बस्थाका भाग अपने अंदर होगा, उसको प्रयत्नसे दूर हटाना चाहिये ॥ २ ॥

दुर्गतिको दूर करना चाहिये । लोहेके सब पाश तोड़ने चाहिये । इन पाशोंकी तोड़नेके लिये ही यम बार बार जन्म देता है
अतः उसको नमन करना उचित है ॥ ३ ॥

जिसके गलेमें ये पाश अटके हैं, उनको हजारों दुःख और पैकड़ों आपत्तियों घटाती हैं, इन रक्षकों और नियामकके साथ
संमेलन करके इस मनुष्यकी बंधमुक्त करते हुए, इसकी सुखपूर्ण स्वर्गधाममें पहुँचाओ ॥ ४ ॥

पराधीनता संपूर्ण दुःखोंका मूल है, अतः हरएकको उचित है कि वह पराधीनतारूप दुर्गतिके पाश तोड़े और स्वतंत्रतारूप
स्वर्गधाममें स्थान प्राप्त करे ।



यक्ष्म-चिकित्सा ।

[सूक्त ८५]

(आपि: — अथर्वा । देवता — वनस्पति: ।)

वरुणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः । यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च । देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे ॥ २ ॥
यथा वृत्र इमा आपस्तस्तस्मै विश्वघो युतीः । एवा तं अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं देवः वरुण वनस्पतिः) यह दिव्य वरुण नामक औषधि (वारयाति) रोगनिवारण करती है ।
(अस्मिन् यः यक्ष्मः आविष्टः) इसमें जो रोग युक्त है (त उ देवाः अवीवरन्) उसका देवोंने निवारण किया ॥ १ ॥
इन्द्र, मित्र, वरुण इनके वचनसे तथा (सर्वेषां देवानां वाचा) सब देवोंकी वाणीसे (ते यक्ष्म वारयामहे) तेरा यक्ष्मरोग दूर करते हैं ॥ २ ॥

(यथा वृत्र) जैसा वृत्र (विश्वघा यतीः आप तस्तस्म) चारों ओर बहनेवाले जलप्रवाहोंका रोक रखता है
(एवा) वसी प्रकार (ते यक्ष्मं) तेरे रोगका (वैश्वानरेण अग्निना वारये) वैश्वानर अग्निद्वारा निवारण करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ— वरुण इसके उपयोग करनेसे यक्ष्मरोग दूर होता है ॥ १-३ ॥

वरुण वृक्ष ।

वेदमें त्रिशका नाम 'वरुण' है वसी वृक्षको संस्कृतभाषामें 'वरुण' कहते हैं । वरुण वृक्षकी औषधिके यक्ष्मरोग दूर होता है । इसके हिंदीमें 'किलि' वृक्ष कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

कटुः उष्णः रक्तदोषघ्नः शिरोघातहरः क्षिण्य
आमेयः विप्रधिघातप्रक्ष ॥ (रा० नि० प० ९)

वरुणः पित्तलो भेदो ऋग्मकृच्छ्राक्ष्ममावतान् ।

निहन्ति गुल्मयातास्त्रकिर्मोक्षोष्णाग्निदीपनम् ।

कषायो मधुरास्तिक्तः कटुको रुक्षको लघु ॥ (भा)

'यह वरुण औषधि रक्तदोष दूर करनेवाली, शिरःघातीय वातदोष दूर करनेवाली है, कटु उष्ण, क्षिण्य तथा आमेयगुण युक्त है । श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, शुक्म, वातरक्त, क्षिण्य-दोष इन रोगोंको दूर करता है ।'

इस औषधिके ये गुण हैं । इसका नाम 'आमेय' ऊपर दिया है अत तृतीय मन्त्रमें—

वैश्वानरेण अग्निना यक्ष्मं वारये । (मं ३)

कहा है । यहाँ अग्नि पदका अर्थ 'वरुण' वृक्ष करना उचित है । अर्थात् इस मन्त्रका अर्थ 'वरुण वृक्षसे प्रयोगसे यक्ष्म रोग दूर करता है ।' ऐसा करना चाहिये । इस औषधि प्रयोगका विचार वैद्योंको करना चाहिये ।

सबसे श्रेष्ठ हो ।

[सूक्त ८६]

(आपि — अथर्वा । देवता — एकपृषः ।)

वृषेन्द्रस्य वृषां दिवो वृषा पृथिव्या अयम् । वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य वृषा) इन्द्रके बलसे समर्थ, (दिवः वृषा) पुनोक्ते श्रेष्ठ (अयं पृथिव्या वृषा) यह पृथिवीसे भी श्रेष्ठ (विश्वस्य भूतस्य वृषा) सब भूतोंसे श्रेष्ठ हो और (एकवृषः भव) अकेला ही सबसे श्रेष्ठ हो ॥ १ ॥

भाषार्थ— सर्व, पुनोक्त, वृष्ठी, सब प्राणी इनमें जो शक्ति है, सबसे श्रेष्ठ बनेका प्रयत्न कर ॥ १ ॥

समुद्र ईशे स्रवतामभिः पृथिव्या वृशी । चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥
सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्याणाम् । देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

अर्थ—(स्रवतां समुद्रः ईशो) बहववालोंमें समुद्र मुख्य है । (पृथिव्याः अग्निः, चक्षी) पृथिवीको वशमें रखनेवाला अग्नि है । (नक्षत्राणां चन्द्रमा ईशो) नक्षत्रोंका स्वामी चन्द्र है इस प्रकार (त्वं एकवृष भव) तू अद्वितीय सबसे श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

(असुराणां सम्राट् असि) तू असुरोंका सम्राट् है, (मनुष्याणां ककुत्) मनुष्योंमें भी मुख्य है और (देवानां अर्धभाग असि) देवोंका अर्ध भाग तू है ऐसा तू (एकवृष भव) सबसे श्रेष्ठ बन ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जिस प्रकार सब स्रोतोंमें समुद्र प्रबल है, पृथ्वीको वश करनेवाला अग्नि समर्थ है, और नक्षत्रोंमें चन्द्रमा श्रेष्ठ है, इस प्रकार सब मनुष्योंमें तू समर्थ और श्रेष्ठ बन ॥ २ ॥

असुरवृत्तिवालोंके ऊपर भी तू स्वामित्व कर और मनुष्योंमें भी तू श्रेष्ठ हो, तथा देवोंके अर्ध आसनपर बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला हो ॥ ३ ॥

सबसे श्रेष्ठ बनना ।

अपना सामर्थ्य बढ़ा कर सबसे श्रेष्ठ होनेका परम पुकार्य करना हरएक मनुष्यको योग्य है । जो श्रेष्ठ होता है उसीकी प्रशंसा होती है, और जो श्रेष्ठ नहीं होता वह पीछे रह जाता है । यह स्मरण रखकर हरएक मनुष्यको उचित है कि वह अपने प्रयत्नसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करे और सबसे श्रेष्ठ बने ।

राजाकी स्थिरता ।

[अक्ष ८७]

(ऋषिः — अथर्वः । देवता — भुवः ।)

आ त्वाहर्षमन्तरं भूर्ध्रुवस्तिष्ठार्विचाचलत् । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्गृहमधि भृशत् ॥ १ ॥

इहैवैधि मां च्योष्टाः पर्वत इवार्विचाचलत् । इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रम् धारय ॥ २ ॥

इन्द्र एतमदीघरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा । तस्मै सोमो अधि व्रतदयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ३ ॥

अर्थ— (त्वा आहर्षं) तुमको यहाँ राजगद्दीपर लाया है । (अन्तः भू) हम सबके अंदर आ । (भुवः अधिष्ठा चलत् तिष्ठ) स्थिर और अविचलित होकर यहाँ ठहर । (सर्वा यिष्ट त्वा वाञ्छन्तु) सब प्रजाजन तुमको चाहें । (राष्ट्रं त्वम् मा अधिष्ठात्) राष्ट्र तोरेसे श्रेष्ठ न होवे ॥ १ ॥

(इह एवैधि) यहाँ आ । (मा अपच्योष्टाः) कभी मत गिर, (पर्वतः इव अविचाचलत्) पर्वतके समान अविचलित और (इन्द्र इव भुवः) इन्द्रके समान स्थिर होकर (इह तिष्ठ) यहाँ ठहर और (राष्ट्रं उ धारय) राष्ट्रका पालन कर ॥ २ ॥

(इन्द्रः ध्रुवेण हविषा) इन्द्र स्थिर समर्पणसे (एतं ध्रुवं अदीघरत्) इसको स्थिररूपसे धारण करता है । (तस्मै सोम) उसको सोमने और (अयं च ब्रह्मणस्पतिः) इस ज्ञानपतिने (अधिष्ठात्) उपदेश दिया ॥ ३ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! तुमको हम सब लोगोंन चुनकर इस राजगद्दीपर लाये हैं, अब तू इस राजसभामें आ और यहाँका कार्य स्थिर होकर कर । चंचलता छोड़ दे । सब दिशाओंमें रहनेवाले तोरे प्रजाजन तुम्हारे विषयमें सत्तोप प्रकट करें । तोरेसे इस राज्यकी अधोगति न होवे ॥ १ ॥

इस राज्यपर रह, यहाँ मत गिर । स्थिर होकर यहाँका कार्य कर । अपने स्थानसे पदच्युत न हो और इस राष्ट्रका उद्धार कर ॥ २ ॥

इन्ने भी आत्मसमर्पणसे स्थिर राज्यको प्राप्त किया था और उसको ज्ञानी ब्रह्मणस्पतिने उत्तम उपदेश दिया था; इस प्रकार तू भी आत्मसमर्पणसे इस राज्यका शासन कर और यहाँके ज्ञानी जन जिस प्रकार सलाह दें उस प्रकार इस राष्ट्रका शासन कर ॥ ३ ॥

राजाकी स्थिरता ।

राजा राजगद्दीपर स्थिर किस रीतिसे हो सकता है इस बातका उपदेश यहाँ उत्तमतासे इस सूक्तिमें दिया है—

(१) राजाका सब प्रजाजनों द्वारा चुनाव होना चाहिये, (२) राजाको इस प्रकारका राज्यशासन करना चाहिये कि, जिससे सब लोग प्रसन्न हों और लज्जितकी प्राप्त करें, (३) राजामें लज्जितरति नहीं होनी चाहिये, (४) प्रजाके मनको आकर्षित करनेवाला राजा हो, (५) उसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति न हो, (६) राजा राष्ट्रके विद्वानोंकी समतिसे राज्यशासन चलावे । इस प्रकार राजा व्यवहार करेगा तो वह राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है, अन्यथा पतन्युत होगा । इस उपदेशसे पता लग सकता है कि बीनसे दुर्गुण रहनेसे राजा राष्ट्रके अष्ट होता है । देखिये—

(१) प्रजाकी अनुमतिसे बिना जो राजगद्दीपर बैठता है, (२) जो प्रजाकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त करता, (३) जो लज्जित रति होता है, (४) जिसका अहित प्रजा चाहता है, (५) जिसके राज्यशासनसे राष्ट्रकी अवनति होती है । (६) जो राष्ट्रके विद्वानोंकी समतिसे विरुद्ध राज्यशासन चलाता है । इस प्रकारका जो राजा होता है वह राज्यसे गिरता है ।

हरएक प्रजाजन तथा हरएक राजा इस सूक्ति का विचार करे । इस सूक्ति के मननसे प्रजाको भी पता लग जायगा कि उत्तम राजा कौनसा है और अन्नम कौनसा है, जिसको राजगद्दी पर रखना चाहिये और जिसको नहीं । राजाको भी पता लग जायगा कि किस रीतिसे अपनी स्थिरता होगी और किस कारण राज्यसे विराट्ट होगी । राजा और प्रजा इन दोनोंकी इस सूक्तिसे उत्तम बोध प्राप्त हो सकता है ।

राजाकी स्थिरता ।

[सूक्ति ८८]

(श्रुतिः — अथर्वा । वेयता — भुवा ।)

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् । ध्रुवास्तः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विश्वामयम् ॥ १ ॥

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः । ध्रुवं त इन्द्रश्चाभिर्धे राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥ २ ॥

ध्रुवोऽन्युतः प्र मृणीहि शत्रून्लघ्यतोऽर्धरान्पादयस्व ।

सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवार्यं ते समितिः कल्पतामिह ॥ ३ ॥

अर्थ— जिस प्रकार (द्यौः ध्रुवा) गुलोक स्थिर है, (पृथिवी ध्रुवा) पृथ्वी स्थिर है, (इदं विश्वं जगत् भुवं) यह सब जगत् स्थिर है, तथा (इमे पर्वताः ध्रुवास्तः) ये पर्वत स्थिर हैं उस प्रकार (अयं विश्वां राजा ध्रुवा) यह प्रजाओंका राजन करनेवाला राजा स्थिर हो ॥ १ ॥

(राजा वरुण ते भुवं) राजा वरुण तेरे लिये स्थिर, (देवो बृहस्पतिः भुवं) बृहस्पति देव तेरे लिये स्थिर, (इन्द्रः च अभिः च ते भुवं) इन्द्र और अभि तेरे लिये स्थिर । राष्ट्रं धारयतां) राष्ट्र धारण करे ॥ २ ॥

(अच्युतः ध्रुवः शत्रून् प्र मृणीहि) न गिरता हुआ आर स्थिर होकर शत्रुओंका नाश कर । (शत्रून् लघ्यतोऽर्धरान् पादयस्व) शत्रुवत् आचरण करनेवालोंका नाश गिरा दे । (सर्वा दिशः) सब दिशाओंमें निवास करनेवाली प्रजाएँ (सध्रीचीः संमनसः) एक कार्यमें रत और एक विचारसे युक्त होकर, उन लोगोंकी (समितिः इह ते भुवाय कल्पतां) सभा यहाँ तेरी स्थिरताके लिये समर्थ होवे ॥ ३ ॥

माधार्प्यं— गुलोक, भुलोक, पर्वत और यह सब जगत् जिस प्रकार स्थिर है उस प्रकार राजा स्थिर हो जावे ॥ १ ॥ राजा वरुण, इन्द्र, अभि और देव बृहस्पति ये इस राजाके लिये स्थिर राष्ट्र धारण करे ॥ २ ॥ राजा स्थिर और सुदृढ होकर शत्रुका नाश कर, शत्रुके समान आचरण करनेवालोंको नाश गिरावे । सब प्रजाजन एक विचारसे युक्त होकर अपनी राष्ट्रमा द्वारा उत्तम राजाको राजगद्दीपर स्थिर रखे ॥ ३ ॥

१२ (अथर्ध माध्य, कण्ड ६)

स्थिरताके लिये ।

राजा किन गुणोंके धारण करनेसे अपनी राजगद्दीपर स्थिर रह सकता है इसका विचार इस सूक्तमें किया है । यह सूक्त कहता है कि ' सौ, पृथिवी, पर्वत, जगत् ' ये चिध रीतिसे स्थिर हुए हैं इसका विचार राजा करे और उनके गुणोंको धारण करके स्थिर होवे, देखिये इनके कौनसे गुण हैं—

१ सौः— आकाश तथा सूर्य । इनमें तेज है, सूर्य तो खय-प्रकाश है । इस प्रकार उत्तम तेजस्वी राजा स्थिर हो सकता है ।

२ पृथ्वी— पृथ्वा सबका उत्तम प्रकार धारण और पोषण करती है । जो राजा सब प्रजाजनोंका इस प्रकार धारण पोषण करता है वह स्थिर होता है ।

३ पर्वत— अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं कभी पीछे नहीं हटते । इस प्रकार युद्धमें जो अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भागता नहीं, वह राजा राष्ट्रमें स्थिर रहता है ।

४ जगत्— चलता है, परंतु अपनी मर्यादामें घूमता है । इस प्रकार जो अपनी मर्यादासे प्रगति करता है वह स्थिर होता है ।

इस प्रकारके गुण धारण करनेवाला राजा राजगद्दीपर स्थिर रहता है । इन गुणोंसे भी और अधिक एक गुण है—

५ विद्यां राजा सुयः— प्रजाओंका रक्षण करनेवाला राजा स्थिर रहता है ।

यह गुण सब गुणोंसे श्रेष्ठ है और इसके रहनेसे ही अन्य गुण कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । ' राजा ' शब्दका ही अर्थ (प्रजारंजकः) प्रजाको प्रसन्न करनेवाला है । इस प्रकारके प्रजाकी प्रसन्नता संपादन करनेवाले राजाको ही इन्द्रादि देव राजगद्दीपर स्थिर रखनेका सहाय्यता करें । इन देवताओंसे बोधित होनेवाले राज्यके लोग राजाकी सहाय्यता करें । इन देवतावाचक शब्दोंसे बोधित होनेवाले ये लोग हैं—

१ वृद्धस्पति, अग्निः— ज्ञानी, विद्वान् आदि ब्राह्मण बल,

२ इन्द्रः— शूर वीर, सैनिक आदि क्षत्रिय बल,

३ वरुण — वरिष्ठ लोक ।

ये सब लोग उत्तम राजाकी सहाय्यता करें और उसकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करें । इनकी सहाय्यता प्राप्त करके राजा संपूर्ण धातुओंको दूर करे, सब प्रजाजनोंमें एकता स्थापित करे और राष्ट्रीय महासभाकी सहाय्यतासे अपनी स्थिरता करे । राष्ट्रमहासभा भी योग्य राजाको ही अपनी सहाय्यता प्रदान कर और अयोग्य राजाको कभी सहाय्यता न दे ।

इस प्रकार राजा और प्रजाकी बड़ा बंध देनेवाला यह सूक्त है । आशा है कि ये दोनों इसका मनन करके अधिकसे अधिक लाभ उठावेंगे ।

परस्पर प्रेम ।

[सूक्त ८९]

(क्षत्रि — अथर्वा । देवता — रुद्रा, मन्त्रोक्ताः ।)

इदं यत्प्रेण्यः शिरों दुत्तं सोमेन वृण्यम् । ततः परि प्रजतिन हार्दि ते शोचयामसि ॥ १ ॥

शोचयामसि ते हार्दि शोचयामसि ते मनः । वार्तं धूम ईन सध्वं ह मामेवान्वेतु ते मनः ॥ २ ॥

अर्थ— (प्रेण्यः इदं यत् वृण्यं शिरः) प्रेम करनेवालेक जो यह बलवान् शिर है, जो (सोमेन दत्त) सोमने दिया है, (ततः प्रजतिन) उससे उत्पन्न हुए बलसे (ते हार्दि परि शोचयामसि) तरे हृदयके भावोंको उद्घोषित करते हैं ॥ १ ॥

(ते हार्दि शोचयामसि) तरे हृदयके भावोंको उद्घोषित करते हैं, (ते मनः शोचयामसि) तरे मनको उत्तेजित करते हैं, (वार्तं धूम इव) वायुके पीछे जिस प्रकार धूँआँ जाता है, उस प्रकार (ते सध्वं ह मनः मां एव अन्वेतु) तेरा अनुकूल मन मेरे पास ही आवे ॥ २ ॥

भाषार्थ— प्रेम करनेवालेका शिर और हृदय प्रेमके साथ ही उद्घोषित होता है ॥ १ ॥

हृदयको और मनको उत्तेजित करते हैं जिस प्रकार धूँआँ वायुको अनुसरता है, उसी प्रकार मन हृदयको अनुकूल होवे ॥ २ ॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती । मह्यं त्वा, मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(मित्रावरुणौ तथा महा) मित्र और वरुण तुमका मुझे देवें, (देवी सरस्वती महा) सरस्वती देवी मुझे देवें । (भूम्या मध्यं) भूमिका मध्य तथा (उभावन्तौ) दोनों अन्तर्भाग (तथा मह्यं समस्यतां) तुमको मुझे देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ— मित्र, वरुण, सरस्वती, भूमिका मध्यभाग और अन्तिम भाग ये सब हम सबको मिलकर रखें ॥ ३ ॥

एकताका मन्त्र ।

मनुष्यका सिर और हृदय प्रेमसे उत्तेजित होता है । इस प्रकार उत्तेजित हुआ और प्रेमसे साधुर हुआ मनुष्य ही इस अगलमें कुछ विशेष कार्य करनेमें समर्थ होता है ।

मनिके अतुल्य धृति होता है । सरस्वती अर्थात् विद्याकी और भूमि अर्थात् मातृभूमि की मक्ति ये दोनों मनको ऐसा अतुल्य करें, कि वह कभी हृदयको छोड़कर अर्थात् उस नेत्रके हृदयमें दूर न भाग जायें ।

इस प्रकार मनसे सुविचार और हृदयसे भक्ति करते हुए मनुष्य सफल हो पकते हैं ।

हृदयके अतुल्य मन ऐसा होवे कि, जिस प्रकार पायुधी

शरीरसे बाणको हटाना ।

[सूक्त ९०]

(श्रुतिः — अधर्या । देयता — यद्रः ।)

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गम्यो हृदयाय च । इदं ताम्रय त्वद् व्यं विपूषीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

यास्ते शतं ध्रुमन्योऽङ्गान्यनु विष्टिताः । तासां ते सर्वासां व्यं निर्विपाणिं हृषामसि ॥ २ ॥

नमस्ते रुद्रास्यते नमः । प्रतिहिताय । नमो विमृज्यमानायि नमो निपतितायै ॥ ३ ॥

अर्थ— (यद्रः यां इषुं) रुद्र जिस बाणको (ते अङ्गम्यः हृदयाय च' आस्यत्) तेरे अङ्गों और हृदयके लिये फेंकता है, (मय तां) आत्र उस बाणको (यय त्वद् विपूषीं) हम तेरे लिये निरुद्ध दिताये (इदं वि वृहामसि) इस प्रकार दूर करते हैं ॥ १ ॥

(याः ते शतं ध्रुमनयः) जो तेरे शरीरमें फेंकने के ध्रुमनियों (अङ्गानि अनु विष्टिताः) अङ्गस्थों में रहती हैं (ते तासां सर्वासां) तेरी उन सब ध्रुमनियों (विपाणि निः हृषामसि) सब दिनोंको निरुद्ध करते हैं ॥ २ ॥

हे रुद्र ! (ते अस्स्यते नमः) फेंकते हुए तुमसे नमस्कार हो । (प्रतिहितायै नमः) फेंके हुए बाणको नमन हो । (विमृज्यमानायै नमः) छोड़े गये बाणको नमन हो और (निपतितायै नमः) लक्ष्मण लगे बाणको नमस्कार हो ॥ ३ ॥

भावार्थ— शरीरमें लगे बाणको मुझसे हट ना चाहिये और शरीरको विवाहिन करना चाहिये ॥ १-३ ॥

जल-चिकित्सा ।

[सूक्त ९१]

(श्रुतिः — भृगो गिरा । देयता — यक्षमनाशनं, मन्त्रोक्ताः ।)

इमं यवमष्टापोगेः पंड्योगेभिश्चर्कपुः । तेनां ते तृन्नेके रौप्यपाणीनमर्षं व्यपे ॥ १ ॥

अर्थ— (इमं यवं) इस जोड़े (मष्टापागे यक्षयोगेः) अठ बीस जोड़ों के अर्थात् (यक्षयोगेः) ८ देव-जोड़ों के ही हुई (मयर्कपुः) रूपसे चर्कण करते हैं । (तेनां ते तृन्नेके) सवसे तेरे शरीर (रयः) अर्थात् नम-रूपसे) रोगबीजको जिस गतिसे दूर करते हैं ॥ १ ॥

न्यग्रवात्रौ वाति न्यक् तपति सूर्यः । नीचीनेमध्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥ २ ॥
 आप इद् वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः । आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (वातः न्यक् वाति) अग्नवायु निम्न गतिसे चलता है, (सूर्यः न्यक् तपति) सूर्य निम्न भागमें तपता है, (अध्न्या नीचीनें दुहे) गौ निम्न भागसे दूध देती है । इस प्रकार (ते रपः न्यक् भवतु) तेरा दोष दूर होवे ॥ २ ॥
 (आपः इत्थै उं भेषजीः) जल निःसन्देह औषधी है, (आपः अमीवचातनीः) जल रोग दूर करनेवाला है, (आपः विश्वस्य भेषजीः) जल सब रोगोंकी औषधि है, (ताः ते भेषजं कृण्वन्तु) वह जल तेरे लिये औषध बनावे ॥ ३ ॥

जल सब रोगोंका दूर करनेवाली औषधि है, जल सब दोष इस पथ्यके साथ अष्टांगयोग अथवा षडंगयोग करना चाहिये । शरीरसे दूर करता है और सब बिष दूर करके आरोग्य देता है । जलप्रयोगसे अग्निकी निम्न गति होती है और सब कारण बढकोष्ठता दूर होती है । बढकोष्ठ दूर होनेसे पूर्ण आरोग्य होता है । इस आरोग्यके लिये उत्तम औषध अन्न खाना चाहिये और और आरोग्य प्राप्त होता है ॥

अश्व ।

[सूक्त ९२]

(आशिः — अथर्व । वेद्यता — इन्द्रः, वाजी ।)

वार्तरंहा भव वाजिन् युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः ।

युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसु आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥

ज्वस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वार्त उत योऽचरत् परीतः ।

तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजि जय समने पारयिष्णुः ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वाजिन्) अश्व ! (युज्यमानः वार्तरंहाः भव) जोतने पर वायुके वेगसे युक्त हो, (इन्द्रस्य प्रसवे मनोजवाः याहि) इन्द्रकी इस सृष्टिमें मनोवेगसे चल । (विश्ववेदसु मरुतः त्वा युञ्जन्तु) सब शानसे युक्त मरुतेतक उठनेवाले वीर तुझे नियुक्त करें । (त्वष्टा ते पत्सु जवं दधातु) त्वष्टा तेरे पाँवोंमें वेग रखे ॥ १ ॥

हे (अर्वन्) गतिशील ! (यः गुहा निहितः ते जवः) जो हृदयमें रहा हुआ तेरा वेग है, (यः श्येने वाते सत परीतः) जो वेग श्येनपक्षीमें और ओ वायुमें है और ओ अन्यत्र भी है, हे (वाजिन्) अश्व ! (तेन त्वं बलवान्) उस वेगसे तू बलवान् होकर (समने पारयिष्णुः) संप्राममें पार करनेवाला होता हुआ (आजि जय) युद्धमें विजय कर ॥ २ ॥

भाषार्थ— घोड़ा वेगवान् हो, जजनेके समय मनके वेगके समान क्षीप्र दौड़े । ऐसे घोड़ेकी वीर ओतें और ईश्वर ऐसे घोड़ेके पाँवमें बल वेग रखे ॥ १ ॥

जो वेग वायु, श्येन पक्षी और अन्य वेगवान् पदार्थोंमें है वह वेग इस घोड़ेमें हो । ऐसा वेगवान् और बलवान् घोड़ा युद्धमें विजयको प्राप्त करनेवाला हो ॥ २ ॥

तुनष्टे वाजिन् तुन्वं नयन्ती वाममुस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम् ।
अन्हुतो मृहो धरुणाय देवो दिवि ज्योतिः स्वमा मिमीयात् ॥ ३ ॥

॥ इति नवमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—दे (वाजिन्) अश्व । (ते तनू, तन्व नयन्ती) तेरा शरार हमारे शरारको ले चलता हुआ (अस्मभ्य धाम घायतु) हम सबके लिये अस्त्र कालमें पहुचावे और (तुभ्य शर्म) तुम्हारे लिये सुख देवे । (अन्हुत देवः) अङ्कटिल देव (धरुणाय) सबकी धारणाके लिये (दिवि ज्योतिः इव) सुलोकमें जैसा तेजस्वी सूर्य है, उसके समान (मद्-स्व वा मिमीयात्) सबको बड़ा तेज निर्माण करके देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—यह घोड़ा मनुष्योंको अतिशीघ्र द्रुतक पहुचावे । वह स्वामीको सुख देवे और स्वयं सुखी होवे । सुलोकमें सूर्यके समान ऐसा घोड़ा यहाँ चमकता रहे ॥ ३ ॥

उत्तम घोड़ेका वर्णन इस सूक्तमें है । घोड़ा बलवान् और चपल तथा शत्रुघामी हो । युद्धमें जानेवाले सैनिक ऐसे घोड़ोंका उपयोग करें और विजय प्राप्त करें । इत्यादि बोध इस सूक्तमें है ।

॥ यहाँ नवम अनुवाक समाप्त ॥

हमारी रक्षा ।

[सूक्त ९३]

(ऋषिः — शन्तातिः । देवता — रुद्रः ।)

यमो मृत्युरंघमारो निर्ऋत्यो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः ।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्तो अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥ १ ॥

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्रं उत राज्ञे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रासदधर्विषा नयन्तु ॥ २ ॥

त्रायध्वं नो अधर्विषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः ।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥ ३ ॥

अर्थ—(यमः) नियामक, (मृत्यु) मारक, (अंघ-मारः) पापियोंको मारनेवाला, (निर्ऋतः) पीडक, (यक्षु) पोषक, (शर्वः) दिवक, (अस्ता) शस्त्र फेंकनेवाला, (नीलशिखण्डः) नीले ध्वजसेयुक्त तथा (देवजनाः) सब दिव्यजन, (सेनया उत्तस्थिवांसः) सेनाके साथ चढ़ाई करनेवाले, (अस्माकं वीरान् परि वृञ्जन्तु) हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥
(मनसा शर्वाय) अस्त्र फेंकनेवाले दिवकके लिये (उत भवाय राज्ञे) और उन्नति करनेवाले राजाके लिये (मनसा घृतेन होमै हरसा) मनवै, घीसे, होमोंसे और शक्तिसे (एभ्य नमस्येभ्य नमः कृणोमि) इन नमन करने योग्यों का नमन करता हूँ । (अधर्विष अस्माद् अन्यत्र नयन्तु) पापरूपी विषसे परिपूर्ण लोक हमसे दूर हों ॥ २ ॥

(विश्वेदेवाः विश्ववेदसः मरुतः) सब दिव्य और सब जाननेवाले मरने तक कार्य करनेवाले वीर तथा (अग्नि-पोमौ पूतदक्षा वरुणः) अग्नि, होम, पवित्र बलवाला वरुण, (अधर्विषाभ्यः वधाद् त्रायध्वं) पापियोंके वधसे हमें बचावें । (वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम) वायु और पर्जन्यकी सुमतिमें हम सदा रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब शत्रुवीर हमारे बालबच्चों और हमारे वीरोंको बचावें ॥ १ ॥
जो नमन करने योग्य हैं उनका मनसे और दानके साथ सत्कार किया जावे । पापी हम सबसे दूर हों ॥ २ ॥
सब देव हमें पापियोंसे बचावें और हम उनकी उत्तम मतिमें रहकर उत्तम कार्य करें ॥ ३ ॥

संगठन का उपदेश ।

[सूक्त ९४]

(ऋषिः — अथर्वशिराः । देवता — सरस्वती ।)

सं वो मनांसि सं वृता समाकूतीर्नमामसि । अमी ये विव्रता स्थान् तान् वृः सं नमयामसि ॥ १ ॥

अहं गृभ्णामि मनेसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेवे ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्तमानं एते ॥ २ ॥

ओतौ मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती । ओतौ मू इन्द्रश्चाग्निश्चर्यास्मेदं संरस्वति ॥ ३ ॥

अर्थ— (वः मनांसि सं) तुम्हारे मन एक भावसे युक्त करो, (मता सं) तुम्हारे कर्म एक विचारसे हों, (आकृतिः सं नमामसि) तुम्हारे चक्षुष्योंको एक भावमें झुकाते हैं । (अमी ये विव्रताः स्थान्) यह जो तुम परस्पर विद्वद् कर्म करनेवाले हो, (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको हम एक विचारमें झुकाते हैं ॥ १ ॥ (अथर्व. ३।८।५)

(अहं मनसा मनांसि गृभ्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूँ । (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंकी बनाकर आओ । (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूँ । (मम यातं अनुवर्तमानः आ-इत) मेरे चालचलनके अनुकूल चलनेवाले होकर यहाँ आओ ॥

(अथर्व ३।८।६)

(द्यावापृथिवी मे ओते) तुलोक और भूलोक ये मेरेसे मिलेजुले हैं । (देवी सरस्वती ओता) सरस्वती देवी मेरेसे मिली है । (इन्द्रः च अग्नि च मे ओतौ) इन्द्र और अग्नि मेरे साथ मिले हैं । हे सरस्वति । (इदं चर्यास्म) इससे हम समृद्ध हों ॥ ३ ॥

(अथर्व. ५।१३।१)

ये तीनों मंत्र पूर्वस्थानमें आये हैं । ऊपर उनका पता दिया है । इसलिये विशेष स्पष्टीकरण पूर्वस्थानमें ही पाठक देखें । तृतीय मंत्रका चतुर्थ चरण इस सूक्तमें पूर्वकी अपेक्षा मित्र है, परंतु वह अति सरल होनेसे विशेष स्पष्टीकरणकी अपेक्षा नहीं रखता ।



कुष्ठ औषधि ।

[सूक्त ९५]

(ऋषिः — श्रुवंगिराः । देवता — यमस्वति ।)

अश्रुत्यो देवसर्दनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतं स्य चर्क्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

अर्थ— (इतः तृतीयस्यां दिवि) यद्यपि तीसरे तुलोकमें (देवसर्दन. अवन्वतः) देवोंके बैठने कीज्य अवकाश है । (तत्र अमृतस्य चर्क्षणं) वहाँ अमृतका दर्शन होनेके समान (कुष्ठं देवाः अवन्वत) कुष्ठ औषधिको देवोंने प्राप्त किया है ॥ १ ॥

(अथर्व. ५।४।३)

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यवन्धना दिवि । तत्रापृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

गर्भो अस्योपधीनो गर्भो हिमवतामुत । गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (हिरण्ययी हिरण्यवन्धना नौः) छोलेकी बना और छुरणके बन्धनोंसे बन्धी नौका (दिवि अचरत्) सुलोकमें चलती है । (तत्र अमृतस्य पुष्पं कुष्ठं) वही अमृतके पुष्पके समान कुष्ठ औषधियों (देवाः अघन्वत) देवोंने प्राप्त किया है ॥ २ ॥ (अर्थ— ५।२।४)

(ओपधीनो गर्भः असि) औषधियोंका मूल तू है । (उत हिमवतां गर्भः) और हिमवालोंका भी तू गर्भ है । (तथा विश्वस्य भूतस्य गर्भः) सब भूतमानका गर्भ है ; (मे हम् अगदं कृधि) तू मेरे इस रोगोंको नौरोग कर ॥ ३ ॥ (अर्थ— ५।२।५)

ये भी तीनों मंत्र पूर्व स्थानमें आ गये हैं । अतः पाठक इनका विवरण पूर्वस्थानमें देखें । तृतीय मंत्रमें कुछ पाठभेद है, परंतु उसके विशेष स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

रोगोंसे वचना ।

[श्रुत ९६]

(अति. — भृग्वह्निराः । देवता — वनस्पतिः, सोमः ।)

या औषधयः सोमराज्ञीर्षह्वीः शतविचक्षणाः । घृहस्पतिप्रघृतास्ता नो मुञ्चन्तंहंसः ॥ १ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्याइदयो वरुण्युदित । अथो यमस्य पक्षीशाद् विश्वसाद् देवकिल्बिपात् ॥ २ ॥

पचक्षुषा मनसा यच्च वाचोपरिमि जाग्रतो यत् स्वपन्तः । सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु ॥ ३ ॥

अर्थ— (याः सोमराज्ञीः वक्षी औषधयः) जो सोम औषधि जिनमें मुख्य है ऐश्वर्य अनेक औषधियाँ हैं और जिनसे (शत-विचक्षणाः) सैकड़ों कार्य होते हैं, (घृहस्पति-प्रघृताः ताः) शान्तिके द्वारा ही हुई ये औषधियाँ (नः अंहसाः मुञ्चन्तु) हमें पावरूपी रोगसे बचावें ॥ १ ॥

(मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु) मुझको दुर्वचनसे हुए रोगसे बचावें, (अथो उत यरुण्यत्) और जलके कारण होनेवाले रोगसे बचावें । (अथो यमस्य पक्षीशात्) अथवा यमके पाशरूप असाध्य रोगोंसे बचावें तथा (विश्व-रमात् देवकिल्बिपात्) सब देवोंके संवधके पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे बचावें ॥ २ ॥

(यत् चक्षुषा मनसा) जो पाप चक्षु और मनसे तथा (यत् च वाचा) जो वाणोंसे (जाग्रतः यत् स्वपन्तः उपारिम) जागते समय और जो सोते समय हम (उपारिम) प्राप्त करते हैं (नः तानि) हमारे वह सब पाप (सोमः स्व-धया पुनातु) सोम अपनी शक्तिसे पुनीत करके दूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— सब औषधियोंमें सोम औषधि मुख्य है । इन औषधियोंसे सैकड़ों रोगोंकी निवृत्ति होती है । शान्ति वैद्य द्वारा ही ये औषधियाँ हमें रोगमुक्त करें ॥ १ ॥

दुर्वचनसे, जलके विगड़नेसे, यमके पाशरूप दोषोंसे और सब पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे औषधियाँ हमें बचावें ॥ २ ॥ औष्ठ, मन, वाणी आदि इंद्रियों द्वारा जाग्रतावस्थामें और स्वप्नावस्थामें जो पाप हम करते हैं; उन पापोंसे उत्पन्न हुए रोगोंसे सोम आदि औषधियाँ हमें बचावें ॥ ३ ॥

पापसे रोगकी उत्पत्ति ।

इस सूक्ष्म पापसे रोगोंकी उत्पत्ति होनेकी बखाना बताई है । सब रोग मनुष्योंके किये पापोंसे उत्पन्न होते हैं । यदि मनुष्य अपने आपको पापसे बचावे, तो निःसंदेह वे रोगोंसे बच सकते हैं ।

मनुष्य सोते हुए और जागते हुए अपने इन्द्रियों अनेक पाप करते हैं और रोगी होते हुए दुःख होते हैं । इनको उचित है कि, ये पापसे बचे रहें और अपने इन्द्रियोंसे पाप न करें ।

‘ शपथ ’ अर्थात् गालिया देना, घुरे शब्द बोलना और

शोषके वचन कहना यह भी पाप है । इससे अनेक रोग होते हैं । क्रोध भी स्वयं रोग उत्पन्न करता है । अतः इससे बचना उचित है ।

राग होनेपर औषधिप्रयोगसे रोगनिवृत्ति हो सकती है, परन्तु औषध (चूडरूपतिप्रसूत) ज्ञानी वैद्यद्वारा विचारपूर्वक दिया हुआ होना चाहिये ।

इस रोगसे इस सूक्ष्म बहुत उत्तम बोध दिये हैं । यदि पाठक इन सबका योग्य विचार करेंगे तो वे अपने आपको बहुत बछोसे बचा सकते हैं ।

शत्रुको दूर करना ।

[सूक्त ९७]

(ऋषि. — अथर्वा । देवता — देवः, मित्रावरुणौ ।)

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरप्रिरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः ।

अस्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधिमाग्निहोत्रा इदं हविः ॥ १ ॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् ।

वाधेधां दूरं निर्रति पराचैः कृतं चिदेनः प्र सुमुक्तमस्मत् ॥ २ ॥

इमं वीरमतु हर्षध्रुमग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम् ।

ग्रामजितं गोजितं वज्रवाहुं जयन्तमजमं प्रमृणन्तमोजसा ॥ ३ ॥

अर्थ— (यद्य अभिभू) यज्ञ शत्रुका पराभव करता है, (अग्नि अभिभू) अग्नि शत्रुका पराजय करता है, (सोमः अभिभू) सोम शत्रुका पराभव करता है, (इन्द्र अभिभू) इन्द्र शत्रुका पराभव करता है । (यथा अहं विश्वा पृतना अभि अस्मिनि) जिससे मैं सब सेनाओंका पराभव करूँ (यथा) इस प्रकार हम भी (अग्निहोत्रा इदं हविः विधेम) अग्निहोत्र करनेवाले होकर इन हविका समर्पण करेंगे ॥ १ ॥

हे (विपश्चिता मित्रावरुणा) ज्ञानी मित्र और वरुण ! आपके लिये (स्वधा अस्तु) यह अन्नभाग हो । (प्रजा वत् क्षत्र इह मधुना पिन्वत) प्रजायुक्त क्षत्रिय बल यही सोचा । (निर्रति पराचैः दूरे वाधेधां) दुर्गतिको दूर करके दूर ही नष्ट करो और (कृतं चिदेनः) किये हुए पापको भी (अस्मत् प्र सुमुक्त) हमसब दूर करो ॥ २ ॥

हे (सखाय) मित्रो ! (उग्र ग्रामजित गोजित वज्रवाहु वीर) उग्र स्वभावयुक्त, गाँवको जीतनेवाले, गोघो जीतनेवाले अथवा इन्द्रियोंको बध करनेवाले, वज्र घाटन करनेवाले वीर (ओजसा अजम प्रमृणन्त) बलसे शत्रुबलका नाश करनेवाले और (जयन्त) विजय करनेवाले (इन्द्र अनु सरभध्वम्) इन्द्रक अनुकूल अपने सब व्यवहार करो ॥ ३ ॥

भाषार्थ— यज्ञ अर्थात् परीपकार, अग्नि, सामाद आँषधि, शूरा वीर ये सब अपने अपने शत्रुओंका दूर करते हैं । उस प्रकार मैं भी सेनासे आक्रमण करनेवाले शत्रुओंपर विजय प्राप्त करूँगा । मैं इस विजयके लिये ऐसा आत्मसमर्पण करूँगा जैसा अग्निहोत्रमें हविर्द्रव्य अपने आपका समर्पण करता है ॥ १ ॥

इस राज्यमें सब क्षत्रियोंको उत्तम शूरवीर बालकचें हों और वे राष्ट्रमें ऐसा प्रबंध करें कि, ससस्त्रे सब दुर्गति नष्ट होवें और सब पाप दूर होवें ॥ २ ॥

ओ शत्रुके गाँवको जीतनेवाला, शूरवीर, शस्त्र घाटन करनेवाला अपने बलसे शत्रुसेनाका नाश करता है, उस विजय स्थापन करनेवाले वीरके अनुकूल अपना आचरण करो ॥ ३ ॥

विजयके साधन ।

इस सूक्तमें विजयके कई साधन वर्णन किये हैं । प्रथम भंत्रमें इन साधनोंकी गणना की है, देखिये—

१ यज्ञः— यज्ञसे विजय होती है । यह सबसे मुख्य साधन है । यज्ञ अर्थात् 'सरकार, संगठन और उपकार ।' सरकार करनेयोग्य जो है उसका सरकार करना, अपने अंदर संगठनसे बल बढ़ाना और दुर्बलोंके उत्तर उत्तर करना यह यज्ञ है । इस यज्ञसे वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय सब शत्रु दूर होते हैं । ये यज्ञ अनेक प्रकारके हैं । उन सबका यही वर्णन करनेकी कई आवश्यकता नहीं है । यज्ञ मातृभूमिका रक्षण करता है यह बात अथर्व-० को- १२।१।१ में भी कही है; वह मैत्र यज्ञा पाठक देखकर इसके साथ उसकी तुलना करें ।

२ अग्निः— अग्नि शान्दसे ज्ञान, प्रकाश और उष्णताका बोध यहाँ लेना योग्य है । ज्ञानसे विजय सर्वत्र होता है । प्रकाश भी विजय देनेवाला है और उष्णता अर्थात् गर्मी मनुष्योंमें रही तो वह मनुष्य कुछ न कुछ पराक्रम करनेमें समर्थ हो सकता है ।

३ सोमः— सोम आदि औषधियाँ रोगादि शत्रुओंका पराभव करती हैं ।

४ इन्द्रः— शूरवीर शत्रुसेनाका पराजय करते हैं ।

यज्ञ कैसा हो ?

विजयप्राप्तिके लिये यज्ञ कैसा हो ? इस प्रश्नके उत्तरमें प्रथम

मनने कहा है कि जैसा अग्निहोत्रमें द्विवि आत्मसमर्पण करता है, अग्निहोत्र करनेवाले लोक अपनी आहुतियोंका जैसा समर्पण करते हैं, जिस प्रकार (न मम) इसपर अब मेरा अधिकार नहीं ऐसा कहते हुए समर्पण करते हैं, उस प्रकार जब आत्म-समर्पण होगा, तब शत्रुपर विजय प्राप्त होगी । विजय प्राप्त करनेवाले अपने आपका समर्पण पूर्ण रीतिसे करें, यही यज्ञ है और यही विजय देनेवाला है ।

विजयके लिये (स्वघा अस्तु) स्वकीय धारणा शक्ति चाहिये । अपने अंदर धारणा शक्ति जितनी अधिक होगी उतना विजयप्राप्तिका निश्चय अधिक होगा ।

साथ ही साथ क्षत्रियोंमें वीर पुरुष भी उत्तम प्रकारके निर्माण होने चाहिये । इन्हींसे विजय होती है । और सब लोगोंका प्रयत्न इस कार्यके लिये होना चाहिये कि अपने राष्ट्रके अंदर जो विपत्ति है वह पूर्णरूपसे दूर हो । और सब लोग विपत्ति और कष्टसे मुक्त होकर समृद्धि तथा सुख प्राप्त करें ।

सब लोग शूरवीर, प्रतापी और पुरुषार्थी मनुष्योंके अनुकूल अपना आचरण करें और कभी प्रतिकूल आचरण न करें । क्योंकि नैतिक प्रतिकूल आचरण करनेसे नाश ही होगा और लाभ होनेकी आशा भी नहीं रहेगी ।

इस प्रकार इस सूक्तका विचार करके पाठक बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

विजयी राजा ।

[सूक्त १८]

(अभिः— अथर्वा । देवता— इन्द्रः ।)

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजेसु राजयातै ।

चर्कृत्य ईडथो वन्द्यश्चोपसप्त्यो नमस्यो भवेद

॥ १ ॥

अर्थ— (इन्द्रः जयाति) शूर पुरुषकी जय होती है, (न पराजयातै) कभी पराजय नहीं होती । (राजसु अधिराजः राजयातै) राजाओंमें जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है उसकी गोमा बढती है । हे राजा । तू (इह) इस राष्ट्रमें (चर्कृत्यः ईडथः) शत्रुका नाश करनेवाला और स्तुतिके लिये योग्य, (वन्द्य उपसप्त्यः नमस्यः भव) वन्दनीय, प्राप्त करने योग्य और नमस्कारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भावार्थ— जो पुरुष शूर होता है, उसकी जय होती है कभी पराजय नहीं होती । जो राजा सब राजाओंमें श्रेष्ठ बनता है वही अधिक प्रभावशाली, प्रशसनीय, वन्दनीय और उपास्य होता है ॥ १ ॥

१३ (अथर्व भाष्य, काण्ड ६)

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।

त्वं देवीविंश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु

॥ २ ॥

प्राच्या दिशस्त्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या दिशो वृत्रहन्त्रुहासि ।

यत्र यन्ति स्रोत्यास्तजितं तै दक्षिणतो वृषभ एषि हव्यः

॥ ३ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ! (त्वं अधिराजः) तू राजाधिराज और (श्रवस्युः) कीर्तिमान् हो । (त्वं जनानां अभिभूतिः भूः) तू प्रजाजनोक्त समृद्धिकर्ता है । (त्वं इमाः देवीः दिशः विराज) तू इन देवी प्रजाओपर विराजमान हो । (ते आयुष्मत् क्षत्रं अजरं अस्तु) तेरा दीर्घायुयुक्त क्षात्र तेज अजरहित होवे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) तू प्राचीन दिशाका राजा है । हे (वृत्रहन्) शत्रुनाशक । (उत उदीच्या दिशः शत्रुहा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है । (यत्र स्रोत्याः यन्ति) जहाँ नदियाँ जाती हैं वहाँ तकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तूने जीत लिया है । तथा (वृषभः हव्यः दक्षिणतः एषि) बलवान् और आदरके पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशाके तू जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ— उत्तम राजा कीर्तिमान् और प्रजाओंकी समृद्धि बढ़ानेवाला होवे । अपनी प्रजाको देवी संपत्तिसे युक्त करे और अपने राष्ट्रका क्षात्रतेज बढ़ाकर दीर्घ आयु भी बढ़ावे ॥ २ ॥

चारों दिशाओंमें शत्रुओंको पराजित करके राजा विजयी बने, बलवान् बने और सबके आदरका पात्र बने ॥ ३ ॥

राजा विजयी होकर किस रीतिसे यशका मागी होता है, यह बात इसमें स्पष्ट शब्दोंमें कही है । इस सूक्तका भाव अति सरल और सुबोध है । ' सौर्य और बल बढ़ाने और प्रजाकी समृद्धि वृद्धिगत करनेसे राजा विजयी होता है ' यह इस सूक्तका मुख्य आशय है ।

कल्याणके लिये यत्न ।

[सूक्त ९९]

(ऋषिः — भृगुर्गिरिः । देवता — वनस्पतिः, सोमः सविता च)

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे । ह्याम्युग्रं चेत्तारं पुरुर्णामानमेकजम् ॥ १ ॥

यो अद्य सेन्यो वृषो जिघांसन् न उदीरते । इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दक्षः ॥ २ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ! (पुरा अंहूरणात्) पाप कर्म होनेके पूर्व ही (वरिमतः त्वा त्वा अभि हुवे) श्रेष्ठ कर्मके कारण तेरी ही सब प्रकारसे पुकार करते हैं । तथा (उग्रं चेत्तारं) शूरवीर चेतना देनेवाले (एकजं पुरुर्णामानं ह्वयामि) अकेले परंतु अनेक वशोंसे संपन्न पुद्गलकी हम प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

यः मय सेन्यः घघा । ओ आज सेनाका बाहू हमें मारनेके लिये (उत् इरते) ऊपर उठता है, (तत्र इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दक्षः) वहाँ प्रभुके बाहू चारों ओर हम घेरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— जिससे पाप कर्म नहीं होता है और जो श्रेष्ठ कर्म करता है, उसीकी प्रशंसा करनी चाहिये । इसी प्रकार जो शूरवीर, जनताको चेतना देनेवाला और अनेक प्रकारसे यश प्राप्त करनेवाला है, उसीका गुणगान करना योग्य है ॥ १ ॥

जिस समय सेनासे हमला होता है और राजसे वीर एक दूसरेको काटते हैं, उस समय प्रभुके हाथ ही रक्षा करते हैं ॥ २ ॥

परि दध्न इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः । देवं सवितुः सोमं राजन्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

अर्थ— (इन्द्रस्य बाहू समन्तं परि दध्नः) प्रभुके बाहु चारों ओर हम धरते हैं, (त्रातुः न- त्रायतां) उस रक्षकके बाहु हमारी रक्षा करें । दे (सोम राजन् देव सवितुः) सोम राजा देव । प्रभो ! (स्वस्तये मा सुमनसं कृणु) कल्याणके लिये मुझे उत्तम मनवाला कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ऐसे तथा अन्य प्रकारके कठिन प्रसंगोंमें प्रभुके हाथ ही हमारी रक्षा करें । मनुष्यको यदि सखमुख कल्याणका साधन करना है तो वह अपना मन शुभ विचारोंसे परिपूर्ण रखे ॥ ३ ॥

कल्याणका मुख्य साधन

इस सूक्तमें जो कल्याणका मुख्य साधन कहा है वह देखने योग्य है—

स्वस्तये सुमनसम् । (मं ३)

‘ कल्याण प्राप्त करनेके लिये उत्तम-उत्तम मन होना चाहिये । ’

यदि मन उत्तम शुभ संकल्पोंसे युक्त हुआ, तो ही मनुष्यका सखमुख कल्याण हो सकता है । मनमें दोष रहे, तो अवश्य कष्ट होंगे । इसी प्रकार कितनी भी आपत्ति आ गई तो भी उस समय प्रभुका हाथ अपनी पीठपर है ऐसा विश्वास होना चाहिये, इस विषयमें देखिये—

सेन्याः वधः जिघांसन् उद्रीरते ।

तत्र इन्द्रस्य बाहुः समन्तं नः त्रायताम् ॥

(मं. २, ३)

‘ जब सेनाके शत्रु वधकी इच्छासे ऊपर उठते हैं, तब प्रभुका हाथ चारों ओरसे हमारी रक्षा करे । ’ प्रभुका हाथ सब प्रकारसे हमारी रक्षा कर रहा है, यह विश्वास मनुष्यको बड़ी शान्ति देता है और बल भी बढ़ाता है ।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको तीन बातें ध्यानमें धारण करनी चाहिये— (१) पाप न करना, (२) श्रेष्ठ कर्म करना और (३) तम बनकर जनताको श्रेष्ठ कर्म करनेकी प्रेरणा करना । ये तीन कर्म करनेसे ही मनुष्य श्रेष्ठ और यशस्वी बनता है ।

पाठक इस सूक्तका बहुत मनन करें; क्योंकि यह छोटासा सूक्त होनेपर भी बड़ा उत्तम उपदेश देता है और मनुष्यको श्रेष्ठ होनेकी प्रेरणा करता है ।

विषनिवारणका उपाय ।

[सूक्त १००]

(श्रुतिः — गद्यरमान् । देवता — घनस्पति ।)

देवा अदुः सूर्यो अदात् घौरिदात् पृथिव्यदितात् । तिष्ठः सरस्वतीरदुः सविता विपदूर्षणम् ॥ १ ॥

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् घन्वन्सुदुकम् । तेन देवप्रसूतेन दे दूषयता विषम् ॥ २ ॥

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा । दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चर्करारसं विषम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः विपदूर्षण अदुः) देवोंने विषनिवारण उपाय दिया है । (सूर्यः अदात्) सूर्यने दिया है । (घीः अदात्, पृथिव्या अदात्) घुलाक और पृथ्वी लोकने भी दिया है । (सविताः तिष्ठः सरस्वतीः अदुः) एकविचारवाली तीनों सरस्वती देवियोंने विषनिवारण उपाय दिया है ॥ १ ॥

दे (देवाः) देवो ! (उपजीकाः यत् उदुर्कं) उपजीक नामक औषधियां जो जल (घन्वन्ति य. आसिञ्चन्) मरुदेशमें आपके समीप सींचती हैं, (तेन देवप्रसूतेन) उस देवसे उत्पन्न जलसे (इदं विषं दूषयता) इस विषका निवारण करो ॥ २ ॥

हे औषधि ! तू (असुराणां दुहिता असि) असुरोंकी दुहिता है । (सा देवानां स्वसा असि) वह तू देवोंकी बहिन है । (दिवः पृथिव्याः संभूता) घुलाक और भूलोकसे उत्पन्न हुई (सा विषं मरसं चकरो) वह तू विषको निबेल बना ॥ ३ ॥

भाषार्थ— पृथ्वी, सूर्य, वायु, जल आदि सब देव विषको दूर करते हैं । तथा बियाई भी ऐसी है जो विष दूर करती है ॥ १ ॥ मरुदेशमें भी जो जल होता है वह विष दूर करता है ॥ २ ॥ औषधि भी विष दूर करनेवाली है ॥ ३ ॥

यह सूक्त बड़ा दुर्बोधसा है । पहिले मन्त्रमें कहा है कि पृथ्वी आदि अनेक देव विषनाशक गुण रखते हैं । अग्नि, जल, सोम आदिके प्रयोगसे विष दूर होनेकी बात वैद्यकप्रयोगमें भी कहो है ।

द्वितीय मन्त्रमें ' उपजीका ' मरुदेशमें जल उत्पन्न करती है यह जल विषनाशक है, ऐसा कहा है । यह उपजीका कौनसी वनस्पति है इसका पता नहीं चलता । ' उपजाक ' शब्दका अर्थ ' दूसरेके ऊपर रहकर अपनी उपजीविका करनेवाली । ' इससे समझ प्रतीत होता है कि वृक्षोंपर उत्पन्न होनेवाली कोई

वनस्पति हो, जिसमें रस बहुत आता हो और जो मरुदेशमें भी विपुल रससे युक्त होती हो । इस वनस्पतिके रससे या उससे जलसे विष दूर हाता है ।

यह वनस्पति (असु-राणां दुहिता) प्राण रक्षण करने-वालोंकी सहायक और (देवानां स्वसा) इन्द्रियोंके लिये भोग्यरूप है । अर्थात् यह आरोग्यवर्धक है, यह निर्जल भूमिमें उगती है और विष दूर करती है । वैद्यकों इस वनस्पतिकी खोज करनी चाहिये ।

बल प्राप्त करना ।

[सूक्त १०१]

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च । यथाङ्गं वर्धतां श्रेपस्तेन योषितुमिज्जहि ॥ १ ॥
येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्विन्त्यातुरम् । तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुर्विवा तानया पसः ॥ २ ॥
आहं तनोमि ते पसो अघि ज्यामिन् घन्वनि । क्रमस्वर्ध इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ३ ॥

अर्थ— (आ वृषायस्व) बलवान् हो, (श्वसिहि) उत्तम प्राण धारण कर, (वर्धस्व प्रथयस्व च) बढ़ और अगोंको फैला । (यथा श्रेप अङ्गं वर्धताम्) जिससे प्रजननाग पुष्ट हो, और तू (तेन योषितं इत् जाहि) उससे स्त्रीको प्राप्त हो ॥ १ ॥

हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानी ! (येन कृशं वाजयन्ति) जिससे कृश मनुष्यको पुष्ट करते हैं, (येन आतुरं हिन्वन्ति) जिससे रोगीको समर्थ बनाते हैं, (तेन) उस उपायसे (अस्य पसो धनुः इव आतानय) इसका अग धनुष्य जैसा फैला ॥ २ ॥

(आहं ते पसः तनोमि) मैं तेरी इन्द्रियोंको फैलाता हूँ, (घन्वनि अघि ज्याम् इव) जैसे धनुष्यपर बोरोंको तानते हैं (क्रशं रोहितम् इव) जिस प्रकार रीछ हरिणपर धावा करता है (अनवग्लायता सदा क्रमस्य) न थकता हुआ आक्रमण कर ॥ ३ ॥

(देखो अर्थ— पा० १०१)

भाषार्थ— हे मनुष्य ! तू बलवान् बन, प्राणका बल बढ़ा, शरीर पुष्ट कर, और मोटा ताजा कर । इस प्रकार सब शरीर उत्तम पुष्ट होनेके पश्चात् स्त्रीको प्राप्त कर ॥ १ ॥

हे ज्ञानी पुरुष ! जिस उपायसे कृशको पुष्ट करते हैं और रोगीको नीरोग करते हैं, उस उपायसे तुम्हारे सब रोगी और निर्बल लोग नीरोग और बलवान् बनें ॥ २ ॥

धनुष्यकी बोरोंके समान शरीरमें बल और लचीलापन होवे और ऐसा बल प्राप्त करके हरिणपर रीछ हमला करनेके समान न थकते हुए तू सदा हमला कर ॥ ३ ॥

चार प्रकारका बल ।

इस सूक्तमें चार प्रकारका बल कहा है । हरएकको यह चार प्रकारका बल प्राप्त करना चाहिये—

- (१) वा घृषायस्व= यह वीर्यका बल है, शरीर वीर्यवान् हो;
- (२) श्वसिहि= प्राणका बल बढ़े, श्रमका बोझासा कार्य करते ही श्वास लगना नहीं चाहिये,
- (३) वर्धस्व= शरीरकी लंबाई चौड़ाई वर्धमान हो, मनुष्य अच्छा मोटा ताजा प्रतीत हो;

(४) प्रथयस्व= हरएक अवयव अच्छी प्रकार पुष्ट हो ।

यह चार प्रकारके बलोंका वर्णन है । मनुष्यको ये चारों प्रकारके बल प्राप्त करने चाहिये । वीर्य, प्राण, शरीरकी वृद्धि और पुष्टि ये चार प्रकारके हैं । हरएक मनुष्यको अपना शरीर इन चतुर्विधबलोंसे युक्त करना चाहिये ।

कोई मनुष्य किसी कारण रोगों अथवा कृश हुआ तो उसको उचित है कि वह सुदीर्घ वैद्यसे चिकित्सा करवाकर नीरोग और दृष्टपुष्ट बने । उत्तम दृष्टपुष्ट, नीरोग और बलवान् मनुष्य ही स्त्रीसे संबंध करे । अन्य अशक्त मनुष्य दूर रहे । तथा मनुष्य बलवान् बनकर सदा पराक्रम करे ।

परस्पर प्रेम ।

[सूक्त १०२]

(ऋषि. — अमदग्निः । देवता — अभिनौ ।)

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते । एवा मामग्नि ते मनः समेतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥
 आहं स्त्रिदामि ते मनो राज्ञाश्वः पृष्ट्यामिव । रेष्मन्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥
 आज्ञनस्य मुदुषस्य कुष्ठस्य नलदस्य च । तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्धरे ॥ ३ ॥
 ॥ इति दशमोऽनुवाकः ॥

अर्थ— हे (अभिनौ) अश्विदेवो । (यथा अयं वाह सं पति) जिस प्रकार यह घोड़ा साथ-साथ जाता है, और (सं वर्तते च) मिलकर साथ-साथ रहता है, (एवा ते मनः मां अग्नि) इस प्रकार तेरा मन मेरे (सं आ पतु) साथ आवे और (सं वर्ततां च) साथ रहे ॥ १ ॥

(अहं ते मनः आ स्त्रिदामि) मैं तेरे मनको खींचता हूँ (पृष्ट्या राज्ञाश्वः इव) जिस प्रकार पीठके साथ बधी गाड़ीको घोड़ा खींचता है । (यथा रेष्मन्छिन्नं तृणं) जैसा वायुसे छिन्नभिन्न हुआ घास एक दूसरेसे लिपटता है, वैसा (ते मनः मयि वेष्टतां) तेरा मन मेरे साथ लिपट रहा ॥ २ ॥

(तुरः भगस्य) त्वरासे प्राप्त होनेवाले, भाग्ययुक्त, (आज्ञनस्य मनुष्यस्य) अज्ञानके समान इधिन करनेवाले (कुष्ठस्य नलदस्य हस्ताभ्यां) कूट और नलके समान हाथोंद्वारा (अनुरोधनं मुद्धरे) अनुकूलताको प्राप्त करता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार गाड़ीको जेतें हुए दो घोड़े साथ-साथ रहते हैं और साथ-साथ चलते हैं, उस प्रकार परस्परका मन एक साथ रहे, परस्पर विरोध न करे ॥ १ ॥

जिस प्रकार घोड़ा गाड़ीको अपनी ओर खींचता है, उस प्रकार एक मनुष्य दूसरेके मनको खींचे और इस प्रकारके प्रेमके बर्तावसे मनुष्य परस्पर संगठित होवें ॥ २ ॥

त्वरासे कोई कार्य करना, भाग्य प्राप्त होना, अज्ञान आदि भोगविलास करना, हरएक प्रकारका आनन्द कमाना इत्यादि अनेक कार्योंमें परस्परकी अनुकूलता परस्परकी देखना चाहिये ॥ ३ ॥

प्रेमका आकर्षण ।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको प्रेमके साथ आकर्षित करे और इस प्रकार सब मनुष्य संगठित होकर रहें । औपुष्य, पितापुत्र, भाईभाई तथा अन्य मनुष्य एक दूसरेको प्रेमसे आकर्षित करे और सब संगठित होकर एक विचारसे अपनी उन्नतिज्ञ साधन करें ॥

॥ यदां दशम अनुवाक समाप्त ॥

शत्रुका नाश ।

[सूक्त १०३]

(ऋषिः — उच्छोचनः । देवता — इन्द्राग्नी, यदुदैयतम् ।)

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता केरत् । संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विनी ॥ १ ॥
सं परमान्तसमेष्वमानथो सं धामि मध्यमान् । इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं धा त्वम् ॥ २ ॥
अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः । इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं धा त्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ— हे शत्रुओ ! (बृहस्पतिः यः संदानं केरत्) बृहस्पति तुम्हारा खंडन करे, (सविता संदानं) सविता नाश करे, (मित्रः संदानं, अर्यमा संदानं) मित्र और अर्यमा टुकड़े करे, (भगः अश्विना संदानं) भग और अश्वि-देव तुम्हारा नाश करे ॥ १ ॥

शत्रुओंके (परमान् अवमान् अथो अध्यमान् सं सं सं धामि) दूरके, पाशके और बाँचके सैनिकोंको काटता हूँ, (इन्द्रः तान् परि अहः) इन्द्र उन सबका निवारण करे । हे अमी ! (त्वं तान् दाम्ना सं धा) तू उनको पाशसे खाधीन रख ॥ २ ॥

(केतून् कृत्वा) झणोंको रठाकर (अमी ये अनीकशः युद्धं आयन्ति) ये जो अपनी-अपनी टुकड़ियोंके साथ युद्धके लिये आते हैं, (तान् इन्द्रः परि अहः) उनका इन्द्र निवारण करे, हे अमी ! (त्वं तान् दाम्ना सं धा) तू उनको पाशसे बाँधकर रख ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ज्ञानी, शूर, मित्र, न्यायकारी, धनवान्, अश्ववान् ये सब राष्ट्रकी रक्षाके लिये अपनी-अपनी शक्तिये शत्रुका संहार करें, कोई कर कर पीछे न रहे ॥ १ ॥

शत्रुसेनामें जो पाशवाले, बाँचके और दूरके सैनिक हैं, उनका निवारण किया जावे और जो पाश मिलें उनको अपने आधीन किया जावे ॥ २ ॥

जो सैनिक झणोंको रठाकर छोटे-छोटे विभागोंमें मिलकर हमला करते हैं, उनका भी पूर्वोक्त प्रकारसे नाश किया जावे ॥ ३ ॥

शत्रुका दमन ।

जिस समय राष्ट्रक्षका अथ उपस्थित हो उस समय (बृहस्पति) ज्ञानीजन, (सविता) शूर वीर, (मित्र) मित्र-दलके लोग, (अर्य-मा) न्याय करनेवाले, अष्ट कौन है और कौन नहीं इसका प्रमाण निश्चित करनेवाले, (भगः) ऐश्वर्यवान्, (अश्विनी) अश्ववाले अर्थात् घोड़ोंपर सवार होनेवाले वीर, (इन्द्र) भेरुमंडल, शूर, वीर, (अग्निः) प्रकाशक आदि सब प्रकारके लोग अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिये कटिबद्ध होकर हरएक प्रकारसे शत्रुका नाश करें और अपने राष्ट्रका

संरक्षण करें । इनमेंसे कोई भी पीछे न रहे, अपनी-अपनी शक्तिये अनुसार जो हो सके, वह हरएक मनुष्य करे और अपने राष्ट्रकी रक्षा करे ।

इस सूक्तमें जो देवतावाचक नाम आये हैं वे देवोंके दिव्य राष्ट्रके अनेक ओहदेदार हैं, देवराष्ट्रमें उनके कार्य निश्चित हैं । वेही कार्य करनेवाले मानवराष्ट्रके ओहदेदार उसी प्रकारके अपने-अपने कार्य करें और अपने राष्ट्रकी रक्षा करें, यह इस सूक्तका आशय है । जैसा देव करते हैं वैसा मनुष्य यही करें और देव बन जाय ।



शत्रुका पराजय ।

[धृक् १०४]

(ऋषिः — प्रशोचनः । देवता — इन्द्राग्नी, वह्नयो देवताः ।)

आदानेन संदानेनामित्रानां घामसि । अपाना ये चैषां प्राणा असुनासुन्तसमच्छिदन् ॥ १ ॥

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम् । अमित्रा येन नः सन्ति तानेग्र आ द्या त्वम् ॥ २ ॥

ऐनान् यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनी । इन्द्रो मरुत्वान्दानममित्रैभ्यः कृणोतु नः ॥ ३ ॥

अर्थ— (आदानेन संदानेन) पकड़ने और बंध करनेसे (अमित्रान् आ घामसि) शत्रुओंको नष्ट करते हैं । (येषां ये च प्राणाः अपानाः) इनके जो प्राण और अपान हैं उन (असून् असुना स्त अच्छिदम्) प्राणोंको प्राणोंसे ही काट डालता हूँ ॥ १ ॥

(इन्द्रेण तपसा संशित) इन्द्रने तपके द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ (इदं आदानं अकरं) यह पाश मैंने बनाया है, (ये सप्त नः अमित्राः सन्ति) जो यहाँ हमारे शत्रु हैं, हे अग्नि ! (तान् एवं आ द्य) उनका तू नाश कर ॥ २ ॥

(इन्द्राग्नी यनान् आ द्यातां) इन्द्र और अग्नि इनका नाश करे । (सोमः राजा च मेदिनी) सोम और राजा भी आनेदसे यह कार्य करे । (मरुत्वान् इन्द्रः) मरुतोंके साथ इन्द्र (नः अमित्रैभ्यः आदानं कृणोतु) हमारे शत्रुओंको पकड़ रहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— शत्रुको पकड़कर उनके प्रतिबन्धमें रखनेके द्वारा हम उनका नाश करते हैं । उनके प्राणोंका बल ही हम कम करते हैं ॥ १ ॥

तपके द्वारा बनाया यह पाश है उससे शत्रुको बांध और उनका नाश कर ॥ २ ॥

सब देव शत्रुनाश करनेके कार्यमें हमें सहायता करें ॥ ३ ॥

शत्रुको पकड़ना ।

शत्रुको पकड़कर उसको प्रतिबन्ध करना चाहिये । उसकी शत्रुताका प्रतिबन्ध हुआ तो शत्रु नष्ट हुआ, यह बात स्पष्ट है । अपने तपके प्रभावसे शत्रु प्रतिबन्धित होता है और तप न होनेसे शत्रु प्रबल होता है । इस बातका हरएक मनुष्य अनुभव कर सकता है । इसलिये इसके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

खांसीको दूर करना ।

[धृक् १०५]

(ऋषिः — उन्मोचनः । देवता — कासा ।)

यथा मनो मनस्कृतैः परापतत्याश्रुमत् । एवा एवं कासे प्र पतु मनुसोनु प्रवाट्यपुम् ॥ १ ॥

अर्थ— (यथा आश्रुमत् मनः) जिस प्रकार शीघ्रगामी मन (मनस्कृतैः परा पतति) मनुके विषयोंके साथ दूर जाता है, (एषा) इस प्रकार, हे (कासे) बाघी आदि रोग ! (एवं मनुसः प्रवाट्यं अनु प्र पत) तू मनुके प्रवाहके समान दूर भाग जा ॥ १ ॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतन्त्याशुमत् । एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥
यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् । एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्फानुं विश्रम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यथा सुसंशितः बाणः) जिस प्रकार अतितीक्ष्ण बाण (आशुमत् परापतति) शीघ्रतासे दूर जाकर गिरता है (एवा) इस प्रकार, हे (कासे) खाँसी ! (त्वं पृथिव्याः संवतं अनु प्र पत) तू पृथ्वीके निम्न स्थलमें गिर जा ॥ २ ॥

(यथा सूर्यस्य रश्मयः) जिस प्रकार सूर्यकिरण (आशुमत् परापतन्ति) वेगसे दूर भागते हैं, (एवा) इस प्रकार, हे (कास) खाँसी ! तू (समुद्रस्य विश्रं अनु प्र पत) समुद्रके प्रवाहके समान दूर गिर जा ॥ ३ ॥

भाषार्थ— मन, सूर्यकिरण और बाण इनका वेग बड़ा है। जिस वेगसे ये जाते हैं, उस वेगसे खाँसी भी बीमारी दूर होवे ॥ १-३ ॥

(संभवतः खाँसी निवारणका उपाय मनके नाश, संकल्प और सूर्यकिरणके संबंधमें होगा ।)

घरकी शोभा ।

[सूक्त १०६]

(ऋषिः — प्रमोचनः । देवता — दूर्वाशाला ।)

आर्यने ते परार्यणे दूर्वां रोहन्तु पुष्पिणीः । उत्सो वा तत्र जायतां हृदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥
अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् । मध्ये हृदस्य नो गृहाः पराचीना सुखा कुषि ॥ २ ॥
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि । शीतहृदा हि नो सुवोमिष्कृणोतु मेपुजम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आर्यने परार्यणे) तेरे घरके आगे और पीछे (पुष्पिणीः दूर्वाः रोहन्तु) फूलोंसे युक्त दूर्वा घास चमे । (तत्र वा उत्सः जायतां) और वहाँ एक हीद हो, (वा पुण्डरीकवान् हृदः) अथवा वहाँ कमलौवाला तालाब बने ॥ १ ॥

(हृदं अपां न्ययनं) यह जलोंका प्रवाहस्थान होवे, (समुद्रस्य निवेशनं) समुद्रके समीपका स्थान हो, (हृदस्य मध्ये नः गृहाः) तालाबके बीचमें हमारे घर हों, (सुखाः पराचीना कुषि) घरके द्वार परस्पर विरुद्ध दिशामें कर ॥ २ ॥

हे शाले ! (त्वा हिमस्य जरायुणा) तुझे शीतके आवरणसे (परि व्ययामसि) घेरते हैं । (नः शीतहृदाः सुवः) हमारे लिये शीतल जलवाले तालाब बहुत हों, और हमारे लिये (अग्निः मेपुजं कृणोतु) अग्नि शीत निवारणका उपाय करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— घरके आगे और पीछे दूर्वाका उद्यान हो, उसमें बहुत प्रकारके फूल उत्पन्न हों, वहाँ पानीका हीद हो, और कमलौवाला तालाब हो ॥ १ ॥

घरके पास जलके प्रवाह जलें, घरका स्थान समुद्रके किनारेपर हो, अथवा तालाबके मध्यमें हो, और घरके दरवाजे वा खिड़कियाँ सामने-सामने हों ॥ २ ॥

घरके चारों ओर जल हो, शीत जलके हीद हों, और यदि सर्दी अधिक हुई तो शीतनिवारणके लिये घरमें अग्नि जला-नेका स्थान हो ॥ ३ ॥

घरके आसपासकी थोमा कैसी हो, यह इस सूक्तने उत्तम रीतिसे बताया है । घरके चारों ओर बाग हो, कमलसे भर-पूर तालाब हो, जलके नहर बहें उद्यान उत्तम हो और चारों ओर रमणीय थोमा बने । ऐसा सुस्मय घरके आसपासका स्थान होना चाहिये । घरके द्वार और खिड़कियाँ आगने सामने हों, जिससे घरमें शुद्ध वायु बिना प्रतिबन्ध आ जाय । घरमें आग

जलती रहे । शीत लगने पर घरके लोग अधिकसे पास जाकर शीतनिवारणका उपाय करें ।

पाठक देखें कि वेदने कैसे उत्तम उद्यानयुक्त घरका कल्पना की है । हरएकको अपना घर जहाँतक हो सके वहाँतक उद्यान और जलसे युक्त करना चाहिये ।

अपनी रक्षा ।

[सूक्त १०७]

(ऋषिः — शान्ताति । देवता — विश्वजित् ।)

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि ।

त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ १ ॥

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि ।

विश्वजित् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ २ ॥

विश्वजित् कल्याणायै मा परि देहि ।

कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ३ ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि ।

सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— हे (विश्वजित्) जगतको जीतनेवाले ! (मा त्रायमाणायै परि देहि) मुझे रक्षा करनेवाली शक्तिके लिये दे । हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (नः द्विपात् चतुष्पाद् च सर्वं रक्ष) हमारे द्विपाद और चतुष्पाद सबकी रक्षा कर और (यत् च मा स्वम्) जो अपना धन है उसकी भी रक्षा कर ॥ १ ॥

हे (त्रायमाणे) रक्षक शक्ति ! (मा विश्वजिते देहि) मुझे जगतका विजय करनेवालेके पास दे । हे जगज्जेता ! मेरे और द्विपाद चतुष्पाद सबकी रक्षा कर ॥ २ ॥

हे जगज्जेता ! (मा कल्याणायै परि देहि) मुझे कल्याण करनेवाली शक्तिके आधीन कर । हे कल्याणि ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे कल्याणि ! (मा सर्वविदे परि देहि) मुझे सर्वज्ञके पास पहुंचा । हे सर्वज्ञ ! मेरे धन और द्विपाद चतुष्पादकी रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ— जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाला रक्षकके सुपुत्र रक्षणाय वस्तुमात्रको करे । वह रक्षक सबकी सयामोरय रक्षा करे । रक्षक उन सब पदार्थोंको विश्वविजयीके पास देवे । और वह विश्वविजयी सबकी योग्य रक्षा करे । यह सब रक्षा सबके कल्याणके लिये हो, अर्थात् सबकी रक्षासे सबका सयामोग्य उत्तम कल्याण हो । कल्याण होनेका अर्थ यह है कि सब विशेष ज्ञानोंके पास रहें क्योंकि सब प्रकारका कल्याण ज्ञानसे ही होगा ॥ १-४ ॥

इस सूक्तसे यह बोध प्राप्त हो सकता है— (१) हरएकको अपने अन्दर रक्षा करनेकी शक्ति बढ़ानी चाहिये । (२) मैं विजय प्राप्त करूँगा ऐसी महत्वाकांक्षा धारण करनी चाहिये (३) सबको अधिकसे अधिक कल्याण करनेके लिये प्रयत्न करने चाहिये और (४) ज्ञानीकी रीतिमें सबकी लगना चाहिये ।

मेधा बुद्धि ।

[सूक्त १०८]

(ऋषि — शौनकः । देवता — मेधा ।)

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरर्ध्वभिरा गहि । त्वं सूर्यस्य रुदिमभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥
मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजुतामृषिष्टुताम् । प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥
यां मेधाममृषीं विदुर्यां मेधामसुतां विदुः । ऋषयो भद्रा मेधां यां विदुस्तां मर्या वेशयामसि ॥ ३ ॥
यामृषयो भूतकृता मेधां मेधाविनां विदुः । तया मामद्य मेधयामे मेधाविनं कणु ॥ ४ ॥
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्वन्दिनं परि । मेधां सूर्यस्य रुदिमभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

अर्थ — हे (मेधे) मेधाबुद्धि । (त्वं नः प्रथमा यज्ञिया असि) तू हमारे पास प्रथम स्थानमें पूजनीय है । तू (गोभिः अर्ध्वेभिः आ गहि) तू गोओं और घोड़ों अर्थात् सब घनोके साथ हमारे पास आ । तथा (त्वं सूर्यस्य रुदिमभिः नः आ गहि) तू सूर्यकिरणोंके साथ हमारे पास आ ॥ १ ॥

(अहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं) मैं श्रेष्ठ ज्ञानियोंके युक्त (ब्रह्मजुतां ऋषिस्तुतां) ज्ञानियोंके रचित और ऋषियोंद्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा स्वीकार की गई (मेधां देवानां अवसे हुवे) मेधाबुद्धिई इदियोंकी रक्षाके लिये आर्यना करता हू ॥ २ ॥

(आमद्य यां मेधां विदुः) कारीगर जिस बुद्धिको जानते हैं, (असुराः यां मेधां विदुः) अश्व अर्थात् प्राणवियामें रहनेवाले जिस मेधाको जानते हैं, अथवा असुरोंमें जो बुद्धि है, (यां भद्रा मेधा ऋषयः विदुः) जिस कल्याणकारीणी बुद्धिको ऋषि लोग जानते हैं (तां मयि आ वेशयामसि) वह बुद्धि मेरे अंदर प्रविष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

(भूतकृत मेधाविनः कणुयः) पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाले बुद्धिमान ऋषि (यां मेधां विदुः) जिस बुद्धिको जानते हैं, हे अम ! (तया मेधया) उस मेधाबुद्धिसे (अद्य मां मेधाविनं कणु) आज मुझे बुद्धिमान कर ॥ ४ ॥

(मेधां सायं) बुद्धिको शामके समय, (मेधां प्रातः) बुद्धिको प्रातःकाल, (मेधां मध्वन्दिनं परि) बुद्धिको मध्य दिनके समय (मेधां सूर्यस्य रुदिमभिः) बुद्धिको सूर्यकी किरणोंके (वचसा आ वेशयामसि) और उत्तम वचनसे अपने अंदर प्रविष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ — धारणावती बुद्धि सबसे अधिक पूज्य है वह सब प्रकारके घनके साथ हमें प्राप्त हो । यह धारणावती बुद्धि ज्ञानियामें रहती है, ऋषि इसकी प्रशंसा करते हैं, ब्रह्मचारी इसका सेवन करते हैं, इसलिये इसकी प्रशंसा हम करते हैं । कारीगर, ऋषि और असुर जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध हैं वह बुद्धि हमें प्राप्त हो । बुद्धिमान ऋषि जिस बुद्धिके लिये प्रसिद्ध थे वह बुद्धि हमें प्राप्त हो । खेरे, दोषहर, शत्रुको तथा अन्य समय हमारा व्यवहार ऐसा हो कि हमें सबबुद्धि प्राप्त हो और हमें सबपदेश मिले ॥ १-५ ॥

यह सूक्त बुद्धिकी प्रशंसापर है । मेधाबुद्धि वह है कि जिसको धारणावती बुद्धि कहते हैं । यह बुद्धि जितनी अधिक होगी सतनी मनुष्यकी विशेष योग्यता होती है । लोग ऋषि योंका विशेष सम्मान करते हैं इसका कारण यह है कि उनमें यह बुद्धि भी और रहती है । ब्रह्मचारिणण प्रभुके सभिध रहकर इस बुद्धिकी प्राप्तिही इच्छा करते हैं । यह बुद्धि रहनेसे ही मनुष्य इस परलोकमें उत्तम अवस्था प्राप्त कर सकता है ।

कारीगर लोगोंमें एक प्रकारकी धारणाबुद्धि रहती है,

असुरोंमें विश्वकी अंतर्नेकी महत्वाकांक्षा रहती है, ऋषियोंमें बड़ी सत्त्वगुणी बुद्धि रहती है, यह बुद्धि विशेष उच्च रूपमें हमें प्राप्त हो । विशेष कर बुद्धिमान ज्ञानी ऋषियोंमें जो विशाल बुद्धि भी वैसी बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये । प्रातःकालसे सायंकाल तक अपने प्रयत्नसे यह बुद्धि अपने अंदर बढानेका प्रयत्न करना चाहिये । हरएक मनुष्य ऐसा प्रयत्नवान् हुआ तो वह इस बुद्धिको अवश्य प्राप्त कर सकेगा ।

पिप्पली औषधि ।

[सूक्त १०९]

(ऋषिः — अथर्षा । देवता — पिप्पली ।)

पिप्पली क्षिप्तमेपज्युः तातिविद्धमेपजी । ता देवाः समकल्पयन्निं जीवित्वा अलम् ॥ १ ॥
पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि । यं जीवमश्रवामहै न स रिप्याति पूरुषः ॥ २ ॥
असुरास्त्वा न्यखिनन् देवास्त्वोदवपुन् पुनः । चातीकृतस्य मेपजीमयो क्षिप्तस्य मेपजीम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (पिप्पली क्षिप्तमेपजी) पिप्पली औषधी उन्माद रोगकी औषधि है, (उत अतिविद्धमेपजी) और महाभ्याधिकी औषधी है, (देवाः तां समकल्पयन्) देवोंने उसको समर्थ बनाया है कि (इयं जीवित्यै अलं) यह औषधि जीवनके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

(जननात् अधि आयतीः) जन्मसे आती हुई (पिप्पल्यः समवदन्त) पिप्पली औषधियां बोलती हैं कि, हमको (यं जीवं अश्रवामहै) जिस जीवको खिलाया जावे (सः पूरुषः न रिप्याति) वह पुरुष मरता नहीं ॥ २ ॥
तू (चातीकृतस्य मेपजी) बात रोगकी औषधी (अथो क्षिप्तस्य मेपजी) और उन्माद रोगकी औषधी है, उस वृक्षको (असुराः स्वा न्यखिनन्) असुरोंने पहिले खोदा था और (पुनः देवाः स्वा उदवपुन्) फिर देवोंने लगाया था ॥ ३ ॥

भाषार्थ— पिप्पली औषधी उन्माद और वात अथवा महाभ्याधिकी औषधी है । यह एक ही औषधी आरोग्य और रक्षाके लिये पर्याप्त है ॥ १ ॥

ओ रोगी पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगसे मुक्त नहीं होता, यह इस औषधिकी प्रतिज्ञा है ॥ २ ॥
इस वातरोग और उन्मादरोगकी औषधिका पता पहिले असुरोंका लगा, इसलिये इन्होंने इसको भूमिसे उखाड़ा और पचात देवोंने इसको विशेषरूपसे बनाया ॥ ३ ॥

पिप्पली औषधि

पिप्पली औषधि अनेकी ही मनुष्यके आरोग्यके लिये पर्याप्त है, इतना निश्चयपूर्वक कथन प्रथम और द्वितीय मंत्रमें है । ओ पिप्पलीका सेवन करता है वह रोगी नहीं होता यह बात द्वितीय मंत्रमें विशेष रीतिसे कहा है । इस विषयमें वैद्यक ग्रंथोंमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

ज्वरघ्नी घृष्या तिप्तोष्णा कटुतिक्ता दीपनी
मारुतश्वासकासश्लेष्मक्षयघ्नी च । (रा. नि. व. ६)
मधुना सा मेदोवृद्धिक्फश्वासकासज्वरघ्नी
मेघाग्निवृद्धिकरी च । गुडेन सा जीर्णज्वरा-
ग्निमान्यहरी च । तत्र भागीक पिप्पल्या भाग-
द्वयं च गुहस्येति । (भा. प्र. १)

'पिप्पली ज्वरनाशक, शीर्षवर्धक है, मेद-कफ-घ्रास-श्लेष्मा-ज्वर इनका नाश करती है; बुद्धि और भूखको बढ़ाती है । शहदेके साथ भक्षण करनेसे मेद, कफ, श्वास, खाँसी और ज्वर दूर करती है, बुद्धि और पाचनशक्ति बढ़ाती है । गुहके साथ भक्षण करनेसे जीर्णज्वर और अग्निमान्य दूर करती है । पिप्पली एक भाग और गुह दो भाग लेना चाहिये ।'

इससे पता लगता है कि इस पिप्पलीके सेवनसे कितना लाभ हो सकता है और देखिये—

(१) पिप्पली रसायन-बुद्धिवर्धक है । इस विषयमें चरकका कथन है—

तिस्त्रस्तिस्त्रस्तु पूर्वोक्ते भुक्त्वाप्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारमायिता घृतभाजितः ॥
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां रसायनगुणैरिषिणा ॥

(चरक चि. १)

'घामे भुनी और पलाशके छारसे मिश्रित पिप्पलियां शहद और घोंके साथ मिलाकर छेबरे तीन और भोजनके पश्चात् तीन खानेसे उत्तम रसायनगुण प्राप्त होता है ।' यह रसायन बुद्धिवर्धक है । कमजोर बुद्धिशाले वैद्यकी अनुमतिके साथ इसका प्रयोग करें ।

(२) वर्धमानपिप्पलीरसायन— पहिले दिन घी, पिप्पली दूधमें कपाव करके सेवन करना, दूसरे दिन घी, तीसरे दिन तीस इस प्रकार दस दिन करना पश्चात् दसके अनुपातसे न्यून करके बीस दिन तक सेवन करना । वायिक प्यावल दूधके साथ खाना, और त्रितना पचन हो उतना दूध पाना और घी भी खाना । यह उत्तम मात्रा है, ओ असक्त हैं वे छाः या तानके अनुपातसे भी सेवन कर सकते हैं । इसके गुण बहुत हैं । मनुष्य सुखी बन सकता है । परन्तु ये सब प्रयोग उत्तम वैद्यकी अनुकूलतामें ही करना चाहिये । अन्यथा हानिकी संभावना रहेगी ।

नवजात बालक ।

[सूक्त ११०]

(श्रुतिः — मयर्षा । देवता — अग्निः ।)

प्रतनो हि कर्माडयो अघ्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि ।
 स्वां चाग्ने तुन्वुं विप्रायस्वास्मभ्यं च सौमगमा यजस्व ॥ १ ॥
 ज्येष्ठान्यां जातो विचृतोऽयमस्य मूलबर्हणात् परि पाक्षेनम् ।
 अत्येनं नेपद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्याय शतशारदाय ॥ २ ॥
 व्याघ्रेह्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः ।
 स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीजनित्रीम् ॥ ३ ॥

मयर्ष-- तु (प्रतनः हि अघ्वरेषु कं ईड्यः) पुरातन और यज्ञोंमें सबसे स्तुति करने योग्य (सनात् च होता) सनातन कालसे बाता और (नव्यः च सत्सि) नवीन ऐसा सर्वत्र विद्यमान है । हे अग्ने ! तु (स्वां तन्वुं अस्मभ्यं विप्रायस्व) अपने शरीर कपी इस ब्रह्माण्डको हमें पूर्णरूपसे दे । और (सौमगं मा यजस्व) उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर ॥ १ ॥

(ज्येष्ठ-भ्यां जातः) ज्येष्ठका नाश करनेवालोंमें यह उत्पन्न हुआ है । (वि-चृतोऽयमस्य मूलबर्हणात् एवं परि पाक्षि) विशेष हिंसक यमके मूलछेदनसे इसकी रक्षा कर । (विश्वा दुरितानि एने मति नेपत्) सब दुःखोंसे इसे पार करा और (दीर्घायुत्याय शतशारदाय) धी वर्षकी दीर्घायुके लिये इसके पटुका ॥ २ ॥

(व्याघ्रे अग्नि) क्रूर दिनमें (वीरः अजनिष्ट) वीर पुत्र उत्पन्न हुआ है, (नक्षत्र-जाः जायमानः सुवीरः) योग्य नक्षत्रके समय उत्पन्न हुआ यह उत्तम वीर है । (सः वर्धमानः पितरं मा वधीत्) वह बढ़ता हुआ पिताको न मारे, (जनित्रीं मातरं च मा प्र मिनीत्) उत्पादक माताको भी दुःख न दे ॥ ३ ॥

भाषार्थ-- ईश्वर पुरातन, पूजनीय, सुख देनेवाला, और नवीन ऐसा सर्वत्र वर्तमान है । यह जगत् उत्पन्न शरीर है, वह हमें उग्रे सुख प्रदान करता है और ऐश्वर्य भी देता है ॥ १ ॥

अथ स्त्रीकी पहिली सतान मरती है उस स्त्रीका यह पुत्र है, मानो यमके द्वारमें ही यह है, इसलिये नाल छेदनके समयसे ही इसकी रक्षा करो, इसके सब कष्ट दूर हों और वह दीर्घायु हो ॥ २ ॥

बाहे किसी भी अनिष्ट समयमें यह लड़का उत्पन्न क्यों न हुआ हो, यह उत्पन्न होनेके बाद उत्तम वीर बने, और बढ़ता हुआ अपने माता पिताको कोई हानि न पहुँचावे ॥ ३ ॥

[यह सूक्त योद्धाओं के लिए है । इसके सत्य अर्थकी ओर विशेष करनी चाहिये । अभीतक इसके ठीक अर्थका निश्चय नहीं हुआ है ।]

मुक्तिका अधिकारी ।

[वृत्त १११]

(ऋषि — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

इमं मे अग्रे पुरुषं सुमुख्यं यो बद्धः सुयतो लालपीति ।

अतोऽपि ते कृणवद् भागधेयं यदनुन्मदितोऽसि

॥ १ ॥

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् । कृणोमि विद्वान् भेषजं यदनुन्मदितोऽसि

॥ २ ॥

देवैरनुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसुस्परि । कृणोमि विद्वान् भेषजं यदनुन्मदितोऽसि

॥ ३ ॥

पुनस्त्वा दुर्गत्तरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः । पुनस्त्वा दुर्विश्वे देवा यदनुन्मदितोऽसि

॥ ४ ॥

अर्थ— हे अग्ने । (य बद्धः सुयत लालपीति) जो बद्ध मनुष्य उतम बद्ध होनेके कारण बहुतसा आक्रोश करता है, (मे इम पुरुषं सुमुखि) मेरे इस पुरुषको मुक्त कर । (यदा) अब मनुष्य (अनुन्मदितः असति) उन्मादरहित होता है (अत ते भागधेयं अग्नि कृणवद्) तब तेरा भाग्य सब प्रचारित होगा ॥ १ ॥

(अग्निः ते निशमयतु) तेनरवी देव तेरे अन्दर शान्ति वापस करे (यदि ते मन उद्युतम्) यदि तेरा मन उद्यत गया है । (यथा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्मादरहित होगा, (भेषजं विद्वान् कृणोमि) वेदा औषध जानता हुआ मैं वैसा करता हू ॥ २ ॥

(देव-एनसात् उन्मदितः) देवसन्धी पापसे उन्माद हुआ हो (राक्षसः परि उन्मत्तं) राक्षसे पापसे उन्माद हुआ हो, (विद्वान् भेषज कृणोमि) मैं जानता हुआ औषध करता हू (यदा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्माद रहित हो ॥ ३ ॥

(अत्तरसः स्वा पुनः पुनः) अत्तरोंने तुझे पुनः दिया है, (इन्द्रः पुनः, भगः पुनः) इन्द्र और भगने तुझे पुनः दिया है । (विश्वे देवाः स्वा पुनः अतुः) विश्वे देवोंने तुझे फिर दिया है, (यथा अनुन्मदितः असति) जिससे तू उन्मादरहित हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ— जो बद्ध है और बधमुक्त होनेके लिये आक्रोश करता है उसकी मुक्तता होती है । जो उन्मत्त नहीं बनता उसका भाग्य उद्यत होता है ॥ १ ॥

जिसका मन उदास हुआ है उसकी परमेश्वर ही शान्ति देगा । जो उन्मत्त नहीं होता है उसकी उन्नतिके लिये उपाय हो सकता है ॥ २ ॥

देवी और राक्षस पाप करनेके कारण जो उन्मत्त होते हैं, इनका उपाय करके उन्मादको दूर किया जा सकता है ॥ ३ ॥

अपरा, इन्द्र, भग और सब इतर देव इनकी सहायतासे इस रोगीको पुन आरोग्य प्राप्त हुआ है । अर्थात् इसका उन्माद दूर हुआ है ॥ ४ ॥

मुक्त कौन होता है ?

जो मनुष्य बद्ध होनेकी अवस्थामें बद्धतासे ब्रत हुआ होता है, और मुक्त होनेके लिये तत्पता है, आक्रोश करता है और बद्धतासे पूर्ण असमाधान व्यक्त करता है, वह मुक्तिका अधिकारी है, देखिये—

यः सुयतः बद्धः लालपीति, इम पुरुष सुमुखि ।
(मे १)

‘ जो उतम रीतिसे बद्ध हुआ मनुष्य आक्रोश करता है, उस पुरुषको मुक्त कर ’ जो बद्ध अवस्थामें संतुष्ट रहते हैं उनकी मुक्तता नहीं होगी । क्योंकि वे जन्मसे ही गुलाम हैं और गुलामीमें रहनेके लिये सिद्ध हैं और गुलाम रहनेमें आनन्द मानते हैं अथवा कई तो अपनी गुलामी सुख होनेके लिये प्रयत्न भी करते हैं । ऐसे लोग तो क्या गुलामीमें रहेंगे हा । गुलामीसे मुक्त वे होंगे कि जो गुलामीमें रहना नहीं चाहते

और मुक्त होनेके लिये तबकते हैं और गुलामीसे छूट जानेके लिये महाआक्रोश करते हैं । ' मैं गुलामीसे छूटत हूँ, मैं इसके बाद गुलामीमें रहना नहीं चाहता, देखो ! मुझे बन्धन तोड़नेमें सहायता देओ, मैं मर जाऊँगा परंतु गुलामीमें नहीं रहूँगा ' इस प्रकार आक्रोश द्वारा जो अपने मनके भाव व्यक्त करता है वह मुक्तिका अधिकारी है । इस प्रकार आक्रोश करता हुआ भी जो प्रमाद करेगा वह मुक्त नहीं होगा, परंतु प्रमाद रहित होकर यत्न करेगा वही मुक्त होगा, इस विषयमें मंत्रका उपदेश देखिये—

यदा अनुमदितः असति, अतः भागधेयं
अधि कृण्वत् । (मं. १)

' जब उन्मत्त नहीं होता, तब पश्चात् उसका दैव उदय होता है । अर्थात् केवल गुलामीके विरुद्ध मनके भाव प्रकट करनेसे ही कार्य नहीं होगा, गुलामीसे प्रवृत्त हुआ मनुष्य यदि पागल बनेगा और अयोग्य वर्तन करेगा, तो उससे उसका लाभ नहीं होगा । अतः उसे उन्मत्त अथवा प्रमादी बनना नहीं चाहिये, प्रयुक्त दण्ड और योग्य दिशासे स्वकर्तव्यतत्पर होना चाहिये, तभी उसका भाग्य उदयको प्राप्त हो सकता है । बंधने मुक्त होनेकी आतुरता, मनके भाव स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करनेका धैर्य, दक्षतासे स्वकर्तव्य करना ये तीन साधन करनेके पश्चात् उसका भाग्य उदय होने लगता है ।

सामान्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके ये उपाय हैं । यह मुक्ति आभ्यासिक हो, राजकीय हो, सामाजिक हो, या रोगांश मुक्ति हो, ये नियम सब मुक्तियोंके लिये सामान्य हैं ।

मन उत्पन्न जानेपर ।

मुक्तिका पय बड़ा कठिन है, किसी समय थिरिद मिलती है और किसी समय उलटी दानि भी होती है । दानिके उपपन्न उच्छद जाता है, उदाह होता है, किर्तव्यतामूढ होता है, उस समय—

यदि ते मनः उद्युतं, नमिः नि शमयतु । (मं. १)

' यदि तेरा मन उच्छद गया हो, तो तेजस्वी देव तुझे शान्ति

देवे । ' उस समय मुक्तिकी इच्छा करनेवाला मनुष्य प्रभुकी प्रार्थना करे, प्रभुसे शान्ति प्राप्त होगी । मन कितना भी दुःखी हुआ हो प्रभुकी शरणमें जानेसे उसे शान्ति प्राप्त होगी । अतः मुक्तिकी इच्छा करनेवाले लोग उदासीनताके समय प्रभुकी शरण लें, अथवा कभी उदासीनता न आ जाय इस लिये प्रतिदिन उसकी भक्ति करें । इससे मन शान्त रहेगा, प्रमाद नहीं होगा और उन्नतिका मार्ग सीधा खुला होगा । ' ।

पापके दो भेदः ।

पापके दो भेद हैं, एक देवोंके संबंधके पाप और दूसरे राक्षसोंके कारण होनेवाले पाप । पृथ्वी, आप, तेज, वायु, औषधी आदि अनेक देवताएं हैं, इनके विषयमें पाप मनुष्य करते हैं, भूमिका अपहरण, जलका धिगाड करना, वायुकी दोषी बनाना आदि जो हैं वे सब देवोंके संबंधमें पाप हैं । इन पापोंसे दोष होते हैं और मनुष्य प्रमाद करते हैं और दुःख भोगते हैं । दम, दर्प, अभिमान आदि राक्षसी भाव हैं, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है और दोषी होकर दुःख भोगता है । ये दो प्रकारके पाप हैं, मनुष्य इन दोनों प्रकारके पापोंसे अपने आपको बचावे, यह आदेश देनेके लिये निम्नलिखित मंत्रमाग है—

देव-पनसात् उन्मदितं, रक्षसस्पति उन्मत्तम् ।
मेयजं कृणोमि यदा अनुमदितः असति ॥

(मं. ३)

' देवताओंके संबंधके पापसे जो दोष हुआ है, और राक्षसों के पापसे जो दोष हुआ है, उनको दूर करनेके लिये मैं उपाय करता हूँ, जिससे तू उन्मत्त रहित होगा । ' इस मंत्रका भाव जब पाठकोंके ध्यानमें आ गया होगा । ये दो प्रकारके दोष दूर होनेसे ही मनुष्यका भाग्य उदय होता है और उसके बंधन दूर हो सकते हैं, तथा मुक्ति भी उसकी मिल सकती है ।

अन्तिम मंत्रका भाव यह है कि जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार निर्दोष होता है, उसकी सब देवगण सहायता करते हैं और वह प्रमादरहित होता है ।

यह सूक्त कुछ झिड़का है, तथापि इस दर्शनी हुई रीतिसे विचार करनेपर यह सूक्त कुछ अंशमें सुबोध हो सकता है ।



पाशोंसे मुक्तता ।

[सूक्त ११२]

(आशिः — अथर्घा । देवता — अग्निः ।)

मा ज्येष्ठं बंधीदुयमम एषां मूलबर्हणात् परि पाद्येनम् ।

स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अन्तु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमम एषां प्रयस्त्रिमिरुत्तिता येमिरासन् ।

स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् पितापुत्री मातरं मुञ्च सर्वान् ॥ २ ॥

येभिः पाशैः परिविस्तो विवदोङ्गैरङ्ग आपित उत्तिस्तथ ।

वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणमि पूषन् दुरितानि मृक्ष ॥ ३ ॥

वर्ष— हे अग्ने (अयं ज्येष्ठं मा वधीत्) यह बड़े माईका वध न करे । (एषां मूलबर्हणात् एतं परि पाद्यि) इनके मूल बिच्छेदसे इसकी रक्षा कर । (सः प्रजानन्) यह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकड़नेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (विश्वे देवाः तुभ्यं अन्तु जानन्तु) सब देव तुझे अनुमति देवें ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (एवं पाशान् अन्मुञ्च) तू पाशोंको खोल (येभिः विभिः एषां त्रयः उत्तिस्ताः आसन्) जिन तीनोंसे इनके तीन बन्धनमें पड़े हैं । (सः प्रजानन्) यह तू जानता हुआ (ग्राह्याः पाशान् विचृत) पकड़नेवाले रोगादिके पाशोंको खोल दे । (पितापुत्री मातरं सर्वान् मुञ्च) पिता, पुत्र और माता इन सबको छोड़ ॥ २ ॥

(येभिः पाशैः परिविस्तः विवदः) जिन पाशोंसे जेठे माईके पूर्व विवाह करनेवाला बांधा गया है, (अंगे अंगे आपितः उत्तिस्तः च) हरएक अंगमें जकड़ा और बांधा दे, (ते विमुच्यन्तां) वे तेरे पास खुल जायें (हि विमुचः सन्ति) क्योंकि वे खुले हुए हैं । हे (पूषन्) पोषक देव ! (भ्रूणमि दुरितानि मृक्ष) गर्भपात करनेवाला भंडार विद्यमान पाप दूर कर ॥ ३ ॥

मायार्थ— छोटा माई बड़े माईके नाशके लिये प्रवृत्त न होये, किसीका मूल उच्छिन्न न होये । रोग जड़से दूर हों और सब देवताकी अनुकूलता होवे ॥ १ ॥

सब बंधन करनेवाले पाश तोड़ दे । तीन गुणोंसे तीन लोग बांधे गये हैं । रोग जड़से दूर हों और माता, पिता और पुत्र जड़ोंसे बंधें ॥ २ ॥

जिन कमजोरियोंके कारण बड़े माईके पूर्व ही छोटा माई शादी करता है, वे लोभके पाश हरएक अवयवमें बंधे हैं । वे पाश खुले हों और गर्भपात आदि प्रकारके सब लोभ दूर हों ॥ ३ ॥

सूक्त ११० के सदृश यह सूक्त है अतः उसके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें । यह सूक्त ब्रह्मके उत्तम आदेश इस सूक्तमें है ।

ज्ञानसे पापको दूर करना ।

[सूक्त ११३]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— पूषा ।)

त्रिते देवा अमृतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।

ततो यदि त्वा प्राहिरानुशे तां तं देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

॥ १ ॥

मरीचीर्भुमान् प्र विशातुं पाप्मन्नुदारान् गच्छोत वा नीहारान् ।

नदीनां फेनान् अनु तान् वि नश्य भ्रूणानि पूषन् दुरितानि मृक्ष्व

॥ २ ॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैरुत्तानि ।

ततो यदि त्वा प्राहिरानुशे तां तं देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु

॥ ३ ॥

॥ इति एकादशोऽनुयाकः ॥

अर्थ— (देवाः पतत् पूनः त्रिते अमृतजत) देवोंने—इन्द्रियोने—यह पाप त्रितमें—मनमें—रखा और उसने (पतत् मनुष्येषु ममृजे) यह मनुष्योंमें रखा है (ततः यदि त्वा प्राहिः आनशे) सबसे यदि तुम गठिया आदि रोगने पकड़ा हो, तो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरी सब पीड़ाको ज्ञानके द्वारा दूर करें ॥ १ ॥
 हे (पाप्मन्) हे पापी ! (मरीचीः धूमान् प्रविश) सर्वाकारणोंमें या धुँएमें घुस आ अपवा (उदारान् अनु गच्छ) ऊपर आने मापमें अनुकूलतासे आ, (उत वा नीहारान्) अपवा कुहरमें लीन हो । (नदीनां तान् फेनान् अनु वि नश्य) नदीके उन फेनोंमें छिप जा, हे पूषा ! (भ्रूणानि दुरितानि मृक्ष्व) गर्भघातकोंमें पापोंको मृक्ष ॥ २ ॥
 (त्रितस्य अपमृष्ट द्वादशधा निहितं) त्रितका घोषा हुआ पाप बारह प्रकारसे रखा है । यह (मनुष्यैरुत्तानि सानि) मनुष्यके पाप हैं । (ततः यदि त्वा प्राहिः आनशे) सबसे यदि तुम गठिया आदि रोगने पकड़ा हो (देवाः ते तां ब्रह्मणा नाशयन्तु) देव तेरे सब रोगको ज्ञानके द्वारा नष्ट करें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इन्द्रियोंका किया पाप मनमें इकट्ठा होता है और मनमें एकत्रित हुआ पाप मनुष्यमें स्थित होता है । इसे इससे विविध रोग हुए तब ज्ञानसे उसको दूर किया जा सकता है ॥ १ ॥
 सर्वकिरण, अन्धेरा, कुहरा, अपवा दूसरे स्थान कहा भी पापी गया तो उसका पाप दूर नहीं होता । उसका त्रितना होता है उतना सब गर्भघातकोंमें रहता है ॥ २ ॥
 मनका पाप बारह प्रकारका समझा जाता है वह मनुष्योंमें रहता है । उससे विविध रोग होते हैं जो ज्ञानपूर्वक उपकारनेसे दूर होते हैं ॥ ३ ॥
 इन्द्रियों द्वारा पाप किये जाते हैं वे सब संस्काररूपसे मनमें जमा होते हैं । उन पापोंका परिणाम मनुष्यशरीरमें रोगों के रूपमें दिखाई देता है । ये पाप कभी छिपाये नहीं जाते । सबसे अधिक पाप गर्भका घात करनेसे होता है । इनसे पापोंको दूर करना हो तो ज्ञानकी वृद्धि करनी चाहिये । क्योंकि ज्ञानसे ही सब पाप दूर होते हैं ।
 ॥ यहाँ एकादश अनुयाक समाप्त ॥

यज्ञका सत्य फल ।

[सूक्त ११४]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — विश्वेदेवाः ।)

॥ देवा देवहेडनं देवासमकृमा वयम् । आदित्यास्तस्माञ्चो यूयमृतस्युतेनं मुञ्चत ॥ १ ॥
 इतस्युतेनादित्या यज्ञत्रा मुञ्चतेह नः । यज्ञं यद् यज्ञवाहसुः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥
 देवता यजमानाः सुचाज्यानि जुह्वतः । अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवास) देवो ! (ययं देवास यत देवहेडनं चकृम) हम सत्य देवा शक्तिसे युक्त होते हुए भी जो देवोंका अन्यास करते हैं, हे (आदित्या) आदित्यो ! (यूयं तस्मात् नः अतस्य अतेन मुञ्चत) तुम सब उससे हमें यज्ञके सत्य द्वारा छुड़ाओ ॥ १ ॥

हे (आदित्या) आदित्यो ! हे (यज्ञत्रा) यज्ञको ! हे (यज्ञवाहसुः) यज्ञ चलानेवालो ! (यस् यज्ञ शिक्षन्तः न उपशेकिम) यदि हम यज्ञकी शिक्षा प्राप्त करते हुए उसको यथावत् न कर सकें (नः अतस्य अतेन इह मुञ्चत) हमें यज्ञके सत्यद्वारा यहाँ मुक्त करो ॥ २ ॥

हे (विश्वेदेवाः) सब देवो ! (यः शिक्षन्तः अकामा न उपशेकिम) आपसे शिक्षा प्राप्त करते हुए हम किसी होंकर यदि उसे पूर्ण न कर सकें, तो भी (मेदस्वता सुचा आज्यानि जुह्वतः) घृतयुक्त चमससे पीका दहन करते हुए हम (यजमानाः) यज्ञमान तो हो जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ— देवोंके सम्बन्धमें जो तिरस्कार कभी-कभी हमसे होता हो, तो उस पापसे हम यज्ञके सत्य फलके द्वारा मुक्त हों ॥ १ ॥

हम अपनी ओरसे सांग यज्ञकी तैयारी करते हैं तथापि उसमें जो त्रुटि होती हो तो उस पापसे हम यज्ञके सत्यफलद्वारा मुक्त हों ॥ २ ॥

हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न करनेपर भी जो दोष हमसे होता है उसका निवारण यज्ञमें जो पूगकी आहुतियाँ हम देते हैं, उससे हो और हम उत्तम यज्ञकर्ता बनें ॥ ३ ॥

मनुष्यके प्रयत्न करनेपर भी अनेक दोष उससे होते हैं, सत्ययज्ञसे ही वे दोष दूर हो सकते हैं । यज्ञ करनेका भाव यह है कि जनताकी भलाईके लिये आत्मसमर्पण करना । यह यज्ञ सब दोषोंको दूर कर सकता है ।

पापसे बचना ।

[सूक्त ११५]

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — विश्वेदेवाः ।)

यद् विद्वांसो यद्विद्वांस एनीसि चकृमा वयम् । यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

अर्थ— (यस् विद्वांसः यद् अविद्वांसः) जो जानते हुए अथवा न जानते हुए (यय एनीसि चकृम) हम पाप करें, हे (विश्वेदेवा) सब देवो ! (यूयं सजोषसः तस्मात् नः मुञ्चत) आप एक मनुष्य उस पापसे हमें मुक्त करो ॥ १ ॥

(११४)

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एतस्योक्तम् । भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥२॥
द्रुपदादिव मुमुक्षानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव । पुनं पवित्रेणैवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैत्रसः ॥३॥

अर्थ— (यदि जाग्रत् यदि स्वपन्) यदि जागते हुए अथवा सोते हुए (एतस्यः एतः अकर) मैं पापी होकर भी पाप करूँ, तो (द्रुपदात् इव) वैसे पशुको जैसे छोड़कर मुक्त करते हैं उस प्रकार (भूतं भव्यं च तस्मात् मा मुञ्चतां) भूत अथवा भविष्यकालका जो पाप है उससे मुझे छुडाओ ॥ १ ॥

(द्रुपदाद् इव मुमुक्षानः) जिस प्रकार पशु बंधनरतमेंसे मुक्त होता है अथवा (मलात् स्विन्नः स्नात्वा इव) जैसे मलसे रनानेके बाद मुक्त होता है (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) अथवा जैसे छाननेसे घी पवित्र होता है, उस प्रकार (विश्वे मा एतसः शुम्भन्तु) सब मुझे पापसे पवित्र करें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जानते हुए अथवा न जानते हुए जो पाप हमसे हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥
जागते समय अथवा सोते समय जो पाप मुझसे हो, वह भूत कालका हो अथवा वर्तमान कालका हो, उससे छुटकारा प्राप्त करना चाहिये ॥ २ ॥

जैसे रतमेंसे पशु छूट जाता है, शरीरसे रनानेकेद्वारा मल दूर होता है और जैसे छाननेसे घृत पवित्र बनता है, उस प्रकार मैं निर्दोष हो आर्ज्य ॥ ३ ॥

निष्पाप बननेके तीन प्रकार ।

शुद्ध होनेके तीन प्रकार हैं, अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि और संबंधशुद्धि । इसके तीन उदाहरण तृतीय मंत्रमें दिये हैं देखिये—

१ अन्तःशुद्धि— (पवित्रेण पूतं आज्यं इव) छाननीसे अग्नि प्रकार घी शुद्ध होता है । घी छानते हैं, उससे धीके अंदरके मल दूर होते हैं, इस प्रकार मनुष्यके अन्तःकरणके मल दूर करने चाहिये । यह अन्त शुद्धि है ।

२ बहिःशुद्धि— (मलात् स्नात्वा स्विन्न इव) जैसे शरीरपर लगे हुए मलको छान करनेसे शुद्धता होती है । यह बहिःशुद्धि है । मल शरीरपर बाहरसे लगता है उस प्रकार बाह्य दोषोंसे यह शुद्धता करनी होती है ।

३ संबंधशुद्धि— (द्रुपदात् मुमुक्षानः इव) रतमेंसे बंधनोंसे जैसे पशुको छुटाते हैं अथवा फल परि-

पक्क होनेसे जिस प्रकार वह वृक्षसे छूट जाता है । उस प्रकार सबधके लोभसे मुक्त होना । यह संबंधशुद्धि है ।

इस प्रकार ये शुद्ध होनेके तीन भेद हैं । मनुष्यको भी जो निर्दोषता प्राप्त करनी है, वह इन तीनों प्रकारकी है । मनुष्य अपने संबंधोंको शुद्ध करे और पापी संबंधोंको दूर करे, अपनी बाह्य शुद्धता करे और उसके लिये अपना रहना-सहना पवित्र रखे, तथा अपनी अन्त शुद्धि करे और उसके लिये अपने विचारोंको पवित्र करे । इस प्रकार मनुष्य परिशुद्ध होता है ।

मनुष्य जानता हुआ अथवा न जानता हुआ, जागता हुआ अथवा सोता हुआ पाप करता है इन सब पापोंसे मुक्तता प्राप्त करना चाहिये । परमेश्वरकी कृपा, ज्ञानियोंका सख्य और आत्मशुद्धिका प्रयत्न करनेसे पापसे छूटना संभव है ।

यह सूक्त विशेष महत्त्वका है । पाठक इसका अधिक विचार करें और सब प्रकारसे शुद्धता प्राप्त करनेका प्रयत्न करें ।

अन्नभाग ।

[सूक्त ११६]

(श्रुतिः— जाटिकायनः । देवता— विवस्वान् ।)

यद् यामं चक्रमिखनेन्तो अग्रे कार्पाविणा अन्नविदो न विद्यया ।

वैवस्वते राजनि तर्जुहोम्यथ शुद्धियं मधुमदस्तु नोन्नम्

॥ १ ॥

अर्थ— (अग्रे कार्पाविणाः निखनन्तः) पहिले कृषी करनेवाले लोग भूमिमें खोदते हुए (विद्यया अन्नविद् न) ज्ञानसे अन्न प्राप्त करनेवालोंके समान (यद् यामं चक्रुः) जो नियम करते रहे, (तद् वैवस्वते राजनि जुहोमि) उनको वैवस्वत अर्थात् बसानेवाले राजासे समर्पित करता हूँ । (अथ नः यद्धियं अन्न मधुमत् अस्तु) अब हमारा यज्ञ नीय अन्न मधुर होने ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।

मातुर्यदेनं इषितं न आगन् यद् वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि आतुः पुत्राच्चैतत्स एन आगन् ।

यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मनु्युः ॥ ३ ॥

अर्थ— (वैवस्वतः भागधेयं कृणवत्) सबको बसानेवाला राजा सबको अन्नका विभाग करे, (मधुभागः मधुना सं सृजाति) अन्नका मधुर भाग और मीठे के साथ युक्त करता है । (मातुः इषितं यत् एनः नः आगन्) मातासे प्रेरित हुआ जो पाप हमारे पास आगया है, (यद् वा अपराद्धः पिता जिहीडे) अथवा जो हमारे अपराधसे पितृके क्रोधसे हुआ है ॥ २ ॥

(यदि मातुः यदि वा पितुः) यदि मातासे और पितासे (आतुः पुत्रात्) माईसे और पुत्रसे (इद एनः नः चेतसः परि आगन्) यह पाप हमारे चित्तके पास आगया है, (यावन्त पितर अस्मान् सचन्ते) जितने पितर हमसे सम्बन्धित हैं, (तेषां सर्वेषां मनु्युः शिवः अस्तु) उन सबका क्रोध हमारे लिये कल्याणकारी होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— प्रारम्भमें खेती करनेवाले किसानोंने जो नियम बनाये, वेही राजाके पास समत हुए, उनके पालनसे सबको अन्न मीठा लगने लगा और यज्ञके लिये भी समर्पित होने लगा ॥ १ ॥
राजाने भूमिसे उत्पन्न हुए अन्नका योग्य भाग बनाया, उसको अधिक मधुर मानकर लोग सेवन करते हैं । उसी प्रकार मातासे और पितासे भी हमारे पास अन्न भाग आता है, उसका भी हम वैसा ही सेवन किया करें ॥ २ ॥
माता, पिता, माई, पुत्र इनसे हमारे पास जो भाग आता है, यदि उसके साथ उनका क्रोध भी हुआ हो, तो वह हमारे कल्याणके लिये ही होवे ॥ ३ ॥

प्रजाकी संमति ।

खेती करनेवाले सब प्रजाजन स्वसमितिसे आपसके बर्तावके नियम करें, सब प्रजा द्वारा एकमतसे बनाये नियम राजा माने और उनके अनुसार राज्यशासन करे । ऐसा करनेसे राजा और प्रजाका उत्तम कल्याण होगा और सबको अन्नका स्वाद अधिक मिलेगा । राजा अन्नका योग्य भाग करके सबसे लेवे और

प्रजामें भी योग्य भाग बांट देवे । जो जिसको प्राप्त हो उसमें वह खुदष्ट रद्दकर उसका भोग आनन्दके साथ करे और कोई किसी दूसरेके भागका अन्यायसे हारण न करे । मातापिता आदिका जो दायभाग आता है उसी प्रकार उनका क्रोध भी आया, तब भी उससे संतानका कमी अहित नहीं होगा, क्योंकि उसमें माता पिताका प्रेम रहनेके कारण उससे संतानका हित ही होगा ॥

ऋणरहित होना ।

[सूक्त ११७]

(श्रुतिः — कौशिक । देवता — अग्नि ।)

अपमित्र्यमप्रतीक्षं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि ।

इदं तदमे अनुणो भवामि त्वं पाशान् विचूतं वेत्थ सर्वान् ॥ १ ॥

अर्थ— (यत् अपमित्र्यं अप्रतीक्षं अस्मि) जो बारम्बार करने योग्य परतु वापस न करनेके कारण मैं ऋणी रहा हूँ, और (यमस्य येन बलिना चरामि) नियन्ताके वशमें जिस ऋणके बलसे पहुँचा हूँ, हे अग्नि ! (इदं तत् अनुणः भवामि) अब मैं उस ऋणको चुकाकर ऋणरहित हो जाऊँ, (त्वं सर्वान् विचूतान् पाशान् वेत्थ) तू सब ऋणके खुले हुए पाशोंको जानता है ॥ १ ॥

इहैव सन्तः प्रति दश एनजीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत् ।

अपमित्य धान्यं यज्ञघसाहमिदं तदमे अनृणो भवामि

॥ २ ॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।

ये देवयानाः पितृयाणांश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम

॥ ३ ॥

अर्थ— (इहैव सन्तः एनत् प्रति दश) यहाँही रहते हुए इस ऋणको चुका देते हैं, (जीवाः जीवेभ्यः एनत् निहरामः) इसी जीवनमें अन्य जीवोंके इस ऋणको हम निःशेष करते हैं । (यत् धान्यं अपमित्य अहं अघस) जो धान्य उधार लेकर खाया है, हे अग्ने ! (इदं तत् अनृणाः भवामि) यह वह है और इस रीतिसे मैं ऋणरहित होता हूँ ॥ २ ॥

(अस्मिन् लोके अनृणाः) इस लोकमें हम ऋणरहित हो जाय, (परस्मिन् अनृणाः) परलोकमें ऋणरहित हो जाय, और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तृतीय लोकमें भी हम ऋणरहित हो जाय; (ये देवयानाः पितृयाणाः च लोकाः) जो देवयान और पितृयानके लोक हैं, (सर्वान् पथः अनृणाः आक्षियेम) इन सब मार्गोंमें हम ऋणरहित होकर रहें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जो कर्जा लिया होता है वह समयपर वापस करना चाहिये । यदि वापस न किया जाय तो ऋण लेनेवाला दोषी होता है । इस दोषसे मुक्त होनेके लिये शीघ्र ऋणमुक्त होनेका यत्न करना चाहिये । सब अपने पाश तोड़कर पहिले ऋणमुक्त होना योग्य है ॥ १ ॥

इस संघारमें जीवित रहनेनक ही अपने कर्जसे मुक्त होना चाहिये, अपौरु स्वयं किया हुआ कर्जा अपने बाल बच्चोंके लिये छोड़ना उचित नहीं । घान्यका कर्जा हो अथवा घन आदिका हो उसको शीघ्र वापस करना चाहिये ।

इस लोकका ऋण दूर करना चाहिये, परलोकके ऋणसे मुक्त होना चाहिये, और अन्य ऋणोंसे भी मुक्त होना चाहिये । देवयान और पितृयानके सब स्थानोंमें ऋणरहित होना योग्य है ॥ ३ ॥

मनुष्यको सब प्रकारके ऋणोंसे मुक्त होना चाहिये । ऋणों रहकर मरना योग्य नहीं है । यह सूक्त सुबोध है, इसलिये अधिक स्पष्टीकरणकी आवश्यकता नहीं है ।

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यद्वस्ताभ्यां चकुम किल्बिषापपुष्पाणां गन्तुमुप लिप्समानाः ।

उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदुद्याप्सरसावन्तु दत्तामृणं नः

॥ १ ॥

अर्थ— (यद्वस्ताभ्यां गन्तुं उप लिप्समानाः) जुएके स्थानके प्रति जलकी इच्छा करनेवाले हम (यत् वस्ताभ्यां किल्बिषाणि चकुम) जो हाथोंसे अनेक पाप करते हैं । (तत् वः ऋणं अघं) वह हमारा ऋण आज (उग्रंपश्ये उग्र-जितौ अप्सरसौ धनुदत्ता) उग्रतासे देखनेवाली और उग्रतासे जीतनेवाली दोनों अप्सराएँ हमसे दिलावें ॥ १ ॥

भाषार्थ— जुएके स्थानपर जाकर जो पाप किया जाता है और अन्यत्र जो पाप होता है, उघी प्रकार जो हम ऋण करते हैं, उघ सबको दूर करना चाहिये ॥ १ ॥

उग्रपश्ये राष्ट्रभृत् किल्विपाणि यदुक्ष्वृत्तमनु दत्तं न एतत् ।

॥ २ ॥

ऋणाभ्यो नर्णमर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्
यस्मा ऋणं यस्य जायामूपैमि यं याचमानो अश्वेमि देवाः ।

॥ ३ ॥

ते वाचं वादिपुर्मोत्तरां महवपत्नी अप्सरमावधीतम्

अर्थ— हे (उग्रपश्ये राष्ट्रभृत्) उग्रतासे देखनेवाला और हे राष्ट्रका भरण पाषण करनेवाला ! (यत् अक्षयुत्तं) जो जुएषाजीका पाष है और जो (किल्विपाणि) अय पाष है (न एतत् अनु दत्तं) हमसे यह सब बदला दिया हुआ है । (ऋणात् ऋण न एर्त्समानः) ऋणसे ऋणका वापस न प्रप्त करनेपर ऋण देनेवाला (अधिरज्जुः यमस्य लोके नः आयत्) रक्षी लेकर यमके लोकमें हमारे पास आवगा ॥ २ ॥

हे (देवा) देवे ! (यस्मै ऋण) जिसको ऋण वापस करना है (यस्य जायां उपैमि) जिसकी छाके पास सहाय्य याचनार्थ जाता हू तथा (यं याचमान अश्वेमि) जिसके पास याचना करता हुआ पहुचता हू (ते मत् उत्तरा वाच मा वादिपुः) वे मुझसे अधिक बठोर भाषण न करें । हे (दिवपत्नी अप्सरसो) देवपरनी अप्सराओ ! (अधीत) स्मरण रखो यह मेरी प्रार्थना ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जुएषा पाष, अय पाष और ऋण यदि दूर न किया जाए ता हमें बधनमें जाना पडेगा ॥ १ ॥
जिससे ऋण लिया है अथवा जिससे कुछ याचनाकी है, वह हमें दुस्तर न बोले, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ३ ॥

[ये मत्र कुछ अशमें सदिग्ध हैं, इसलिय इनके विषयमें विशेष स्पष्टाकरण करना अवश्य है । क्योंकि इनके कई शब्दोंका सव्य स्पष्टतया प्रतीत नहीं होता ।]

[सूक्त ११९]

(ऋषि — कौशिकः । देवता — अग्निः ।)

यददीन्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्न उत संगृणामि ।

॥ १ ॥

वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्वृणं संगुरो देवतासु ।

॥ २ ॥

स एतान् पाशान् विचूर्त वेदु मर्वानर्थ पक्केन सह सं भवेम

अर्थ— (यत् मह मदीन्यन्) जो मैं जुआ न खेलता हुआ (ऋण) ऋण कर्क (उत अदास्यन् संगृणामि) और उसको न चुकता हुआ चुकानेकी प्रतिज्ञा करता आऊ है अम ! (वैश्वानरः वसिष्ठ अधिपा) विश्वका नेता सबकी पशानेवाला अधिपति (न सुकृतस्य लोक इत उन्नयाति) हमें पुण्यलोकमें जाने योग्य ऊपर उठावे ॥ १ ॥
(वैश्वानराय यत् ऋणं प्रतिवेदयामि) विश्वके नेताको मैं जो ऋण है वह कहूंगा, तथा (देवतासु य संगुरः) देवताओंमें जो प्रतिज्ञा हुई है, वह भी मैं कहूंगा । (स एतान् सवर्णान् पाशान् विचूर्त वेदु) वह इन सब पाशोंको खोलनेकी विधि जानता है । (अथ पक्केन सह संभवेम) अब हम परिपक्के साथ मिल जाय ॥ २ ॥

भाषार्थ— जुआ न खेलता हुआ अय कारणसे जा ऋणमें करता हू, और उसको समयपर वापस न करता हुआ वापस करनेकी प्रतिज्ञा करता रहता हू, उस दोषस बचावे और ईश्वर मुझ ऊपर उठावे और पुण्य लोकमें पहुचावे ॥ १ ॥
जो ऋण मैंन किया और उस सबमें आ प्रतिज्ञाए मैंनेकी उन सबको मैं निवेदन करता हू । इस प्रकारके पाषोंस ईश्वर मेरा बचाव करे, क्योंकि वही इन बधनास दूर करके हमें ऊपर उठानेके उपाय जानता है । हम परिपक्के हुए शानियोंके साथ रहें, जिससे हमसे दोष नहीं होंगे ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावांम्याशाम् ।

अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तन्नैनो अप तत् सुवामि

॥ ३ ॥

अर्थ— (पविता वैश्वानरः मा पुनातु) पवित्र करनेवाला विश्वका नेता मुझे पवित्र करे । (यत् संगरं आशां अभिधावामि) जिस प्रतिज्ञाको करता हुआ जिस आशाके पीछे मैं दौड़ता हूँ, (अनाजानन् मनसा याचमानः) न जानता हुआ तथापि मनसे याचना करता हुआ (तत्र यत् एनः) वहाँ जो पाप होता है (तत् अप सुवामि) उसको मैं दूर करता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— ईश्वर सबको पवित्र करनेवाला है, वह मुझे पवित्र करे । जिस आशाके पीछे पढ़कर मैं बारबार याचना करता हूँ; वह सब पाप दूर होवे ॥ ३ ॥

इस सूक्तका भाव स्पष्ट है । ऋण मोचनके ये सब सूक्त यही उपदेश विशेषतया करते हैं कि कोई मनुष्य ऋण न करे, और यदि करे तो उसको ठीक समयपर वापस करे । वृथा असत्य प्रतिज्ञाएं करते न रहे । इत्यादि बोध इन सूक्तोंसे सारांशरूपसे प्राप्त होता है ।

मातापिताकी सेवा करो ।

[सूक्त १२०]

(ऋषिः — कौशिकः । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत् घां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम ।

अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुद्विज्याति सुकृतस्य लोकम्

॥ १ ॥

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिगस्त्या नः ।

द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छ भवाति जामिमुत्वा मावं परितः लोकात्

॥ २ ॥

अर्थ— (यत् अन्तरिक्षं पृथिवीमुत् घां) यदि हम अन्तरिक्ष, पृथिवी और शुलोककी तथा (यत् मातरं पितरं वा जिहिंसिम) यदि हम माता और पिताको हिंसा करें, (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह हमारा गार्हपत्य अग्नि (नः तस्मात् इत् सुकृतस्य लोकं उद्विज्याति) हमें उस पापसे उठा कर पुण्यलोकमें पहुँचावे ॥ १ ॥

(अदितिः भूमिः माता नः जनित्रं) अहीन मातृभूमि हमारी जननी है । (अन्तरिक्षं भ्राता) अन्तरिक्ष हमारा भाई है और (द्यौः नः पिता) शुलोक हमारा पिता है । वह (अभिशस्त्याः नः शं भवाति) विपत्तिसे हमें बचाकर कल्याणदायी होवे (जामिं श्रत्वा पित्र्यात् लोकात्) संबंधीको प्राप्त कर पितृलोकसे (मा अवपरितः) मत गिर जा ॥ २ ॥

भाषार्थ— इस सपूर्ण जगत्में हम कहीं भी हों, यदि हम वहाँ अपने मातापिताको कुछ पहुँचाएँ, तो तेजस्वी देव हमें उस पापसे मुक्त करे और पुण्यलोकमें जाने योग्य पवित्र हमें बनावे ॥ १ ॥

हमारी माता यह भूमि है और हमारा पिता यह शुलोक है, अन्तरिक्ष हमारा भाई है । इस प्रकार अगत्स हमारा संबंध है । यह सब जगत् हमारा कल्याण करे और हमें विपत्तिसे बचावे । कोई ऐसा संबंधी न होवे कि जिसके कारण हमें पितृलोकसे गिरना पड़े ॥ २ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मर्दन्ति विहाय रोगं तन्वृषः स्वायाः ।

अश्लोणा अक्षैरद्भुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्

॥ ३ ॥

अर्थ—(यत्र सुहार्दः सुकृत) जहाँ उत्तम हृदयवाले पुण्यकर्ता पुष्ट (स्वायाः तन्वृषः रोग विहाय) अपने शरीरके रोगको दूर करके (मर्दन्ति) आनन्दित होते हैं, (अश्लोणाः अद्भुता) अंगोंसे अविकृत और अकृटिल होकर (तत्र स्वर्गे पितरौ च पुत्रान् पश्येम) उस स्वर्गमें पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जहाँ शारीरिक राग नहीं होते और जहाँ हृदयके उत्तम भावसे पुण्य करनेवाले लोग आनन्दसे रहते हैं, वहाँ हम पहुँचें और सुख अंगोंसे रहें और अपने पितरों और पुत्रोंको देखें ॥ ३ ॥

कोई मनुष्य अपने मातापिताको किसी प्रकारका कष्ट न देव । मातापिताको कष्ट देनेवाले मरते हैं । परंतु जा मातापिताको सुख देता है वह ऐसे श्रेष्ठ लोकमें पहुँचता है कि जहाँ कभी रोग नहीं होते और शरीर स्वस्थ रहता है । इसलिये हर एक मनुष्य अपने मातापिताकी सेवा करे और उनको सुख देव ।

बधनसे छूटना ।

[सूक्त १११]

(ऋषिः — कौशिक । देवता — मन्त्रोक्ता ।)

त्रिपाणा पाशान् विष्याद्यस्मद् य उत्तमा अंध्रमा वारुणा ये ।

दुष्पण्य दुरितं नि स्वास्मदर्थं गच्छेम सुकृतस्य लोकम्

॥ १ ॥

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा ।

अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्

॥ २ ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । प्रेहामृतस्य यच्छतां प्रेतुं बद्धकुमोचनम् ॥ ३ ॥

अर्थ— (ये अंध्रमा उत्तमा ये वारुणाः) जो अधम और उत्तम बधन देवके पाश हैं उन (पाशान् विषाणा अस्मत् अग्नि विष्य) पाशोंको तोड़ता हुआ हमसे उन पाशोंको दूर कर । (दुष्पण्य दुरितं नि स्वास्मदर्थं गच्छेम) अब हम पुण्यलोकमें जावें ॥ १ ॥

(यत् दारुणि यत् च रज्वां बध्यसे) जो काष्ठस्त्रयमें और रस्सीमें बांधा जाता है और (यत् भूम्यां) जो भूमिमें और (यत् च वाचा बध्यसे) जो वाणीसे बांधा जाता है, (तस्मात्) उस बधनसे (अयं गार्हपत्यः अग्निः) यह गार्हपत्य अग्नि (न सुकृतस्य लोकं इत् उत् नयाति) हमें सुकृतके लोकमें ले जाता है ॥ २ ॥

(भगवती विचृतौ नाम तारके) भाग्यवान् छुड़ानेवाली और तारण करनेवाली दो देवताएँ (उदगातां) उद यको प्राप्त हुई हैं । वे दोनों (अमृतस्य प्रयच्छतां) अमृतका भाग देवें जिससे यह जीव (बद्धकु-मोचने प्रेतुं) बद्ध अवस्थासे छूटनेका साधन प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— निम्नस्थान, मध्यस्थान और उत्तमस्थान पर जो पाश हैं उनको दूर करनेका प्रयत्न कर मनुष्य पापरहित होवे और उसका बिन्दु उत्तम स्वर्ग आना उसके अनुभवमें आजावे । इस प्रकार वह निर्दोष होकर पुण्यलोकको प्राप्त होवे ॥ १ ॥ जो अनेक प्रकारके बधन हैं वे सब ईश्वरकी कृपासे दूर हो जाय और हमें पुण्यलोक प्राप्त होवे ॥ २ ॥ बधनसे मुक्त करनेवाला और रक्षा करनेवाली दो शक्तियाँ हमें अमृतका भाग देवें, जिससे हम बधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वतंत्र हो जाय ॥ ३ ॥

वि जिह्दीष्व लोकं कृणु वृन्धान्मुञ्चासि यद्वकम् ।

योन्या इव प्रच्युतो गर्भः पथः सर्वा अनु क्षिय

॥ ४ ॥

अर्थ— (विजिह्दीष्व) विशेष प्रगति कर, (लोकं कृणु) अपने लिये योग्य स्थान बना । (योन्याः प्रच्युतः गर्भ इव) योनिसे बाहर आये बालकके समान (वृन्धात् वन्धकं मुञ्चासि) बंधनसे बन्धनके कारणको अलग कर । (सर्वा पथः अनुः क्षिय) सब मार्गमें अनुकूलतासे रह ॥ ४ ॥

भाषार्थ— विशेष प्रगति कर, पुण्यस्थान प्राप्त कर, बंधनसे मुक्त हो, जैसे कि पूर्ण हुआ बालक माताके उदरसे छूटकर बाहर आता है और इस जगत्में अनुकूल परिस्थितिमें विराजता है ॥ ४ ॥

सब प्रकारके बंधनोंसे मुक्त होना चाहिये और पूर्ण स्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिये । इसकी सिद्धताके लिये मनुष्य पापसे दूर हो जावे । कभी पापका विचारतक न करे । विचार शुद्ध होनेसे स्वप्न भी उत्तम आनि लगेगे और कभी घुरे स्वप्न नहीं आयेगे । सब बंधन पापसे मुक्त होनेसे ही दूर हो सकते हैं और उस मनुष्यको उत्तम लोक प्राप्त हो सकते हैं । पुण्यसे ही बंधनसे मुक्तता करनेवाली शक्ति और आभाररक्षा करनेकी शक्ति प्राप्त हो सकती है और इसीसे आगे अमृतका लाभ हो सकता है और पूर्णतया बंधन दूर होकर पूर्ण स्वाधीनताका लाभ प्राप्त हो सकता है । इसलिये हे मनुष्य ! तू विशेष प्रयत्नसे उत्तमिलास कर, पुण्यवान बन, बंधनसे मुक्त होकर पूर्ण स्वातंत्र्यको प्राप्त कर और जगत्में अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके आनन्दके साथ विराजमान हो जा ।

पवित्र गृहस्थाश्रम ।

[सूक्त १२२]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — विश्वकर्मा ।)

एतं मागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा श्रुतस्य ।

अस्मामिदुत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम

॥ १ ॥

तत् तन्तुमन्वेकं तरन्ति येषां दुत्तं पित्र्यमाययेन ।

अवन्वेकं ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिस्तान्स स्वर्ग एव

॥ २ ॥

अर्थ— हे (विश्वकर्मन्) हे समस्त जगत्के रक्षयिता ! तू (ऋणस्य प्रथमजाः) सत्य नियमका पहिला प्रवर्तक है । इस बातको (विद्वान्) ज्ञानता हुआ मैं (एतं मागं परि ददामि) इन अपने मागको तेरे लिये पूर्णतासे देता हूँ । (जरसः परस्तात् अस्माभि दत्तं अच्छिन्नं तन्तुं) बुझानेके पश्चात् भी हमारे द्वारा दिया हुआ विच्छेदरहित जो यज्ञका सूत्र है, स्वर्ग हम (अनु संतरेम) निषवपूर्वक अनुकूलताके साथ पार हो जायेंगे ॥ १ ॥

(एके तत् तन्तुं अनु तरन्ति) कई लोग इस फैले हुए यज्ञसूत्रके अनुकूल रहकर पार हो जाते हैं । (येषां आययेन पित्र्य दत्तं) जिनके आनेसे पितृसर्वी देय ऋणमाग दिया होता है । (एके अवन्धु ददतः) कई दूसरे बंधुवर्गोंसे रहित होकर भी (ददतः) दान देते हैं वे (प्रयच्छन्तः च इत् दातुं शिक्षान्) दान देते हुए यदि देनेके लिये समर्थ हुए, तो (सः स्वर्ग एव) वह स्वर्ग ही है ॥ २ ॥

भाषार्थ— हे जगत्के रक्षयिता प्रभो ! तू ही सत्यधर्मका पहिला प्रवर्तक है, यह मैं ज्ञानता हूँ, इसलिये मैं अपने मागको तेरे लिये समर्पित करता हूँ । इस समर्पणसे जो अवशिष्ट यज्ञ बनेगा, उसकी सहायतासे हम दुःखके पार हो जायेंगे ॥ १ ॥

इस यज्ञका आश्रय करके ही कई लोग पार हुए हैं । जिनका कुछ पैतृक ऋण चुकाना होता है, वे बंधनोंसे हीन होनेपर कठिन समय आनेपर भी उस ऋणको बापस करते हैं । ऐसे लोग जहाँ होते हैं, वहाँ स्वर्गप्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

अन्वारमेथामनुसंरमेथामेतं लोकं श्रद्धाभिः सचन्ते ।

यद् वा पक्कं परिषिष्टमन्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्

॥ ३ ॥

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सप्योनिः ।

उपहृता अग्रे जरसः परस्तात् तृतीये नाके सघमादं मदेम

॥ ४ ॥

शुद्धाः पूता योषिता यज्ञिया इमा ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।

यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोहमिन्द्रां मरुत्वान्त ददातु तन्मे

॥ ५ ॥

अर्थ— हे (दम्पती) आपुणो ! (अनु आरमेथाम्) अनुकूलताके साथ शुभ कार्यका प्रारम्भको, (अनुसंरमेथां) अनुकूलताके साथ हलचल करो । (एतं लोकं श्रद्धाभिः सचन्ते) इस गृहस्थाश्रमरूपी लोकको धृढा धारण करनेवाले प्राप्त होते हैं । (यद् वा पक्कं) जो तुम दोनोंका परिपक्व फल (अन्नौ परिषिष्टं) अभिद्राया सिद्ध हुआ है, (तस्य गुप्तये संश्रयेथां) उसकी रक्षाके लिये परस्पर आश्रित हो ॥ ३ ॥

(तपसा यन्तं बृहन्तं यज्ञं) तपसे चलनेवाले बड़े यज्ञके ऊपर (सप्योनिः मनसा अनु आरोहामि) समान स्थानमें उत्पन्न हुआ मैं अनुकूलताके साथ मनसे चढ़ता हूँ, प्राप्त होता हूँ । हे अग्ने ! (जरसः परस्तात् उपहृताः) बुढ़ा-पेके पहिले बुलाये हुए हम (तृतीये नाके सघमादं मदेम) तृतीय स्वर्ग घाममें साथ-साथ रहकर सुघडो प्राप्त करें ॥ ४ ॥

(इमाः यज्ञियाः शुद्धाः पूताः योषिता) ये पूज्य शुद्ध और पवित्र स्त्रियाँ हैं, इनकी (ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि) शान्तियोंके हाथोंमें पूषक्-पूषक् प्रदान करता हूँ । (अहं यत्कामः इदं वा अभिषिञ्चामि) मैं जिस काम-नासे इस रीतिसे तुमको अभिषिक्त करता हूँ, (सा मरुत्वान् इन्द्रं) मरुताके साथ वह प्रभु (मे तन् ददातु) मुझे वह देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ— हे आपुणो ! तुम दोनों इस गृहस्थाश्रममें प्राप्त होनेपर शुभ कार्य करते रहो और उन्नतिके लिये इतबल करो । इस गृहस्थाश्रममें धृढावान् लोग ही मुख्यपूर्वक रहते हैं । जो इसमें परिपक्व हुआ हो और जो पूर्ण हुआ हो, उसकी रक्षा करनेके लिये तुम दोनों प्रयत्न करो ॥ ३ ॥

जो यज्ञ तपसे होता है, उसीमें मन रख कर उसकी पूर्ण करना योग्य है । इस प्रकार बुद्धिपेक्षक कर्ष करनेसे सब स्वर्ग-घाम प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

ये पवित्र और शुद्ध कन्याएँ हैं, इनके शान्तियोंके हाथमें पूषक्-पूषक् अर्पण करता हूँ । जिस कामनासे मैं यह यज्ञ करता हूँ वह मेरी कामना सफल हो जावे ॥ ५ ॥

पवित्र गृहस्थाश्रम ।

गृहस्थाश्रमको अत्यंत पवित्र करके उससे आनंद प्राप्त करनेके विषयमें इस सूक्तमें बहुतसे अनमोल उपदेश दिये हैं । ये उपदेश हरएक गृहस्थाश्रमीपुत्रके मनन करने चाहिये । (१) सपूर्ण अमृतका निमाता जो प्रभु है, वही सलन्वियमोंका प्रदत्ता प्रवर्तक है, ऐसा मानकर उसके लिये शुभ कर्म करना, उसके लिये यज्ञ करना और जो कुछ करना हो वह उसकी प्रीतिके लिये करना चाहिये । इस प्रकारके शुभ कर्मोंके करनेसे अमृत्यु उद्यमपूक होता है । (२) इस प्रकारके यज्ञसे ही मनुष्यका

बेका पार होता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है । (३) जेगा अन्नना दिया हुआ कर्मा अन्न करना चाहिये, उसी प्रकार पितृविलासहीका दिया हुआ कर्मा भी उत्तारना चाहिये । अही विशेष आध्यात्मिकी अवस्था प्राप्त होनेपर भी इस प्रकार आग वापस करते हैं और ठगने नहीं। वही देश स्वर्गपाथ है । (४) गृहस्थाश्रममें श्रीपुत्र मिलकर रहते हैं, वे छटा शुभकर्म करें, शुभ कर्मोंसे ही भैर लोक प्राप्त होते हैं । (५) जो परिपूर्ण हुआ है उसकी रक्षा कीजिये और उसकी देखकर अन्यथा परि-पक्वता संपादन करनेका दान करना चाहिये । (६) सब यज्ञ

तपसे ही होते हैं। इस प्रकारके यज्ञ करनेका विचार मनसे सदा करना चाहिये । (७) यदि वृद्धावस्थातक इस प्रकारके शुभ कर्म किये तो उत्तम स्वर्गधामका आनन्द प्राप्त हो सकता है । (८) गृहस्थाश्रम करना हो तो पवित्र और शुद्ध स्त्रियों के साथ करना चाहिये । (९) स्त्रीको भी शानी मनुष्यके हाथमें समर्पित करना चाहिये ; इस प्रकार पवित्र स्त्री और शानी पुत्र-पुत्री जो गृहस्थाश्रम बनता है वह विशेष सुख देनेवाला होता

है । (१०) ऐसी गृहस्थाश्रमकी अवस्थामें रहनेवाला मनुष्य ही अपनी कामना सिद्ध होनेका आनन्द प्राप्त कर सकता है । प्रभु इसीको सिद्धि देता है ।

इस सूक्तका इस प्रकार आशय है । जो पाठक इस सूक्तके मंत्रोंका अर्थ और भावार्थ विचारपूर्वक पढ़ेंगे, वे यह आशय स्वयं जान सकते हैं । क्योंकि यह अतिस्पष्ट है ।

मुक्ति ।

[सूक्त १२३]

(ऋषिः — भृगुः । देवता — विश्वेदेवाः ।)

एतं सधस्याः परिं वो ददामि यं शैवधिमावर्हाज्ञातवैदाः ।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमिन् ॥ १ ॥

जानीत स्मैनं परमे व्योमिन् देवाः सधस्या विद लोकमत्रं ।

अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टिपूर्तं स्म कणुताविरस्मै ॥ २ ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो अस्मि ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (सधस्याः) साध-साध रहनेवालो ! (यः एतं शैवधिं परि ददामि) तुमको यह सज्जाना मैं देता हूँ, (यं जातवेदाः आघृष्टात्) जिसको जातवेदाने तुमको पढ़ुंवाया है । जो (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यजमान कुशलताके साथ आवेगा (तं परमे व्योमिन् जानीत) उसको परम स्वर्गमें स्थित जानो ॥ १ ॥

हे (सधस्याः देवाः) साध रहनेवाले देवो ! (एनं परमे व्योमिन् जानीत स्म) इसको परम स्वर्गधाममें स्थित जानो और (यत्र लोकं विद्) इसीमें यह लोक है यह समझो । (यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता) यज्ञकर्ता सुखसे पीछे आवेगा । (अस्मै इष्टापूर्तं आविः कणुत स्म) इसके लिये इष्ट और पूर्ति प्रकटताये प्राप्त हो ऐसा करो ॥ २ ॥

(देवाः पितरः) देव पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं अर्थात् (पितरः) पालक (देवाः) देवता हैं, पूजनीय हैं, और जो पूजनीय हैं, वे ही सच पालक होते हैं । (यः अस्मि सः अस्मि) जो वास्तवमें मैं हूँ, वही मेरी वास्तविक स्थिति है ॥ ३ ॥

भावार्थ— सर्वज्ञ देवने जो तुम्हारे स्थानतक पहुँचाया है, उस आत्मशक्तिके सज्जानेको मैं तुम्हें देता हूँ । इसीके पीछे-पीछे जो यजमान आवेगा और वह परम स्वर्गधामको पहुँच जायगा ॥ १ ॥

सत्कर्म करनेवाला परम धाममें स्थित होता है, यह निश्चित बात है । यज्ञकर्ता सभी धाममें पहुँचता है, उसका इष्टापूर्तये स्वागत करो ॥ २ ॥

स पंचामि स ददामि स यजे स दुष्टान्मा यूपम् ॥ ४ ॥
नाके राजन् प्रति विष्टु तत्रैतत् प्रति विष्टु । विद्धि पूर्वस्य नो राजन्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

अर्थ— सः पंचामि) वह मैं पकाता हूँ, (सः ददामि) वह मैं देता हूँ, (सः यजे) वह मैं यज्ञ करता हूँ ।
(सः दद्यात् मा यूपं) वह मैं दानसे पुण्ड्र न होऊँ ॥ ४ ॥

हे राजन् (नाके प्रतिविष्टु) स्वर्गधाममें प्रतिष्ठित हो, (तत्र एतत् प्रतिविष्टु) यहाँ यह हमारा यज्ञ प्रतिष्ठित
होवे । हे राजन् । (नः पूर्वस्य विद्धि) हमारी पूर्ति का उपाय जान और दे देव । (सुमनाः भव) उत्तम मनवाला हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो पालन करते हैं वे देव हैं और जो देवी मायों दुष्ट हैं वे पालन करते ही हैं । मनुष्य अपनी योग्यता
बाहर किन्हीं भी ब्रह्मों परन्तु जितनी अन्तरात्मा की अक्षरता होगी उतनी ही उगड़ी भारतीय योग्यता होगी ॥ ३ ॥
मैं यज्ञके लिये अन्न पकाता हूँ, मैं दान देता हूँ, मैं यज्ञ करता हूँ । मैं दान करनेसे कभी निहृत् न होऊँ ॥ ४ ॥
स्वर्गधाममें स्थिर हो जा । यह हमारा कर्म स्वर्गमें स्थिर रहे । अपनी पूर्णता करनेका उपाय जान और उत्तम मनसे
युक्त हो ॥ ५ ॥

मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सबसे प्रथम यह बात स्मरणमें
रखनी चाहिये कि शाक्तिका खजाना अपनी आत्मामें है,
बाहर नहीं है । अन्तरात्मा शाक्ति प्राप्त होगी है, बाहरसे नहीं ।
जो इस ब्रह्मनाको मनमें धारण करते हैं, वे स्वर्गधाममें पहुँ-
चते हैं । और जो समझते हैं कि शाक्ति बाहरसे प्राप्त होगी है, वे
पीछे रह जाते हैं । जो साधन करते हैं, वे ही स्वर्गधामको
प्राप्त होते हैं, अन्य लोग पीछे रह जाते हैं । साधनका अर्थ
जनताका पालन करना, इसी कार्यसे देवत्व प्राप्त होता है और

जिनमें देवत्व होता है, वे जनताका पालन करते ही हैं । मनुष्य
अपनी दुष्टताके विषयमें योग्य साधन कर लूँगी तो उग पाऊँगा है,
परन्तु साधनकी कठोरतासे उगड़ी योग्यता भारतीय जिनमें
होगी है उतनी ही होगी है, योग्यता उगड़ी योग्यता ब्रह्म
नहीं । मनुष्य पचना, देना, आदि जो कर्म करे वह सबके लिये
अर्थात् जनताकी भलाईके लिये ही करे और इस कर्मसे कभी
पीछे न हटे । इसीसे स्वर्गकी प्राप्ति होगी है और वही उग
प्राप्त होता है ।

वृष्टिसे विपत्तिका दूर होना ।

[सूक्त १२४]

(श्रुतिः — मघर्षा । देयता — मग्नीका उत दिव्या भावः ।)

दिवो नु मां पृहवो अन्तरिक्षादुषां स्तोको अम्भुपितृ रसेन ।

समिन्द्रियेण पर्यसाहमं छन्दोभिर्घृतेः सुकृतां कुर्वेन

॥ १ ॥

यदि वृक्षादभ्यर्पणत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव ।

यत्रास्पृक्षत् तन्वोष्ठे यच्च वासंसु आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ।

॥ २ ॥

अभ्यञ्जनं-सुरभि सा समृद्धिर्हरिण्यं वर्चस्तदं पुत्रिममेव ।

सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ।

॥ ३ ॥

॥ इति द्वादशोऽनुयाकः ॥

अर्थ— (यदि वृक्षात् फलं अभि मपतत्) यदि इच्छे फल गिरे अथवा (यदि अन्तरिक्षात् तत्) यदि अन्तरिक्षे यद् जल गिरे, तो (स उ वायुः एव) वह वायु ही है अर्थात् वायुसे ही वह गिरता है । (यत्र तन्वाः अस्पृक्षत्) जहाँ शरीरके भागसे वह जल स्पर्श करे अथवा (यत् वासंसः) जहाँ कपड़ोंको स्पर्श करे, तो वह (आपः पराचैः निर्ऋतिं नुदन्तु) जल दूधसे ही अवनतिको दूर करे ॥ २ ॥

(अभ्यञ्जनं) तैलका मर्दन, (सुरभि) सुगंध, (हरिण्यं) सुवर्ण, (चर्चः) शरीरका तेज (सा समृद्धिः) यह सब समृद्धि है । (तत् उ पुत्रिमं एव) वह जल पवित्र करनेवाला है । (सर्वा पवित्रा वितता) सब पवित्र करनेवाले जगत्में फैले हैं । (अस्मत् पवि निर्ऋतिः मा तारीत्) हमपर दुर्गति मत आवे और (अरातिः मा उ) शत्रु भी हमला न करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— इच्छे फल गिरनेके समान आकाशसे वायुमेंसे वृष्टिकी वृष्टि हमारे पास आती है । सब जलसे हमारा शरीर और हमारे वस्त्र मलरहित होते हैं । इस वृष्टिसे बहुत धान्य उत्पन्न होने द्वारा हमारी विपत्ति दूर होवे ॥ २ ॥

शरीरको तैलका मर्दन करना, सुगंधिद्रव्यका उपयोग करना, सुवर्ण धारण करना, शरीर सुज्योत् और तेजस्वी होना यह सब समृद्धिके लक्षण हैं । जल समृद्धिका लक्षण होता हुआ पवित्रता करनेवाला है, उससे सब जगत्में पवित्रता फैली है । इस जलसे विपुल धान्यकी उत्पत्ति होनेसे हमारा विपत्ति दूर हो जावे और सब संपत्ति हमारे पास आ जावे । शत्रु भी हमें कष्ट न पहुंचावे ॥ ३ ॥

आकाशसे पवित्र अमृत जलकी उत्पत्ति होती है । उससे धान्य, फल, पुष्प आदि तथा वृक्ष वनस्पतियां भी उत्पन्न होती हैं । घास आदि उत्पन्न होकर उससे पशु पक्ष और प्रसन्न होते हैं । अर्थात् इस प्रकार आकाशकी वृष्टि सब प्राणिमात्रोंकी विपत्तिको दूर करनेवाली है । वृष्टि न होनेसे सबपर विपत्ति आती है और वृष्टिसे वह दूर होती है यह जल शरीरको अंदरसे और बाहरसे निर्मल करता है, पवित्रता करना इसका स्वभाव धर्म है । वस्त्र आदिको भी यह पवित्र करता है । जब इस प्रकार उत्तम वृष्टिसे पशुपक्षी और मनुष्य आनंदयुक्त होते हैं, तब मनुष्य अभ्यग्नान करते, सुगंध शरीर पर लगाते, सुवर्ण-भूषणोंको धारण करते हैं और उनका शरीर भी यथायोग्य सुष्ट और सुज्योत् होता है । सर्वत्र पवित्रता होती है और सब विपत्तियो दूर होती हैं यह वृष्टिकी महिमा है, इसलिये मानो, वृष्टि यह परमात्माकी कृपासे ही होती है ।

॥ यदा द्वादश अनुयाक समाप्तः ॥

युद्धसाधन रथ ।

[सूक्त १२५]

(ऋषिः— अथर्वा । देवता— वनस्पतिः ।)

वनस्पते वीहवृद्धिं हि भूया अस्रत्सखा प्रवरणः सुवीरः ।

गोभिः संनद्धो असि वीह्यस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि

॥ १ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) इच्छे वने रथ । (वीह्वृद्धिः हि भूयाः) तू सुदृढ अवयवोंसे युक्त हो । तू (अस्रत्सखा प्रवरणः सुवीरः) हमारा मित्र तारण करनेवाला और उत्तम वीरोंसे युक्त है । तू (गोभिः संनद्धः असि) गोकर्षकोंकी रस्सियोंसे खूब बद्धकर बघा हुआ है । तू (वीह्यस्व) हमें सुदृढ कर और (ते मास्थाता जेत्वानि जयतु) तुझपर चढ़नेवाला वीर विजय प्राप्त करे ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्याज उद्धृतं घनस्पतिभ्यः पर्याभृतं सहः ।
 अपामोज्जमानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज
 इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नामिः ।
 स इमां नो हव्यदाति जुषाणो देवं रथं प्रति हव्या गृभाय

॥ २ ॥

॥ ३ ॥

अर्थ— (दिवः पृथिव्याः ओजः परि उद्धृतं) युलोक और पृथ्वीलोकका बल इस रथरूपसे प्राप्त किया है और (घनस्पतिभ्यः सहः पर्याभृतं) वृक्षों से यह सामर्थ्य संप्रदित किया है । (अपां वातमानं गोभिः परि आवृतं) जलोसे बने आत्माकूप वृक्षसे उत्पन्न हुआ गौके चर्मसे बांधा । इन्द्रस्य वज्रं रथं) इन्द्रके वज्रके समान सुदृढ रथको (हविषा यज) अन्नसे युक्त कर ॥ २ ॥

हे (देव रथ) दिव्य रथ । तू (इन्द्रस्य ओजः) इन्द्रका बल दे, तू (मरुतां अनीकं) मरुतोंका सेनासमूह, (मित्रस्य गर्भः) मित्रका गर्भ और (वरुणस्य नामिः) वरुणकी नामि है (सः रथं) यह तू (नः इमां हव्यदाति जुषाणः) हमारा इस अन्नदानका सेवन करता हुआ (हव्या प्रति गृभाय) हवनीय अन्नका ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— रथ वृक्षकी लकड़से बनता है । यह रथ हमारा सच्चा मित्र है, क्योंकि यह युद्धकी आपत्तिसे हमें पार करता है । यह रथ गोचर्मकी रस्सीसे दृढ बंधा है । इस सुदृढ रथसे हमारी विजय निश्चन्देह होगी ॥ १ ॥
 पृथ्वी और युलोकका बल और वृक्षोंका सामर्थ्य इस रथमें इकट्ठा हुआ है । जलमें वृक्ष उत्पन्न होते हैं और वृक्षोंसे रथ बनता है, इसलिये यह जलोका आत्मा ही है, इसको गोचर्मकी रस्सियोंसे बांधकर दृढ बनाया है । अब यह इन्द्रके वज्रके समान दृढ है । इस रथमें अन्नादि पदार्थ भरपूर रख ॥ २ ॥

यह रथ इन्द्रका बल, मरुतोंकी सेना, मित्रका गर्भ और वरुणकी नामि है । अर्थात् देवोंका सार्वरूप रथ है । यह रथ हमारे हव्यका सेवन करे अर्थात् इस रथके साथ रहनेवाले वीर हमारे अन्नसे पुष्ट और चन्तुष्ट हों ॥ ३ ॥

युद्धमें बड़ा महत्त्वका साधन रथ है । वीर लोग इसपर चढ़कर युद्ध करते और विजय कमाते हैं । यह रथ इच्छी लकड़से बनता है और गौके चर्मकी रस्सीसे बांधकर सुदृढ बनाया जाता है । पृथ्वीपर यह रथ एक बनी मारी शक्ति है । मानो, इसमें देवोंका बल भरा है । इस लिये रथको अच्छी अवस्थामें रखना चाहिये और रथके सब कर्मचारियोंको यथायोग्य अन्नसे पुष्ट करना चाहिये ।

दुन्दुभि ।

[सूक्त १२६]

(श्रुतिः — शघर्षा । देवता — दुन्दुभि ।)

उपं श्रामय पृथिवीमुत्त घां पुंरुत्रा तं वन्वतां विष्टितं जगत् ।
 स दुन्दुमे सज्जूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अपे सेधु शत्रून्

॥ १ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुमे) नगाके । तू (पृथिवीं उत्त घां उपभ्वासय) पृथ्वीमें और युलोकमें भी जीवन उत्पन्न कर (पुंरुत्रा विष्टितं जगत् ते वन्वतां) बहुत प्रकारसे विशेष रूपमें स्थित जगत् तूरे आश्रयसे रहे । (सः इन्द्रेण देवेः सज्जः) वह तू इन्द्रके और देवोंके साथ रहनेवाला (दूरात् दवीयः) दूरसे दूर (शत्रून् अपे सेधु) शत्रुओंका नाश कर ॥ १ ॥

भाषार्थ— दुन्दुमिका शब्द होनेसे लोगोंमें एक प्रकारका नवभूतन्य उत्पन्न होता है । इस लिये वीरोंकी युद्धमें बलवान् देनेके लिये इस नगाकेका उपयोग करते हैं । इसमें दिव्य शक्ति है इसलिये यह शत्रुओंको दूरसे ही मगा देता है ॥ १ ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ र्था अभि एन दुरिता वाधमानः ।

अपं सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व

॥ २ ॥

प्रामूं जयामीरेमे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु ।

समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोस्साकमिन्द्र स्थिनो जयन्तु

॥ ३ ॥

अर्थ— हे (दुन्दुभे) नगाहे । (आक्रन्दय) शत्रुसेनाको रुला । (नः ओजः बलं वाधाः) हमारे अंदर बल और बल घातन करा । (दुरिता वाधमानः अभि स्तन) पापोंको बाधित करता हुआ गर्जना कर । (दुच्छुना इतः अपसेध) दुष्ट देनेवाली शत्रुसेनाको यहाँसे भगा दे । तू (इन्द्रस्य मुष्टिः अस्ति) इन्द्रकी मुष्टि है, तू (वीडयस्व) सुदृढ़ रह ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (अमु प्र जय) इस शत्रुसेनाको पराजित कर (इमे अभि जयन्तु) ये वीर विजयों करें । (केतुमद् दुन्दुभिः वावदीतु) सेठेवाला नगाडा बहुत बडा नाद करे । (नः नरः अश्वपर्णाः संपतन्तु) हमारे वीर घोड़ोंसे युक्त होकर हमला करें और (नरोस्साक रयिनः जयन्तु) हमारे रथों वीर जय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

भाषार्थ— दुन्दुभिका मयानक शब्द सुनकर शत्रुसेना घबरा जाती है और अपने सैन्यमें बल और बल्य आता है । अपने सैन्यके दोष दूर होते हैं और शत्रु भाग जाते हैं । अर्थात् यह दुन्दुभि एक प्रकारका बल है, इसलिये वह दुन्दुभि हमें बल देवे ॥ २ ॥ यह दुन्दुभि शत्रुसेनाका पराजय करे, और हमारे सैन्यकी विजय होवे । अपने राष्ट्रीय क्षणके साथ दुन्दुभि बडा शब्द करे । उस शब्दके साथ हमारे घुबड़वार शत्रुपर लडाई करें । और हमारे रथों जयको प्राप्त करें ॥ ३ ॥

युद्धके स्थानपर नगाडेका शब्द सेनामें बडा उत्साह बढ़ाता है । इसलिये हर एक सेनाके साथ रणभेरी अर्थात् बडे नगाडे रहते हैं । यह एक विजय प्राप्तिका साधन है । इस दृष्टिसे यह दुन्दुभिका काव्य बडा मनोरंजक और बोधप्रद है ।

कफक्षयकी चिकित्सा ।

[सूक्त १२७]

(ऋषिः — भृगुवह्निरा । देवता — वनस्पतिः, यक्षमनाशनं)

विद्रघस्यं बलासस्य लोहितस्य वनस्पते । विसर्पकस्योपधे मोर्च्छिपः पिशितं चन ॥ १ ॥

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावर्पथितौ । वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचर्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वनस्पते) औषध ! (बलासस्य विद्रघस्य) कफक्षय, फोडे फुन्सी, (लोहितस्य विसर्पकस्य) कृमि गिरना और विघर्ष अर्थात् त्वचाके विकारका (पिशितं मा चन उच्छिपः) मांस बिलकुल खोप न रहे ॥ १ ॥

हे (बलास) कफरीग ! (ते यौ मुष्का कक्षे अपथितौ) तेरेसे बनी जो दो गिलटियाँ कान्धमें लगी हैं । (तस्य भेषजं अहं घेद) उसकी औषध मैं जानता हूँ । उसका (अभि चक्ष्णं चीपुद्रुः) उपाय चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

भाषार्थ— खाँसी, कफक्षय, फोडे, फुन्सी और त्वचापर बढनेवाला विघर्ष रोग, खाँसीके कारण रक्त गिरना, और मांसमें दोष उत्पन्न होना, यह सब इस चीपुद्रु नामक औषधिये दूर होता है ॥ १ ॥

विघ रोगसे गिलटियाँ बढती हैं, उसकी भी यही चीपुद्रु औषधि है ॥ २ ॥

यो अङ्गयो यः कर्ण्यो यो अङ्ग्योर्विसर्पकः । विवृद्धामो विसर्पकं विद्वधं हृदयामुयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधुरार्थं सुवामसि ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः अङ्ग्यः) जो अङ्गमें, (यः कर्ण्यः) जो कर्णमें, (यः अङ्ग्योः) जो आँखोंमें, (यः विसर्पकः) जो विषर्प रोग है, (विसर्पकं विद्वधं हृदयामुयम्) उस विषर्प, छोटे और हृदयरोगको (विवृद्धामः) नाश करते हैं । (तं अज्ञातं यक्ष्मं) उस अज्ञात यक्ष्म रोगको (अधुरार्थं परा सुवामसि) नीचैकी गतिसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जो अङ्गमें, कानोंमें, आँखोंमें, हृदयमें, रक्तके अथवा मांसके रोग होते हैं, जो विषर्प रोग है और छोटे कुन्धीका रोग है, अथवा इस प्रकारका जो अज्ञात रोग है, उसको इस औषधि द्वारा हम निग्रहीतसे दूर करते हैं ॥ ३ ॥

‘चीपुद्रु’ एक औषधि है । यह नाम वेदमें है अन्य ग्रंथोंमें नहीं मिलता । इस सूक्तमें इसका बहुत वर्णन है, परंतु यह वनस्पति इस समय अज्ञात ही है । इस कारण इस विषयमें अधिक लिखना अवैभव है । इस औषधिकी कोश करने चाहिये । इसका कोई दूसरा नाम आर्यवैद्यकर्मग्रंथोंमें है। तो उसका भी पता लगाना चाहिये ।

राजाका चुनाव ।

[सूक्त १२८]

(ऋषिः — अथर्वहिरण्यः । देवता — सोमः, शकधूमः ।)

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत । भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसुरिति ॥ १ ॥
भद्राहं नो मघ्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः । भद्राहं नो अह्नां प्रातः रात्रीं भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥
अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाम्याम् । भद्राहमस्मभ्यं राजन्लकधूमं त्वं कृधि ॥ ३ ॥
यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा । तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूमं सदा नमः ॥ ४ ॥

अर्थ— (यत् नक्षत्राणि शकधूमं राजानं अकुर्वत) जिस प्रकार नक्षत्रोंने शकधूमको राजा बनाया और (अस्मै भद्राहं प्रायच्छत्) इसके लिये शुभ दिवस प्रदान किया, इसलिये कि (इदं राष्ट्रं अस्तात्) यह राष्ट्र बने ॥ १ ॥

(नः मघ्यंदिने भद्राहं) हमारे लिये मघ्यदिनमें शुभ समय हो, (नः सायं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये सायंकालका शुभ समय हो, (नः अह्नां प्रातः भद्राहं) हमारे लिये दिनका प्रातः काल शुभ हो और (नः रात्रीं भद्राहं अस्तु) हमारे लिये रात्रिका समय शुभ हो ॥ २ ॥

हे (शकधूम) शकधूम ! (त्वं अहोरात्राभ्यां) तू अहोरात्रके द्वारा, (नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाम्याम्) नक्षत्रों और सूर्य तथा चन्द्रमा द्वारा (अस्मभ्यं भद्राहं कृधि) हमारे लिये शुभ दिवस कर ॥ ३ ॥

हे (नक्षत्रराज शकधूम) नक्षत्रोंके राजा शकधूम ! (यः नः सायं नक्तं अथो दिवा) जो हमारे लिये सायंकाल, रात्रि और दिनका (भद्राहं अकरः) शुभ समय बना दिया है, (तस्मै ते सदा नमः) उस तेरे लिये सदा नमन है ॥ ४ ॥

भाषार्थ— यह नक्षत्रोंने मिलकर, अपना एक संघटित राष्ट्र बन लाया इस हेतुसे, अपने लिये एक राजा बनाया ॥ १ ॥

इसके बननेसे प्रातःकाल, मघ्यदिनमें और सायंकाल तथा रात्रिके समयमें सबको सुख होने लगा ॥ २ ॥

राजा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और अहोरात्र द्वारा मनुष्योंका कल्याण करता है ॥ ३ ॥

जिस कारण राजा सब प्रजाजनोंका दिनरात हित करनेमें उत्तर रहता है, इस कारण उसका सदा सम्मान होना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रजा अपना राजा चुने ।

प्रजा अपनी सन्धिके लिये सुयोग्य राजाको चुने और उसको राजगद्दीपर बिठलावे, उसको सम्मान देवे और उसके शासनमें सुखका उपभोग लेवे । इस उपदेशको इस सूक्तमें उत्तम अलंकारके द्वारा बताया है । अलंकार इस प्रकार है ।

‘आकाशमें अनेक नक्षत्र हैं, उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं था । यह अनवस्था उन्होंने देखा और अपना एक बड़ा राष्ट्र बनानेके लिये उन सबने मिलकर अपना एक राजा चुना, उसका नाम चन्द्रमा है । इस राजाके राजगद्दीपर आनेके पश्चात् सबको उत्तम सुखका लाभ हुआ और उनकी सब आपत्तियाँ दूर गईं ।’

यह तो इसका उत्तानार्थ है, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ श्रेष्ठालंकारसे जाना जाता है और वह अर्थ सूक्तका मुख्य अर्थ है । इसमें जो ‘न-क्षत्र’ शब्द है वह शब्द क्षात्र धर्मसे रहित सामान्य प्रजा अर्थात् जो प्रजा अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती ऐसी प्रजा । शान्ति, व्यापारी और कारीगर यह प्रजा, इसमें क्षात्र वर्ग सम्मिलित नहीं । यह प्रजा—

इदं राष्ट्रं असात् इति ।

(मं० १)

अपना एक बड़ा राष्ट्र निर्माण करनेके लिये —

नक्षत्राणि राजानं अकुर्वन्, ॥ (मं० १)

‘क्षत्रियोंसे मिल प्रजाओं अपना क्षात्रधर्मसे रहित प्रजा जनोंने अपना एक राजा बनाया ।’ पूर्वपर सम्बन्धसे वह राजा क्षत्रियोंमेंसे चुना होगा । यह आशय ‘शकधूम’ शब्दसे भी व्यक्त हो सकता है । स्वयं (शक) समय होकर जो शत्रुओंको (धू) केंपायमान करता है उसका यह नाम है । सब प्रजा-जनोंने देखा कि इस तेजस्वी पुरुषके राजा बनानेसे इसके सामर्थ्यके कारण हमारे सब शत्रु परास्त होंगे । और शत्रु परास्त होनेसे हमें सुखका लाभ होगा और हमारा राष्ट्र बड़ा तेजस्वी होगा ।

इस प्रकार राजाका चुनाव करनेसे उनको ‘भद्राह’ (सद्भ+भद्र) कल्याणका समय प्राप्त हुआ और वे सब आनन्दसे रहने लगे । कोई शत्रु उनको कष्ट देनेके लिये उनके पास नहीं आया और सब प्रजा बड़े आनन्दके साथ रहने लगी ।

राजाका यह प्रताप देखकर सब उस राजाका सम्मान करने लगे । इस प्रकार जो मनुष्य अपने राष्ट्रके लिये सुयोग्य राजाको चुनें और उसका आदर करने लगेंगे, वे सब सुखी होंगे । इसका विचार करके प्रजा अपने लिये उत्तम राजाको चुने और सुख होवे ।

भाग्यकी प्राप्ति ।

[सूक्त १२९]

(ऋषिः — मथर्वाङ्गिरा । देवता — भगः ।)

भगेन मा शांशेपेन साकमिन्द्रेण मेदिना । कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरतयः ॥ १ ॥

येन वृक्षो अम्यमयो भगेन वर्चसा सह । तेन मा भगिनं कृण्वे द्रान्त्वरतयः ॥ २ ॥

यो अन्धो यः पुनः सुरो भगो वृक्षेष्वाहितः । तेन मा भगिनं कृण्वे द्रान्त्वरतयः ॥ ३ ॥

अर्थ— (शांशेपेन भगेन मेदिना इन्द्रेण) शशप वृक्षकी शीमाके समान आनन्द करनेवाले इन्द्रसे (मा भगिन कृणोमि) मैं अपने आपको भाग्यशाली बनाता हूँ । (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर हों ॥ १ ॥

(येन वृक्षान् अम्यमयः) जिसमें वृक्षोंका पराजय करता है, उस (भगेन वर्चसा सह) भाग्य और तेजके साथ (मा भगिनं कृणु) मुझे भाग्यवान् बना और (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जाय ॥ २ ॥

(य अन्ध) जो अन्धमय और (यः पुनः सुरः) जो बारबार गतिवाला (भगः वृक्षेषु आहित) भाग्यका अथ वृक्षोंमें रखा है (तेन मा भगिनं कृणु) उससे मुझे भाग्यवान् बना, (अरातयः अप द्रान्तु) शत्रु दूर भाग जाय ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जिस प्रकार शशपा वृक्ष खुर दीखता है, उस प्रकार ईश्वरकी कृपासे भाग्ययुक्त होकर मेरी सुदरता बढ़े । साथ ही साथ मेरे शत्रु दूर भाग जायें ॥ १ ॥

जिस प्रकार यह वृक्ष अन्य वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक सुदर दीखता है, उस प्रकार भाग्य और तेज प्राप्त होकर मेरी शीमा बढ़े । मेरे शत्रु मुझसे दूर हो जायें ॥ २ ॥

वृक्षोंमें जो अन्नका भाग और अन्य भाग होता है, उस प्रकार मुझमें पुष्टि और बल आवे । शत्रु मेरे शत्रु दूर हों ॥ ३ ॥

अपने अदर पुष्टि, बल, भाग्य, ऐश्वर्य और सौंदर्य बढ़ें और अपने जो घातक शत्रु हैं वे दूर हो जायें । इसप्रकार इस सूक्तका आशय सारल है ।

कामको वापस भेजो ।

[सूक्त १३०]

ऋषि: — अथर्वगिरा । देवता — स्वर ।)

रथजितां राथजितेयीनामस्मरतामुयं स्मरः । देवाः प्र हिणुत स्मरमुसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति । देवाः प्र हिणुत स्मरमुसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन । देवाः प्र हिणुत स्मरमुसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥
उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय । अम उन्मादया त्वमुसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

अर्थ— (रथजितां राथजितेयीनामस्मरतां) रथछे आतनेवाली और रथछे जीत गई अप्सराओंका (अयं स्मरः) यह काम है । हे देवो ! (स्वर प्रहिणुत) इस कामको दूर करो, (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ १ ॥
(असौ मे स्मरतात् इति) यह मुझ स्मरण करे, (प्रियो मे स्मरतात् इति) मेरा प्रिय मुझे स्मरण करे । हे देवो ! (स्वर प्रहिणुत) इस कामको दूर कर । (असौ मां अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ २ ॥
(यथा मम स्मरात्) जिस प्रकार यह मेरा स्मरण करे (अमुष्याहं कदाचन न) संशय में कदापि स्मरण न करूँ, हे देवो ! (स्वर०) इस कामको दूर करा, वह मेरा शोक करे ॥ ३ ॥
हे मरुतो ! (उन्मादयत) उन्माद करो । (अन्तरिक्ष उन्मादय) हे अन्तरिक्ष । उन्माद करो । हे अग्ने ! (इय उन्मादय) तू उन्माद कर । (असौ मा अनुशोचतु) वह मेरा शोक करे ॥ ४ ॥

कामको लौटा दो ।

इसका आशय स्पष्ट है । किसी विषयमें मनमें काम उत्पन्न हो जाय, तो उसको जिसके कारण वह काम उत्पन्न हुआ हो उसका पास वापस करना चाहिये । अपने मनमें उसको स्थान देना नहीं चाहिये । दूसरेके मनमें कितना भी काम विकार रहे

परतु उसको अपने मनमें स्थान देना नहीं चाहिये । जिस अवस्थामें दूसरे लोग-स्त्री या पुरुष कामके कारण उन्माद, प्रमत्त और बेहोशछे होते हैं, वैसी अवस्था प्राप्त करनेपर भी कामका अगर अपने मनपर नहीं होने देना चाहिये । इस प्रकार अपना मन काम विकारधर दूर रखना चाहिये ।

[सूक्त १३१]

(ऋषि: — अथर्वहिरा । देवता — स्वर.)

नि शीर्षितो नि पंचत आघ्योऽ नि तिरामि ते । देवाः प्र हिणुत स्मरमुसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥
अनुमतेन्विद् मन्वस्वाकृते समिदं नमः । देवाः प्र हिणुत स्मरमुसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥
यद् धार्यसि त्रियोज्जनं पञ्चयोजनमार्धिनम् । ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

अर्थ— (ते आघ्यः शीर्षतः पंचत) ऐसी व्यवस्था सिरधर और पाँचवें (नि नि नि तिरामि) विशुद्ध रत्न देना है । हे देवा ! देवो ! (स्वर प्रहिणुत) कामको दूर करो । असौ मां अनुशोचतु) वह काम मेरे कारण शोक करे ॥ १ ॥
हे (अनुमते) अनुमति ! (इदं मन्वस्वस्य) इसके तू अनुमूल मान । हे (आकृते) धरतर ! तू (इदं नमः) यह मेरा नमन स्वीकार कर । हे देवा ! कामको दूर करो, और वह मेरे कारण शोक करे ॥ २ ॥
(यत् त्रियोज्जनं धार्यसि) जो तीन योजन चौड़ा है, अपना (आश्विनं पञ्चयोजन) चत्वारसे पाँच योजन जाता है, (ततः त्वं पुनः धार्यसि) वहाँसे तू पुनः आता है । नः पुत्राणो पिता ममः) हम पुत्रोंका तू पिता है ॥ ३ ॥
१७ (अथर्व भाष्य, काण्ड १)

यह सूक्त भी पूर्वसूक्तके समान ही कामविकारको दूर करनेकी सूचना देता है । कामविकारको दूर करना चाहिये । जिस किष्किं विषयमें काम विकार उत्पन्न हुआ है, वह चाहे शोक करता रहे, या सङ्कता रहे, परतु स्वयं उस कामके वशमें नहीं होना चाहिये ।

तृतीय मंत्रका कथन है कि चाहे कितना भी दूर-घरसे बहुत दूर-काम काजके लिये घरके मनुष्य क्यों न जाये, उनको अपने

घर अवश्य ही वापस आना चाहिये और घरके घाल बचकोटा पालन करना चाहिये । अर्थात् अपने घरमें आकर सोना चाहिये । बाहर दूखरेके घरमें सोना उचित नहीं । इस मंत्रका अर्थ प्रकरणा नुकूल समझना चाहिये, अर्थात् घरमें सोनेसे कामवशताकी संभावना कम होती है । इस विषयमें इतने संकेतसे ही पाठक जानसकते हैं कि, मंत्रका निर्देश क्या है । अधिक विवरणकी आवश्यकता नहीं है ।

[सूक्त १३२]

(ऋषिः — अथर्वान्निरा । देवता — सूर्य ।)

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्स्वर्वाः शोशुचानं सहाष्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥ १ ॥
यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्स्वर्वाः शोशुचानं सहाष्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥ २ ॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चन्स्वर्वाः शोशुचानं सहाष्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥ ३ ॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चन्स्वर्वाः शोशुचानं सहाष्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥ ४ ॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चन्स्वर्वाः शोशुचानं सहाष्या । तं तै तपामि वरुणस्य धर्मेणा ॥ ५ ॥

अर्थ— (देवाः, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राणी, मित्रावरुणौ) देव, सब देव, इन्द्रशक्ति, इन्द्र और अग्नि तथा मित्र और वरुण ये सब देव (य शोशुचानं स्मरे) जिस शोक करनेवाले कामको (आष्या सह) व्यापारोंके साथ (अपातु अन्तः अस्मिञ्चन्) जलके प्रतिनिधिभूत कीर्णमें सोंचते हैं, (वरुणस्य धर्मेणा) वरुण नामक जल देवके धर्मसे (ते त तपामि) तेरे उस कामको तपाता हूँ । अर्थात् उस तापसे वह तप्त होकर दूर होवे, और हमें कमी न सतावे ॥ १-५ ॥

सब दवाने शरीरके अंदर जो रेत है उस रेतमें कामको रक्ता है । वहाँ रहता हुआ यह काम मनुष्योंको सताता है और विविध कष्ट देता है । यह काम जो उस रेतके स्थानमें रहता है उसके साथ (आष्या सह) अनेक आधियाँ अर्थात् मानसिक व्यापार रहती हैं । काम जहाँ होता है वहाँ मानसिक कष्ट बहुत होते हैं । इसका फिलफिला ऐसा है—

सङ्गात्संजायते कामः कामात्प्रोद्योऽभिजायते

॥ ६२ ॥

प्रोद्योद्भवति समोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥

स्मृतिविभ्रमाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रमथ्यति ॥

(म० गी० २)

विषयोंके संगमे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे मोह,

मोहसे अम, अमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वस्वनाश होता है ।

इस प्रकार कामके साथ नाश लगा है । अतः उसको दूर करना चाहिये । जितना धर्मानुकूल काम हो उतना ही लेना चाहिये । धर्मविरोध कामको छोड़ देना चाहिये । इसलिये कहा है कि कामके साथ अनेक विषयोंमें लगाई है और विषयोंमें मनुष्य (शोशुचानं) शोकाकुल हो जाता है । यह काम सबको शोकसागरमें डालनेवाला है । (शुर्व धातुके दो) अर्थ हैं तेजस्वी होना और शोकयुक्त होना) ये दोनों इसके धर्म हैं । स्वयं तेजस्वी दीक्षता हुआ सबको शोकमें डाल देता है । इसलिये मन संयमसे उसको तपाना या बुझाना चाहिये, जिससे वह दूर होगा और कष्ट न दे सकेगा ॥

मेखलाबंधन ।

[सूक्त १३३]

(ऋषिः — अगस्त्यः । देवता — मखला ।)

य इमां देवो मखलामाबन्धन् यः सैननाह य उ नो युयोज ।
 यस्य देवस्य प्रथिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥
 आहूतास्यमिहुत ऋषीणामस्यायुधम् । पूर्वा व्रतस्य प्राप्नोती वीरघ्नी मयं मेखले ॥ २ ॥
 मुत्पोरुहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमायं ।
 तमह ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयन् मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥
 अद्वाया दुहिता तपसोर्धि जाता स्वस ऋषीणां भूतकृता बभूव ।
 सा नो मेखले मृतिमा घेहि मेघामथो नो घेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

अर्थ— (य इमां देवो मखलामाबन्धन्) जिस आचार्य देवने इस मेखलाको मेरे शरीरपर बांधा है (यः सैननाह) ओ हमें तैयार रखता है और (य उ न युयोज) ओ हमें कार्यमें लगाता है । (यस्य देवस्य प्रथिषा चराम) जिस आचार्य देवके आशीर्वादसे हम व्यवहार करते हैं, (सः पार इच्छात्) वह हमारे दुष्टक वार होनकी इच्छा कर और (सः उ न विमुञ्चात्) वही हमें बंधनसे छुड़ावे ॥ १ ॥

हे मेखल ! (आहूता अमिहुता अस्मि) तू सब प्रकारसे प्रशंसित है । तू (ऋषीणां आयुध अस्मि) ऋषियोंका आयुध है । तू (व्रतस्य पूर्वा प्राप्नोती) कितो व्रतके पूर्व बांधी जाती है । तू (वीरघ्नी मय) शत्रुके वीरोंका मारनेवाली हो ॥ २ ॥

(यत् तमह मृत्योः ब्रह्मचारी अस्मि) जिस कारण मैं मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हू उस कारण मैं (भूतात् पुरुष यमाय निर्याचन्) मनुष्य प्रणिबोधे एक पुरुषको मृत्युके लिये माँगता हू और (त मह) तब उपपन्न मैं (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण) ज्ञान तप और परिश्रम करनेकी शक्तिसे साथ (एव अनया मेखलया सिनाम) इस पुरुषको इस मेखलासे बांधता हू ॥ ३ ॥

यह मेखला (अद्वाया दुहिता) अद्वाकी दुहिता (तपसा अग्निजाता) तपसे उत्पन्न हुई, (भूतकृता ऋषीणां स्वरा बभूव) भूतोंकी बनविनाश ऋषियोंकी मंगिनी हुई है । हे मेखले ! (सा) वह तू । न मर्ति मेघा आघोह) हमें वराम बुद्धि और धारणाशक्ति दे । (अथो तपः इन्द्रियं च नः घेहि) और तपशक्ति और वराम शरीरों हम प्रदान कर ॥ ४ ॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिर । सा त्व परि ष्वजस्य मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

अथ— हमे खले । (या त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिवेधिर) जिस तुलका पूर्वकालक भूतोंको बनावेवाले ऋषि बांधत रह । (सा त्व दीर्घायुत्वाय मां परिवेधजस्य) वह त्वा दीर्घायुके लिये मुझे आलिंगन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ— मेखला अन्नादि बांधी जाती है । उससे तप करनेकी प्रवृत्ति होता है । अथ ऋषियोंसे यह कटिबंधनका प्रारंभ हुआ है । यह कटिबंधन सबको उत्तम सुख, धारणा शक्ति इदियशक्ति और तप वष ४ ॥

अतिलोग इस मखलाकी बांधते हैं, अतः यह मेखला हमें दीर्घायु देवे ॥ ५ ॥

कटिबद्धता ।

मेखलाबंधन ' कटिबद्धता ' का सूचक है । हर एक कायके लिये कटिबद्ध होना आवश्यक होता है । अन्यथा वह कार्य बल नहीं सकता । म प में मा कहते हैं कि कमर कसके वह मनुष्य इस कार्यको करने लगा है अर्थात् कार्य ठाक होनेके लिये कमर कसनेकी आवश्यकता है । ऋषिबाल तथा ब्रह्मचारिण मेखला बंधन करते थे इसका अर्थ यही है कि वे कमर कसके धर्म कार्य करनेके लिये सदा तैयार रहते थे । इसी कारण वे यश प्राप्त करते थे ।

शाधारण कार्य करनेमें कोई विशेष डर नहीं होता है, परंतु कई ऐसे महान कार्य होते हैं कि उनका करनेसे प्राण जानिकी भी सम्भावना होती है । देशहित, राष्ट्रहित या जातिहित करने आदिके महान कारणोंमें कई मनुष्योंको अपने सर्वस्वकी आहुति देनी होती है इस कार्यके लिये गुप्त शिष्योंको तैयार करता है—

हमां मेखलां प्रायवन्ध, सननाह, न युजोति ।

(म० १)

' हमारे गुरुने यह मेखला हमपर बांधी उसने हमें तैयार किया और हमें सत्कार्यमें लगाया ' यह गुरुका कार्य है और यहा विद्या धर्मेच्छा इत्यु है । विद्या पढकर ब्रह्मचारिण जनपदीद्वार करनेके कार्यके लिये सिद्ध हा जावे और अपन आत्माको उस कार्यमें तत्परताका साथ लगा देवे । पाठशालामें पढनेवाले गुरु भा एते हों, कि जो अपने विद्यार्थियोंके इस दण्डसे तैयार करें और राष्ट्रीय विद्यार्थीकी पढाई भी ऐसा होनी चाहिये कि, जिनमें पढे हुए विद्यार्थी जनहितके कार्य करनेके लिये सदा तैयार हा, सदा कटिबद्ध हों । जो शिष्य इस प्रकार अपन गुरुका आशावाद लेकर कार्य करते हैं, उनका बेटा, पार है जता है—

गस्य प्रशिषा चराम, स पार इच्छात्, स न

विमुञ्चाम् ।

(म० १)

जिस गुरुके आशीर्वादको प्राप्त करके हम कार्य करते हैं, वह हमें दुःख पार करता है और बंधनोंसे मुक्त भी करता है । ' ऐसे गुरु और ऐसे शिष्य अर्थात् हों उस देशका धोमाय

हमेशा ऊँची अवस्थामें रहेगा । इसमें संदेह नहीं है ।

यह मेखला इस प्रकार कटिबद्धताकी सूचना देता है इसी लिये लोग उसकी प्रशंसा करते हैं । हर एक कार्यका प्रारंभ कर नेके पूर्व इस कारण मेखला बांधी जाती है और इसी कारण इससे शत्रुका बल कम होता है ।

विशेष मनुष्यपूर्ण कार्य करनेके समय सर्वस्वनाशका भय होता है, मृत्युका भी भय होता है । यदि इस भयकी कल्पना न होगी तो वैशा समय आनेपर मनुष्य चर जायगा और पीछ हटेगा । एषा न हो इसलिये प्रारंभसे ही इस विद्यार्थीको यह शिक्षा दी जाती है कि—

अह मृत्यो ब्रह्मचारी अस्मि । । (म० ३)

' मैं मृत्युकी समर्पित हुआ ब्रह्मचारी हूँ । ' ब्रह्मचारी समझता है कि मैंने मृत्युको ही आलिंगन दिया है । मृत्युका ही स्वीकारा है । जब कोई मनुष्य आनन्दसे मृत्युका अतिथि बनता है, तब और कौनसा भय है कि जिसमें उसको डर लग जावे । जिसने आनन्दसे मृत्युको स्वीकारा उसका सब डर मिट गया, क्योंकि सबसे बड़े भरी डरको उसने हजम किया है । ब्रह्मचारीको इस प्रकारकी शिक्षा मिलना चाहिये । इस प्रकारका निडर बना ब्रह्मचारी भा—

भूतात् यमाय पुरुष नियान्वन । । (म० ३)

' जनतासे मृत्युके लिये एक पुरुषकी याचना, करता है । ' अर्थात् वह ब्रह्मचारी जैसा स्वयं निर्भय होकर कार्य करता है, उसी प्रकार अन्य मनुष्योंको भी निर्भय बनाता है, इसे निर्भय बने हुए मनुष्य—

ब्रह्मणा, तपसा, अमेज, मेखलया । । (म० ३)

' ज्ञान, तप अर्थात् शीतोष्ण सहन करनेकी शक्ति, परिश्रम करनेका बल और मेखलाबंधन अर्थात् कटिबद्ध होनेका शुभ ' इनसे युक्त होते हैं । और जा इनसे युक्त होते हैं वे सबसे श्रेष्ठ होते हैं ।

मेखलाबंधनसे मति धारणाशुद्धि, शीतोष्णसहन करनेका सामर्थ्य और श्रुत इदियकी प्राप्ति हाती है । तथा दीर्घायु भी प्राप्त हाता है । इस प्रकार मेखलाका महत्त्व है । पाठक इस श्रुतका अधिक विचार करें ।

शत्रुका नाश ।

[सूक्त १३४]

(ऋषिः — शुक । देवता — मन्त्रोक्ता वज्र ।)

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावांस्य राष्ट्रमप्य हन्तु जीवितम् ।

शृणातुं ग्रीवाः प्र शृणातुष्णीहा वृत्रस्यैव शचीपतिः

॥ १ ॥

अर्परोधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सुपत् । वज्रेणावहतः शयाम्

॥ २ ॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि । जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमत् पातय ॥ ३ ॥

अर्थ— (अयं वज्रस्तर्पयतां) यह सत्यका शत्रु तृप्ति करे, यह (अस्य राष्ट्रं अवहन्तु) इसका शत्रुभूत राष्ट्रका नाश करे और (जीवितं अपहन्तु) शत्रुके जीवनका भी नाश करे । (शचीपति वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रका पराभव करता है, उस प्रकार यह शत्रुकी (ग्रीवा शृणातु) गर्दनको काटे और (उष्णिहा प्र शृणातु) धमनियोंको काट देवे ॥ १ ॥

(उत्तरेभ्यः अधर अधर) वक्त्रोंसे नीचे और नीचे होकर (पृथिव्या गूढ) पृथ्वीमें छिपकर रहे और (मा उत्सुपत्) कभी ऊपर न आवे । तथा (वज्रेण अवहतः शयाम्) वज्रसे मारा जाकर पड़ा रहे ॥ २ ॥

हे वज्र ! (य जिनाति तं तमन्विच्छ) जो हानि करता है उसको ढूँढ निकाल । (यः जिनाति तं इत् जहि) जो कष्ट पहुँचाता है उसीको मार डाल । (त्वं जिनतो सीमन्तमन्वञ्चम् अनुपातय) तू दुष्ट देवबालके सिरको सीधा गिरा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ— यह वज्र सत्यका संरक्षण करता है और असत्यका नाश करता है । जो इस राष्ट्रका नाश करना चाहता है उस शत्रुका नाश इस वज्रसे होगा । यह वज्र उनका नाश करे जो दुमरोंकी सलाते हैं ॥ १ ॥

॥ शत्रुका अधःपतन होवे, वे अपना सिर कभी ऊपर न करें और अन्तमें वज्रसे मारे जाकर भूमिपर गिर जावे ॥ २ ॥

जो विनाकारण दूसरेका नाश करता है उसका नाश करना योग्य है । उसा दुष्टका सिर काटा जावे ॥ ३ ॥

वज्रादि शस्त्रोंका उपयोग ।

वज्र आदि शस्त्रास्त्रोंका उपयोग जनताका हानि करनेवाले दुष्टोंका नाश करनेके कार्यमें ही किया जावे । सत्य पक्षका सहायता करने और अधत्यक्षका विरोध करनेके कार्यमें इन शस्त्रोंका

उपयोग किया जावे । अस्तपक्षके लोग समयसमयपर प्रबल भी हुए तथापि वे दिन प्रतिदिन नीचे गिरते जाते हैं । उनका पक्ष ही ऐसा होता है कि वह उनको सँभल नहीं देता । जिसके कारण जनताका हानि होती है सब मिलकर उसका नाश करें ।

[सूक्त १३५]

(ऋषि — शुक । देवता — मन्त्रोक्ता वज्रः ।)

यदुभ्राभि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे । स्कन्धानमुष्यं शतयन् वृत्रस्यैव शचीपतिः

॥ १ ॥

अर्थ— (यत् अश्रामि बलं कुर्वे) जो मैं चाहूँ उससे मैं अपना बल बढ़ाऊँ । (इत्थं वज्रमा ददे) इस प्रकार मैं वज्र हाथमें लेता हूँ और (अमुष्य स्कन्धान् शतयन्) उस शत्रुके कन्धोंको काटता हूँ । (शचीपति वृत्रस्य इव) इन्द्र जैसे वृत्रको काटता है ॥ १ ॥

यत् पिबामि सं पिबामि समुद्र इव संपिबः । प्राणान्मुख्यं संपायं सं पिबामो अमुं वयम् ॥ २ ॥
यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः । प्राणान्मुख्यं संगीर्यं सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—(यत् पिबामि संपिबामि) जो मैं पीता हूँ वह ठीक पी जाता हूँ । (समुद्र इव संपिबः) समुद्र जैसे तू भी (अमुख्य प्राणान् संपाय) उस शत्रुके प्राणोंको पीकर (वयं अमुं सं पिबामः) हम उसको पी जाते हैं ॥ २ ॥
(यद् गिरामि संगिरामि) जो मैं निगलता हूँ उसको ठीक गलेके नीचे उतार देता हूँ (समुद्र इव संगिरः) समुद्रके समान तू निगल । (अमुख्य प्राणान् संगीर्यं) उसके प्राणोंको निगलकर (वयं अमुं संगिरामः) हम उसको गलेके नीचे उतार देते हैं ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो मैं खाता हूँ और गलेके नीचे उतारता हूँ, उपद्रव मैं अपने अंदर बल पैदा करता हूँ । जिस प्रकार समुद्र नदियों और वृष्टिजलोंको पीता है और अपनाता है, उसी प्रकार मैं भी खाये और पीये हुए अन्नरसोंको अपनाता हूँ और उन्हें अपना बल बढ़ाता हूँ । और उस बलसे युक्त होकर हाथमें सत्य पक्षकी रक्षाके लिये राज लता हूँ और दुष्टोंका नाश करता हूँ ॥ १-३ ॥

अपना बल बढ़ाकर उस बलका उपयोग दुष्टोंके दमन करनेके कार्यमें करना चाहिये ।

केशवर्धक औषधि ।

[सूक्त १३६]

(ऋषिः — वीतह्वयोऽथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे । तां त्वां नितस्ति केशेभ्यो दंष्ट्रणाय खनामसि ॥ १ ॥
दंष्ट्रप्रत्नान् जनयाजानान् जातानु वर्षीयसस्कृषि ॥ २ ॥
यस्ते केशोवपयते समूलो यश्च वृक्षते । इदं तं विश्वमेपज्याभि पिबामि वीरुषा ॥ ३ ॥

अर्थ—हे औषधे ! तू (देवी देव्यां पृथिव्यां अधि जाता) दिव्य औषधी पृथिवी देवीमें उत्पन्न हुई है । (नितस्ति) नीचे फैलनेवाली औषधि । (तां त्वां केशेभ्यः दंष्ट्रणाय खनामसि) उस दुस औषधिको केशोंको छुट्ट करनेके लिये खादते हैं ॥ १ ॥

(प्रत्नान् दंष्ट्र) पुराने केशोंको टूट कर, (अजातान् जनय) जहाँ नहीं उत्पन्न होते वहाँ उत्पन्न कर । (जातान् वर्षीयसः कृषि) और जो उत्पन्न हुए हैं उनको बड़े लंबे बनाओ ॥ २ ॥

(यः ते केशाः वपयते) जो तेरा केश गिर जाता है, (यः च समूलः वृक्षते) और जो मूलके सहित टूट जाता है, (इदं तं विश्वमेपज्या वीरुषा अभिपिबामि) इस केशको केशदोषको दूर करनेवाली लताके रससे मिगा देता हूँ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—नितरनी नामक औषधी पृथ्वीपर उगती है उसके प्रयोगसे केश सुदृढ़ होते हैं । केश पुराने हों, जो टूटते हों, गिरजाते हों, इस औषधीके रसके लगानेसे वह सब दोष दूर होजाता है और बाल सुदृढ़ हो जाते हैं । जहाँ बाल उगते नहीं वहाँ इस औषधिकी रस लगानेसे बाल आते हैं और जहाँ आते हैं वहाँके बाल बड़े लंबे हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

यह नितरनी नामक औषधी केशवर्धक करके कहा है, परंतु यह कौनसी औषधी है इसका पता नहीं चलता । वैद्योंको योग्य है कि वे इस औषधिकी खोज करें और प्रकाशित करें ।

[सूक्त १३७]

(ऋषिः — वीतहव्योऽथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥ १ ॥
अमीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ २ ॥
हंह मूलमात्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे । केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥ ३ ॥

अर्थ— (जमदग्निः यां केशवर्धनीं दुहित्रे अखनत्) जमदग्निने जिस केशवर्धक औषधिकी अपनी कन्याके निमित्त खोदा (तां वीतहव्यः असितस्य गृहेभ्यः आभरत्) उसको वातहव्य असितके घरोंके लिये भर लिया ॥ १ ॥ जो (अमीशुना मेया आसन्) केश अंगुलियोंसे मापे जाते थे वे (व्यामेन अनुमेयाः) हाथोंसे मापने योग्य होगये । (ते शीर्ष्णः परि) तेरे सिर पर (असिता केशाः) काले केश (नडाः इव वर्धन्तां) नरकट घासके समान बढ़ें ॥ २ ॥

हे औषध ! (मूल दृढ) केशका मूल दृढ कर (अग्र वि यच्छ) अग्र भागको ठीक कर और (मध्यं यामय) मध्यभागका नियमन कर । (ते शीर्ष्णः परि) तू सिरके ऊपर (असिताः केशाः नडाः इव वर्धन्तां) काले केश नरकट घासके समान बढ़ें ॥ ३ ॥

सूक्त केशवर्धक औषधिके रसके उपयोगसे केश बहुत बढ़ जाते हैं । जलके स्थानमें जैसा घास बहुत बढ़ता है उस प्रकार केश बढ़ते हैं और केशोंके मूल भी सुदृढ हो जाते हैं, इस कारण वे टूटते नहीं । यह केशवर्धक औषधि बड़ा है कि जो पूर्व सूक्तमें वर्णित है । यह औषधि अन्वेवणीय है । क्योंकि इसका पता नहीं चलता ।

ह्रीव ।

[सूक्त १३८]

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — वनस्पति ।)

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमामिश्रुतास्पोषधे । इमं मे अद्य पूर्णं ह्रीवमौपशिनं कृधि ॥ १ ॥
ह्रीवं कृष्योपशिनमुमे कुरीरिणं कृधि । अथास्थेन्द्रो प्रावभ्यामुमे भिनत्वाण्डयौ ॥ २ ॥
ह्रीवं ह्रीवं त्वाकरं वध्रे वध्रि त्वाकरमरसारं त्वाकरम् । ॥ ३ ॥
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्भं चाधिनिदध्मसि

अर्थ— हे औषध ! (त्व वीरुधा श्रेष्ठतमा मिश्रुता) तू औषधियोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ सर्वत्र प्रसिद्ध है । (अद्य इमं मे पूर्य) आज इस मेरे पुत्रवपुशको (ह्रीवं औपशिनं कृधि) ह्रीव और औषध कर ॥ १ ॥ (ह्रीवं औपशिनं कृधि) ह्रीव और औषध कर । (अथो कुरीरिणं कृधि) और सिरपर बाल रखनेवाला कर । (अथ इन्द्रः प्रावभ्यां) और इन्द्र दो पत्नीयों (अस्य उमे आण्डयौ भिनत्तु) इसके दोनों अण्डकोश छिन्न-भिन्न करे ॥ २ ॥

हे ह्रीव ! (त्वा ह्रीवं अकरं) तुझे ह्रीव बना दिया है । (वध्रे वध्रि अकरं) तुझे निर्वल बना दिया है । (त्वा अरसं अकरं) तुझे रसहीन बना दिया है । (अस्य शीर्षणि कुरीरं) इसके सिरपर बाल और उनमें (कुम्भं च अधिनिदध्मसि) आभूषण भी धर देते हैं ॥ ३ ॥

ये ते नाड्यौ देवकृते यपोस्तिष्ठति वृष्ण्यम् । ते ते भिनन्ति शम्ययामुध्या अधि मुष्कयोः ॥ ४ ॥
यथा नृदं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना । एवा भिनन्ति ते शेषोमुध्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

अर्थ— (ये ते देवकृते नाड्यौ) जो तेरी देवोंद्वारा बनाई नाडियों है (ययोः वृष्ण तिष्ठति) जिनमें वीर्य रहता है, (ते ते अधिमुष्कयो अधि) वे तेरे दोनों अण्डोंके ऊपर (अमुध्या शम्यया भिनन्ति) इस दण्डसे ताड़ देता है ॥ ४ ॥

(यथा स्त्रियः कशिपुने नृदं अश्मना भिन्दन्ति) जिस प्रकार स्त्रियाँ चटाई बनानेके लिये नरकुलेकी पर्यसे कूटते हैं । (एवा अमुध्या ते शेष) इस प्रकार तेरा इन्द्रिय (ते मुष्कयो अधि भिनन्ति) तेरे अण्डकोशोंके ऊपर कूटता है ॥ ५ ॥

बैल घोड़ा आदि पुरुष पशुओंको पुरुषत्वसे हानि बनानेके लिये वीर्यका नाडियों तोड़ना, अण्डोंको कूटना, अधिया करना या अस्त्रता करने आदिकी विधि इसमें लिखी है । किंसा औषधिका प्रयोग भी कहा है, परन्तु उस औषधिके नामका पता नहीं लगता है । वादेनाडियों काटना अण्डकोशोंको तोड़ना, इत्यादि बातें आज मा प्रसिद्ध हैं ।

सौभाग्यवर्धन ।

[सूक्त १३९]

(श्रद्धा — अथर्वा । देवता — वनस्पतिः ।)

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम । शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।

तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते

॥ १ ॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमर्थो शुष्यत्त्रास्यम् । अथो नि शुष्य यां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

संवर्ननी समुपला यन्मु कल्याणि सं नृद । अमुं च मां च सं नृद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

अर्थ— (मम सुभगकरणी न्यस्तिका रुरोहिथ) मेरा सौभाग्य बढ़ानेवाला और दोष दूर करनेवाली यह औषधी उत्पन्न हुई है । (तव शत प्रताना) तेरी सौ प्रकारकी शाखाएँ हैं और । त्रयस्त्रिंशत् निताना) तैतीस/व्यशाखाएँ हैं । (तया सहस्रपर्ण्या) उस सहस्रपर्णी औषधिके (ते हृदय शोषयामि) तेरा हृदय शुष्क करता है ॥ १ ॥

(ते हृदयं मयि शुष्यतु) तेरा हृदय मेरे विषयमें विचारके सूख जावे । (अथो आस्य शुष्यतु) और सुख सुख जावे । (अथो मां कामेन नि शुष्य) और मुझे कामसे शुष्क करके (अथो शुष्कास्या चर) शुष्क मुखवाली होकर चल ॥ २ ॥

हे (यन्मु कल्याणि) पोषण करनेवाली अथवा पाले रगवाली और कल्याण करनेवाली । तू (संवर्ननी समुपला) सेवन करने योग्य और उत्साह बढ़ानेवाली है । तू (अमुं संनृद) वषको प्रेरित कर, (मां च संनृद) मुझे प्रेरित कर । हमारा (हृदयं समान कृधि) हृदय समान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ— सहस्रपर्णी औषधिके सौभाग्य बढ़ानेवाली और दोष दूर करनेवाली है । इसकी सैकड़ों शाखाएँ होती हैं । इससे औषध वीर्यवात होते हैं और परस्परके वियोगको सह नहीं सकते अर्थात् वियोग होनेपर सूख जाते हैं ॥ १-२ ॥

यह वनस्पति पुष्टि करनेवाली और सब प्रकार आनन्द देनेवाली है, उत्साह भी बढ़ाती है, इसलिये यह हर्षी औषधियोंको सेवन करने योग्य है । औषधियोंको परस्पर इच्छाकी प्रेरणा इसके सेवकसे होती है और दोनोंका हृदय समानतया परस्परके प्रति आकर्षित होता है ॥ ३ ॥

यथोदकमर्षपुषोपशृष्यत्यास्यम् । एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ ४ ॥
यथा नकुलो विच्छिद्य संदधास्यहि पुनः । एवा कामस्य विच्छिद्यं सं घेहि वीर्यावति ॥ ५ ॥

अर्थ— यथा उदक अपुषः) जिस प्रकार जल न पीनेवालेका (मास्यं अप शुष्यति) सूख सूख जाता है ।
(एवा मां कामेन नि शुष्य) इस प्रकार मेरे विषयक कामसे शुष्क होकर (अथो शुष्कास्या चर) सूखे सुखशाली होकर
चल ॥ ४ ॥

(यथा नकुलः अहि विच्छिद्य) जैसे नेवला सांपको काटकर (पुनः संदधाति) फिर जोड़ता है । (एवा
वीर्यावति) इस प्रकार हे वीर्यावती औषधि । (कामस्य विच्छिद्य) कामसे छूटे हुए सबधको (सं घेहि) जोड़ दे ॥ ५ ॥

भाषार्थ— जिस प्रकार जल न मिलनेसे मनुष्य सूख जाता है, इस प्रकार कामसे स्त्रीपुरुष परस्पर प्राणिकी इच्छासे सूखने
है ॥ ४ ॥

जिस प्रकार नेवला सांपको काटता है और पुन जोड़ता है, उन्ही प्रकार विषय की पुनर्प्राप्ति को पुन जोड़ देना योग्य है ॥ ५ ॥

सहस्रपर्णी औषधि ।

इस सूक्तमें सहस्रपर्णी औषधीका वर्णन है । यह औषधी खा
पुष्पोंको परस्पर सबध करनेके योग्य पुष्ट और वार्यवान बना
देती है । इसके सेवन करनेपर स्त्रीपुरुषोंको परस्परका वियोग
सहन करना असम्भव है । निर्वाय पुरुष भी बड़ा उत्साहग्रस्त
होता है । इस प्रकारकी यह सहस्रपर्णी औषध कौनसी वन
रक्षति है, इसका पता आजकलके वैद्यकप्रयोग नहीं चलता ।
वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

नेवलेका सांपको काटना और जोड़ना ।

इस सूक्तके पंचम मन्त्रमें ' नेवला सांपको काटता है और
उसको फिर जोड़ देता है ' (नकुलः अहि विच्छिद्य
पुनः संदधाति) ऐसा कहा है । यह विश्वास प्राय सर्वत्र
भारतवर्षमें है अथर्ववेदमें भी यही यही बात कही है । अतः
इस विषयकी खोज करनी चाहिये । यदि इस प्रकारकी कोई
वनस्पति मिली तो बड़ी लाभकारी हो सकती है ।

दांतोंकी पीडा ।

[सूक्त १४०]

(ऋषि — अथर्व । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

यौ व्याघ्रावचरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च ।

तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः ॥ १ ॥

ग्रीहिमत्तं यवमत्तमथो मापमथो तिलम् ।

एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥ २ ॥

अर्थ— (यौ व्याघ्री अवचरूढौ) जो बाघके समान बड़े हुए दो दांत (मातर पितर च जिघत्सतः) माता
और पिताको दुःख देते हैं, हे ब्रह्मणस्पति । हे (जातवेदः) शानी । (तौ दन्तौ शिवौ कृणु) ये दोनों दांत क्षत्याग करने-
वाले कर ॥ १ ॥

(ग्रीहि मत्तं यवमत्तं) नावल खाओ, जौ खाओ, (अथो मापं अथो तिल) उबद और तिल खाओ । (एष
वां भागः रत्नधेयाय निहितः) यह तुम्हारा भाग रत्नधारणके लिये निश्चित हुआ है । हे दांतो ! (पितर मातरं च मां
हिंसिष्ट) माता पिताको कुछ न दो ॥ २ ॥

१८ (अथर्व भाष्य, काण्ड ६)

उपहृतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ ।

अन्यत्र वा घोरं तन्त्रं परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च

॥ ३ ॥

(सयुजौ स्योनौ सुमङ्गलौ दन्तौ उपहृतौ) साथ साथ जुड़े हुए सुखदायी मंगलकारी दोनों दांत प्रशंसीय हैं ।
(वां तन्त्रा घोरं अन्यत्र परैतु) तुम्हारे शरीरका कठोर दुःख दूर होवे । हे (दन्तौ) दांतों ! (पितरं मातरं मा हिंसिष्टं) माता पिताको कष्ट न दो ॥ ३ ॥

बालकोंका जिस समय दांत आते हैं, उस समय उनके बड़े कष्ट होते हैं, उनमें भी दो दांत ऐसे हैं कि जिनके कारण बालकोंको बड़ा ही कष्ट होता है । बालकोंको कष्ट देख कर उनके मातापिता भी बड़े दुःखी होते हैं ।

इस समय बालकोंको बाल, जी, उदर और तिल खाने देना चाहिये । जिस रीतिसे पचन हो जाय उस रीतिसे अच्छी

प्रकार अन्न खाने देना चाहिये । इसके खानेसे दांत सुदृढ़ होते हैं और रजोंके घमान सुन्दर होते हैं ।

बच्चोंको सोचना चाहिये कि, यह पथ्य बालकोंमें किस प्रकार करना चाहिये । हरएक बालकको दांतोंका कष्ट होता है, यदि यह पथ्य हितकारक सिद्ध हुआ, तो हरएक गृहस्थीका घर इससे लाभ उठा सकता है ।

गौवोंपर चिह्न ।

[सूक्त १४१]

(ऋषि — विश्वामित्रः । देवता — अश्विनौ)

वायुरेनाः समाकर्तुं त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् ।

इन्द्रं आभ्यो अधिं ब्रवद् रुद्रो भूमे चिकित्सतु

॥ १ ॥

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।

अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजयां बृहु ।

॥ २ ॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्याऽऽतु । एवा सहस्रपोषायं कृणुतं लक्ष्माश्विना

॥ ३ ॥

अर्थ— (वायुः एनाः समाकर्तुं) वायु दन गौओंको इकट्ठा करे, (त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्) त्वष्टा पुष्टी करे, (इन्द्रः आभ्यः अधिं ब्रवद्) इन्द्र इनको पुकारे और (रुद्रः भूमे चिकित्सतु) रुद्र वृद्धिके लिये चिकित्सा करे ॥ १ ॥

(लोहितेन स्वधितिना) लोहीकी शलाकाल (कर्णयोः मिथुनं कृधि) कर्णोंके ऊपर जोशका चिह्न कर । (अश्विनौ लक्ष्म अकर्ता) अश्विदेव चिह्न करें, (तत् प्रजयां बृहु अस्तु) वह सन्तानोंके साथ बहुत हितकारी हों ॥ २ ॥

(यथा देवासुराः चक्रुः) जिस प्रकार देवों और असुरोंने चिह्न किये, (उत यथा मनुष्याः) और जैसे मनुष्य भा करते हैं, हे अश्विनौ ! (एवा सहस्रपोषाय लक्ष्म कृणुत) इस प्रकार हजार प्रकारको पुष्टिके लिये चिह्न करो ॥ ३ ॥

गौओंका इकट्ठा किया जावे, उनको यथाचित जल, घास आदि देकर पुष्ट किया जावे और उनकी रोगरहित रखा जावे । लोहके शस्त्रसे गौओंके कानोंपर चिह्न करना योग्य है । इससे पहचाननेमें सुभीता होता है । यदि चिह्न कानपर सब देशोंमें किया जाता है और इससे बहुत लाभ होते हैं । वेदम अन्यत्र भी गौओंके कानोंपर चिह्न करना उल्लेख आता है ।

(अथर्व- १२।१।६ देखो)

अन्नकी वृद्धि ।

[सूक्त १४२]

(ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — वायुः)

उच्छ्रयस्व गृह्णीय स्वेन महसा यव । मृणी हि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥ १ ॥

आशुष्वन्तं यवै देवं यत्र त्वाच्छावदामसि । तदुच्छ्रयस्व घौरिव समुद्र इवैषक्षिता ॥ २ ॥

अक्षितास्त उपसदोक्षिताः सन्तु राशयः । पूणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

॥ इति त्रयोदशाऽनुवाकः ॥

॥ इति षष्ठ काण्ड समाप्तम् ॥

अर्थ— इ यव । (स्वेन महसा उच्छ्रयस्व) अपनी महिमामें ऊपर उठ और (गृह्णीय भव) बहुत हो, (विश्वा पात्राणि मृणी हि) सब बर्तनोंकी भर दे । (दिव्या अशनि त्वा मा घधीत्) आकाशकी बिजली तेरा नाश न करे ॥ १ ॥

(आशुष्वन्तं देव त्वा यव) हमारी बात सुननेवाले देवरूपा तुम यवको (यत्र अच्छावदामसि) जहाँ हम उत्तम प्रशंसाकी बात कहते हैं, वहाँ (घौः इव तत् उच्छ्रयस्व) आकाशके समान ऊँचा हो और (समुद्रः इव अक्षिताः पथि) समुद्रके समान अक्षय हो ॥ २ ॥

(ते उपसदः अक्षिताः) तरे पास बैठनेवाले अक्षय हों, (ते राशय अक्षिताः सन्तु) तेरी राशियाँ अक्षय हों, (पूणन्त अक्षिताः सन्तु) तृप्त करनेवाले अक्षय हों और (अत्तारः अक्षिता सन्तु) खानेवाले भी अक्षय हों ॥ ३ ॥

अन्न आदि खाद्य पदार्थोंका बहुत उत्पत्ति होव । घरके धान्य भरनेके पान भर हुए हों । और लोग उसको खाकर तृप्त हों, खानेवाले और खिलानेवाले मा उत्तम हों । प्रति वर्ष धा य विपुल पैदा हो और सब लोग सुखी हों ।

॥ यहाँ त्रयोदश अनुवाक समाप्त ॥

॥ अथर्ववेद षष्ठ काण्ड समाप्त ॥

अथर्ववेदके षष्ठ काण्डका थोडासा मनन

इस षष्ठ काण्डमें १४२ सूक्त हैं और उनमें निम्नलिखित विषयोंका विचार हुआ है। एक एक विषयका विचार करनेके समय निम्नलिखित प्रकरणोंके अनुसार सुक्तोंको विचार करेंगे तो पाठकोंको अधिक लाभ हो सकता है—

ईश्वर ।

ईश्वर संबंधी विचार करनेवाले निम्नलिखित सूक्त इस काण्डमें हैं— ' १ अमृत प्रदाता ईश्वर, ३४ तेजस्वी ईश्वर, ३५ विश्वका सञ्चालक देव, २६ अगत्तुका एक सम्राट्, ' ये चार सूक्त परमेश्वरका वर्णन करते हैं ' ३३ ईश्वरका प्रचण्ड सामर्थ्य, ६१ परमेश्वरकी महिमा, ' ये दो सूक्त परमेश्वरका अपार बल बता रहे हैं। यह परमेश्वर अपने हृदयमें है यह बात ' ७६ हृदयमें आग्निकी ज्योति । ' इस सूक्तद्वारा प्रगट हो रही है और इसकी पूजा करनेका मार्ग ' ८० आत्मसमर्पण से ईश्वरकी पूजा, ' इस सूक्तद्वारा बताया है। यदि पाठक ये आठ सूक्त इकट्ठे पढ़ेंगे, तो यह विषय उनके ध्यानमें ठीक प्रकार आ सकता है।

आत्मोन्नति ।

आत्मोन्नतिके विषयमें निम्नलिखित सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं—

पापसे बचाव करनेके विषयमें ' १११ छानसे पापको दूर करना, ११५ पापसे वचना ' ये दो सूक्त इकट्ठे विचार करने योग्य हैं। पापसे बचकर अपनी पवित्रता करनी चाहिये। इसलिये इस विषयके सूक्त ' ६२ अपनी पवित्रता, २६ पापी विचारका त्याग करो, ४३ क्रोधका शमन, १९ आत्मशुद्धिके लिये प्रार्थना, ' ५१ अन्तर्बलशुद्धता, १८ ईश्या निवारण ' ये हैं।

संपूर्ण उन्नतिके लिये ' १५ मैं उत्तम वनंगा, ८६ स्वयंसे श्रेष्ठ बनना ' यह इच्छा चाहिये। इसीसे सब उन्नति होगी। यह इच्छा न रही तो उन्नतिकी संभावना नहीं है। इसी प्रकार अपने अंदर शक्ति है और ' ४१ अपनी शक्तिका विस्तार ' करना चाहिये यह प्रबल इच्छा अवश्य चाहिये। अन्यथा उन्नति होना कठिन होगा। ' ५८ यशकी इच्छा, ६१ यशकी प्रार्थना ३९ यशस्वी होना, १८

तेजस्विताकी प्राप्ति, ४८, ९९ कल्याणके लिये प्रार्थना ' ये सूक्त मनुष्यकी यशकी अभिलाषासे ऊपर उठाना चाहते हैं। जो यश कमाना चाहता है वह ' ५५ उत्तम मार्गसे जाने ' को तैयार होता है और श्रेष्ठमार्गपरसे जानेके लिये ' ४० निर्भय बननेकी प्रार्थना ' करता है। क्योंकि निर्भय बननेके बिना मनुष्य श्रेष्ठ नहीं बन सकता और श्रेष्ठ बननेके बिना यशस्वी भी नहीं हो सकता। हर एक मनुष्यको उचित है कि वह अपनी उन्नतिके ' १०८ मेधाबुद्धि ' की प्राप्तिके लिये यत्न करे और अपने अन्दर उसकी वृद्धि करे।

मुक्ति ।

मनुष्यकी आन्तम श्रेष्ठतम अवस्था मुक्ति है। यह दर्शानेके लिये इस काण्डमें निम्नलिखित सूक्त हैं— ' ६३ बंधनसे मुक्त होना, १२१ बंधनसे छूटना, ११९ पाशोंसे छूटना, १५३ मुक्ति ' ये सूक्त देखनेसे पाठकोंको पता लग जायगा कि बंधनकी निशुषि किस प्रकार हो सकती है, इस विषयका अत्यंत महत्त्वपूर्ण सूक्त ' १११ मुक्तिका अधिकारी ' है, इन सब सूक्तोंमें कहा है कि जनताके उद्धारके कार्यमें आत्मसमर्पण करनेके बिना मुक्ति मिल नहीं सकती। देवोंके सहायता पाप मनुष्य करता है और राक्षसोंसे मित्रता करता है, इसलिये बन्ध होता है, इत्यादि भाव इन सूक्तोंमें विशेष रीतिसे देखने योग्य हैं।

अपनी रक्षा ।

बालकसे लेकर वृद्धतक सब मनुष्य चाहते हैं कि अपनी रक्षा हो, में सुरक्षित रहूँ। इस लिये वेदमें भी अपनी रक्षा करनेका विषय विशेष रीतिसे कहा है। इस विषयके सूक्त ये हैं— ' ५३; ७३; ९३; १०७ अपनी रक्षा, ३; ४; ४७ रक्षाकी प्रार्थना, ७७ स्वयंकी स्थिरता ' इत्यादि सूक्त इस विषयमें बड़े उपयोगी हैं। अपनी रक्षा होनेका अर्थ यह है कि, अपना ' ८५ दुर्गतिसे बचाव ' करना इस कार्यके लिये अपने अन्दर ' १०१ बल प्राप्त करना ' चाहिये। बलके बिना कोई मनुष्य दुर्गतिसे अपना बचाव नहीं कर सकता। हर एकको कटिबद्ध होकर अपने बचावका और अपनी उन्नतिकी कार्य करना चाहिये। इसीलिये ' १३३ मेखला-

बंधन' करते हैं। यह सूक्त अनेक दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

चिकित्सा।

इस काण्डमें चिकित्सा विषयके सूक्त करीब २६ हैं। चिकित्सा विषय अथर्ववेदका प्रधान विषय है। इस काण्डमें 'क्षय-रोगचिकित्सा' के १३; २०; ८५; १२७; य चार सूक्त हैं। इसी रोगके 'साय' 'खासी' का संबंध है इसलिये '१०५ खासी को दूर करने' का उपाय बतातेवाला सूक्त भी उस सूक्तके साथ ही पठना योग्य है।

'जलचिकित्सा' के सूक्त २३; २४; ५७, ९१ ये चार सूक्त हैं और 'सौरचिकित्सा' का ५२ यह एक सूक्त है। रोगोत्पादक क्रियाओंका नाश करनेका हवन सूक्त ३२ में बड़ा है। 'सर्पविषनिवारण' विषयपर सूक्त १२; ५६; ये दो सूक्त हैं और 'शिषनिवारण' पर १०० वां एक सूक्त विशेष महत्त्वका है और बड़े खोज करने योग्य है।

१६ वें सूक्तमें 'औषधिरसपान' का महत्त्वपूर्ण विषय है। 'केशवर्धन' के विषयपर सूक्त ११; १३६; १३७ ये तीन सूक्त हैं। यह केशवर्धनका विषय सौंदर्यवर्धनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वका है।

सूक्त ३० में 'शमी औषधि'; ४४ में 'रक्तघ्रावकी औषधि'; ५९ में 'अरुंधति औषधि'; ९४ में 'कुष्ठ औषधि'; १०९ में 'पिप्पली औषधि' का वर्णन बड़ा उपयोगी है। आर्यवैद्यका वेदमें मूल देवना हो, तो ये सूक्त देखने योग्य हैं।

८३ सूक्तमें 'गण्डमालाका निवारण'; ९३ में 'रोगोसे घृच्छना', ये वर्णन विशेष अन्वेषण करने योग्य विषय हैं। शरीरके शरीरसे बाण निकालकर उनकी चिकित्सा करनेका विषय ९० वें सूक्तमें देखने योग्य है। 'दांतोंकी पीड़ा' निवारणका उपाय १४० वें सूक्तमें भी देखने योग्य है।

फोटा बेल आदिकोंकी त्रास बनानेका विषय १३८ वें सूक्त में है। यह सूक्त कई कारणोंसे विशेष खोज करने योग्य है।

चिकित्सा द्वारा रोगनिवृत्ति करके मृत्युको ही दूर किया जाता है। इस मृत्युके विषयके सूक्त १३; ४५, ४६ ये हैं। सब दुःखोंका कारण 'पार' है, यह बात सूक्त ३७ में कही है और इन कड़ोंकी दूर करनेका विषय सू० २५ में है।

कुटुंबका सुख।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंका आधार है, यह आश्रम ब्रह्मचर्य-व्रतकी समाप्ति होनेपर प्रारंभ होता है। घरके लिये बच्चोंको खोज करने और 'कन्याके लिये घर' की खोज करनेका विषय ८२ वें सूक्तमें कहा है। यह 'गृहस्थाश्रम अत्यन्त पवित्र' है यह बात सू० १२२ में दर्शाया है। 'विवाह' विषयका ६० वें सूक्तमें वर्णन किया है। दम्पति अर्थात् पुरुष 'परस्पर प्रेमसे रहें' यह उपदेश सू० ८; ९ इन दो सूक्तोंमें विशेष बलसे कहा है।

तदण पुरुषको तदण स्त्री की प्राप्ति होते ही वे अपने माता पिताकी भूल न जाम इसलिये सू० १२० में 'मातापिताकी सेवा करो' यह आदेश दिया है। ऋण करके तेहवार बना-मंसे गृहस्थाश्रम दुःखका सागर बनता है; इस लिये 'ऋण-रहित होने' का उपदेश सू० ११७-११९ इन तीन सूक्तोंमें बड़ी उत्तम युक्तियोंके साथ किया है। इसके पश्चात् क्रमशः विषय '७९ धात्रीकरण, १७ गर्भधारण, ११ पुंसवन, ७८ स्त्रीपुरुषकी वृद्धि, ११० नवजात बालक' ये हैं। इस क्रमसे इन सूक्तोंका अभ्यास पाठक करेंगे, तो इन सूक्तोंसे अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इतना होते हुए भी कामविषयक संयम रखनेका उपदेश सू० १३२ में विशेष सावधानीकी सूचना देनेवाला है। गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी काम विषयक संयम आवश्यक है। गृहस्थोंका घर केश होना चाहिये, इस विषयका वर्णन सू० १०६ में पाठक अवश्य देखें। यह सूक्त हर एक गृहस्थोंकी मार्गदर्शक होना। अपनी परिस्थितिमें अपने घरकी शोभा जहाँतक बढाई जा सकती है, वहाँ तक बढाना चाहिये, यह उपदेश वेद इस सूक्त द्वारा दे रहा है।

गृहस्थियोंकी '७० गौमुखार; १४१ गौवाँकी पक्ष-चानके लिये चिन्ह करना, ९९ अश्वपालन करना, २७-२९ कवचतरकी पालना' करना इत्यादि विषयोंका विचार करना योग्य है।

राजपदव्यवस्था।

राज्यव्यवस्था विषयके सूक्त भी इस काण्डमें अनेक हैं। सू० १२८ में प्रजा अपने राष्ट्रके लिये स्वसंमतिसे 'राजाका चुनाव' करे ऐसा कहा है। इससे राजा प्रजाका हित करने-पर ही राजगरीवर स्थिर रह सकता है यह बात स्वयं शिष्ट हो जाती है। तथापि 'राजाकी स्थिरता' का विषय सू० ८७ और ८८ इन दो सूक्तोंमें विशेष रीतिसे कहा है। रामाचे

उचित है कि वह ऐसा राज्यशासन बलावे कि, उसका 'विजय होवे' । यह विषय सूक्त २ और ९८ में पाठक अवश्य देखें ।

राजाको उचित है कि अपने शासनद्वारा वह अपने 'राष्ट्रकी ऐश्वर्यवृद्धि' (सू० ५४) करे, युद्धवापन रख और दुन्दुभि आदि (सू० १२५, १२६) तैयार रखे । शत्रुके आते ही उसका पराजय करनेकी तैयारी रखे यह इस सभ उपदेशका तारपथ है ।

शत्रुनाश ।

शत्रुका नाश करनेका विषय जैसा राष्ट्रीय है वैसा ही वैयक्तिक भी है । इस विषयके सूक्त ६; ६५-६७; ७५; १०३; १०४; १३४-१३५ ये हैं । इनके वदे मननपूर्वक देखनेसे वैयक्तिक शत्रु दूर करनेका और सामाजिक तथा राष्ट्रीय शत्रुको दूर करनेका ज्ञान पाठकोंको हो सकेगा । इस दृष्टिसे ये सूक्त बड़े मननीय हैं ।

संगठन ।

इस काण्डमें संगठनका महत्त्व विशेष रीतिसे वर्णित हुआ है । सू० ६४ और ९४ में विशेषकर 'संगठन' का उपदेश किया गया है । 'परस्पर मित्रता' का उपदेश ४२, ८९; १०२ इन सूक्तोंमें किया गया है । सब लोग 'एक

विचारसे रहें' यह उपदेश सू० ७३-७४ में विशेष मनन करने योग्य है । और सूक्त ७ में 'अद्रोहका मार्ग' कहा है वह सबको ध्यानमें धरना योग्य है । क्योंकि अद्रोह वृत्तिसे शर्ताव करनेके बिना संगठन होना असंभव है । इसलिये यह अद्रोह सूक्त पाठक विशेष सूक्ष्म दृष्टिसे पढ़ें ।

यज्ञ

'यज्ञसे उन्नति' का विषय सू० ५ और 'यज्ञका सत्य फल' मिलता है यह उपदेश ११४ वें सूक्तमें मनन करनेयोग्य है । यज्ञसे योग्य समयपर वृष्टि होती है और '१२४ वृष्टिसे विपत्ति दूर होती है' २९; ४९ मेघोंका संचार होकर वृष्टि होती है । ७१, ११६; १४९ अन्न विपुल प्रमाण' में प्राप्त होता है और सब लोगोंका कल्याण होता है ।

इस प्रकार इस काण्डमें विशेष महत्त्वके विषय हैं तथापि कई सूक्त संदिग्ध, झिष्ट और समझमें न आनेवाले हैं । इसलिये बहुतसे सूक्त खोजके ही विषय हैं । आशा है कि सब पाठक विशेष प्रयत्न करेंगे तो यह काण्ड भी विशेष प्रयत्नके पश्चात् सुबोध बनेगा और लाभदायी सिद्ध होगा ।

'संपादक'

अथर्ववेदके षष्ठ काण्ड की

विषय-सूची ।

सूक्त	पृष्ठ	सूक्त	पृष्ठ	सूक्त	पृष्ठ
अश्रम होना	२	१३ मृत्यु	२४	३८ तेजस्विताकी प्राप्ति	४२
षष्ठ काण्ड	३	मृत्युके प्रकार	२४	तेजके स्थान	४३
त्रायिकमानुषार सूक्तविभाग	९	१४ क्षयरोगका निवारण	२५	३९ यशस्वी होना	४४
देवताक्रमानुषार सूक्तविभाग	१०	कफक्षय	२५	हजारों सामर्थ्य	४४
सूक्तोंके गण	१०	१५ मैं उत्तम बनूँगा	२५	यशका स्वरूप	४५
१ अमृत दाता ईश्वर	११	मैं श्रेष्ठ बनूँगा	२६	प्रभुकी भक्ति	४५
एक देवकी भक्ति	११	१६ औषधि रसका पाव	२६	४० निर्मयताके लिए प्रार्थना	४५
अहिंसकवाणी	१२	रसपाव	२७	४१ अपनी शक्तिका विस्तार	४६
सत्यका मार्ग	१३	१७ गर्भधारणा	२७	अपनी शक्तियों	४६
दो मार्ग	१३	१८ ईर्ष्या-निवारण	२८	श्रद्धा	४६
अथर्वाका अनुयायी	१३	बाहको दूर करना	२८	४२ परस्परकी मित्रता करना	४७
२ विजयी इन्द्र	१३	१९ आत्मशुद्धिके लिए प्रार्थना	२८	क्रोध	४७
इन्द्रके लिए सोमरस	१४	२० क्षयरोग निवारण	२९	४३ क्रोधका शमन	४८
३-४ रक्षाकी प्रार्थना	१४	उपरके लक्षण और परिणाम	३०	दम	४८
देवों द्वारा हमारी रक्षा	१५	२१ केशवर्धक औषधी	३०	४४ रक्तछावकी औषधी	४८
दो उद्देश्य	१५	२२ वृष्टि कैसे होती है	३१	४५-४६ दुष्ट खत्म	४९
रक्षाका कार्य	१६	मेघ कैसे बनते हैं	३१	पापी विचार	५०
५ यज्ञसे उन्नति	१७	२३ २४ जल	३२	दुष्ट खत्म यमका पुन	५१
हवनसे आरोग्य	१८	जल चिकित्सा	३३	४७ अपनी रक्षाकी प्रार्थना	५२
६ शत्रुका नाश	१८	२५ कष्टोंको दूर करनेका उपाय	३३	ईश्वरके पुन	५३
शत्रुका लक्षण	१८	२६ पापी विचारका त्याग करो	३४	४८ कल्याण प्राप्ति की प्रार्थना	५३
७ अश्रोहका मार्ग	१९	पापी मन	३४	४९ मेघोंका संचार	५४
अश्रोहका विचार	१९	२७-२९ कपोतविद्या	३४	५० धान्यकी सुरक्षा	५५
बलकी वृद्धि	१९	३० शमी औषधी	३७	धान्यके नाशक जीव	५५
तीन उपदेश	१९	खेती	३७	५१ अन्तर्बाहि्य शुद्धता	५५
८-९ दम्पतीका		३१ चन्द्र और पृथ्वीकी गति	३८	सोमका माहात्म्य	५६
परस्पर-प्रेम	२०	३२ रोग किमिनाशक हवन	३८	जलका माहात्म्य	५६
की और पुरुषका प्रेम	२१	रोगनाशक हवन	३९	द्रोह न करना	५६
१० बाह्य शक्तियोंसे अन्तः-		३३ ईश्वरका प्रकाश सामर्थ्य	३९	५२ सूर्य किरण चिकित्सा	५६
शक्तियोंका सम्बन्ध	२१	३४ तेजस्वी ईश्वर	४०	सूर्यका महत्व	५७
११ पुंसवन	२२	३५ विषका संचालक देव	४१	५३ अपनी रक्षा	५८
निधमसे पुत्रकी उत्पत्ति	२२	३६ जगत्का एक सम्राट्	४१	५४ राष्ट्रके ऐश्वर्यकी वृद्धि	५९
पुंसवन और स्त्रैषूय	२३	सबका एक ईश्वर	४१	५५ उत्तम मार्गमें जाना	६०
१२ सपे-विषनिवारण	२३	३७ शापसे हानि	४१	५६ कर्षसे बचना	६१
				५७ जल चिकित्सा	६२

सूक्त	पृष्ठ	सूक्त	पृष्ठ	सूक्त	पृष्ठ
५८ यशकी इच्छा	६३	८६ सबसे श्रेष्ठ हो	८७	११६ अन्न भाग	११४
५९ अरुन्धती औषधी	६३	सबसे श्रेष्ठ बनना	८८	प्रजाकी सम्मति	११५
अरुन्धती	६४	८७ ८८ राजाकी स्थिरता	८८	११७ ११९ ऋण रहित होना	११५
६० विवाह	६४	स्थिरताके लिए	९०	१२० मातापिताकी सेवा करो	११८
६१ परमेश्वरका महिमा	६५	८९ परस्पर प्रेम	९०	१२१ बधनसे छूटना	११९
६२ अपनी वसिष्ठता	६६	एकताका मन्त्र	९१	१२२ पवित्र गृहस्थाश्रम	१२०
६३ बन्धनसे मुक्त होना	६७	९० शरीरसे बाणको हटाना	९१	१२३ मुक्ति	१२२
पातत्रयका घोर परिणाम	६८	९१ जल-चिकित्सा	९१	१२४ वृष्टिसे विपत्तिका दूर होना	१२३
पाश तोड़नेसे लाभ	६८	९२ अश्व	९२	१२५ युद्धसाधन रख	१२४
६४ सघटनका उपदेश	६९	९३ हमारी रक्षा	९३	१२६ दुन्दुभि	१२५
६५ ६७ शत्रु पर विजय	६९	९४ सगठनका उपदेश	९४	१२७ कर्षणकी चिकित्सा	१२६
६८ मुण्डन	७१	९५ कुष्ठ औषधी	९४	१२८ राजाका चुनाव	१२७
६९ यशकी प्राप्ति	७२	९६ रामोसि वचना	९५	प्रजा अपना राजा चुने	१२८
७० गा सुधार	७३	पापसे रोगकी उत्पत्ति	९६	१२९ मायकी प्राप्ति	१२८
७१ अन्न	७३	९७ शत्रुको दूर करना	९६	१३०-१३२ कामकी वापस भेजी	१२९
अनेक प्रकारका अन्न	७४	विजयके साधन	९७	१३३ मेखला बधन	१३०
धनके चार भाग	७४	९८ विजयी राजा	९७	कटिबद्धता	१३१
७२ बाजीकरण	७५	९९ कल्याणके लिए यत्न	९८	१३४ १३५ शत्रुका नाश	१३२
७३ ७४ एक विचारसे रहना	७५	कल्याणका मुख्य साधन	९९	१३६-१३७ केशवर्धक औषधी	१३४
सघटना	७६	१०० विष निवारणका उपाय	९९	१३८ स्त्री	१३५
एकताका बल	७७	१०१ बल प्राप्त करना	१००	१३९ सौभाग्यवर्धन	१३६
७५ शत्रुको दूर करना	७७	चार प्रकारका बल	१०१	सहस्रपर्णी औषधी	१३७
शत्रुकी भगाना	७८	१०२ परस्पर प्रेम	१०१	नेबलेका सपको काटना	
७६ हृदयमें अमिकी ज्योति	७८	१०३ शत्रुका नाश	१०२	और ओढ़ना	१३७
अभिसे दिव्यदृष्टि	७९	शत्रुका दमन	१०२	१४० दान्तोंकी पीड़ा	१३७
हृदयका अग्नि	७९	१०४ शत्रुका पराजय	१०३	१४१ गौवों पर विन्ध	१३८
७७ सबसे स्थिरता	८०	शत्रुको पकड़ना	१०३	१४२ अन्नकी वृद्धि	१३९
७८ स्त्रीपुरुषकी वृद्धि	८०	१०५ खाद्यको दूर करना	१०३	अथर्व वेदके पठ-काण्डका	
गृहस्थीकी पुष्टि	८१	१०६ परकी शोभा	१०४	घोडासा मनन	१४०
७९ हमारी रक्षा	८१	१०७ अपनी रक्षा	१०५	ईश्वर	१४०
ईश्वरके भक्त	८२	१०८ मेधा वृद्धि	१०६	आत्मोन्नति	१४०
८० आत्म समर्पणसे ईश्वरका पूजा	८२	१०९ पिप्पली औषधी	१०७	मुक्ति	१४०
८१ कंकणका धारण	८३	११० नवजात बालक	१०८	अपनी रक्षा	१४०
८२ कन्याके लिए वर	८३	१११ मुक्तिका अधिकारी	१०९	चिकित्सा	१४१
८३ गण्डमाळाका निवारण	८५	मुक्त कौन होता है	१०९	कुट्टनका सुख	१४१
८४ दुर्गतिसे बचना	८६	११२ पाशोंसे मुक्तता	१११	राज्य-व्यवस्था	१४१
८५ यक्ष-चिकित्सा	८७	११३ ज्ञानसे पापको दूर करना	११२	शत्रुनाश	१४२
वर्ण वृक्ष	८७	११४ यज्ञका सत्य फल	११३	सगठन	१४२
		११५ पापसे बचना	११३	यज्ञ	१४२